श्रीवीर म० २४९२
वि० सं० २०२३
ई० सन् १९६६

मूल्य ६ रुपया

मुद्रक
श्री चिम्मनसिंह लोढा के प्रबन्ध से—
श्री महावीर प्रिंटिंग प्रेस,
लोढ़िया बाजार, ब्यावर

प्रास्ताविक दो शब्द

पट्टावलीपराग ग्रन्थ मे दो पट्टावलिया सूत्रोक्त हैं, पहली पर्युषणाकल्प सूत्रोक्त और दूसरी नन्दीसूत्र के प्रारम्भ मे लिखी हुई अनुयोगधरो की परम्परा ।

इन सूत्रोक्त पट्टावलियो के आगे दिगम्बर सम्प्रदाय की कतिपय पट्टावलियो की चर्चा करके प्रथम परिच्छेद की समाप्ति की है ।

द्वितीय परिच्छेद मे मुख्य रूप से तपागच्छ की धर्मसागर उपाध्याय-कृत पट्टावली दी है और उसके बाद तपागच्छ की अनेक शाखा-पट्टावलियाँ और अन्यान्य प्रकीर्णक गच्छो की पट्टावलिया देकर दूसरा परिच्छेद पूरा किया है ।

तीसरे परिच्छेद मे केवल खरतर-गच्छ की १२ पट्टावलि गुर्वावलिया देकर इसे भी पूरा किया है ।

चतुर्थ परिच्छेद मे लौंकागच्छ, बाईस सम्प्रदाय और कडवामत की पट्टावलिया दी हैं ।

ग्रन्थ का नाम हमने "पट्टावलीपराग" दिया है, क्योकि प्रत्येक पट्टावली अक्षरश न लेकर उसका मुख्य सारभाग लिया है । पट्टावलियो मे जहा जहा समालोचना की आवश्यकता प्रतीत हुई वहा सर्वत्र समालोचना गर्भित उसके गुण दोषो की चर्चा भी करनी पडी है, हमारा उद्देश्य किसी भी पट्टावली के खण्डन मण्डन का नही था, फिर भी जहा जहा जिनमें

टीका टिप्पण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई वहा उन पर टीका-टिप्पणी भी की है, यह बात पाठकगण को पढने पर स्वय ज्ञात होगी। कई पट्टावलि लेखको ने अपनी पट्टावलियो मे अपने आचार्यों और उनके कर्त्तव्यो के निरूपण मे वास्तविकता से शताधिक अतिशयोक्तिया कर मर्यादा का उल्लघन किया है। ऐसे स्थलो पर आलोचना करना जरूरी समझ कर हमने वही सत्य बातें लिख दी है। हमारा अभिप्राय किसी गच्छ की पट्टावली का महत्त्व घटाने का नही पर वास्तविक स्थिति बताने का था। इसलिए ऐसे स्थलो को पढकर पाठक महोदय अपने दिल मे दु ख अथवा रागद्वेष की भावना न लाय।

पट्टावली पराग की विशेषता :

पट्टावलिया तो अनेक छपी हैं और छपेगी, पर एक ही पुस्तक मे छोटी बडी ६४ पट्टावलिया आज तक नही छपी। सौत्र पट्टावलियो के अतिरिक्त "पराग सग्रह" मे १ बृहद्गच्छीय, २ तपागच्छीय, ३ खरतर-गच्छीय, ४ पौणमिक-गच्छीय, ५ साधु पौर्णमिक-गच्छीय, ६ अचल गच्छीय, ७ आगमिक गच्छीय, ८ लघु पौषध शालिक, ९ बृहत् पौषध शालिक, १० पल्लिवाल-गच्छीय, ११ ऊकेशगच्छीय, १२ लौंकागच्छीय, १३ कटुक-मतीय, १४ पार्श्वचन्द्रगच्छीय, १५ बाईस सम्प्रदाय की और तेरा पथ आदि की मिलकर ६४ पट्टावलिया 'पट्टावली-पराग' मे सगृहीत हैं।

अन्य पट्टावलियो के पढने से प्राय गच्छो की गुरु परम्पराओ और उनके समय का ही पता लगता है पर "पट्टावली पराग" के पढने से उक्त बातो की जानकारी के उपरा त किन किन गच्छो की उत्पत्ति मे कौन-कौन साधु श्रावक श्राविका आदि निमित्त बने थे इस बात का भी ज्ञान हो जाता है। दृष्टा त के तौर पर श्री राधनपुर मे तपागच्छ मे 'विजय" और "सागर" नाम के गृहस्थों की दो पार्टिया किस गृहस्थ के प्रपच से कब हुई ? श्री विजयसेन सूरिजी के पट्ट पर श्री राजविजय सूरिजी और विजय-हीर सूरिजी दो आचार्य किन के प्रपच से बठे ? और ब्रह्मऋषि ने किसके प्रपच से अपना "ब्रह्म मत" निकाला इत्यादि अश्रुतपूर्व और रसपूर्ण बातो के खुलासे "पट्टावली-पराग" से पाठको को प्रामाणिक रूप मे मिल सकगे।

आखो की कमजोरी और प्रत्येक फार्म का प्रूफ अपने पास मगवाने पर ग्रन्थ के मुद्रण मे समय बहुत लग जायगा इस विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रूफ सुधारने का कार्य ब्यावर के एक जैन विद्वान् को सौपा था और प्रारम्भ मे प्रूफ सशोधन ठीक ही हुआ है पर नियुक्त पडितजी के दूसरे व्यक्ति को प्रूफ देखने का कार्य सौंप कर मास भर तक अन्यत्र चले जाने के बाद मे नये प्रूफ रीडर के सशोधन मे अशुद्धिया अधिक रह गई हैं, कुछ अशुद्धिया घिसे हुए रद्दी टाइपो के इस्तमाल करने से भी बढी हैं यह पाठकगण को स्वय ज्ञात हो जायगा ।

हमने प्रूफ रीडिंग की और टूटे घिसे टाइपो के कारण से हुई अशुद्धिया भी शुद्धिपत्रक मे ले ली है, पाठक महाशय जहा कही अक्षर सम्बन्धी स्थल शकित जान पडे वहा शुद्धिपत्रक देख लिया करें ।

विषयानुक्रम

प्रथमपरिच्छेद [सौत्रपट्टावलियां]

मंगलाचरण	पृष्ठ १ से	
कल्प स्थविरावली (उपोद्घात)	५	
कुल गण और शाखाएँ	१०	
मूल कल्प स्थविरावली स नुवाद	१४	३१
श्रीदेवर्द्धिगरिण की गुरु परम्परा	३२	३३
कल्प-स्थविरावली की प्राचीनता की कसौटी	३४	४०
गण शाखा कुलो मे परिमार्जन	४१	४५
स्थविरावली की प्राचीनता	४६	५४
नदी स्थविरावली सानुवाद	५५	५६
माथुरी वाचनानुगत स्थविर क्रम	५६	
वालभी वाचनानुगत स्थविर क्रम	६०	६१
श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण को गुर्वावली	६१	
श्वेताम्बर जैनो के आगम	६२	६६
निह्नवो का निरूपण	६७	८१
प्राचीन स्थविर कल्पी जैनश्रमणो का आचार	८२	८५
श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता	८६	८७
कपायप्राभृतकार गुणधर आचार्य श्वेताम्बर थे	८८	९०
यापनीय शिवभूति के वंशज थे	९१	९३
शिवभूति से दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव	९४	९७

कुदकुद के गुरु	पृष्ठ ९८ से	९९
आचाय कुदकुद का सत्तासमय	१००	१०७
भट्टारक जिनसेनसूरि का शकसवत् कलचूरी सवत् है	१०८	१०९
आधुनिक दिगम्बर समाज के सघटक आचार्य कुन्दकुन्द –		
और भट्टारक वीरसेन	११०	११४
दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलिया	११५	१२४
नदीसघ द्रमिलगण अरुङ्गलान्वय की पट्टावलिया	१२४	१२४
देशीयगण के आचार्यो की परम्परा	१२४	१२५
लेखन० ५४ मे निर्दिष्ट आचायपरम्परा	१२५	१२६
मूलसघ के देशीयगण की पट्टावली	१२७	
मूलसघ के नदीगण की पट्टावली	१२७	१२८
उपसहार	१२८	१२९

द्वितीय परिच्छेद [तपागच्छीय पट्टावलिया]

श्री तपागच्छ पट्टावलीसूत्र	१३३	१५५
तपा गणपति-गुण पद्धति	१५६	१६२
तपागच्छ पट्टावली सूत्रवृत्ति अनुसधितपूर्ति दूसरी	१६३	१६६
पट्टावलीसारोद्धार	१६७	१६८
श्री बृहत् पौषधशालिक पट्टावली	१६९	१७३
बृहत् पौषधशालीय आचार्यों की पट्ट परम्परा	१७४	१८१
लघु पौषधशालिक पट्टावली	१८२	१८६
तपागच्छ कमल-कलश शाखा की पट्टावली	१८७	
राजविजयसूरि गच्छ की पट्टावली	१८८	१९५
श्री रत्नविजयसूरिजी और इनकी परम्परा	१९६	१९९
विजयदेवसूरि के सामने नया आचार्य क्यो बनाया ?	२००	२०४
विजयानन्दसूरि गचछ की परम्परा (१)	२०५	२०७
विजयानन्दसूरि शाखा की पट्टावली (२)	२०८	२०९
विजय आनन्दसूरि शाखा की पट्टावली (३)	२१०	
विजयानन्दसूरि शाख वली (४)	२११	

[सात

तपागच्छ सागर शाखा पट्टावली (१)	पृष्ठ २१२ से	
सागरगच्छीय पट्टावली (२)	२१३	२१४
सागरगच्छ के प्रारम्भिक आचार्यों का नामक्रम (३)	२१५	
परिशिष्ट (१)	२१६	
तपागच्छ की लघु अपूर्ण पट्टावलिया	२१६	२१८
तपगच्छ पाट परम्परा स्वाध्याय	२१९	
श्री तपगच्छीय पट्टावली सज्झाय	२१९	२२२
विजयरत्नसूरि के चातुर्मास्यो के गावो की सूची	२२२	२२३
आचाय विजयक्षमासूरि के चातुर्मायो की सूची	२२३	२२४
विजय सविग्नशाखा की गुरु परम्परा	२२५	
सागर सविग्न शाखा की गुरु-परम्परा	२२६	
विमल सविग्न शाखा की गुरु परम्परा	२२७	
श्री पाश्वचन्द्र गच्छ की पट्टावली (१)	२२८	
श्री पाश्वचन्द्र गच्छ नाम पडने के बाद की आचार्य-परम्परा	२२९	
पार्श्वचन्द्र गच्छ की लघु पट्टावली (२)	२३०	
बृहद् गच्छ गुर्वावली	२३१	२३३
श्री ऊकेश गच्छीया पट्टावली	२३४	२३८
पौर्णमिक गच्छ की गुरुवावली	२३९	
अचलगच्छ की पट्टावली	२४०	२४३
पल्लिवाल-गच्छीय पट्टावली	२४४	२५२

तृतीय परिच्छेद [खरतरगच्छ की पट्टावलिया]

खरतरगच्छ पट्टावली-सग्रह	२५५	२५७
खरतरगच्छ बृहद् गुरुवावली	२५८	२७८
वर्द्धमानसूरि से जिनपद्मसूरि तक के आचार्यों की बृहद् गुर्वावलि	२७९	३४३
राजाओ का मोह	३४३	३४५
हस्तलिखित खरतरगच्छीय पट्टावलियाँ	३४६	३४८
सोलकी राजाओ की वशावली और खरतर विरुद	३४८	३५३
(२) पट्टावली नवम्बर २३२७	३५४	३५९

(३) पट्टावली नम्बर २३२८	३५६	३६५
(४) पट्टावली न० २३२६	३६५	३७७
(५) पट्टावली न० २३३३	३७७	३८०
उपसहार	३८०	३८२

चतुर्थ परिच्छेद [लौंकागच्छ और कडवामत की पट्टावलिया]

गृहस्थो का गच्छप्रवतन	३८५	
लौंकामतगच्छ की उत्पत्ति	३८५	३८८
लौंका कौन थे ?	३८८	३८६
लौंकाशाह और इनका मन्तव्य	३८६	३६३
लौंकागच्छ की पट्टावली (१)	३६४	
लौंकागच्छ की पट्टावली (२)	३६५	३६८
लौंकागच्छ की पट्टावली (३) (बडोदे की गादी)	३६६	४००
बालापुर की गादी की लौंका-पट्टावली (४)	४०१	
गुजराती लौंकागच्छ की पट्टावली (५)	४०२	
केशवर्षि वर्णित लौंकागच्छ की पट्टावली (६)	४०३	४०५
लौंकागच्छ और स्थानकवासी	४०६	४१०
स्थानकवासियो की हस्तलिखित पट्टावली (१)	४१०	४२१
ढुंढकमत की पट्टावली (२)	४२१	४२३
तेरहपथ सम्प्रदाय की आचाय परम्परा	४२४	४२५
ऐतिहासिकनोध और अहमदावाद म स्थानकवासियो के — साथ शास्त्राथ	४२६	४३६
प्रभुवीर पट्टावली (२)	४३७	
स्थानकवासी पजाबी साधुओ की पट्टावली (३)	४३८	
सुत्तागमे की प्रस्तावना की स्थानकवासी पट्टावली	४३६	४४०
श्रमण सुरतरु की स्थानकवासी पट्टावली (५)	४४१	४४६
पुप्फभिक्खु की पट्टावली (६)	४४७	४४६
जैन आगमो मे काट छाट	४४६	४५२
श्री स्थानकवासी जैनसघ से प्रश्न	४५२	४५८

[नौ

चैत्यशब्द का वास्तविक अर्थ	४५५	४६१
जैनसाहित्य पर नयी-नयी आपत्तिया	४६१	४६२
चैत्यवासियो का युग	४६२	४६७
क्रातिकारी पुरुप	४६७	४७१
व्याकरण व्याधिकरण है	४७१	४७५
बीसवी शती का प्रभाव	४७५	४७६
(१) शाह कडवा-कडवामत की पट्टावली	४८०	४८३
कडवा के पालने के १०१ नियम	४६१	४६२
शाहश्री कडवा का साहित्य	४६३	
२ शाह खोमा चरित्र	४६४	
३ शाह वीरा चरित्र	४६४	५००
४ शाह वीरा के पट्टधर शाह जीवराज	५००	५०४
५ जीवराज के पट्टधर शाह तेजपाल का चरित्र	५०४	५०४
६ तेजपाल के पट्टधर शाह रत्नपाल का चरित्र	५०५	५०७
७ रत्नपाल के पट्टधर शाह श्रीजिनदास	५०७	५०६
८ शाहश्री जिनदास के पट्टधर शाह तेजपाल	५१०	५१७
लघुपट्टावली के आधार से अतिम दो नाम	५१७	

प्रथम परिच्छेद

[सौत्र-पट्टावलियाँ]

मंगलाचरण

वर्धमानं जिनं नत्वा, वर्धमानगुणोदधिम् ।
पट्टावली-परागस्य, सग्रहोऽयं विधीयते ॥ १ ॥

दशाश्रुताऽष्टमाध्याये, कल्पाध्ययननामनि ।
स्थविरावलिका दृब्धा, प्राच्यै सा प्रथमा मता ॥ २ ॥

नन्दीमङ्गलमध्यस्था, वाचकानामथावलिः ।
एषा वाचकवंशस्य, द्वितीया स्थविरावली ॥ ३ ॥

स्थविरावलिकायुग्म, सौत्रमेतत्प्रकीर्तितम् ।
अत्र दिगम्बराम्नाय सक्षेपोऽपि प्रदर्शित ॥ ४ ॥

चन्द्रकुलोद्भवाद्ग्रे, सूरिपट्टपरम्परा ।
क्वचिद् भिन्ना क्वाप्यभिन्ना, "तपागच्छ" मताऽऽदृता ॥५॥

अनेकगच्छसबद्धा पट्टावल्य प्रकीर्णका ।
सम्पूर्णा. खण्डिता वापि, यथालब्धास्तथाऽऽदृता ॥ ६ ॥

आचार्यवर्धमानाद्धि, खरभाविमता स्मृता ।
गुर्वावल्य प्रबन्धादि-पट्टावल्यो ह्यनेकधा ॥ ७ ॥

लक्ष--लेखक-कड्वादि- गृहस्थमतविस्तृतम् ।
पट्टावलीद्वय प्रा ते, विस्तरेण विवेचितम् ॥ ८ ॥

अथ बढते हुए गुणो के समुद्र ऐसे श्रीवर्धमान जिनको नमन करके पट्टावलियो के सार का यह सग्रह किया जाता है। दशाश्रुतस्कन्ध के अष्टमाध्ययन मे, जिसका नाम "पर्युषणा कल्पाध्ययन" है, पूर्वाचार्यों ने स्थविरावली बनाकर उसके अन्तर्गत की, उसको हम "प्रथम स्थविरावली" मानते है। नन्दी सूत्र के मगलाचरण मे अनुयोगधरो की जिस वाचकपरम्परा

को वन्दन किया है उस वाचकपरम्परा को अर्थात् अनुयोगधरो की पट्टावली को हम "द्वितीय स्थविरावली" मानते है। उक्त दोनो स्थविरावलियाँ सूत्रोक्त होने से हम इन्हें "सौत्र स्थविरावलियाँ" कहते है। सौत्रस्थविरावलियो का निरूपण करने के अनन्तर बीच मे दिगम्बर सप्रदाय के सक्षिप्त स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराया है। "चन्द्रकुल" की उत्पत्ति के बाद जो आचाय-परम्परा चली है उसमे, कही कही मतभेद भी दृष्टिगोचर होते है, फिर भी उसकी मौलिकता मे वास्तविक अन्तर नही पडता। इसी परम्परा को "तपागच्छ" ने अपनी मूल परम्परा माना है और यह मान्यता ठीक भी है।

तपागच्छीय पट्टावलियो के अन्त मे "प्रकीणक पट्टावलिया" दी हैं, जिनमे अधिकाश "तपागच्छ की शाखा पट्टावलिया" है, और कुछ स्वतंत्र गच्छो की पूर्ण, अपूर्ण पट्टावलिया भी हैं जो जिस हालत मे मिली उसे उसी हालत मे ले लिया है।

"खरतरगच्छ" के अधिकाश लेखक "श्रीवद्धमानसूरि" से अपनी पट्टावलियाँ शुरु करते हैं। कई लेखको ने प्रारभ से अर्थात् सुधर्मा से भी पट्टावलिया लिखी है, परन्तु उसमें वे सफल नहीं हुए। अनेक छोटी बडी गुर्वावलियो और प्रबन्धो मे अपनी परम्पराएँ लिखी है, परन्तु उनमे मौलिकता की मात्रा कम है।

ग्रन्थ के अन्त मे दो ऐसे गच्छो की पट्टावलिया दी हैं जो गच्छ गृहस्थ व्यक्तियो से प्रचलित हुए थे। इन दो गच्छो मे, पहला है "लौंका गच्छ" जो "लखा" नामक पुस्तक लेखक से चला था, जो आजकल 'लौंकागच्छ" के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा 'गृहस्थगच्छ" "कडुआ-मत गच्छ" इस नाम से प्रसिद्ध है, इस गच्छ का नेता गृहस्थ होता है और "शाहजी" कहलाता है। इस के खडहर "थराद' मे आज भी विद्यमान हैं।

कल्प - स्थविरावली

उपोद्घात

"कल्प" शब्द स यहाँ दशाश्रुतस्कन्धान्तगत "पर्युषणा कल्प" समझना चाहिए। यद्यपि पर्युषणाकल्प दशाश्रुतस्कन्धका एक अध्याय है, तथापि जैन सम्प्रदाय मे प्रस्तुत कल्प का प्रचार अधिक होने के कारण दशाश्रुत-स्कन्ध की स्थविरावली न लिखकर हमने इसे "कल्पस्थविरावली" लिखना ठीक समझा है।

"कल्पस्थविरावली' आय यशोभद्र तक एक ही है, परन्तु आय यशोभद्र के आगे इसकी दो धाराएँ हो गई हैं। एक सक्षिप्त और दूसरी विस्तृत। सक्षिप्त स्थविरावली मे मूल परम्परा के स्थविरो का मुख्यतया निर्देश किया गया है। तब विस्तृत स्थविरावली मे पट्टधर स्थविरो के अतिरिक्त उनके गुरुभ्राता स्थविरो की नामावलियो, उनमे निकलने वाले गण और गणो के कुल तथा शाखाओ का भी निरूपण किया है।

सक्षिप्त स्थविरावली मे आर्य वज्र के शिष्य चार बताए हैं। उनके नाम "आर्य नागिल, आय पद्मिल, आय जयत और आय तापस" लिखे है। तब विस्तृत स्थविरावली मे आय वज्र के शिष्य तीन लिखे हैं, जिनके नाम "आय वज्रसेन, आर्य पद्म और आय रथ" हैं। इन दो स्थविरावलियो के बीच जो मत भेद सूचित होता है, उसके सम्बन्ध मे हम यथास्थान विवरण देगे।

"कल्प-स्थविरावली" भी प्रारभ से अत तक एक ही समय मे लिखी हुई नही है जिस प्रकार आगम तीन वार व्यवस्थित किये गये थे, उसी प्रकार स्थविरावली भी तीन विभागो मे व्यवस्थित की हुई प्रतीत होती है। आगमो

की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र मे हुई, उस समय तक सभवत यशोभद्र-स्थविर स्वर्गवासी हो चुके थे, और आर्य सभूतविजयजी भी या तो परलोक-वासी हो चुके हो अथवा वार्द्धक्य के कारण कही पर वृद्धावास के रूप मे ठहरे हुए हो। क्योकि पाटलिपुत्र के श्रमणसघ ने दृष्टिवाद पढाने के लिए दो बार भद्रबाहु के पास 'श्रमण सघाटक' भेजकर उन्हे दृष्टिवाद पढाने की विज्ञप्ति की। यदि उस समय स्थविर सम्भूतविजयजी जीवित होते और दृष्टि-वाद पढाने की स्थिति मे होते तो पाटलीपुत्र का सघ दूसरा सघाटक भद्र-बाहु के पास कभी नही भेजता, क्योकि भद्रबाहु ने प्रथम सघाटक के सामने ही अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी कि "मैं महाप्राण ध्यान की साधना मे लगा हुआ हू। अत पाटलिपुत्र आ नही सकता", इस पर भी पाटलिपुत्र का श्रमणसघ दूसरी बार भद्रबाहु के पास सघाटक भेजकर दबाव डालता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि उस समय भद्रबाहु को छोडकर अन्य कोई भी दृष्टिवाद का अनुयोगधर विद्यमान नही होना चाहिए।

आर्य सभूतविजयजी के शिष्य आर्य स्थूलभद्र राजा नन्द के प्रधान मन्त्री शकटाल के बडे पुत्र थे। इन्होने अपने पिता के मरण के बाद तुरत आर्य सभूतविजयजी के पास श्रमणमार्ग स्वीकार किया था और चौदह पूर्व का अध्ययन आर्य श्रीभद्रबाहुस्वामी के पास किया था। इससे भी यही सूचित होता है कि स्थूलभद्र की दीक्षा होने के बाद थोडे ही वर्षों मे आर्य सभूतविजयजी स्वर्गवासी हो गये थे। यहा आर्य श्रीभद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवाससमय के सबध मे हमे कुछ स्पष्टीकरण करना पडेगा।

प्रसिद्ध आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिजीने श्रीभद्रबाहुस्वामी का स्वर्गवास परिशिष्ट पर्व मे "जिननिर्वाण से १७० वें वर्ष मे होना लिखा है और इसी कथनका आधार लेकर डॉ० चार्पेण्टियर,हर्मन जेकोबि और इनके पीछे चलने वाले विद्वानो ने भगवान् महावीर के निर्वाणसमय मे से ६० वर्ष कम करके जिननिर्वाण का समय सूचित किया है। परन्तु इसको ठीक मानने पर जैन परम्परा मे जिस कालगणना के अनुसार निर्वाण सवत् और युगप्रधान स्थविरावलियो का मेल मिलाया गया है, वह सब एक दूसरे से असगत

हो जाता है, इसलिए प्रस्तुत कल्पस्थविरावली की परम्परा लिखने के पहले हम जैनकालगणना पर चार शब्द लिख देना उचित समझते है।

जैन कालगणना पद्धति दो परम्पराओ पर चलती है। एक तो युगप्रधानो के युगप्रधानत्व पर्याय काल के आधार पर और दूसरी राजाओ के राजत्वकाल की कडियो के आधार पर। निर्वाण के बाद की दो मूल परम्पराओ मे जो अनुयोगधरो की परम्परा चली है उसके वर्षो की गणना कर जिननिर्वाण का समय निश्चित किया जाता था। परन्तु जैन श्रमण स्थायी एक स्थान पर तो रहते नही थे, पूव, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम भारत के सभी प्रदेश उनके विहारक्षेत्र थे। कई बार अनेक कारणो से श्रमणगण एक दूसरे से बहुत दूर चले जाते थे और वर्षो तक उनका मिलना असभव बन जाता था, ऐसी परिस्थितियो मे जुदे पडे हुए श्रमणगण अपने अनुयोगधर युगप्रधानो का समय याद रखने मे असमथ हो जाते थे, इसलिए युगप्रधानत्वकाल शृ खला के साथ भिन्न भिन्न स्थानो के प्रसिद्ध राजाओ के राजत्वकाल की शृ खला भी अपन स्मरण मे रखते थे। इतनी सतकता रखते हुए भी कभी कभी सुदूरवर्ती दो श्रमणसघो के बीच कालगणनासम्ब धी कुछ गडबडी हो ही जाती थी। भगवान् महावीर के समय मे उनका श्रमण सघ भारत के उत्तर तथा पूव के प्रदेशो मे अधिकतया विचरता था। आय भद्रबाहु स्वामी के समय तक जन श्रमणो का विहारक्षेत्र यही था, परन्तु मौयकालीन भयकर दुष्कालो के कारण श्रमण-सघ पूव से पश्चिम की तरफ मुडा और मध्य भारत के प्रदेशो तक फैल गया, इसी प्रकार सैंकडो वर्षो के बाद भारत के उत्तर पश्चिमीय भागो में दुष्काल ने दीघकाल तक अपना अड्डा जमाए रक्खा। परिणाम स्वरूप जैन श्रमण-सघ की दो टुकडिया बन गईं। एक टुकडी सुदूर दक्षिण की तरफ पहुँची और वही विचरने लगी, तब दूसरी टुकडी जो अधिक वृद्ध श्रुतधरो की बनी हुई थी, भारत के मध्य प्रदेश मे रहकर विषम समय व्यतीत करती रही। विषम समय व्यतीत होने के बाद मध्यभारत तथा उत्तर भारत के भागो में विचरते हुए श्रमण 'मथुरा' मे सम्मिलित हुए। थोडे वर्षो के बाद दाक्षिणात्य प्रदेश मे घूमने वाले श्रमण भी पश्चिम भारत की तरफ मुडे और

'सौराष्ट्र के वे द्र नगर "वलभी" मे एकत्र हुए। 'मथुरा' तथा 'वलभी' मे सम्मिलित होने वालो टुकडियो के नेता क्रमश "स्कन्दिलाचार्य" और "नागार्जुन वाचक' थे। दुष्काल के प्रभाव से श्रमणो का पठन-पाठन तो बन्द हो ही गया था, पर तु पूव पठित श्रुत भी धीरे धीरे विस्मृत हो चला था। सघो के नेता दोनो श्रुतधरो ने कुछ समय तक ठहर कर विस्मृतप्राय आगमो को लिपिबद्ध करवाया। किसी को कोई अध्ययनादि याद था, तो किसी को कोई, उन सब को पूछ पूछ कर और श्रुतधरो की अपनी स्मृतियो के आधार मे आगम लिखवाए गए और उनके आधार से श्रमणो का पठन-पाठन फिर प्रारभ हुआ। यह समय लगभग विक्रम की चतुथ शताब्दी मे पडता था।

मथुरा मे जो आगम लिखवाये और पढाए गए उसका नाम "माथुरी-वाचना" और वलभी मे जो लिखाए पढाए गए उसका नाम "वालभी-वाचना" प्रसिद्ध हुआ, इस प्रकार की दोनो वाचनाओ के अनुयायी देश मे *विहार चर्या के क्रम से विचरते हुए लगभग दो सौ वर्षो के भीतर फिर* "वलभी नगरी" मे सम्मिलित हुए। इस समय "माथुरी वाचना" के अनुयायी श्रमण सघ के नेता "श्रीदेवर्द्धिगणि" और "वालभी वाचना" के श्रमणसघ के प्रधान "कालकाचार्य" थे दूरवर्ती स्थानो मे स्मृतियो के आधार पर लिखे गये आगमो मे कई स्थानो पर पाठान्तर और विषयान्तर के पाठ थे। उन सबका समन्वय करने मे पर्याप्त समय लगा। इस पर भी कोई स्थल ऐसे थे कि जिनकी सच्चाई पर दोनो सघ निश्शक थे, ऐसे विषयो पर समझौता होना कठिन जानकर दोनो ने एक दूसरे के पाठो को वैसा का वसा स्वीकार किया। इसके परिणाम स्वरूप कल्पान्तगत श्रमण भगवान् महावीर के जीवन चरित के अन्त मे तत्कालीन समय का निर्देश दो प्रकार से हुआ है। 'माथुरी वाचना" के अनुयायियो का कथन था कि वतमान वष ९८० वाँ है। तब वालभ्य सघ की गणना से वही वष ९९३ वा आता था, *इन १३ वर्षों के अन्तर का मुख्य कारण एक दूसरे से दूरवर्तित्व* था। उत्तरीय सघ ने जिन युगप्रधानो का समय गिनकर ९८० वा वर्ष निश्चित किया था उसमे दाक्षिणात्य सघ ने एक युगप्रधान १५ वष के

पर्यायवाला अधिक माना और एक युगप्रधान के युगप्रधानत्व के ४१ वर्षों के स्थान पर ३९ वर्ष ही माने । इस प्रकार उन्होने अपनी गणना मे १३ वर्ष बढा दिये थे जिसका माथुरी वाचना के अनुयायियो को पता तक नही था, दाक्षिणात्य सघ दूर निकलने के बाद केवल युगप्रधानत्व काल की ही गणना करता रहा, तब उत्तरीय सघ युगप्रधानत्व के साथ राजत्वकाल का भी परिगणन करता रहा । इस कारण वह अपनी गणना को प्रामाणिक मनवाने का आग्रही था, परन्तु दूसरी पार्टी ने अपनी गणना को गलत मानने से साफ इन्कार कर दिया । फलस्वरूप कालनिर्देश विषयक दोनो की मान्यता के सूचन मूल सूत्र मे करने पडे । माथुरी वाचना को प्रथम से ही मुख्यता दे दी थी । इसलिए प्रथम "माथुरी वाचना" का मन्तव्य सूचित किया गया और बाद मे वालभी वाचना का ।

कल्प स्थविरावली मे आर्य यशोभद्र तक की स्थविरावली पाटलीपुत्र मे होने वाली वाचना के पहले की है, तब उसके बाद की सक्षिप्त तथा विस्तृत दोनो स्थविरावलिया, जिनकी समाप्ति क्रमश "आर्य तापस" और "आर्य फल्गुमित्र" तक जाकर होती है, ये दोनो स्थविरावलिया दूसरी वाचना के समय यशोभद्रसूरि पर्यन्त की मूलस्थविरावली के साथ जोडी गई थी, और आर्य तापस तथा आर्य फल्गुमित्र के बाद की स्थविरो की नामावली आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय मे होने वाले आगमलेखन के समय पूर्वोक्त सचित पट्टावली के अन्त मे जोड दी गई है ।

पहली वाचना हुई तब भूतकालीन स्थविरो की नामावली सूत्र के साथ जोडी गई । दूसरी वाचना के प्रसग पर उसके पूर्ववर्ती स्थविरो की नामावली पूर्व के साथ अनुसधित कर दी गई, और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय मे द्वितीय वाचना के परवर्ती स्थविरो की नामावली यथाक्रम व्यवस्थित करके अन्तिम वाचना के समय पूर्वतन स्थविरावली के साथ जोड दी गई है ।

कुल गण और शाखाएं

कल्प स्थविरावली मे कुल, गण और शाखाए निकलने का वर्णन आया करता है, परन्तु इन नामो का पारिभाषिक अर्थ क्या है और इन नामो के प्रचलित होने के कारण क्या होंगे, इन बातो को समझने वाले पाठक बहुत कम होगे। भगवान् महावीर के समय मे भी नव गण थे, परन्तु उन गणो के साथ कुल तथा शाखाओं की चर्चा नही थी। भगवान् महावीर का निर्वाण होने के बाद भी लगभग २०० वर्षों तक सैकडो की सख्या मे जैन श्रमण विचरते थे और उनका अनुशासन करने वाले आचार्य भी थे तथापि उस समय कुल, गण आदि की चर्चा क्यो नही, यह शका होना विचारवान् के लिए स्वाभाविक है। इसलिए स्थविरावली का प्रारभ करने के पहले ही हम इन सब बातो का स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझते हैं।

भगवान् महावीर के समय मे 'गण' थे, इसीलिए उनके व्यवस्थापक मुख्य शिष्य "गणधर" कहलाते थे। "गण का अर्थ यहा एक साथ बैठकर अध्ययन करने वाले श्रमणो का समुदाय" होता है। महावीर के गणधर ११ थे परन्तु गण ९ ही माने गये हैं, क्योकि अतिम चार गणधरो के पास श्रमणसमुदाय कम होने के कारण दो दो "गणधरो" के छात्र समुदायो को सम्मिलित करके शास्त्राध्ययन कराया जाता था। अत गणधर दो दो होने पर भी उनका समुदाय एक एक ही माना जाता था।

अब रही "कुलो" की बात, सो तीर्थङ्करो के गणधरो मे से एक एक के पास जितने भी श्रमण होते थे वे सब गणधर के शिष्य माने जाते थे। इस लिए गणधरो के समय मे कुल नही थे। भगवान् महावीर के जितने भी गणधर थे वे सब अपने शिष्यो को निर्वाण के समय मे दीर्घजीवी गणधर

सुधर्मा को सौंप जाते थे, और बाद मे वे सब सुधर्मा के शिष्य माने जाते थे। गणधरो के सम्बन्ध मे ही नही, यह परिपाटी लगभग भद्रबाहु स्वामी के समय तक चलती रही। किसी के भी उपदेश से प्रतिबोध पाकर दीक्षा लो, पर उसे शिष्य तो मुख्य पट्टधर आचार्य का ही होना पडता था।

आचार्य भद्रबाहु के शिष्य स्थविर 'गोदास' से सर्वप्रथम उनके नाम से 'गोदास गण' निकला। इसका कारण यह था कि तब तक जैन श्रमणो की सख्या पर्याप्त बढ चुकी थी और सब श्रमणो को वे सम्हाल नही सकते थे। इसलिए अपने समुदाय के अमुक साधुओ की वे स्वय व्यवस्था करते थे, तब उनसे अतिरिक्त जो सैकडो साधु थे उनकी देखभाल तथा पठन-पाठन की व्यवस्था भद्रबाहु के अन्य तीन स्थविर करते थे जिनके नाम अग्निदत्त, यज्ञदत्त और सोमदत्त थे। ये सभी स्थविर काश्यप गोत्रीय थे। जो समुदाय 'स्थविर गोदास' की देखभाल मे था उसका नाम "गोदास गण" हो गया, उसकी चार शाखाएँ थी, ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्धनीया और दासीकर्पटिका।

शाखाओ के नाम बहुधा श्रमणो के अधिक विहार अथवा अधिक निवास के कारण नगर अथवा गावो के नामो से प्रचलित हो जाते थे, जैसे ताम्रलिप्ति नगरी से ताम्रलिप्तिका, पुण्ड्रवर्धन नगर से पौण्ड्रवर्धनिका, कोटिवर्ष नगर से कोटिवर्षीया, दासीकर्पट नामक स्थान से दासीकर्पटिका। आर्य गोदास के समय मे श्रमणो की सख्यावृद्धि के कारण गण पृथक् निकला, शाखाएँ प्रसिद्ध हुई। परन्तु कुल उत्पन्न नही हुआ, क्योकि तब तक मुख्य आचार्य के अतिरिक्त किसी भी स्थविर ने अपने नाम से शिष्य बनाने का प्रारभ नही किया था, परन्तु मौर्यकाल मे श्रमणो की अत्यधिक वृद्धि और दूर दूर प्रदेशो मे विहार प्रचलित हो चुका था, परिणाम यह हुआ कि पट्टधर के अतिरिक्त अन्य योग्य स्थविर भी अपने नाम से पुरुषो को दीक्षा देकर उनके समुदाय को अपने "कुल" के नाम से प्रसिद्ध करने लगे और उसकी व्याख्या निश्चित हुई, कि "कुल एकाचार्यसन्तति" जब तक साधु-सख्या अत्यधिक बढी नही थी, तब तक आचार्य की आज्ञा मे रहने वाले साधुसमुदाय गण के नाम से ही पहिचाने जाते थे। परन्तु आचार्य के गुरु-

भाई अथवा तो उनके शिष्यो ने अपने अपने नाम से शिष्य बनाकर अपने नाम से 'कुल" प्रसिद्ध किये तब आचार्यों को 'कुल' तथा 'गणो' के सम्बन्ध मे नये नियम निर्माण करने पडे ।

"एत्थ कुल विण्णेय, एयायरियस्स सतती जाउ ।
तिण्ह कुलाणमिहो पुण, सावेक्खाण गणो होइ ॥"

अर्थात् एक आचाय का शिष्यपरिवार 'कुल' कहलाता है, ऐसे परस्पर सापेक्ष याने-एक दूसरे से सभी प्रकार के साम्भोगिक व्यवहार रखने वाले तीन कुलो का समुदाय "गण" कहलाता है ।

ऊपर की गाथा मे "कुल" तथा "गण" की सूचना की है, शास्त्रो मे कुल की परिभाषा यह बाधी गयी है कि "आठ साधुओ के ऊपर नवमा उनका गुरु स्थविर हो, तभी उसका नाम "कुल' कहलाता था, आठ मे एक भी सख्या कम होने पर वह कुल कहलाने का अधिकारी नही होता था । यह कुल की कम से कम सख्या मानी गयी । उससे अधिक कितनी भी हो सकती थी, परन्तु इस प्रकार के कम से कम तीन 'कुल' सम्मिलित होते, तभी अपने सघटन को 'गण' कह सकते थे । जिस प्रकार एक कुल मे ९ श्रमणो का होना आवश्यक माना गया था, उसी प्रकार एक गण मे "अट्ठाईस २८ साधु सम्मिलित होते," तीन कुलो के २७ और २८ वा "गणस्थविर" तभी वह सघटन "गण" नाम से अपना व्यवहार कर सकता था, और गण को जो जो अधिकार प्राप्त थे वे उसको मिलते थे । इस प्रकार "कुल" तथा "गण" की व्याख्या शास्त्रकारो ने बांधी है, जब तक "युगप्रधान शासन-पद्धति" चलती रही तब तक इसी प्रकार की 'कुल' तथा "गण" की परिभाषा थी, सघ स्थविर शासन पद्धति विच्छेद होने के बाद कुल, गण की परिभाषाएँ भी धीरे धीरे भुलायी जाने लगी और परिणामस्वरूप 'गण' शब्द का स्थान 'गच्छ' ने ग्रहण किया । वास्तव मे गच्छ शब्द प्राचीन काल मे 'राशि' के अर्थ मे प्रयुक्त होता था । दो साधुओ की सम्मिलित सख्या 'सघाटक' कहलाती थी, तब तीन, चार, पांच आदि से लेकर हजारो तक की सम्मिलित सख्या 'गच्छ' नाम से व्यवहृत होती थी । 'गच्छ' शब्द का

व्यावहारिक अर्थ हम 'टुकडी' कर सकते हैं, "बृहत्कल्पभाष्य" मे तीन से लेकर ३२ हजार तक की श्रमणसख्या को 'गच्छ' के नाम से निर्दिष्ट किया है। धीरे धीरे 'गण' शब्द व्यवहार मे से हटता गया और उसका स्थान 'गच्छ' शब्द ने ग्रहण किया, परन्तु वास्तव मे 'गण' का प्रतिनिधि 'गच्छ' नही है। गण मे जो आचार्य, उपाध्याय, गणी, स्थविर, प्रवर्तक और गणावच्छेदक प्रमुख अधिकारी माने गये हैं वे गच्छ मे नही माने, क्योकि गच्छ शब्द का अर्थ ही साधुओ की टुकडी माना गया है और सूत्रकाल मे तो गच्छ के स्थान पर "गुच्छ" शब्द ही प्रयुक्त होता था। परन्तु भाष्यकारो ने "गुच्छ" को 'गच्छ' बना दिया, स्थविर-शासन-पद्धति उठ जाने के बाद "कुल" 'गण' शब्द बेकार बने और "गच्छ" शब्द ने 'गण' शब्द के स्थान मे अपनी सत्ता जमा ली। यही कारण है कि पिछले सूत्र-टीकाकारो को "गच्छाना समूह कुल" यह व्याख्या करनी पडी। स्थविर-शासन-पद्धति बद पडने के बाद 'कुल' तथा 'गणो' के 'आभवद् व्यवहार' 'प्रायश्चित्त व्यवहार' आदि सभी प्रकार के व्यवहार अनियमित हो गये थे, सभी समुदायो के पास अपने अपने कुल, गण, के नाम रह गए थे, उनका उपयोग प्रव्रज्या के समय अथवा तो महापरिठावणिया के समय मे 'दिक्श्रावण' मे होता था और होता है।

ऊपर हम लिख आये हैं कि 'सापेक्ष तीन कुलो का एक गण बनता था।' इसका तात्पर्य यह है, कुल मे साधु सख्या कितनी भी अधिक क्यो न हो, तीन कुलो से कम दो अथवा एक कुल 'गण' का नाम नही पा सकता था। तीन अथवा उससे कितने भी अधिक कुल एक गण मे हो सकते थे, परन्तु तीन से कम कुल गण में नही होते थे। 'एत्थ कुल विण्णेय' यह उपर्युक्त गाथा कल्पसूत्र की अनेक टीकाओ मे उद्धृत की हुई दृष्टिगोचर होती है। 'कल्पसुबोधिका' मे भी जब वह पहले छपी थी उपर्युक्त गाथा शुद्ध रूप मे छपी थी, परन्तु बाद की आवृत्तियो मे सपादको की अनभिज्ञता से अथवा एक दूसरे के अनुकरण से यह गाथा अशुद्ध हो गयी है। 'तिण्ह कुलाण मिहो पुण' इस चरण मे "तिण्ह" के स्थान मे "दुण्ह" हो गया है जो अशुद्ध है, सर्वप्रथम "कल्पकिरणावली" मे "दुण्ह कुलाण मिहोपुण" यह अशुद्ध पाठ

छपा, कल्पकिरणावली के बाद छपने वाली अनेक कल्पटीकाओ मे "दुण्ह कुलाणमिहो" यह अशुद्ध रूप छपा है जो परिमार्जनीय है ।

१. मूल कल्पस्थविरावली सानुवाद :

"तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा इक्कारस गणहरा होत्था ॥२०१॥"

अथ उस काल और उस समय मे श्रमण भगवन्त महावीर के ९ गण और ११ गणधर हुए ।

"से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चई-समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा इक्कारस गणहरा होत्था ? समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे इदभूई अणगारे गोयमे गोत्तेण पचसमणसयाइ वातेइ, मज्झिमे अणगारे अग्गिभूई नामेण गोयमे गोत्तेण पचसमणसयाइ वाएइ, कणीयसे अणगारे नामेण वाउभूई गोयमे गोत्तेण पचसमणसयाइ वाएइ, थेरे अज्जवियत्ते भारदावे गोत्तेण पचसमणसयाइ वाएइ, थेरे अज्जसुहम्मे अग्गिवेसायणे गोत्तेण पचसमणसयाइ वाएइ, थेरे मडियपुत्ते वासिट्ठे गोत्तेण अद्धुट्ठाइ समणसयाइ वाएइ, थेरे मोरियपुत्ते कासवे गोत्तेण अद्धुट्ठाइ समणसयाइ वाएइ, थेरे अकपिए गोयमे गोत्तेण थेरे अयलभाया हारियायणे गोत्तेण एते दुन्नि थेरा तिन्नि तिन्नि-समणसयाइ वाइंति, थेरे मेयज्जे थेरे अज्जपभासे एए दोन्निवि थेरा कोडिन्ना गोत्तेण तिन्नि तिन्नि समणसयाइ वाएंति, से एतेण अट्ठेण अज्जो एवं वुच्चइ समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा, एक्कारस गणहरा होत्था ॥२०२॥"

'भगवान् महावीर के ९ गण और ११ गणधर होने की बात सुनकर शिष्य गुरु से पूछता है 'भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि भगवान् महावीर के नव गण थे और ग्यारह गणधर ? प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं भगवान् महावीर के शिष्य जिनका नाम इन्द्रभूति था और जो तीन भाइयो मे बडे थे तथा गोत्र से गौतम थे, ५०० श्रमणो को सूत्रवाचना देते थे । अग्निभूति नामक अनगार जो गोत्र

से गौतम और मझोले थे, ५०० श्रमणो को आगम पढाते थे। कनिष्ठ वायुभूति नामक गोत्र मे गौतम थे जो ५०० साधुओ को वाचना देते थे। स्थविर आर्यव्यक्त जा गोत्र से भारद्वाज थे और ५०० श्रमणो को वाचना देते थे, स्थविर आर्य सुधर्मा जा गोत्र से अग्निवेश्यायन थे और ५०० श्रमणो को वाचना देते थे, स्थविर मडिकपुत्र जो गोत्र से वाशिष्ठ थे और साढे तीन सौ श्रमणो को वाचना देते थे, स्थविर मौर्यपुत्र जो गोत्र से काश्यप थे साढ तीन सौ श्रमणो को वाचना देते थे, स्थविर अकम्पित गोत्र से गौतम, स्थविर अचलभ्राता गोत्र से हारितायन, ये दोनो स्थविर तीन-तीन सौ श्रमणो को सम्मिलित रूप से वाचना देते थे। स्थविर मेदार्य और स्थविर प्रभास ये दोनो स्थविर गोत्र से कौण्डिन्य थे, और अपने तीन-तीन सौ श्रमणो को एकत्र वाचना देते थे। इस कारण से हे आर्य! यह कहा जाता है कि श्रमण भगवन्त महावीर के ६ गण और ११ गणधर थे।

स्पष्टीकरण

आठवे तथा नवमे गणधरो के तीन-तीन सौ शिष्य थे परन्तु उनकी वाचना एक ही साथ होती थी। अत एक गण कहलाता था, इसी प्रकार दसवें तथा ग्यारहवें गणधरो के भी तीन तीन सौ श्रमण शिष्य थे, परन्तु वे ६०० ६०० श्रमण सम्मिलित वाचना लेते थे, इसलिये "एकवचनिको गण" इस नियमानुसार पिछल ८ गणधरो के २ ही गण माने गए हैं। परिणामस्वरूप ६ गण और ११ गणधर बताए हैं।

"जे इमे अज्जत्ताते समणा निग्गंथा विहरन्ति एए ण सव्वे अज्ज-सुहम्मस्स अणगारस्स आहावच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वोच्छिन्ना ॥२०४॥"

"सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस-वि गणहरा दुवालसंगिणो चोद्दसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा रायगिहे नगरे मास-एण भत्तेण अपाणएण कालगया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा। थेरे इन्दभूई, थेरे अज्जसुहम्मे, सिद्धि गए महावीरे पच्छा दोन्निवि परिनिव्वुया ॥२०३॥

'ये सब श्रमण भगवन्त महावीर के ग्यारह ही गणधर द्वादशांगधारी चतुर्दश पूर्वी सम्पूर्ण गणिपिटक के धारक राजगृह नगर के परिसर मे मासिक भोजन-पानी का त्याग कर निर्वाणप्राप्त हुए, सर्वदु ख रहित हुए। इनमें स्थविर इन्द्रभूति और स्थविर आयसुधर्मा ये दो स्थविर महावीर के निर्वाण के बाद निर्वाण प्राप्त हुए थे।' अर्थात् शेष नौ गणधर महावीर की विद्यमानता मे ही मोक्ष प्राप्त हो चुके थे। २०३।'

'जो ये आजकल श्रमण निग्र थ विचर रहे है वे सभी आय सुधर्मा के सन्तानीय कहलाते हैं, अवशेष गणधरो की परम्परा विच्छिन्न हो चुकी है २०४।'

"समणे भगव महावीरे कासवे गोत्तेण।

समणस्स ण भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्जसुहम्मे थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणसगोत्ते।

थेरस्स ण अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणसगोत्तस्स अज्ज जबू नामे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते।

थेरस्स ण अज्जजबुनामस्स कासवगोत्तस्स अज्जपभवे थेरे अतेवासी कच्चायणसगोत्ते।

थेरस्स ण अज्जप्पभवस्स कच्चायणसगोत्तस्स अज्जसेज्जभवे थेरे अंतेवासी मणगपिया वच्छसगोत्ते।

थेरस्स ण अज्जसेज्जभवस्स मणगपिउणो वच्छसगोत्तस्स अज्जजस-भद्दे थेरे अंतेवासी तुगीयायणसगोत्ते ॥२०५॥"

'श्रमण भगवान् महावीर काश्यप गोत्रीय थे, काश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य अग्निवेश्यायन सगोत्र आर्य-सुधर्मा हुए, अग्नि-वेश्यायन सगोत्र आय-सुधर्मा स्थविर के शिष्य काश्यप गोत्रीय आर्य जम्बू हुए, काश्यप गोत्रीय स्थविर आय जम्बू के शिष्य कात्यायन सगोत्र आय प्रभव हुए, कात्यायन गोत्रीय स्थविर आय प्रभव के शिष्य वत्स-सगोत्रीय स्थविर आय शय्यम्भव हुए, जो मनक मुनि के पिता थे, वत्ससगोत्र और

मनक पिता स्थविर आर्य शय्यम्भव के शिष्य तुगियायनसगोत्र आर्य यशोभद्र हुए ।२०५ '

'इसके आगे स्थविरावली दो प्रकार की देखने में आती है एक सक्षिप्त और दूसरी विस्तृत, पहले सक्षिप्त स्थविरावली दी जा रही है

"सखित्तवायणाए अज्जजसभद्दाओ अग्गओ एव थेरावली भणिया त जहा-थेरस्स ण अज्जजसभद्दस्स तुगियायणसगोत्तस्स अतेवासी दुवे थेरा-थेरे अज्जसभूयविजए माढरसगोत्ते, थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरस्स ण अज्जसभूयविजयस्स माढरसगोत्तस्स अतेवासी अज्जथूलभद्दे थेरे गोयमसगोत्ते, थेरस्स ण अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगोत्तस्स अतेवासी दुवे थेरा-थेरे अज्जमहागिरी, एलावच्छसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते, थेरस्स ण अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अतेवासी दुवे थेरा सुट्ठिय सुपडिबुद्धा कोडियकाकदगा-वग्घावच्चसगोत्ता । थेराण सुट्ठिय सुपडिबुद्धाण कोडिय-काकदगाण वग्घावच्चसगोत्ताण अतेवासी थेरे अज्जइ दविन्ने कोसियगोत्ते ॥ '

'सक्षिप्त वाचना से आय यशोभद्र के आगे की स्थविरावली इस प्रकार कही है यथा तुगियायणसगोत्र स्थविर यशोभद्र के दो स्थविर शिष्य थे माठरसगोत्रीय स्थविर सभूतविजय और प्राचीन सगोत्र स्थविर भद्र बाहु, स्थविर आय सभूतविजय के स्थविर शिष्य गौतम सगोत्र आर्य स्थूलभद्र हुए, स्थविर स्थूलभद्र के स्थविर शिष्य दो हुए, स्थविर एलावत्ससगोत्रीय आय महागिरि और वासिष्ठसगोत्र आय सुहस्ती । स्थविर सुहस्ती के स्थविर शिष्य दो हुए स्थविर सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध, गृहस्थाश्रम मे सुस्थित स्थविर कोटिवष नगर के निवासी होने से कोटिक कहलाते थे और सुप्रतिबुद्ध गृहस्थाश्रम मे काकन्दीनगरी निवासी होने से काकन्दक नाम से प्रसिद्ध हुए थे । ये दोनो स्थविर व्याघ्रापत्यमगोत्र थे, इन दोनो स्थविरो के स्थविर शिष्य कौशिकगोत्रीय 'इन्द्रदिन्न' थे ।'

"थेरस्स ण अज्जइददिन्नस्स कोसियगोत्तस्स अतेवासी थेरे अज्जदिन्ने गोयमसगोत्ते, थेरस्स ण अज्जदिन्नस्स गोयमसगोत्तस्स अतेवासी थेरे अज्जसीहगिरी जाइस्सरे कोसियगोत्ते, थेरस्स ण अज्जसिहगिरिस्स जातिसरस्स

ोसियगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जइदिन्ने गोयमसगोत्ते । थेरस्स रण अज्जइद रस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी चत्तारि थेरा थेरे अज्जनाइले, थेरे अज्जपोमिले, थेरे अज्जजयंते, थेरे अज्जतावसे । थेराओ अज्जनाइलाओ अज्जनाइला साहा निग्गया, थेराओ अज्जपोमिलाओ अज्जपोमिला साहा निग्गया, थेराओ अज्जजयंताओ अज्जजयंती साहा निग्गया, थेराओ अज्जतावसाओ अज्जतावसी साहा निग्गया इति ॥२०५॥"

'कौशिक गोत्रीय स्थविर आर्य इन्द्रदिन्न के शिष्य स्थविर गौतम सगोत्र आर्य दिन्न हुए, आर्य दिन्न के स्थविर शिष्य आर्य सिंहगिरि कौशिक गोत्रीय हुए, जिनको जाति-स्मरण ज्ञान था । स्थविर आर्य सिंहगिरि के स्थविर शिष्य आर्य वज्र गोतमगोत्रीय हुए, स्थविर आर्य वज्र के स्थविर शिष्य चार थे स्थविर आर्य नागिल, स्थविर आर्य पद्मिल, स्थविर आर्य जयंत और स्थविर आर्य तापस । स्थविर आर्य नागिल से आर्यनागिला शाखा निकली, स्थविर आर्य पद्मिल से आर्यपद्मिला शाखा निकली स्थविर आर्य जयंत से आर्यजयंती शाखा निकली और स्थविर आर्य तापस से आर्यतापसी शाखा निकली । २०६'

"वित्थरवायणाए पुण अज्जजसभद्दाओ परओ थेरावली एवं पलोइज्जइ, तंजहा-थेरस्स रण अज्जजसभद्दस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था तंजहा-थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरे अज्जसंभूयविजये माढरसगोत्ते । थेरस्स रण अज्जभद्दबाहुस्स पाईणसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं० थेरे गोदासे, थेरे अग्गिदत्ते, थेरे जण्णदत्ते, थेरे सोमदत्ते कासवगोत्तेरण । थेरेहिंतो रण गोदासेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो एत्थ रण गोदासगणे नामं गणे निग्गए तस्स रण इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तं० तामलित्तिया, कोडीवरिसिया, पोंडवद्धणिया, दासीखब्बडिया ॥२०७॥"

'सविस्तर वाचना के अनुसार आर्य यशोभद्र के आगे स्थविरावली इस प्रकार देखी जाती है, जैसे आर्य यशोभद्र स्थविर के ये दो स्थविर अपत्यसमान और प्रख्यात शिष्य हुए, स्थविर आर्य भद्रबाहु प्राचीन

गोत्रीय और सम्भूतविजय स्थविर माठर गोत्रीय, स्थविर आर्य भद्रबाहु के ये चार स्थविर शिष्य हुए, जो निज सन्तान तुल्य और प्रख्यात थे। उनके नाम स्थविर गोदास, स्थविर अग्निदत्त, स्थविर यज्ञदत्त और स्थविर सोमदत्त थे ये सभी काश्यप गोत्रीय थे, स्थविर गोदास से यहा गोदास नामक गण निकला। उसकी ये चार शाखाएँ इस प्रकार कही जाती हैं, जैसे

ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्धनिका और दासीकर्पटिका*।
॥२०७॥

"थेरस्स ण अज्जसंभूयविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमे दुवालसथेरा अतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तजहा।

> नदणभद्दुवनदणभद्द तह तीसभद्द जसभद्दे।
> थेरे य सुमणभद्दे, मणिभद्दे पुन्नभद्दे य ॥१॥
> थेरे य थूलभद्दे, उज्जुमती जबुनामधेज्जे य।
> थेरे य दीहभद्दे, थेरे तह पडुभद्दे य ॥२॥"

थेरस्स ण अज्जसभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमाओ सत्त अतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नाताओ होत्था, तजहा

> जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह होइ भूयदिन्ना य।
> सेणा, वेणा, रेणा, भगिणीओ थूलभद्दस्स ॥१॥२०८॥

---

* इनमे पहली शाखा "ताम्रलिप्तिका" की उत्पत्ति वग देश की उस समय की राजधानी ताम्रलिप्ति वा ताम्रलिप्तिका से थी जो दक्षिण बगाल का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। आजकल यह स्थान "तमलुक" जिला मेदिनीपुर बगाल मे है। दूसरी शाखा 'कोटिवर्षीया" की उत्पत्ति कोटिवर्ष नगर से थी, यह नगर 'राढ' देश (आजकल का मुर्शिदाबाद जिला पश्चिमी बगाल) की राजधानी थी। तीसरी शाखा "पौण्ड्रवर्धनिका' थी जो पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बगाल की राजधानी गगा के उत्तरी तट स्थित पौण्ड्रवर्धन नगर) से उत्पन्न हुई थी। पुण्ड्रवर्धन को आजकल 'पाण्डुआ" कहते हैं (फिरोजाबाद) मालदा से ६ मील उत्तर की ओर था। इसमे राजशाही, दीनाजपुर, रगपुर, नदिया, बीरभूम, मिदनापुर, जगलमहल, पचेत और चुनार सामिल थे। और चौथी शाखा पूर्व बगाल के समुद्र समीपवर्ती 'दासीकर्पट" नामक स्थान से प्रसिद्ध हुई थी।

स्थविर आर्य संभूतविजयजी के ये १२ स्थविर शिष्य हुए, जो सन्तान तुल्य प्रसिद्धिप्राप्त थे। उनके नाम ये है नन्दनभद्र, उपनन्दनभद्र, तिष्यभद्र, यशोभद्र, स्थविर सुमनोभद्र, मणिभद्र, पूर्णभद्र*, स्थविर स्थूलभद्र, ऋजुमति, जम्बूनामा, स्थविर दीघभद्र तथा स्थविर पाण्डुभद्र ॥२॥

स्थविर आर्य संभूतविजयजी की ये सात शिष्याएँ हुईं, जो अपत्य-समान प्रसिद्धिप्राप्त थी, उनके नाम ये है यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेना, वेना और रेणा ये आर्य स्थूलभद्र की बहने थी ॥२०८॥

'थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगोत्तस्स इमे दो थेरा अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तजहा थेरे अज्जमहागिरी एलावच्छसगोत्ते, थेरे सुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्छसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तजहा : थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिड्ढे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छडुलुए रोहगुत्ते कोसिए गोत्तेणं। थेरेहिंतो णं छडुलूएहिंतो रोहगुत्ते-हिंतो कोसियगोत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया निग्गया। थेरेहिंतो णं उत्तर-बलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जति, तजहा कोसंबिया, सोत्तिवत्तिया, कोडंबाणी, चंदनागरी ॥२०६॥"

'स्थविर आर्य स्थूलभद्र के ये दो स्थविर शिष्य थे, जो यथापत्य अभिज्ञात थे। इनके नाम स्थविर आर्य महागिरि एलावत्सगोत्रीय और स्थविर आर्य सुहस्ती वासिष्ठगोत्रीय, स्थविर आर्य महागिरि के ये आठ स्थविर शिष्य थे, जो यथापत्य और अभिज्ञात थे। उनके नाम ये है स्थविर उत्तर, स्थविर बलिस्सह, स्थविर धनाढ्य, स्थविर श्रीआढ्य, स्थविर कौडिन्य, स्थविर नाग, स्थविर नागमित्र, स्थविर षडुलूक रोहगुप्त कौशिक गोत्रीय। स्थविर षडुलूक रोहगुप्त से त्रैराशिक निकले, स्थविर उत्तर और बलिस्सह से उत्तरबलिस्सह नामक गण निकला। उसकी ये शाखाएँ चार इस प्रकार कही जाती है जैसे कौशाम्बिका*, शुक्तिमतीया, कौडम्बाणी, चन्द्रनागरी ।२०६।'

---

* कौशाम्बी नगरी से प्रसिद्ध होने वाली शाखा कौशाम्बिका कहलाई। कौशाम्बी

"थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तंजहा।

थेरेत्थ अज्जरोहण-भद्दजसे मेहगणी य कामिड्ढी।
सुट्ठियसुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते य ॥१॥
इसिगुत्ते सिरिगुत्ते, गणी य बम्भे गणी य तह सोमे।
दस दो य गणहरा खलु, एए सीसा सुहत्थिस्स ॥२॥२१०॥"

'स्थविर आर्य सुहस्ती के ये १२ स्थविर शिष्य हुए, जो यथापत्य अभिज्ञात थे। उनके नाम ये हैं

स्थविर आर्यरोहण, स्थविर भद्रयशा, आर्य मेघगणि, स्थविर कामर्द्धि, स्थविर सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध आर्यरक्षित और स्थविर रोहगुप्त ।१। ऋषिगुप्त, श्रीगुप्त, ब्रह्मगणि तथा सोमगणि, ये १२ गणधर आर्यसुहस्ती के शिष्य हुए ॥२॥२१०॥'

"थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे नाम गणे निग्गए। तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ छच्चकुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जंति उदुंबरिज्जिया, मासपुरिया, मइपत्तिया, पुन्नपत्तिया, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं? कुलाइं एवमाहिज्जंति तंजहा

इस समय 'कोसम" इस नाम से अधिक प्रसिद्ध है जहानपुर से दक्षिण १२ मील इलाहाबाद से दक्षिण पश्चिम ३१ मील है। पभासा नामक पहाड़ी पर एक स्तम्भ और एक मन्दिर है जो कौसम से तीन मील पश्चिम में है। शुक्तिमती दक्षिण मालवा की एक प्रसिद्ध नगरी थी, उससे प्रसिद्ध होने वाली शाखा शौक्तिमतीया कहलाई।

कोडम्बाणी स्थान कहां था इसका पता नहीं लगा, संभव है यह स्थान युक्तप्रदेश में कहीं होना चाहिये।

चन्द्रनगर सेवडाफुली जंक्शन से ७ मील (हावड़ा से २१ मील) उत्तर चन्द्रनगर का रेल्वे स्टेशन है। फ्रांसीसियों के भूतपूर्व राज्य में २२/५१/४० उत्तर अक्षांश पर और ८८/२४/५० पूर्व देशान्तर में हुगली नदी के दाहिने किनारे पर चन्द्रनगर एक छोटा सुन्दर शहर है, हुगली के रेल्वे स्टेशन से ३ मील दक्षिण में चन्द्रनगर रेल्वे स्टेशन है।

पढम च नागभूय, बीय पुण सोमभूइय होई ।
अह उल्लगच्छ तइय, चउत्थय हत्थिलिज्ज तु ॥१॥

पचमग नदिज्ज, छट्ठ पुण पारिहासिय होई ।
उद्देहगणस्सेते, छच्च कुला होति नायव्वा ॥२॥२११॥"

'स्थविर आयरोहण काश्यपगोत्रीय से उद्देहगण नामक गण निकला', उसकी ये चार शाखाएँ और छ कुल निकले जो ये हैं

प्रथम शाखाओ के नाम लिखे जाते है उदुम्बरीया[1], मासपुरिया, माथुरीया[3], पूर्णपत्रिका, ये शाखाएँ हैं । अब कुल क्या है सो कहते है १ नागभूत, २ सोमभूतिक, ३ आद्रकच्छ ४ हस्तलेह्य ॥१॥ ५ न दीय, ६ पारिहासिक, उद्देहगण के उक्त छ कुल जानने चाहिए ॥२॥२११॥

'थेरेहितो ण सिरिगुत्तेहितो एत्थ ण चारणगणे नाम गणे निग्गए । तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ सत्त य कुलाइ एवमाहिज्जति । से कि त साहातो ? साहातो एवमाहिज्जति तजहा हारियमालागारी, सकासिया, गवेधूया, वज्जनागरी से त साहाओ । से कि त कुलाइ ? कुलाइ एवमाहिज्जति तजहा

पढमेत्थ वच्छलिज्ज, बीय पुण पीइधम्मय होइ ।
तइय पुण हालिज्ज चउत्थग पूसमित्तिज्ज ॥१॥

---

१ उदुम्बरीया आजकल का डोमरिया गन्ज समझना चाहिए, यह स्थान रापती नदी के दाहिने किनार तहसील का सदर मुकाम है । इसके पूर्व म करव १६ १७ मील पर वासी, पश्चिमोत्तर म उतने ही फासले पर उतरौनी तहसील का सदर मुकाम है । इसके पश्चिम म करीब ४८ माल पर जिले का सदर मुकाम गोडा है । अक्षाश २७,१२ रेखाश ८२/३४/३९ पर डोमरिया गज अवस्थित है ।

२ 'मासपुरीया' वत्स देश की राजधानी 'मासपुर" थी जिससे "मासपुरिया' शाखा निकली ।

३ 'माथुरीया यह शाखा मथुरा नगरी से प्रसिद्ध हुई है आगरा से मथुरा ३१ मील पश्चिमोत्तर म अक्षाश २७ ३० रेखाश ७७/४१ पर अवस्थित है ।

पचमग मालिज्ज, छट्ठ पुण अज्जचेडय होइ।
सत्तमग कण्हसह, सत्तकुला चारणगणस्स ॥२॥२१२॥"

स्थविर श्रीगुप्त हारितगोत्रीय से यहा चारणगण नामक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ और सात कुल इस प्रकार कहे जाते हैं प्रथम १ वत्सलीय, २ प्रीतिधर्मक, ३ हालीय, ४ पुष्यमित्रीय, ५ मालीय, ६ आय चेटक और ७ सातवा कृष्णसख ये चारण गण के ७ कुलो के नाम हैं। २१२।'

"थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ ण उडुवाडियगणे निग्गए। तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि कुलाइ एवमाहिज्जति। से किं त साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जति त० चपिज्जिया, भद्दिज्जिया, काकदिया, मेहिलिज्जिया, से त साहाओ। से किं त कुलाइ? कुलाइ एवमाहिज्जति '

भद्दजसिय तह भद्द-गुत्तिय-त्तइय च होइ जसभद्द।
एयाइ उडुवाडियक्ष्गणस्स तिन्नेव य कुलाइ ॥१॥२१३॥"

'स्थविर भद्रयशा भारद्वाज गोत्रीय से यहा ऋतुवाटिक❀ नामक गण निकला, जिसकी ये चार शाखाएँ और तीन कुल इस प्रकार कहे जाते हैं शाखाएँ चपीया, भद्दीया, काकन्दिका और मैथिलीया इस नाम से हुई और कुल भद्रयशीय, भद्रगुप्तीय, यशोभद्रीय ये ऋतुवाटिका गण के ३ कुल है। २१३।'

"थेरेहिंतो ण कामिड्ढिहिंतो कुडिल (कोडिल) सगोत्तेहिंतो एत्थ ण वेसवाडियगणे नाम गणे निग्गए। तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ,

❀ उडुवाडिय' (ऋतुवाटिक) नामक स्थान आजकल का उलवडिया है। कलकत्ता से १५ मील दक्षिण भागीरथी गगा के बायें किनारे पर हावडा जिले के सबडिविजन का सदर स्थान उलवडिया एक छोटा कस्बा है। स्टीमर हर रोज कलकत्ते के आरमेनियन घाट से खुलकर उलबडिया से नहर द्वारा मेदनीपुर जाती है। उलबडिया से एक अच्छी सडक मेदनीपुर बालासोर और कटक होकर जगन्नाथपुरी तक पहुची है उलबडिया से आगे दामोदर नदी के मुहाने के सामने फुल्य नामक एक बडी बस्ती है।

चत्तारि कुलाइ एवमाहिज्जति । से किं त साहाओ ? साहाओ एव० सावत्थिआ, रज्जपालिया, अंतरज्जिया, खोमिलिज्जिया, से त साहाओ । से किं त कुलाइ ? कुलाइ एवमाहिज्जति तजहा

गणिय मेहिय कामड्ढिय च तह होइ इदपुरग च ।
एयाइ वेसवाडिय गणस्स चत्तारि उ कुलाइ ॥१॥२१४॥"

'स्थविर कामर्द्धि कोडालगोत्रीय से यह वशवाटक नामक गण निकला, इसकी चार शाखाएँ तथा ४ कुल कहे जाते है। शाखाएँ श्रावस्तिका, राज्यपालिता, अंतरजिया, क्षौमिलीया ये शाखाओ के नाम है और गणिक, मेघिक, कामर्द्धिक और इंद्रपुरक ये वैशवाटिक गण के ४ कुल हैं। २१४।'

"थेरेहिंतो ण इसिगुत्तेहिंतो ण काकदएहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिंतो एत्थ ण माणवगणे नाम गणे निग्गए। तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ तिण्णि य कुलाइ एव०। से किं त साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जति कासविज्जिया, गोयमिज्जिया, वासिट्ठिया, सोरट्ठिया, से त साहाओ। से किं त कुलाइ ? कुलाइ एवमाहिज्जति तजहा

इसिगुत्तियऽत्थ पढम, बिइय इसिदत्तिय मुणेयव्व ।
तइय च अभिजयत, तिन्नि कुला माणवगणस्स ॥१॥२१५॥"

'काकदक स्थविर ऋषिगुप्त वासिष्ठगोत्रीय से यहा मानव नामक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ और तीन कुल इस प्रकार कहे जाते हैं, शाखाएँ काश्यपीया, गौतमीया वासिष्ठीया, सौरट्ठीया ये शाखाओ के नाम हैं। १ ऋषिगुप्तिक, २ ऋषिदत्तिक और तीसरा अभिजयत ये मानवगण के कुल हैं। २१५।'

"थेरेहिंतो ण सुट्ठिय सुपडिबुद्धेहिंतो कोडिय काकन्दएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो एत्थ ण कोडियगणे नाम गणे निग्गए। तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ चत्तारि कुलाइ एव०। से किं त साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जति तजहा

उच्चानागरी विज्जा-हरी य वइरी य मज्झिमिल्ला य ।
कोडियगणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ ॥१॥

से किं त कुलाइ ? कुलाइ एवमाहिज्जति तजहा
पढमेत्थ वभलिज्ज (वभदासिय) तिय नामेण वच्छलिज्ज तु ।
ततिय पुण ठाणिज्ज चउत्थय पन्नवाहणय ॥ १ ॥ २१६ ॥"

'स्थविर सुस्थित और सुप्रतिवुद्ध जो कि गृहस्थाश्रम मे क्रमश कोटि वप और काकन्दी नगरी के रहने वाले और व्याघ्रापत्य गोत्रीय थे । उनसे यहा "कोटिक गण" नामक एक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ तथा चार कुल हैं, जैसे शाखाएँ उच्चानागरी, विद्याधरी, वाज्री और मध्यमा तथा पहला ब्रह्मलीय, २ वस्त्रलीय, ३ वाणिज्य, ४ प्रश्नवाहन नामक कुल हुए । २१६ ।'

"थेराण सुट्ठिय सुपडिवुद्धाण कोडिय काकदयाण वग्घावच्चसगोत्ताण इमे पच थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तजहा थेरे अज्ज-इ ददिन्ने, थेरे पियगथे, थेरे विज्जाहर गोवाले कासवे गोत्तेण, थेरे इसिदत्ते थेरे अरहदत्ते । थेरेहितो ण पियगथेहितो एत्थ ण "मज्झिमा" साहा निग्गया । थेरेहितो ण विज्जाहर गोवालेहितो कासवगुत्तेहितो एत्थ ण विज्जाहरी साहा निग्गया ॥२१७॥"

'स्थविर सुस्थित सुप्रतिवुद्ध के ये पाच स्थविर शिष्य हुए, जो अपत्य तुल्य और अभिज्ञात थे । उनके नाम स्थविर आय इन्द्रदत्त, स्थविर प्रिय-ग्रन्थ, स्थविर विद्याधर गोपाल काश्यपगोत्रीय, स्थविर ऋषिदत्त और स्थविर अर्हद्दत्त । स्थविर प्रिय-ग्रन्थ से यहाँ "मध्यमा शाखा" निकली और स्थविर विद्याधर गोपाल से "विद्याधरी शाखा" निकली । २१७ ।'

"थेरस्स ण अज्जइददिन्नस्स कासवगोत्तस्स अज्जदिन्ने थेरे अतेवासी गोयमसगोत्ते । थेरस्स ण अज्जइददिन्नस्स कासवगोत्तस्स इमे दो थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, त० थेरे अज्जसतिसेणिए माढर-सगोत्ते, थेरे अज्जसीहगिरी जाइस्सरे कोसियगोत्ते । थेरेहितो ण अज्जसति

सेणिएहितो ण माढरसगोत्तेहितो एत्थ ण उच्चानागरी साहा निग्गया ॥ २१८ ॥"

'स्थविर आय इ द्रदत्त काश्यप गोत्रीय के आर्यदत्त स्थविर गोतम गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आयदत्त के ये दो स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य और अभिज्ञात थे, पहले स्थविर आय शान्तिश्रेणिक माठर गोत्रीय और दूसरे स्थविर सिंहगिरि जातिस्मरण वाले कौशिक गोत्रीय, स्थविर आय शान्तिश्रेणिक से यहा उच्चानागरी शाखा निकली । २१८ ।'

'थेरस्स ण अज्जसतिसेणियस्स माढरसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था तं० थेरे अज्जसेणिए थेरे अज्जतावसे, थेरे अज्जकुबेरे, थेरे अज्जइसिपालित्ते । थेरेहितो ण अज्जसेणिएहितो एत्थ ण अज्ज सेणिया साहा निग्गया । थेरेहितो ण अज्जतावसेहितो एत्थ ण अज्जतावसी साहा निग्गया । थेरेहितो ण अज्ज कुबेरेहितो एत्थ ण अज्जकुबेरा साहा निग्गया । थेरेहितो ण अज्जइसिपालिएहितो एत्थ ण अज्जइसिपालिया साहा निग्गया ॥२१९॥"

'स्थविर शान्तिश्रेणिक के ये चार स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य और अभिज्ञात थे, इनके नाम ये हैं स्थविर आय श्रेणिक, स्थविर आर्य तापस, स्थविर आय कुबेर और स्थविर आय ऋषिपालित । स्थविर आर्य श्रेणिक से यहा आय श्रेणिका शाखा निकली, स्थविर आय कुबेर से यहाँ आर्य कुबेरा शाखा निकली और स्थविर आय ऋषिपालित से यहा आय ऋषिपालिता शाखा निकली । २१९ ।'

'थेरस्स ण अज्जसीहगिरिस्स जातिसरस्स कोसियगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था तं० थेरे धणगिरी, थेरे अज्जवइरे, थेरे अज्जसमिए, थेरे अरहदिन्ने । थेरेहितो ण अज्जसमिएहितो गोयमसगोत्तेहितो एत्थ ण बमदीविया साहा निग्गया । थेरेहितो ण अज्जवइरेहितो गोयमसगोत्तेहितो एत्थ ण अज्जवइरा साहा निग्गया ॥ २२० ॥"

'स्थविर प्राय सिंहगिरि के ये चार स्थविर शिष्य यथापत्य तथा प्राभिजात्य हुए, जिनके नाम स्थविर धनगिरि, स्थविर प्राय वज्र, स्थविर प्राय समित, प्रार्य प्रहद्दत्त, स्थविर प्राय समित से यहा ब्रह्मद्वीपिका शाखा निकली, स्थविर प्रार्य वज्र गौतम गोत्रीय से यहा प्रार्य वाज्री शाखा निकली। २२०।'

"थेरस्स ण प्रज्जवइरस्स गोतमसगोत्तस्स इमे तिन्नि थेरा प्रतेवासी प्रहावच्चा प्रभिन्नाया होत्या, त० थेरे प्रज्जवइरसेणे, थेरे प्रज्जपउमे, थेरे प्रज्जरहे। थेरेहितो ण प्रज्जवइरसेणेहितो एत्य ण प्रज्जनाइलो साहा निग्गया। थेरेहितो ण प्रज्जपउमेहितो एत्थ ण प्रज्ज पउमा साहा निग्गया। थेरेहितो ण प्रज्जरहेहितो एत्थ ण प्रज्ज जयती साहा निग्गया ॥२२१॥"

स्थविर प्राय वज्र गौतम गोत्रीय के ये तीन स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य प्रभिज्ञात थे। उनके नाम प्राय वज्रसेन, प्राय पद्म और प्राय रथ थे। स्थविर प्राय वज्रसेन से यहा प्रायनागिली शाखा निकली, स्थविर प्राय पद्म से प्राय पद्मा और स्थविर प्राय रथ से यहा प्राय जयन्ती शाखा निकली। २२१।'

"थेरस्स ण प्रज्जरहस्स वच्छसगोत्तस्स प्रज्जपूसगिरी थेरे प्रतेवासी कोसियगोत्ते। थेरस्स ण प्रज्जपूसगिरिस्स कोसियगोत्तस्स प्रज्जफग्गुमित्ते थेरे प्रतेवासी गोयमसगुत्तो ॥२२२॥"

'स्थविर प्राय रथ वत्सगोत्रीय के कौशिक गोत्रीय शिष्य प्राय पुष्यगिरि हुए स्थविर प्राय पुष्यगिरि के शिष्य प्राय फल्गुमित्र गौतम गोत्रीय हुए ॥२२२॥'

"थेरस्स ण प्रज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स प्रज्जधणगिरी थेरे प्रतेवासी वासिट्ठसगोत्ते ॥३॥ थेरस्स ण प्रज्जधणगिरिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स प्रज्जसिवभूई थेरे प्रतेवासी कुच्छसगोत्ते ॥४॥ थेरस्स ण प्रज्जसिवभूइस्स कुच्छसगोत्तस्स प्रज्जभद्दे थेरे प्रतेवासी कासवगुत्ते ॥५॥ थेरस्स ण प्रज्ज-

भद्दस्स कासवगुत्तस्स अज्जनक्खत्ते थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥६॥ थेरस्स णं अज्जनक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥७॥ थेरस्स णं अज्जरक्खस्स कासवगुत्तस्स अज्जनागे थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते ॥८॥ थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते ॥६॥ थेरस्स णं अज्जजेहिलस्स वासिट्ठसगुत्तस्स अज्ज विण्हू थेरे अंतेवासी माढरसगोत्ते ॥१०॥ थेरस्स णं अज्जविण्हुस्स माढरस-गुत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते ॥११॥'

'स्थविर आर्य फल्गुमित्र के स्थविर शिष्य आर्य धनगिरि वासिष्ठ गोत्रीय हुए। स्थविर आर्य धनगिरि के आर्य शिवभूति स्थविर कौत्स गोत्रीय हुए। स्थविर शिवभूति के स्थविर शिष्य आर्यभद्र काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यभद्र के स्थविर शिष्य आर्य नक्षत्र काश्यप गोत्रीय हुए। स्थविर आर्य नक्षत्र के स्थविर शिष्य आर्यरक्ष काश्यप गोत्रीय हुए। स्थविर आर्यरक्ष के स्थविर शिष्य आर्य नाग गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य नाग के स्थविर शिष्य आर्य जेहिल वासिष्ठ गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य जेहिल के स्थविर शिष्य आर्य विष्णु माठर गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य विष्णु के स्थविर शिष्य आर्यकालक गौतम गोत्रीय हुए। ११।'

"थेरस्स णं अज्जकालगस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगुत्ता थेरे अज्जसपलिए, थेरे अज्जभद्दे ॥१२॥ एएसिं दुण्हवि थेराणं गोयमसगुत्ताणं अज्जवुड्ढे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते ॥१३॥ थेरस्स णं अज्ज वुड्ढस्स गोयमसगोत्तस्स अज्ज संघपालिए थेरे अंतेवासी गोयम-सगोत्ते ॥१४॥ थेरस्स णं अज्ज संघपालियस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जहत्थी थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१५॥ थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते ॥१६॥ थेरस्स णं अज्जधम्मस्स सुव्वय-गोत्तस्स अज्जसीहे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१७॥ थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१८॥ थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्ज संडिल्ले थेरे अंतेवासी ॥१९॥"

'स्थविर आर्य कालक के ये दो स्थविर शिष्य गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य सम्पलित और स्थविर आर्यभद्र, इन दो स्थविरों के स्थविर

शिष्य आर्यवृद्ध गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य वृद्ध के आय संघपालित गौतम गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आर्यसंघपालित के आय हस्ती स्थविर शिष्य काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य हस्ती के आ य धर्मस्थविर शिष्य सुव्रत गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यधर्म के आर्यसिंह स्थविर शिष्य काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यसिंह के आयधर्म काश्यप गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आर्यधर्म के आर्य शाण्डिल्य स्थविर शिष्य हुए । १६ ।'

"वंदामि फग्गुमित्त च, गोयम धणगिरिं च वासिट्ठं ।
कोच्छं सिवभूइं पिय, कोसियदोज्जितकण्हे य ॥ १ ॥

ते वंदिऊण सिरसा, भद्दं वंदामि कासवसगोत्तं ।
णक्खं कासवगोत्तं, रक्खं पि य कासवं वंदे ॥ २ ॥

वंदामि अज्जनागं च, गोयमं जेहिलं च वासिट्ठं ।
विण्हुं माढरगोत्तं' कालगमवि गोयमं वंदे ॥ ३ ॥

गोयमगोत्तकुमारं, संपलियं तह य भद्दयं वंदे ।
थेरं च अज्ज वुड्ढं गोयमगुत्तं नमसामि ॥ ४ ॥

तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च संघवालिय, गोयमगुत्तं पणिवयामि ॥ ५ ॥

वंदामि अज्जहत्थिं च, कासवं खंतिसागरं धीरं ।
गिम्हाण पढममासे, कालगयं चेव सुद्धस्स ॥ ६ ॥

वंदामि अज्जधम्मं च, सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं ।
जस्स निक्खमणे देवो, छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥ ७ ॥

हत्थिं कासवगुत्तं, धम्मं सिवसाहगं पणिवयामि ।
सीहं कासवगुत्तं, धम्मं पि य कासवं वंदे ॥ ८ ॥

तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च अज्जजंबु, गोयमगुत्तं नमसामि ॥ ६ ॥'

मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाण दंसण-चरित्ते ।
थेरं च नंदियं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि ॥ १० ॥

तत्तो य थिरचरित्त, उत्तमसम्मत्तसत्तसजुत्त ।
देसिगणि खमासमण, माढरगुत्त नमसामि ॥ ११ ॥

तत्तो अणुओगधर, धीर मइसागर महासत्त ।
थिरगुत्तखमासमण, वच्छसगुत्त पणिवयामि ॥ १२ ॥

तत्तो य नाण-दसण-चरित्त-तव सुट्ठिय गुणमहत ।
थेर कुमारधम्म, वदामि गणि गुणोवेय ॥ १३ ॥

सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहि सपन्ने ।
देविड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥"

'गौतमगोत्रीय फल्गुमित्र, वासिष्ठगोत्रीय धनगिरि, कुत्सगोत्रीय शिवभूति और कौशिकगोत्रीय दुजयन्तकृष्ण को वदन करता हूं। उनको मस्तक से वन्दन कर काश्यपगोत्रीय भद्र, नक्षत्र और रक्ष को नमस्कार करता हूँ। गौतमगोत्रीय आय नाग, वासिष्ठगोत्रीय आय जेष्ठिल, माठर-गोत्रीय विष्णु और गौतमगोत्रीय कालक स्थविर को वन्दन करता हूँ। गौतमगोत्रीय कुमारधम, सपलित और आयभद्र को वन्दन करता हूँ, उनको मस्तक से वन्दन कर स्थिरसत्त्ववान् तथा चारित्र, ज्ञान से सम्पन्न गौतम-गोत्रीय सघपालित स्थविर को प्रणिपात करता हूँ। काश्यपगोत्रीय आय-हस्ती को वन्दन करता हूँ, जो क्षमा के सागर और धीर पुरुष थे और जो चैत्र मास के शुक्ल पक्ष मे कालधम प्राप्त हुए थे। शीललब्धि से सम्पन्न, सुव्रतगोत्रीय आयधम को नमस्कार करता हूँ, कि जिनकी दीक्षा के समय मे देव ने उनके ऊपर छत्र धारण किया था, काश्यपगोत्रीय हस्ती और शिवसाधक धम को प्रणिपात करता हूँ तथा काश्यपगोत्रीय सिंह तथा काश्यपगोत्रीय धम को भी वन्दन करता हूँ। उनको नमन करने के उपरान्त स्थिर सत्त्ववान् और चारित्र ज्ञान से सम्पन्न गौतमगोत्रीय स्थविर आय जम्बू को नमस्कार करता हूँ। कोमलप्रकृति, मार्दवसम्पन्न, ज्ञान, दर्शन, चारित्र में उपयोगवान् ऐसे काश्यपगोत्रीय स्थविर नन्दित को भी प्रणिपात करता हूँ। इनके बाद स्थिरचारित्र, उत्तम सम्यक्त्व तथा सत्व-सयुक्त माठरगोत्रीय देसिगणि क्षमाश्रमण को नमन करता हूँ, तदनन्तर

अनुयोगधारक, धीर, मतिसागर और महासत्त्ववन्त वत्सगोत्रीय स्थिर-गुप्त क्षमाश्रमण को प्रणिपात करता हूँ, फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सुस्थित गुणों से महान् और गुणोपेत स्थविर कुमारधर्म गणि को वन्दन करता हूँ। सूत्र तथा अर्थ रूप रत्नों से भरे क्षमा, दम, मार्दवगुणों से सम्पन्न ऐसे काश्यपगोत्रीय देवर्द्धि क्षमाश्रमण को प्रणिपात करता हूँ।

श्री देवर्द्धिगणि की गुरु-परम्परा

कल्प स्थविरावली वास्तव मे स्थविर देवर्द्धि की गुरु-परम्परा है। कल्प स्थविरावली मे आर्यवज्र का नम्बर १३वा आता है और इनके तृतीय शिष्य आर्यरथ से परम्परा आगे चलती है १३—आर्य वज्र, १४—आर्य रथ, १५—आर्य पुष्यगिरि, १६—आर्य फल्गुमित्र, १७—आर्य धनगिरि, १८—आर्य शिवभूति, १९—आर्य भद्र, २०—आर्य नक्षत्र, २१—आर्य रक्ष, २२—आर्य नाग २३—आर्य जेहिल, २४—आर्य विष्णु, २५—आर्य कालक, २६—आर्य सपलित, २७—आर्य वृद्ध, २८—आर्य सघपालित, २९—आर्य हस्ती, ३०—आर्यधम, ३१—आर्यसिंह, ३२—आर्यधर्म, ३३—आर्य शाण्डिल्य।

इस प्रकार गद्य कल्पस्थविरावली में सुधर्मा से लेकर शाण्डिल्य तक ३३ पट्टधर आर्य सुहस्ती की परम्परा मे होते हैं। श्री देवर्द्धिगणि ने इसमे अपना नाम नही लिखा- क्योकि वे स्वय स्थविरावली के सकलनकार हैं। वास्तव मे देवर्द्धिगणि इस पट्टावली के ३४वें पट्टधर हैं, इसमे कोई विवाद नही है। स्थविरावली के गद्यसूत्र मे शाण्डिल्य के आगे किसी भी स्थविर का नाम नहीं मिलता। फल्गुमित्र से लेकर आर्यसिंह तक के सभी स्थविरों के नाम पद्यो मे निबद्ध कर वन्दन किया है, परन्तु अन्तिम दो सूत्रो मे निर्दिष्ट आर्यधर्म और शाण्डिल्य के नाम नही मिलते, तब पद्यो मे शिवभूति के बाद दुजयन्त कृष्ण का नाम अधिक उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आर्यसिंह के आगे आर्यजम्बू और आर्यधम के आगे आर्यनन्दित की स्तुति की गई है। इसके उपरान्त देसिगणि, स्थिरगुप्त क्षमाश्रमण कुमारधर्म गणि और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की नामावली पद्यो मे दी है। इससे प्रमाणित होता है कि स्थविरावली के उपर्युक्त गद्य-सूत्र देवर्द्धिगणि के पुस्तक-लेखन के पहले ही निर्मित हो चुके थे। कल्प के टीकाकार लिखते

हैं कि गद्य मे लिखा हुआ अ्थ पद्यो मे दिया गया है । यह कथन अधिकाश मे ठीक है, परन्तु कतिपय स्थविरो के नाम गद्य में न होते हुए भी पद्यो में दिये गये हैं, जैसे दुजयन्त कृष्ण, धर्म के बाद आर्यहस्ती, आर्यधर्म, सिंह के बाद आर्यजम्बू और आयनन्दित नाम के स्थविर पट्टधर न होते हुए भी अपने समय मे अनुयोगधर होने से प्रसगवश उनका स्मरण किया गया है और देमिगणि, स्थिरगुप्त, क्षमाश्रमण, कुमारधर्मगणि और देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण इन चार स्थविरो की स्तुति देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पुस्तक-लेखन के बाद परवर्ती किसी विद्वान् ने बना कर गाथाओ के साथ जोड़ दी मालूम होती है ।

कल्प-स्थविरावली की प्राचीनता की कसौटी

कल्प स्थविरावली मे आर्यसुधर्मा गणधर से लेकर अन्तिम श्रुतधर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक के स्थविरो के नाम आते हैं। इससे कतिपय अदीघदर्शी विद्वान् श्वेताम्बरमान्य जनसिद्धान्त देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय मे लिपिबद्ध किये मानते हैं, तब दिगम्बरीय 'कषाय पाहुड" तथा "षट्खण्डागम" जैसे अर्वाचीन दिगम्बर जैन मान्य निबन्धो को ईसा के पूव चतुथ शती मे लिखे गए मानते है, जो प्राचीनसाहित्यविहीन अपने साधर्मिक दिगम्बर भाइयो को झूठा आश्वासन देने के अतिरिक्त कुछ भी नही है यह चर्चा बडी गम्भीर है, अत अन्य प्रसग के लिए छोड कर आज हम प्रस्तुत "कल्प स्थविरावली" की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए कुछ विवरण देंगे।

प्रकृत-स्थविरावली मे कोई आठ नये गण उत्पन्न होने की सूचना मिलती है। इनमे सवप्रथम भद्रबाहु के शिष्य स्थविर गोदास की तरफ से 'गोदास गण' का प्रादुर्भाव और इसको ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पुण्ड्रवधनिका और दासीकर्पटिका नामक ४ शाखाओ से बगाल के सुदूरवर्ती पूव उत्तर तथा दक्षिण प्रदेशो मे उसका विकास हो रहा था। श्रद्धालु दिगम्बर विद्वानो की मान्यतानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी अपने शिष्यो के साथ दक्षिण भारत मे चले गए होते तो 'गोदास गण' और उसकी उक्त चार शाखाएँ गगा नदी के तट पर तथा पूर्वी समुद्र के समीप भद्रबाहु के शिष्यो द्वारा प्रचलित और दृढमूल नही होती।

इसी प्रकार आर्यसुहस्ती के वडे गुरुभ्राता आर्यमहागिरि के शिष्य उत्तर और बलिस्सह स्थविरो से प्रसिद्धिप्राप्त 'उत्तर-बलिस्सह गण' और

उसकी चार शाखाएँ प्रसिद्ध हुई थीं जिनके नाम कौशाम्बीया १, शुक्तिमतिया २, कोडम्बाणी ३ और चन्द्रनागरी ४ थे। इन शाखाओं से ज्ञात होता है कि श्री भद्रबाहु स्वामी की दो पीढ़ी के बाद भी जैन श्रमणों का विहार मध्यभारत मे कौशाम्बी तथा शुक्तिमती नगरी तक—जो मध्यभारत के दक्षिण-विभाग मे विन्ध्याचल की घाटियों की तराई मे थी—पहुच चुका था और पूर्व मे कोडम्बाण नगर और उसके आगे चन्द्रनगर तक हो रहा था। यदि भद्रबाहु स्वामी १२००० श्रमणों के साथ दक्षिण मे पहुँच गये होते तो भारत के मध्यप्रदेश मे तथा पूर्व देशो में जैन श्रमणों की शाखाएँ कैसे प्रचलित होतीं, यह बात मध्यस्थबुद्धि से विद्वानों को विचारने योग्य है।

आर्यसुहस्ती के शिष्य आर्यरोहण से "उद्देहगण" नामक श्रमणों का एक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी चार शाखाएँ और छः कुल थे। शाखाओं के नाम उदुम्बरीया, मासपुरीया, माहुरिज्जीया, पोण्णपत्तीया थे। इनमें उदुम्बरीया, प्राचीन श्रावस्ती के निकट प्रदेश से निकली थी, मासपुरीया वत देश की राजधानी मासपुर से निकली थी, माहुरिज्जीया-माथुरीया-मथुरा से प्रसिद्ध हुई थी, पौणपत्रीया शाखा का पता नहीं लगा, फिर भी "प्रारम्भ की तीन शाखाओं" से इतना तो निश्चित रूप से जाना जा सकता है कि भद्रबाहु और उनके परम्परा-शिष्यों के समय से ही निर्ग्रन्थ श्रमणसघ धीरे धीरे पूर्व से मध्यभारत और उससे भी पश्चिम की तरफ आ रहा था। आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती के समय में अवन्ती नगरी मे सम्प्रति का राज्य था, इसी कारण से उस समय मे जैन श्रमण मध्यभारत मे अधिक फैले थे।

आर्य सुहस्ती के शिष्य श्रीगुप्त स्थविर से चारण गण नामक एक श्रमणों का गण प्रसिद्धि मे आया था, जिसकी चार शाखाएँ और तीन कुल थे। शाखाएँ हारियमालाकारी, साकाशियका, गवेधुका और वज्रनागरी नामो से प्रसिद्ध थी। इन शाखाओं के नामो से ज्ञात होता है कि चारण गण के श्रमण भी कान्यकुब्ज के समीपवर्ती प्रदेशों मे अधिक विचरते थे।

स्थविर भद्रयश नामक आर्य सुहस्ती के एक शिष्य से ऋतुवाटिक नामक एक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी चार शाखाएँ और तीन कुल थे। शाखाएँ चम्पीया, भद्रीया, काकन्दीया और मथिलीया नामक थी जो क्रमश अंग देश की राजधानी चम्पा, मलय देश की राजधानी भद्रिका, विदेह स्थित काकन्दी और विदेह की राजधानी मिथिला से प्रसिद्ध हुई थी। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि भद्रबाहु ही नही किन्तु उनके परवर्ती आर्य सुहस्ती के शिष्य भी अंग, मगध विदेह आदि देशो मे विचरते हुए जैन धर्म का प्रचार कर रहे थे।

आर्य सुहस्ती के शिष्य कामर्द्धि स्थविर से वेशवाटिक नामक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी चार शाखाएँ और चार कुल थे। शाखाओ के नाम श्रावस्तीया, राज्यपालिता, अन्तरिञ्जिया और क्षौमिलीया थे। आर्य कामर्द्धि के वेशवाटिक गण की प्रथम तथा तृतीय शाखाओ के नामो पर स ज्ञ त होता है कि उनके शिष्य बस्ती तथा गोरखपुर जिलो मे अधिक विचरे थे। वेशवाटिक गण की द्वितीय शाखा का पता नही लगा, परन्तु चौथी शाखा पूर्व बगाल के "क्षौमिल नगर' से निकली थी जो स्थान आजकल "कोमिला' के नाम से प्रसिद्ध है।

आर्य सुहस्ती सूरिजी के शिष्य ऋषिगुप्त स्थविर से भी 'मानवगण' नामक एक गण निकला था, जिसकी शाखाएँ ४ और कुल ३ प्रसिद्ध थे। मानवगण की प्रथम द्वितीय और तृतीय शाखा काश्यप, गौतम और वासिष्ठ इन गोत्रो से प्रसिद्ध होने वाले स्थविरो के नामो से प्रसिद्ध हुई थी, तब चौथी शाखा 'सारट्ठिया' यह एक स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई जो 'सोरठ नगर' कहलाता था। यह स्थान मधुवनी से उत्तर पश्चिम आठ मील पर 'सोरठ" इस नाम से प्रख्यात है।

स्थविर आर्य सुहस्ती के शिष्यो से निकलने वाले गणो मे अन्तिम "कोटिक गण' है, इसकी उत्पत्ति सुस्थित सुप्रतिबुद्ध नामक दो स्थविरो से हुई थी। उक्त दोनो स्थविर गृहस्थाश्रम मे क्रमश 'कोटिवर्ष नगर' और 'काकन्दी नगरी' के रहने वाले होने से "कोटिक" तथा "काकन्दक"

इन उपनामो से विख्यात हुए थे और इनसे निकलने वाला श्रमणगण भी "कोटिक" नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। कोटिक गण की भी चार शाखाएँ और चार कुल थे। शाखाओ के नाम उच्चानागरी, विद्याधरी, वइरी और मध्यमिका थे। उच्चानागरी शाखा प्राचीन "उच्चानगरी" से प्रसिद्ध हुई थी। उच्चानगरी को आजकल "बुलन्द शहर" कहते हैं, माध्यमिका शाखा "मध्यमिका नगरी' से प्रसिद्ध हुई थी जो चित्तौड के समीपवर्ती प्रदेश मे थी। विद्याधरी और वइरी शाखाओ के नामो का प्रवृत्तिनिमित्त जानने मे नहीं आया। यद्यपि विद्याधर गोपाल से विद्याधरी और आर्य वज्र से आर्य वज्री शाखा निकलने का कारण स्थविरावली मे आगे लिखा है, परन्तु वे 'शाखाएं" स्वतन्त्र हैं, गच्छप्रतिबद्ध नही। तब प्रस्तुत विद्याधरी और 'वैरी' शाखा कोटिक गण से प्रतिबद्ध हैं।

वेशवाटिक गण' की क्षोमिलीया और मानवगण की सौरट्ठीया शाखाओ से ज्ञात होता है, कामर्द्धि और ऋषिगुप्त आचार्यो के कुछ शिष्य बगाल की तरफ विचरते थे, तब "कोटिक गण" की "उच्चानागरी" और 'माध्यमिका" शाखाओ से निश्चित होता है कि "सुस्थित सुप्रतिबुद्ध" के शिष्य "मध्य भारत" और "पश्चिम-भारत" के प्रदेशो तक पहुँच चुके थे।

उपर्युक्त गण तथा शाखाओ से जो फलितार्थ निकलता है उसका साराश यह है कि आर्य भद्रबाहु स्वामी, जिनका युगप्रधानत्व समय जिन-निर्वाण से २०८ से २२२ तक माना गया है। भद्रबाहु के शिष्य गोदास स्थविर ने अपने नाम से जो गण प्रसिद्ध किया, उसका समय भी निर्वाण से २२२ से २३० का होना चाहिए, जो विक्रमपूर्व की तीसरी शताब्दी मे पडता है। गोदास गण की तथा आचार्य महागिरि के शिष्य "उत्तर' तथा "बलिस्सह" से निकलने वाले "उत्तर-बलिस्सह गण" की शाखाएँ हैं, परन्तु कुल नही। इसका कारण यही है कि तब तक दीक्षित होने वाले सभी साधु पट्टधर आचार्य के ही शिष्य माने जाते थे। श्रमणसमुदाय अधिक होने से भिन्न २ स्थानो को अपना केन्द्र बना कर उसके आसपास धर्म का प्रचार करते थे। उन्ही केन्द्रो के नाम से उनकी शाखाओ के नाम पडते थे। आर्य महागिरि का समय जिननिर्वाण से २६८-२९८ तक था।

इस दशा मे इनके शिष्य उत्तर और वलिस्सह का समय भी यही अथवा इससे कुछ परवर्ती विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी मे आएगा।

स्थविरावलीसूचित आठ गणो मे से 'गोदासगण' और "उत्तर-वलिस्सहगण" के अतिरिक्त "उद्देहगण, चारणगण, ऋतुवाटिकगण, वशवाटिकगण, मानवगण" और 'काटिकगण' ये छ गण आर्य सुहस्ती सूरि के भिन्न भिन्न शिष्यो से प्रसिद्ध हुए है। आर्य सुहस्तीजी का युग-प्रधानत्व समय 'जिननिर्वाण' २९८ से ३४३ तक का माना है। इससे इनके शिष्यो का समय भी यही अथवा कुछ परवर्ती विक्रमपूर्व के द्वितीय शतक मे पडता है। यह समय मौर्य्य राजा सम्प्रति के राजत्वकाल के साथ ठीक मिल जाता है। आर्य सुहस्ती के शिष्यो से छ गणो, २४ शाखाओ और २७ कुलो का प्रादुर्भाव होना यह बताता है कि उस समय मे जैन श्रमणो की सख्या पर्याप्त बढी हुई थी और धर्म प्रचार के केन्द्र पूर्व मे पूर्व बगाल, दक्षिण मे विन्ध्याचल की घाटियो, पश्चिम मे पूर्व-पजाब और उत्तर मे गोरखपुर और श्रावस्ती के प्रदेश तक स्थापित हुए थे और अपने अपने केन्द्रो से निर्ग्रन्थ श्रमण जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। यद्यपि राजा सम्प्रति की प्रेरणा से आर्य सुहस्ती ने अपने श्रमणो को दक्षिण भारत मे भी विहार करवाया था, परन्तु उस प्रदेश मे उस समय मे व्यवस्थित केन्द्र नियत नही हुए थे।

अब हम कल्प स्थविरावलीगत गण, शाखा और कुलो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करेगे कि इन गण आदि का प्राचीनत्व साधक स्थविरावली के अतिरिक्त भी कोई प्रमाण है या नही?

स्थविरावली के गण आदि के प्राचीनत्व का विचार करते हो हमे मथुरा का देवनिर्मित स्तूप याद आ जाता है। यो तो जैनो के अनेक प्राचीन तीर्थस्थान हैं जिनमे देवनिर्मित स्तूप भी एक प्राचीन तीर्थ है, परन्तु अन्य जैन प्राचीन तीर्थ धर्म चक्र, गजाग्रपद, अहिच्छत्रा नगरी आदि प्राचीन स्थानो की अब तक कोई खोज नही हुई है, जितनी कि मथुरा समीपवर्ती–देवनिर्मित स्तूप की, जो आजकल "कङ्काली टीला" के नाम से प्रसिद्ध है

अंग्रेजों के शासनकाल में हुई है। देवनिर्मित स्तूप विक्रम की १४वीं शती तक जैनतीर्थ के रूप में प्रसिद्ध था, परन्तु विदेशियों के आक्रमण से और खास करके इस देश में मुसलमानों की राज्यसत्ता स्थापित होने के बाद यह स्थान धीरे धीरे भूला जाने लगा था। जैनधर्मियों का उत्तर भारत से सामूहिक रूप से दक्षिण की तरफ प्रयाण हो गया और उत्तरीय जैन तीर्थ धीरे धीरे स्मृतिपट से उतर गए। अंग्रेजों के शासन में प्राचीन स्मारकों की जांच करते हुए कंकाली टीला भी खोदा गया और भीतर से जैन स्तूप के अतिरिक्त अनेक जैन-मूर्तियां, पूजापाट, अन्यान्य स्मारक, प्राचीन लेखों के साथ हाथ लगे और उन प्राचीन लेखों से ज्ञात हुआ कि यह एक अति-प्राचीन जैन स्तूप है, जो कुषाणवंशीय राजा कनिष्क आदि के समय में उत्तर भारत का एक अतिप्रसिद्ध जैनतीर्थ था।

कंकाली टीला में से प्रकट हुए जो प्राचीन लेख मिले थे, वे डा० कनिंघहाम के आर्किओलॉजिकल रिपोर्ट के ३ वॉल्यूम में छपे थे और वहां से उद्धृत कर अन्यान्य शोधकों ने उन पर प्रकाश डाल कर अपनी तरफ से छपाये थे। यहां हम "श्री माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थ-माला" के ४५वें ग्रन्थ के रूप में छपे हुए "जैन शिलालेख-संग्रह" के द्वितीय भाग में प्रकाशित उक्त स्तूप के शिलालेखों के आधार से कल्प-स्थविरावलीगत गणों, शाखाओं और कुलों की प्राचीनता के सम्बन्ध में ऊहापोह करके प्रमाणित करेंगे कि "कल्प-स्थविरावली" आर्य देवर्द्धिक्षमाश्रमण के समय का सन्दर्भ नहीं है, अपितु भगवान् महावीर के निर्वाण की तीसरी शती में लिखी हुई एक प्राचीन पट्टावली है।

मथुरा के स्तूप से निकले हुए कुषाणकालीन लगभग ८३ लेखों में जैनधर्म सम्बन्धी विवरण है उनमें से ४८ लेखों में गण, कुल, शाखाओं के उल्लेख हैं, स्थविरावलीगत आठ गणों में से इन लेखों में ३ गणों के उल्लेख हुए हैं, कोटिकगण के २० बार, चारणगण के १२ बार और उद्देहगण के २ बार। स्थविरावलीगत ४४ स्थविर शाखाओं में से ८ शाखाओं का २५ लेखों में उल्लेख हुआ है और स्थविरावलीगत २७ कुलों में से १३ कुलों का ३२ लेखों में उल्लेख मिलता है।

इन लेखो मे जिन आठ शाखाओ के उल्लेख हुए हैं, वे उल्लेख सख्या के साथ नीचे दिये जाते हैं

३ वज्रनागरी, २ आर्यवज्री, ७ वइरी, ६ उच्चानागरी, १ पूण-पत्रिका, १ मध्यमा, १ साकाश्यिका, १ हारितमालाकारी।

शिलालेखो मे १३ कुलो के ३२ लेखो मे जो उल्लेख हुए हैं, वे इस प्रकार से हैं ६ ब्रह्मदासिक, ४ भायहटीय, १० स्थानीय, २ प्रीति-धमक, १ मेघिक, १ पुष्यमित्रीय, १ आर्यचेटक, १ आर्यमित्र, १ वात्सलिक, १ प्रश्नवाहन, १ पारिहासिक, १ कृष्णसख, १ नाडिक।

इसके अतिरिक्त मथुरा के स्तूप मे से एक जैन श्रमण की मूर्ति मिली है, जिस पर "कण्ह" नाम खुदा हुआ मिलता है। ये "कण्ह" आचार्य दिगम्बर सम्प्रदाय प्रवर्तक शिवभूति मुनि के गुरु "कृष्ण" हो तो आश्चर्य नही, क्योकि वह मूर्ति अर्धनग्न होते हुए भी उसके कटिभाग मे प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमणो द्वारा नग्नता ढाँकने के निमित्त रखे जाते "अग्रावतार" नामक वस्त्र-खण्ड की निशानी देखी जाती है। यह "अग्रावतार" प्रसिद्ध स्थविर आर्य रक्षित के समय तक श्रमणो मे व्यवहृत होता था। बाद मे धीरे धीरे छोटा कटिवस्त्र जिसे "चुल्लपट्टक" (छोटा पट्टक) कहते थे, श्रमण कमर मे बाधने लगे तब से प्राचीन 'अग्रावतार वस्त्रखण्ड' व्यवहार मे से निकल गया।

हुआ हो, परन्तु स्थविरावली की प्रति मे लेखक की भूल से "बभलिज्जिय" हो गया हो। कुछ भी हो, हमारी राय में "ब्रह्मदासीय" नाम ही शुद्ध प्रतीत होता है।

मुद्रित स्थविरावलियो मे अधिकाश मे 'वच्छलीज्ज' क स्थान मे "वत्थलिज्ज" नाम दृष्टिगोचर होता है कुल का सही नाम 'वत्सलीय" है, जिसका प्राकृत रूप "वच्छलिज्ज" है न कि "वत्थलिज्ज"।

कोटिक गण के 'वाणिज्ज" कुल के स्थान पर शिलालेखो मे कोई ५ स्थानो पर "ठाणियातो" और पाच ही स्थानो पर "स्थानिकातो कुलातो" उत्कीर्ण मिलता है। जहा तक स्मरण है किसी प्राचीन ग्रन्थ की प्रशस्ति मे भी "स्थानीय" नाम "कुल" के अथ मे पढा है। इससे हम "वाणिज्य" अथवा "वणिदि" कुल के स्थान पर "स्थानीय" कुल विशेष ठीक समझते हैं, "चारण गण" के "प्रीतिधर्मक" कुल के स्थान पर पाठान्तर "विचिधम्मय" और शिलालेखो मे "प्रीतिधामिके' आदि अशुद्ध नाम मिलते हैं। वास्तव मे इस कुल का खरा नाम "प्रीतिधम्मक" ही है। चारण गण के एक कुल का नाम मुद्रित स्थविरावलियो मे "हालिज्ज" आता है, तब शिलालेखो मे कही "अर्यहाट्टकीय', कही "हट्टियातो", कही "आयहट्टिकीय" और कही "अयहट्ठीये' इत्यादि खुदे हुए मिलते हैं। नाम की आदि मे 'अय्य' अथवा 'आर्य' शब्द होने से हमारा अनुमान है कि यह नाम किसी आचार्य का है, जो शुद्ध रूप मे "आयहस्ती" यह नाम हो तो इसका खरा रूप 'आयहस्तीय-कुल" होना चाहिए। स्थविरावली मे "आय" शब्द न होने के कारण मूल नाम बिगड कर कुछ का कुछ हो गया है। वास्तव मे इसका प्राकृत रूप "अज्जहत्थिय" होना चाहिए।

चारण गण के एक कुल का नाम स्थविरावली की पुस्तको मे "अज्जवेडय" और "अज्जचेडय" इन दो रूपो मे उपलब्ध होता है। मथुरा के एक शिलालेख मे इस कुल का नाम "आय-चेटके-कुले" इस प्रकार उल्लिखित हुआ है। इससे निश्चित हैं कि स्थविरावली का खरा पाठ "अज्जचेडय" है।

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप के शिलालेखो मे "वाचक" शब्द और "गणि" शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं, और उनके उपदेश से जो कार्य हुए हैं, उनके अन्त मे "निवतन" अथवा निवतना" शब्दो का प्रयोग किया गया है। कही कही "दान" तथा "धम" शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। लेखो की भाप, तथा शली का कुछ आभास देने वाले कतिपय वाक्य-खण्ड उद्धृत करके प्रस्तुत प्रकरण को पूरा कर देंगे।

"अय्य जेष्ठ हस्तिस्य वाचक ×, ज्येष्ठ हस्ती शिष्य ×, गणिस्य, अय्य वुड्ढसिरिस्य ॥ वाचकस्य अय्य सवसिघस्य ×, वाचकस्य अय्य मातृदिनस्य ×, वाचकस्य हरिनन्दिसीसो नागसेनस्य निवतनम् ॥ वाचकस्य ओहनदिस्य सीसस्य सेनस्य निर्वतना ॥" इत्यादि लेखो मे 'वाचक" और 'गणि'' शब्द सब से अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वाचक श्री देवर्द्धिगणि ने अपनी न दी स्थविरावली मे वाचक वश का जो वणन किया है, उसका मथुरा के इन शिलालेखो से समथन होता है।

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप के शिल लेख राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के समय के लिखे हुए हैं और उन सभी मे कुषाण राजाओ के सवत्सर का प्रयोग किया गया है। कुषाण राजा कनिष्क का राज्य सवत्सर ई० स० ५८ से प्रारम्भ होता है, जो टाईम विक्रम के सवत्सर का प्रारम्भ है। *मथुरा के प्राचीन सभी कुषाणकालीन लेख विक्रम की प्रथम* शताब्दी के हैं और वे "मूर्तियो, आयागपट्टो" तथा अन्यान्य धार्मिक कार्यों के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं। कई विद्वान् भारत मे मूर्तिपूजा के प्रचारक जनो को मानते हैं, वह मान्यता मथुरा स्तूप के लेखो से किसी अश मे सत्य प्रतीत होती है। जन होते हुए भी कतिपय जन-सम्प्रदाय प्रतिमा-पूजा से विमुख बने बठे है उनको प्रस्तुत मथुरा के स्तूप की हकीकत से बोधपाठ लेना चाहिए और जो नग्नता मे ही परमधम मानने वाले दिगम्बर विद्वान् आर्य स्थूलभद्र से श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उद्भव मानते हैं, वे कल्प-स्थविरावली के गणो, कुलो और शाखाओ का मथुरा के लेखो से मिलान करके देखें कि ये सब गण, कुलादि श्वेताम्बर निग्र थ सम्प्रदाय के

६० वष के वाद सम्भूतविजय का स्वर्गवास हुआ। सम्भूतविजय से १४ वष के बाद भद्रबाहु और उनसे ४५ वष के वाद स्थूलभद्र स्वर्ग प्राप्त हुए, इस प्रकार स्थूलभद्र के स्वर्गवास तक २६७ वष महावीर-निर्वाण को हुए।

स्थूलभद्र से आर्य महागिरि ३० और महागिरि से आर्य सुहस्ती ४६ वष तक युगप्रधान रहे और आर्य सुहस्ती के बाद ४१ वर्ष तक निगोद व्याख्याता श्यामार्य का युगप्रधानत्व रहा। श्यामार्य के स्वर्गवासानन्तर रेवतिमित्र ३६ वष, रेवतिमित्र के बाद ६ वष आर्य समुद्र और आर्य समुद्र से २० वष तक आर्य मगू युगप्रधान रहे, आर्य मगू के वाद ४४ आर्यधर्म के, ३९ वष भद्रगुप्त के, भद्रगुप्त के बाद १५ वष श्री गुप्त के, श्री गुप्त के अनन्तर ३६ वष आर्यवज्र के, १३ वष श्री आर्यरक्षित के, २० वष पुष्यमित्र के, ३ वष श्री वज्रसेन के, ६९ नागहस्ती के, ५९ रेवतिमित्र के, ७८ सिंहसूरि के और ७८ वष नागार्जुन वाचक के।

"रेवइमित्ते गुणसट्ठि, सिंहसूरिम्मि अट्ठहत्तरी य।
नागज्जुणि अडहत्तरि, भूयदिन्ने य इगुणयासी ॥७॥
एगारस कालगज्जे, सिद्धतुद्धारकारि वलहीए।
एव नवसय तिणउइ, वासा वालब्भ सघस्स ॥८॥"

और ७९ भूतदिन्न आचार्य के मिलाकर वीरनिर्वाण से ९८२ वष हुए, इनमे वलभी मे सिद्धान्त का उद्धार करने वाले आचार्य कालक के ११ वष मिलाने पर वालभ्य सघ की मान्यतानुसार ९९३ वष होते हैं, परन्तु माथुरी गणना मे ९८० वष आते हैं। वलभी मे किये गये पुस्तक लेखन के समय दो गणनाओं मे जो १३ वष का अन्तर पडा, उसका कारण यह है कि माथुरी वाचनानुयायी सघ ने अपनी गणना मे श्रीगुप्त स्थविर को स्थान नही दिया और आर्य मगू के युगप्रधानत्व पर्याय के ४१ वष माने हैं जिससे गणना का अक ९८० का होता है। दूसरी तरफ वलभी-वाचनानुयायियो ने आर्य मगू का युगप्रधानत्व पर्याय ३९ वष का माना और श्रीगुप्त को अपनी गणना मे स्थान देकर उनके १५ वष माने, फलस्वरूप दोनो वाचनानुयायियो मे १३ वर्ष का अन्तर अमिट हो गया।

गण-शाखा-कुलों में परिमार्जन

मथुरा के शिलालेखो मे 'चारणगण' का आदि अक्षर "चा" सर्वत्र "वा" पढा गया है, जो यथार्थ नही है। क्योकि "वारण" शब्द की गण के साथ कोई अर्थ सगति नही बठती, जब कि "चारण" शब्द गण के साथ बिल्कुल सगत हो जाता है जैन सूत्रो मे "विद्याचारण, जघाचारण, जलचारण" आदि अनेक प्रकार के आत्मशक्ति-सम्पन्न श्रमणो के नाम मिलते हैं। उन्ही मे से किसी प्रकार की चारणलब्धि से सम्पन्न गण प्रवर्तक श्रीगुप्त स्थविर होगे, जिससे उनके "गण' का नाम "चारण गण" पड गया है।

शाखाओ मे उच्चानागरी शाखा का उल्लेख अधिकाश स्थानो मे "उच्चे नागरी" के रूप मे किया गया है। सम्भव है उच्चानागरी शाखा के वाचको को "उच्चर्नागर वाचक" नाम से सम्बोधित किया जाता था, उसी के अनुकरण मे लेखक ने "उच्चा" के स्थान पर "उच्चे" कर दिया हैं। हमने स्थविरावलीगत ' उच्चानागरी" नाम ही कायम रखा है।

कोटिक गण की 'वइरी' शाखा "वइरी" अथवा 'वइरा' इस प्रकार से शिलालेखो मे उत्कीर्ण मिलती है। परन्तु दो लेखो मे "कोटिक गण" के साथ इसका प्राय वज्री के रूप मे उल्लेख हुआ है। कतिपय स्थविरावलीगत कुल नामो के साथ शिलोत्कीर्ण नाम अधिक जुदा पड जाते हैं। "कोटिक गण" के "बभलिज्जिय" नाम के स्थान मे लेखो मे कोई सात जगह "ब्रह्मदासिका" नाम मिलता है, इधर पट्टावलीगत "बभलिज्जिय" शब्द से भी कोई विशिष्ट अर्थ नही निकलता। सभव है "कोटिक गण" के जन्मदाता "सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के गुरुभ्राता "ब्रह्मगणी" का पूरा नाम "ब्रह्मदास गणि" हो और उन्ही के नाम से "ब्रह्मदासिक कुल" प्रसिद्ध

स्थविरावली की प्राचीनता

उपर्युक्त कल्प-स्थविरावली मे स्थविरो के सत्ता-समय के सम्बन्ध मे कुछ भी सूचन नही मिलता, अपितु भिन्न गाथाओ मे इनका समय निरूपण किया हुआ है। युगप्रधानो की पट्टावलिया भी दो प्रकार की मिलता हैं, एक माथुरीवाचनानुयायिनी और दूसरी वालभीवाचनानुयायिनी। माथुरी वाचनानुर्यायिनी पट्टावली मे युगप्रधानो के नाम मात्र दिये हुए हैं, उनका समयक्रम नही लिखा तब वालभीवाचनानुयायिनो पट्टावली मे स्थविरो के नामो के साथ उनके युगप्रधानत्व पर्याय का समय भी दिया हुआ है। इन गाथाओ मे गाविन्द वाचक का नाम भी सम्मिलित किया है और आय सुहस्ती का नाम कम करके आय महागिरि के बाद बलिस्सह से प्रारम्भ कर देवर्द्धिगणि तक २७ नामो की सूची दी है। इस सूची मे आय सुहस्ती को छोड देना और गोविन्द वाचक को ग्रहण करना ये दोनो बातें अयथार्थ हैं। यह पट्टावली गुरुपरम्परा नही किन्तु वाचक स्थविर परम्परा है। आय महागिरि के बाद आय सुहस्ती वाचक रहे हुए हैं, जब कि गोविन्द वाचक का नाम नन्दि-स्थविरावलो मे प्रक्षिप्त गाथा मे आया है, मूल म नही। इसलिए हमने इस माथुरी वाचना के अनुयायी स्थविरो के नामो मे आय सुहस्ती का नाम कायम रक्खा है और "गोविन्द वाचक" नाम हटा दिया है। इस प्रकार "बलिस्सह को ११वा वाचक मानने से देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक के वाचको की सख्या २७ हो जाती है। पहले हम माथुरीवाचनानुयायिनी स्थविरावली के नाम बताने वाली गाथाओ को उद्धृत करगे, आय महागिरि के परवर्ती स्थविर वाचको के नाम निम्न प्रकार से हैं

'सूरि बलिस्सह साई, सामज्जो सडिलो य जीयधरो।
अज्जसमुद्दो मगू नदिल्लो नागहत्थी य ॥

रेवइसिंहो खंदिल - हिमव नागज्जुणा य तेवीस ।
सिरिभूइ–दिन्न–लोहिच्च–दूसगणिणो य देवड्ढी ॥"

अर्थात् 'आचार्य बलिस्सह ११, स्वाति १२, श्यामाचार्य १३, जीतधर शाण्डिल्य १४, आर्य समुद्र १५, आर्य मंगू १६, नंदिल्ल १७, नागहस्ती १८, रेवतिनक्षत्र १६, ब्रह्मद्वीपिकसिंह २० स्कन्दिल २१, हिमवान् २२, नागार्जुनवाचक २३, श्री भूतिदिन्न २४, श्री लोहित्य २५, श्री दूष्यगणि २६ और श्री देवर्द्धिगणि २७, ये २७ स्थविर माथुरीवाचना के अनुसार युगप्रधान वाचक हुए।

अब हम वालभीवाचनानुयायिनी स्थविर परम्परा का निरूपण करते हैं

"सिरि वीराउ सुहम्मो, वीस चउचत्त वास जवुस्स ।
पभवेगारस सिज्ज, –भवस्स तेवीस वासाणि ॥ १ ॥
पन्नास जसोभद्दे, संभूयसट्ठि भद्दवाहुस्स ।
चउदस य थूलभद्दे, पणयालेव दुसगसट्ठी ॥ २ ॥
अज्ज महागिरि तीस, अज्जसुहत्थीण वरिस छायाला ।
इगचालीस जाणसु, निगोयवक्खाय सामज्जे ॥ ३ ॥
रेवइमित्ते वासा, होंति छत्तीस उदहि नामम्मि ।
वासाणि नवमगू – थेरंमि वीसव साणि ॥ ४ ॥
चउयाल अज्जधम्मे, एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ ।
सिरिगुत्ति पनर वइरे, छत्तीस हुंति वासाणि ॥५॥
तेरस वासा सिरिअज्ज, –रक्खिए वीस पूसमित्तस्स ।
सिरि वज्जसेणि तिण्णि य गुणसत्तरि नागहत्थिस्स ॥६॥"

अर्थात् 'वीरनिर्वाण से २० वर्ष व्यतीत होने पर सुधर्मा का निर्वाण हुआ, सुधर्मा से ४४ वर्ष के बाद जम्बू का निर्वाण हुआ, जम्बू से ११ वर्ष के बाद प्रभव का और प्रभव से ९३ वर्ष के बाद शय्यम्भव का स्वर्गवास हुआ। शय्यम्भव से ५० वर्ष बाद यशोभद्र का तथा यशोभद्र से

हैं या दिगम्बर सम्प्रदाय के ? "षट्खण्डागम कषाय-पाहुड" अथवा इनकी टीकाओं में इन बातों का कहीं भी सूचन तक न होने पर भी अतिश्रद्धावान् भक्त दिगम्बरों के आगमों को ईसा के पूर्व चतुर्थ शती में लिपिबद्ध होने और श्वेताम्बरसम्मत आगमों का पुस्तकों पर लेखन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण का कहने वाले अपनी मान्यता पर विचार करेंगे, तो उनको अपनी खरी स्थिति का ज्ञान होगा ।

मथुरा के स्तूप में से निकली हुई जन-प्रतिमाओं के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का कथन है कि वे दिगम्बर मूर्तियां हैं, यह कथन यथार्थ नहीं । क्योंकि आज से २००० वर्ष पहले मूर्तियां इस प्रकार से बनाई जाती थीं कि गद्दी पर बैठी हुई तथा खड़ी मूर्तियां भी खुले रूप में नग्न नहीं दिखती थीं । उनके वामस्कन्ध से देवदूष्य वस्त्र का अंचल दक्षिण जानु तक इस खूबी से नीचे उतारा जाता था कि आगे तथा पीछे का गुह्य अंग भाग उससे आवृत हो जाता था और वस्त्र भी इतनी सूक्ष्म रेखाओं में दिखाया जाता था कि ध्यान से देखने से ही उसका पता लग सकता था । विक्रम की छठवीं तथा सातवीं शती की खड़ी जिनमूर्तियां इसी प्रकार से बनी हुईं आज तक दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उसके परवर्ती समय में ज्यों ज्यों दिगम्बर सम्प्रदाय व्यवस्थित होता गया त्यों त्यों उसने अपना जिनमूर्तियों का अस्तित्व पृथक् दिखाने के लिए जिनमूर्तियों में भी प्रकट रूप से नग्नता दिखलाना प्रारम्भ कर दिया । गुप्तकाल से बीसवीं शती तक की जितनी भी जिनमूर्तियां दिगम्बर-सम्प्रदाय द्वारा बनवाई गई हैं वे सभी नग्न हैं । मथुरा के स्तूप में से भी गुप्तकाल में बनी हुईं इस प्रकार की नग्न मूर्तियों के कतिपय नमूने मिले हैं, परन्तु वे सभी विक्रम की आठवीं शती के बाद की हैं, कुषाणकाल की नहीं । मथुरा के स्तूप में से निकले हुए कई आयागपट्ट तथा प्राचीन जिनप्रतिमाओं के छायाचित्र हमने देखे हैं, उनमें नग्नता का कहीं भी आभास नहीं मिलता और यह भी सत्य है कि उन मूर्तियों के "कच्छ" तथा "अंचलि" आदि भी नहीं होते थे, क्योंकि श्वेताम्बर मूर्तियों की यह पद्धति विक्रम की ग्यारहवीं शती के बाद की है ।

वलभी के पुस्तक लेखन मे माथुरी वाचना को मुख्य माना था, अन समय के निर्देश मे

"समणस्स भगवग्रो महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वास-सयाइ विइक्कताइ दसमस्स य वाससयस्स अय असीइमे सवच्छरे काले गच्छइ"

इस प्रकार माथुरी-वाचना की कालविषयक मान्यता का प्रथम निर्देश किया, परन्तु वालभ्य वाचना वाले अपनी मान्यता को गलत मानकर उक्त मान्यता को स्वीकार करने के लिए तैयार नही हुए, परिणामस्वरूप

"वायणतरे पुण अय तेणउए सवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसइ।"

यह सूत्रान्तर लिख कर वालभ्य सघ की मान्यता का भी उल्लेख करना पडा।

ऊपर जिन गाथाओ द्वारा हमने दोनो स्थविरावलियो की काल-विषयक मान्यता का प्रतिपादन किया है, वे गाथाएँ प्राचीन होने पर भी उनमे कई स्थानो मे सशोधन करना पडा है।

राजकाल गणना सम्बन्धी "तित्थोगालीपयन्ना" की गाथाओ मे एक दो स्थानो पर परिमार्जन करना पडा है। नन्दो की वर्षगणना मे ५ वर्ष कम किये हैं, "पणपन्नसय" के स्थान मे "पुण पण्णसय', "अट्ठसय मुरियाण" के स्थान मे 'सट्ठिसयमुरियाण", "तीसा पुण पूसमित्तस्स" के स्थान मे "पणतीसा पूसमित्तस्स" करके पुस्तकलेखको द्वारा प्रविष्ट अशुद्धियो का परिमार्जन किया है।

गाथा के अशुद्ध पाठानुसार नन्दो का काल १५५ और मौर्यों का काल १०८ वर्ष परिमित माना जाता था, जो ठीक नही था। गणना-विषयक इस गडबडो के कारण से ही आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने "परिशिष्ट पर्व" मे चन्द्रगुप्त मौर्य को वीरनिर्वाण से १५५ मे मगध के साम्राज्य पर आसीन होने का लिखा है जो असगत है, क्योकि जिननिर्वाण

से ६० वर्ष व्यतीत होने के बाद नन्द को पाटलीपुत्र के राज्य पर बैठ कर १५५ मे चन्द्रगुप्त को उस गादी पर बैठाने का अर्थ तो यही हो सकता है, कि नन्द ने पाटलीपुत्र पर केवल ७४ वर्ष ही राज्य किया था, परन्तु पौराणिक तथा जैन गणनाओं के अनुसार यह मान्यता असगत प्रमाणित होती है। पुराणों मे 'बिम्बसार-श्रेणिक के उत्तराधिकारी अजातशत्रु' का राज्यकाल ३७, वशक का २४, उदायिन् का ३३, नन्दिवर्द्धन का ४२, महानन्दिन का ४३ और नव नन्दो का १०० वर्ष का माना है। श्रमण-भगवन्त महावीर अजातशत्रु के राज्य के २२वें वर्ष मे निर्वाण प्राप्त हुए थे, अत उसके राजत्वकाल मे से २२ वर्ष कम करने पर भी भगवान् महावीर के निर्वाण से २५७ वर्ष मे मौर्य राज्य का प्रारम्भ आता है, जब कि आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी नन्दो का राज्य समाप्त कर १५५ मे ही चन्द्रगुप्त को मगध की गद्दी पर बैठाते हैं। सशोधित जैनकाल गणना के अनुसार नन्दो के राज्य की समाप्ति २१० वर्ष में होती है और मौर्य चन्द्रगुप्त मगध का राजा बनता है। बौद्धो की गणनानुसार मौर्य्य राज्य का समय जल्दी आता है, परन्तु इस विषय की बौद्ध काल-गणना सर्वथा अविश्वसनीय है, क्योंकि सुदूर लका में बैठे हुए बौद्ध स्थविरों ने जो कुछ सुना उसी को लेखबद्ध कर दिया, औचित्य अथवा सगति का कुछ भी विचार नही किया। उदाहरणस्वरूप हम नवनन्दो के राजत्वकाल के सम्बन्ध मे ही दो शब्द कहते हैं।

बौद्धो ने नवनन्दों का राज्यकाल केवल २२ वर्ष लिखा है, जो किसी प्रकार से ग्राह्य नहीं हो सकता।

जिस प्रकार राजाओ के राजत्वकाल के सम्बन्ध मे लेखको की असावधानी से समय विषयक अनेक अशुद्धियाँ होने पाई हैं, उसी प्रकार स्थविरो की काल-गणना मे भी लेखको के प्रमाद से अशुद्धिया घुस गई हैं जिनके कारण से कई बातो मे विसवाद उपस्थित होते हैं।

ऊपर हमने स्थविरो के काल सम्बन्धी जो गाथाएँ लिखी हैं उनमें आर्य सम्भूतविजयजी के युगप्रधानत्व समय मे लेखकों ने बड़ा घोटाला कर

दिया है "सम्भूयमट्ठी' इस शुद्ध पाठ को बिगाड कर किसी लेखक ने "सम्भूयस्सट्ठ" बना दिया, जिसका अर्थ किया गया सम्भूत के ८ आठ वर्ष, बस एक इकार के अकार के रूप में परिवर्तन होने से ६० के ८ बन गये। मजा तो यह है कि यह भूल आज की नहीं, कोई ८०० सौ वर्षों से भी पहले की है। इसी भूल के परिणामस्वरूप आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने भद्रबाहु स्वामी को जिननिर्वाण से १७० वर्ष में स्वर्गवासी होना लिखा है और इसी भूल के कारण से पिछले पट्टावली लेखकों ने आर्य स्थूलभद्रजी को निर्वाण से २१५ में स्वर्गवासी होना लिखा है, इस भूल का परिणाम बहुत ही व्यापक बना है, इस सम्बन्ध में हम एक दो ही उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त कर देंगे।

सभी पट्टावलीकारों ने आर्य स्थूलभद्रजी का स्वर्गवास वीरनिर्वाण २१५ में माना है। स्वर्गवास की मान्यता के अनुसार इनकी दीक्षा १४६ में आती है, क्योंकि उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और ९९ वर्ष तक ये जीवित रहे थे इस प्रकार १४६ में दीक्षित स्थूलभद्र मुनि अपने गुरु सम्भूतविजयजी के पास अनेक वर्षों तक रह कर पूर्वश्रुत का अध्ययन कर सकते थे परन्तु पठन-पाठन के सम्बन्ध में सर्वत्र भद्रबाहु स्थूलभद्र का ही गुरु-शिष्य भाव दृष्टिगोचर होता है, इससे ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र की दीक्षा का समय पट्टावलीकारों के माने हुए समय से बहुत परवर्ती है। शायद सम्भूतविजयजी के अन्तिम वर्ष में ही स्थूलभद्र दीक्षित हुए होंगे।

आर्य सुहस्ती स्थूलभद्रजी के हस्तदीक्षित शिष्य थे। उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में स्थूलभद्रजी के पास दीक्षा ली थी और १०० वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण से २९१ के वर्ष में उनका स्वर्गवास हुआ था, ऐसा पट्टावलीकार लिखते हैं। पट्टावलीकारों के उक्त लेखानुसार आर्य सुहस्ती की दीक्षा और स्थूलभद्र के पास इनके शिष्य आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती का १० पूर्व पढ़ना असम्भव हो जाता है। इससे मानना होगा कि स्थूलभद्र का स्वर्गवास २१५ में नहीं पर २२१ के बहुत पीछे हुआ है। स्थूलभद्रजी ने आर्य सुहस्ती को जुदा गण दिया था, ऐसा निशीथ विशेष-

चूर्णि आदि मे लेख है। इससे भी ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र के स्वर्गवास के समय मे आर्य सुहस्ती कम से कम १०-११ वर्ष के पर्यायवान् गीतार्थ होगे। इन सब बातो के पर्यालोचन से यही सिद्ध होता है कि स्थूलभद्र का स्वर्गवास का समय माने हुए समय से बहुत पीछे का है।

सम्प्रति के जीव द्रमक को 'कोशम्बाहार' मे आर्य सुहस्ती ने दीक्षा दी, उस समय आर्य महागिरिजी जीवित थे और उस समय मे मगध की राजगद्दी पर मौर्य अशोक था, क्योंकि द्रमक साधु उसी रात को मर कर राजकुमार कुणाल की रानी की कोख मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ माना गया है।

प्रचलित पट्टावलियो मे आर्य महागिरि का स्वर्गवास निर्वाण से २४५ मे माना गया है। यदि यह समय ठीक होता तो द्रमक के दीक्षा-प्रसंग पर उनकी विद्यमानता के उल्लेख नही मिलते, क्योंकि २४५ मे चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार का पाटलिपुत्र मे राज्य था, अशोक का नही। शास्त्र मे अशोक के राज्यकाल मे द्रमक को दीक्षा देने का लिखा है।

उपर्युक्त असंगतियां तो उदाहरण के रूप मे लिखी हैं। इस प्रकार की और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण असंगतियां प्रचलित माथुरी तथा वालभी पट्टावलियो मे दृष्टिगोचर होती है, जो आर्य सम्भूतविजयजी के ६० वर्षों के स्थान पर ८ वर्ष मान लेने का परिणाम है। इसलिए हमने प्राचीन गाथा मे "सम्भूयसट्ठि" इस प्रकार का पाठ स्वीकार कर उक्त प्रकार की असंगतियो को दूर किया है।

हमने गाथाओ मे से आर्य सुहस्ती के बाद के स्थविर "गुणसुन्दर" और निगोदव्याख्याता श्यामार्य के बाद के "स्कन्दिल" के नाम कम किये हैं, क्योंकि ये दोनो नाम "प्राचीन वालभी वाचना" की थेरावली मे नही हैं। आचार्य मेरुतुंग कहते हैं, "मूल स्थविरावली मे न होते हुए भी सम्प्रदाय से ये दोनो नाम लिए गए हैं"। वालभी स्थविरावली मे आर्य समुद्र का नाम हमने दाखिल किया है, क्योंकि सूत्रो की चूर्णियो मे आर्य समुद्र तथा आर्य मंगू के नाम युगप्रधान के रूप मे लिखे मिलते हैं।

"प्रचलित पट्टावली की गाथाओ मे आर्य मगू के वप २० और आर्य धर्म के २४ लिखे हुए हैं। कही कही आर्य धम का युगप्रधानत्व समय ४४ वर्ष का भी लिखा है। आय धर्म के ४४ वप मानने वाले आर्य मगू को उडाकर २० वर्ष कम कर देते हैं, परन्तु हमने आर्य मगू को भी कायम रक्खा है, और आय धर्म के भी ४४ वर्ष माने हैं। "गुणसुन्दर" तथा "स्कन्दि" को कम करने के बाद इस मान्यता के अनुसार ऐतिहासिक सगति ठीक मिल जाती है।"

वालभी वाचना के अनुयायियो तथा लेखको ने भी आचाय देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण को २७वा पुरुप माना है। हमारी सशोधित वालभी पट्टावली मे कालकाचार्य का नाम २७वा आता है और नन्दी स्थविरावली की माथुरी गणना के अनुसार भी देवर्द्धि क्षमाश्रमण का नाम २७वा ही आता है। देवर्द्धिगणि युगप्रधान के रूप मे २७वें हैं, परन्तु गुरु-शिष्य क्रम के अनुसार ३४वें पुरुष हैं।

नन्दीसूत्रकार द्वारा अगीकृत २७ स्थविरो के नामो मे से वालभी वाचनानुयायिनी स्थविरावली मे ९ नाम भिन्न प्रकार के है। आर्य सुहस्ती तक के ११ नामो मे कोई फरक नही है, परन्तु इसके बाद के वालभी के नामो मे १५ से २१ तक के स्थविर धर्म, भद्रगुप्त, श्रीगुप्त, वज्र, रक्षित, पुष्यमित्र और वज्रसेन के नाम वालभी मे जुदे पडते हैं। ये सात नाम वास्तव में युगप्रधान-स्तोत्र मे से वालभी स्थविरावली मे जोड दिये हैं। अतिम नाम कालकाचाय का भी माथुरी से जुदा पडता है। वालभी मे १२वा नाम रेवतिमित्र का है, जब कि माथुरी मे "स्वाति" का। इस प्रकार माथुरी के २७ नामो मे से वालभी के ९ नाम जुदे पडते है, इसका कारण तत्कालीन जैन श्रमणसघ के दो विभाग हैं, प्रथम दुष्काल के समय श्रमणो की छोटी-छोटी टुकडिया समुद्रतट तथा नदी मातृक देशो मे पहुँची थी और दुष्काल के अन्त मे फिर सम्मिलित हो गई थी, परन्तु सम्प्रति मौय के समय मे सुदूर दक्षिण मे पहुचे हुए श्रमण तथा आय वज्र के समय के दुर्भिक्ष मे दक्षिण, मध्यभारत तथा पश्चिम भारत मे पहुँचे हुए श्रमण उत्तर-भारतीय श्रमणगणो से बहुत दूर विचर रहे थे, इस कारण

से तत्कालीन जैन-श्रमणो मे चलती हुई "सघ स्थविर शासन पद्धति" के अनुसार उत्तरीय श्रमणगणो के "सघस्थविर" के स्थान मे अपना नया सघस्थविर नियुक्त करके सघ स्थविर-पद्धति को निभाते थे। आर्य धर्म से लेकर आय वज्रसेन तक के ७ ही स्थविर बहुधा भारत के मध्य तथा दक्षिण प्रदेश मे विध्याचल के आसपास विचरने वाले थे, इसलिए उधर के श्रमणगणो ने इन स्थविर आचार्यो को अपनी वाचक परम्परा मे मान लिया था। स्थविर वज्रसेन के बाद दाक्षिणात्य श्रमणसघ पश्चिमोत्तर की तरफ मुडकर जब विदभ मे होता हुआ सौराष्ट्र की तरफ पहुँचा तब उत्तरीय श्रमणसघ भी पश्चिम की तरफ विचरता हुआ मथुरा के आसपास के प्रदेशो मे पहुँच चुका था फलस्वरूप फिर दोनो सघो का एक दूसरे से सम्पक हुआ और स्थविर शासन पद्धति फिर एक हो गई। आय वज्रसेन के बाद के उत्तरीय सघ के आय नागहस्ती, आय रेवतिनक्षत्र, ब्रह्मदीपिकसिंहसूरि, नागार्जुन वाचक और भूतदिन्न इन पाच सघस्थविरो को अपनी स्थविरावली मे स्थान देकर श्रमणसघ का अखण्डत्व कायम किया। इस प्रकार दाक्षिणात्य श्रमणसघ ने १७० वष तक अपनी सघस्थविर शासन पद्धति को स्वतन्त्र रूप से निभा कर विक्रम की दूसरी शताब्दी के मध्य मे फिर वे उत्तरीय सघ मे सम्मिलित हुए और ३६० से अधिक वर्षो तक सघ स्थविर पद्धति अखण्डित रही। इस समय के दर्मियान दुर्भिक्षादि विषमकाल के वश जैन श्रमणो का आगमाध्ययन अव्यवस्थित बन गया था, अत उत्तरीय सघ के नेता आय स्कन्दिल और दाक्षिणात्य सघ के नायक नागार्जुन वाचक ने क्रमश मथुरा तथा वलभी मे अपने श्रमणगणो को इकट्ठा कर आगमो को व्यवस्थित करके ताडपत्रो पर लिखवाया। कालान्तर मे उत्तरीय तथा दाक्षिणात्य सघ फिर वलभी मे सम्मिलित हुए और दोनो वाचनाओ के अनुगत आगमो का समन्वय किया, इस समन्वयकारक सम्मेलन मे माथुरी वाचनानुयायी श्रमणसघ के प्रमुख स्थविर 'देवर्द्धिगणि वाचक' थे, तब वालभी वाचनानुयायी श्रमणसघ के नेता आय "कालक", यह समय वीरनिर्वाण से दशम शतक का अन्तिम चरण था।

आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण-निरूपित :

१. नन्दी-स्थविरावली : सानुवाद

नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में सूत्रकार ने अपनी परम्परा के अनुयोगधरो का सविस्तर वर्णनपूर्वक वन्दन किया है। ये स्थविर अनुयोगधर वाचक थे, न कि गुरु शिष्य के क्रम से आए हुए पट्टधर, किसी अनुयोगधर के बाद उनका शिष्य ही अनुयोगधर बना है तो अनेक अनुयोगधरो के बाद अन्य श्रुतधर वाचक पद प्राप्त कर वाचको की परम्परा मे आए हैं। यह परम्परा अनुयोगधरो की है, यह बात देवर्द्धिगणिजी ने स्वय अंतिम गाथा ४३वी मे सूचित की है।

नन्दी-स्थविरावली की मूल गाथाएँ नीचे दी जाती है। गाथाओ का अक सूत्रोक्त ही दिया गया है

"सुहम्म अग्गिवेसाण, जबूनाम च कासव ।
पभव कच्चायण वदे, वच्छ सिज्जभव तहा ॥२३॥

जसभद्द तुगिय वदे, सभूय चेव माढर ।
भद्दबाहु च पाइन्न, थूलभद्द च गोयम ॥२४॥

एलावच्चसगोत्त, वदामि महागिरिं सुहत्थि च ।
तत्तो कोसिअगोत्त, बहुलस्स सरिव्वय वदे ॥२५॥"

अर्थ 'अग्निवैश्यायनगोत्रीय सुधर्मा,[1] काश्यपगोत्रीय जम्बू,[2] कात्यायनगोत्रीय प्रभव[3] तथा वत्सगोत्रीय शय्यम्भव[4] को वन्दन करता हूँ। तुगियायनगोत्रीय यशोभद्र,[5] माठरगोत्रीय सम्भूत,[6] प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु[7]

और गौतमगोत्रीय स्थूलभद्र को वन्दन करता हू । ऐलापत्यगोत्रीय महागिरि (वासिष्ठगोत्रीय) सुहस्ती और कौशिकगोत्रीय बहुल के समवयस्क बलिस्सह को वन्दन करता हू ।२३।२४।२५।।'

"हारियगुत्त साइ च, वदिमो हारिय च सामज्ज ।
वदे कोसियगोत्त, सडिल्ल अज्जजीयधर ॥२६॥
तिसमुद्दखायकित्ति, दीवसमुद्देसु गहियपेयाल ।
वदे अज्जसमुद्द, अक्खुभिय-समुद्द-गभीर ॥२७॥
भणग करग झरग, पभावग णाण दसण गुणाण ।
वदामि अज्जमगु, सुयसागरपारग धीर ॥२८॥"

'हारितगोत्रीय स्वाति और श्यामार्य को वन्दन करते हैं । कौशिक-गोत्रीय आय जीतधर शाण्डिल्य को वन्दन करता हू । तीन समुद्रपयन्त जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध है और द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्ञान मे जो गहरे उतरे हुए हैं ऐसे अक्षुब्ध-समुद्र के जैसे गम्भीर आय समुद्र को वन्दन करता हूँ । प्रतीच्छको को सूत्रो का पाठ देने वाले, शास्त्रोक्त क्रियामाग मे प्रवृत्तिमान् ज्ञान-दशन के गुणो को शोभाने वाले और श्रुत समुद्र के पारगत धीर पुरुष आय मगू को वन्दन करता हूँ ।२६।२७।२८।।'

"नाणम्मि दसणम्मि अ, तव विणए णिच्चकालमुज्जुत्त ।
अज्ज नन्दिलखमण, सिरसा व दे, पसन्नमण ॥२९॥
वड्ढउ वायगवसो, जसवसो अज्जनागहत्थीण ।
वागरणकरण - भागिय - कम्मपयडीपहाणाण ॥ ३० ॥
जच्चजणधाउ - सम प्पहाण मुद्दियकुवलयनिहाण ।
वड्ढउ वायगवसो, रेवइनक्खत्तनामाण ॥ ३१ ॥"

अथ 'ज्ञान, दर्शन तथा तप विनय मे नित्यकाल उद्यमवन्त और प्रसन्नचित्त आय नन्दिल क्षपक को सिर नवा कर वन्दन करता हूँ । व्याकरण, चरण-करण, भगिकसूत्र और कमप्रकृति मे प्रधान, ऐसे आय नागहस्ती का यशस्वी वाचक वश वृद्धिगत हो, जात्य अजनधातु के समान

तेजस्वी और द्राक्षा तथा नीलकमल के समान कान्ति वाले ऐसे रेवतिनक्षत्र अर्थात् रेवतिमित्र नामक आचार्य का वाचकवश वृद्धि को प्राप्त हो। ।२६ ३०।३१।।'

"अयलपुरा णिक्खते, कालियसुयग्रणुग्रोगिए धीरे ।
बभद्दीवगसीहे, वायगपयमुत्तम पत्ते ॥ ३२ ॥

जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्डभरहम्मि ।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥

तत्तो हिमवन्तमहन्त-विक्कमे विइपरक्कममणंते ।
सज्झाय मणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥३४॥"

अर्थ : 'अचलपुर से निकल कर प्रव्रजित होने वाले, कालिक श्रुत के अनुयोगधर, धीर और उत्तम वाचक पद को प्राप्त ब्रह्मद्वीपिकसिंह स्थविर को वन्दन करता हूँ। जिनका यह अनुयोग आज भी इस अर्द्ध भरतक्षेत्र मे प्रचलित है और अनेक नगरो मे जिनका यश फैल रहा है, उन श्री स्कंदिलाचार्य को वन्दन करता हूँ। स्कन्दिल के बाद हिमवन्त के समान महाविक्रमशाली अमर्यादित-धृतिपराक्रम वाले और अपरिमित स्वाध्याय के धारक आचाय हिमवन्त को सिर नवा कर वन्दन करते हैं। ।३२।३३।३४।'

"कालियसुयअणुओगस्स, धारए धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंतखमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ॥ ३५ ॥

मिउमद्दवसपन्ने, अणुपुव्वि वायगत्तणं पत्ते ।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥ ३६ ॥"

अर्थ 'कालिक श्रुतानुयोग के और पूर्वों के धारक हिमवन्त क्षमाश्रमण को वन्दन करता हूँ। जो मृदुमादव से सम्पन्न, उत्सगश्रुतानुसार चलने वाले तथा अनुक्रम से वाचक-पद पाने वाले हैं, उन नागार्जुन वाचक को वन्दन करता हूँ ।३५।३६।।

"वरकणग तविय चपग-विमलयर कमलगब्भसरिवन्ने ।
भविअजणहियदइए, दयागुणविसारए धीरे ॥ ३७ ॥

अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविह सज्झाय सुमुणिय पहाणे ।
अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवशनदिकरे ॥ ३८ ॥

भूयहिअप्पगब्भे, वदेऽह भूयदिन्नमायरिए ।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीण ॥ ३९ ॥"

अथ । "अग्नितप्त श्रेष्ठ सुवर्णतुल्य, चम्पकपुष्पसदृश, कमलपुष्प के गर्भसदृश वर्ण वाले, भाविक जनो के हृदयप्रिय, दयागुण मे विशारद, धैर्यवन्त, दक्षिणार्धभरत में प्रधान, अनेकविध स्वाध्याय से यथार्थज्ञाततत्त्व, पुरुषो मे प्रधान, अनुयोगधर पुरुषो मे श्रेष्ठ, नागिल कुल की परम्परा के वृद्धिकारक, प्राणियो का हित करने मे दक्ष, ससार के भय का नाश करने वाले ऐसे नागार्जुन ऋषि के शिष्य आचाय भूतदिन्न को वन्दन करता हूं । ।३७।३८।३९।'

"सुमुणियनिच्चाऽनिच्च, सुमुणियसुत्तत्थधारय वदे ।
सब्भावुब्भावणया - तत्थ लोहिच्चणामाण ॥४०॥

अत्थमहत्थक्खाणि, सुसमणवक्खाणकहणनिव्वाणि ।
पयईइ महुरवाणि, पयओ पणमामि दूसगणि ॥४१॥

सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीण, पडिच्छ (ग) सएहिं पणिवइए ॥४२॥"

अथ । "जिन्होंने पदार्थों की नित्यानित्य अवस्था को अच्छी तरह जाना है, जो यथायसूत्र अर्थ के धारक हैं और जो सद्भावो के प्रकाशन मे यथार्थ हैं, ऐसे "लोहित्य" नामक अनुयोगधर को वन्दन करता हूं । पदार्थों के अर्थविस्तार की जो खान हैं, उत्तम श्रमणो को सूत्रो की व्याख्या द्वारा निर्वृ तिदायक हैं और प्रकृति से मधुरभाषी हैं, ऐसे दूष्यगणि को प्रयत्नपूर्वक नमन करता हूं । जिन प्रावचनिक दूष्यगणि के चरण सुकुमाल और कोमल तल वाले तथा शुभ लक्षणों से प्रशस्त हैं और जो

सैकडो प्रतीच्छको से वदित हैं, उन दूष्यगणि के चरणो में नमन करता हूँ ।४०।४१।४२।।'

"जे अन्ने भगवन्ते, कालिअसुयआणुओगिए धीरे।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स परुवणं वोच्छं ॥४३॥"

अर्थ 'उक्त अनुयोगधरों के अतिरिक्त जो कालिक श्रुत के अनुयोगधारी धीर पुरुष हैं, उन सब भगवन्तो को सिर से प्रणाम कर ज्ञान का प्ररूपण करूगा ।४३।'

कल्प स्थविरावली का वर्णन शाण्डिल्य तक सर्वप्रथम दिया है। उसके बाद माथुरी वाचनानुयायी स्थविरावलीगत अनुयोगधरो की नामावली बताने वाली मौलिक गाथाएँ लिखकर उनकी चर्चा की है। माथुरी के बाद वालभी वाचनानुगत स्थविरो का निरूपण करने वाली गाथाएँ समय-प्रतिपादन के साथ लिखी हैं। इन सब वातो को कोष्टको के रूप मे लिख कर अन्त मे स्थविर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुर्वावली का कोष्टक देकर इस लेख को पूरा करेंगे।

माथुरी-वाचनानुगत स्थविर-क्रम

१ सुधर्मा	१० सुहस्ती	१९ रेवतिनक्षत्र
२ जम्बू	११ बलिस्सह	२० ब्रह्मद्वीपिकसिंह
३ प्रभव	१२ स्वाति	२१ स्कन्दिलाचार्य
४ शय्यम्भव	१३ श्यामार्य	२२ हिमवन्त
५ यशोभद्र	१४ शाण्डिल्य	२३ नागार्जुन वाचक
६ सम्भूतविजय	१५ समुद्र	२४ भूतदिन्न
७ भद्रबाहु	१६ मगू	२५ लोहित्य
८ स्थूलभद्र	१७ नन्दिल	२६ दूष्यगणि
९ महागिरि	१८ नागहस्ती	२७ देवर्द्धिगणि

वालभी-वाचनानुगत-स्थविर-क्रम

श्री महावीरनिर्वाण विक्रम पूर्व ४७० ई० स० पू० ५२७।

क्रमांक	नाम	नि से नि तक	वि० पू०	ई० स० पू०	तक
१	सुधर्मा	२०	४७०–४५०	५२७–५०७	,,
२	जम्बू	२०–६४	४५०–४०६	५०७–४६३	,,
३	प्रभव	६४–७५	४०६–३९५	४६३–४५२	,,
४	शय्यम्भव	७५–९८	३९५–३७२	४५२–४२९	,,
५	यशोभद्र	९८–१४८	३७२–३२२	४२९–३७९	,,
६	सम्भूतविजय	१४८–२०८	३२२–२६२	३७९–३१९	,,
७	भद्रबाहु	२०८–२२२	२६२–२४८	३१९–३०५	,,
८	स्थूलभद्र	२२२–२६७	२४८–२०३	३०५–२५९	,,
९	महागिरि	२६७–२९७	२०३–१७३	२५९–२२९	,,
१०	सुहस्ती	२९७–३४३	१७३–१२७	२२९–१८४	,,
११	कालकाचार्य	३४३–३८४	१२७–८६	१८४–१४३	,,
१२	रेवतिमित्र	३८४–४२०	८६–५०	१४३–१०७	,,
१३	आर्य समुद्र	४२०–४२९	५०–४१	१०७–९८	,,
१४	आर्य मगू	४२९–४४९	४१–२१	९८–७८	,,
१५	आर्य धर्म	४४९–४९३	२१ से वि स २३	७८–३४	,,
१६	भद्रगुप्त	४९३–५३२	२३–६२	३४ ई स ५	,,
१७	श्रीगुप्त	५३२–५४७	६२–७७	५–२०	,,
१८	आर्य वज्र	५४७–५८३	७७–११३	२०–५६	,,
१९	आर्य रक्षित	५८३–५९६	११३–१२६	५६–६९	,,
२०	पुष्यमित्र	५९६–६१६	१२६–१४६	६९–८९	,,
२१	वज्रसेन	६१६–६१९	१४६–१४९	८९–९२	,,
२२	नागहस्ती	६१९–६८८	१४९–२१८	९२–१६१	,,
२३	रेवतिमित्र	६८८–७४७	२१८–२७७	१६१–२२०	,,
२४	ब्रह्मद्वीपिक सिंहसूरि	७४७–८२५	२७७–३५५	२२०–२९८	,,
२५	नागार्जुन	८२५–९०३	३५५–४३३	२९८–३७६	,,

क्रमांक	नाम	नि से तक	वि० स०	ई० स०	तक
२६	भूतदिन	६०३–६८२	४३३–५१२	३७६–४५५	,,
२७	कालकाचार्य	६८२–६९३	५१२–५२३	४५५–४६६	,,❀

श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुर्वावली

१ सुधर्मा	११ आर्य दिन्न	२३ जेष्ठिल
२ जम्बू	१२ आर्य सिंहगिरि	२४ आर्य विष्णु
३ प्रभव	१३ आर्य वज्र	२५ आर्य कालक
४ शय्यम्भव	१४ आर्य रथ	२६ सपलित तथा आर्यभद्र
५ यशोभद्र	१५ आर्य पुष्यगिरि	२७ आर्य वृद्ध
६ संभूतविजय भद्रबाहु	१६ फल्गुमित्र	२८ आर्य संघपालित
	१७ आर्य धनगिरि	२९ आर्य हस्ती
७ स्थूलभद्र	१८ आर्य शिवभूति	३० आर्य धर्म
८ महागिरि तथा सुहस्ती	१९ आर्यभद्र	३१ आर्य सिंह
	२० आर्य नक्षत्र	३२ आर्य धर्म
९ सुस्थित सुप्रतिबुद्ध	२१ आर्य रक्ष	३३ आर्य शाण्डिल्य
१० आर्य इन्द्रदिन्न	२२ आर्य नाग	३४ देवर्द्धिगणि

❀ १५ वें आर्य धर्म से विक्रमपूर्व का समय समाप्त होकर विक्रम के पश्चात् का समय आरम्भ होता है और १६ वें समुद्रगुप्त से ई० पू० का काल समाप्त होकर बाद का आरम्भ होता है।

श्वेताम्बर जैनों के आगम

दिगम्बर जन लेखक कहा करते है कि श्वेताम्बर मतप्रवर्तक जिनचन्द्र ने अपने आचरण के अनुसार नये शास्त्र बनाये और उनमे स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति और महावीर का गर्भापहार आदि नई बाते लिखी। इस आक्षेप के ऊपर हम शास्त्रार्थ करना नही चाहते, क्योकि 'केवलिभुक्ति" का निषेध पहले पहल दिगम्बराचाय देवनन्दी ने किया है जो विक्रम की छठी सदी के विद्वान् ग्रन्थकार माने जाते हैं। 'स्त्रीमुक्ति" का निषेध दशवी शती के दिगम्बर ग्रथकारो ने किया है। इनके पहले के किसी भी दिगम्बर जन ग्रन्थकार ने उक्त दो बातो का निषेध नही किया था, इसलिए इन बातो की प्रामाणिकता स्वय सिद्ध है।

श्वेताम्बर जैन-सघमान्य वतमान आगमो की प्रामाणिकता और मौलिकता के विषय मे हम यहा कुछ भी नही लिखेगे, क्योकि हमारे पहले ही जैन आगमो के प्रगाढ अभ्यासी डाक्टर हमन जेकोबि जैसे मध्यस्थ यूरोपियन स्कॉलरो ने ही इन आगमो को वास्तविक "जैन-श्रुत" मान लिया है और इन्ही के आधार से जन धम की प्राचीनता सिद्ध करने मे वे सफल हुए हैं। इस बात को बाबू कामताप्रसाद जन जस दिगम्बर सम्प्रदायी विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। वे 'भगवान् महावीर" नामक अपनी पुस्तक मे लिखते हैं "जमनी के डॉक्टर जकोबिसदृश विद्वानो ने जनशास्त्रो का प्राप्त किया और उनका अध्ययन करके उनको सभ्य ससार के समक्ष प्रकट भी किया कि "ये श्वेताम्बराम्नाय के अगग्रथ हैं। और डॉ० जकोबि इन्ही का वास्तविक जैन श्रुतशास्त्र समझते हैं।"

हम यह दावा भी नही करते कि जनसूत्र जिस रूप मे महावीर के मुख्य शिष्य गणधरो के मुख से निकले थे, उसी रूप मे आज भी हैं और,

न हमारे पूर्वाचार्यो ने ही यह दावा किया हैं, बल्कि उन्होने तो भिन्न-भिन्न समयो मे अगसूत्र किस प्रकार व्यवस्थित किये और लिखे गये, यह भी स्पष्ट लिख दिया है।

गुरु शिष्य क्रम से आये हुए सूत्रो की भाषा और शैली मे हजार आठ सौ वर्षों मे कुछ भी परिवर्तन न हो यह सम्भव भी नही है। यद्यपि सूत्रो मे प्रयुक्त प्राकृत भाषा उस समय की सीधीसादी लोकभाषा थी, परन्तु समय के प्रवाह के साथ ही उसकी सुगमता ओझल हो गई और समझने के लिए व्याकरणो की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ मे व्याकरण तत्कालीन भाषानुगामी बने, परन्तु पिछले समय मे ज्यो ज्यो प्राकृत का स्वरूप अधिक मात्रा मे बदलता गया त्यो त्यो व्याकरणों ने भी उसका अनुगमन किया। फल यह हुआ कि हमारी "सौत्र-प्राकृत" पर भी उसका असर पडे बिना नही रहा। यही कारण है कि कुछ सूत्रो की भाषा नयी-सी प्रतीत होती है।

प्राचीन सूत्रो मे एक ही आलापक, सूत्र और वाक्य को बार-बार लिखकर पुनरुक्ति करने का एक साधारण नियम-सा था। यह उस समय की सर्वमान्य शैली थी। वैदिक, बौद्ध और जैन उस समय के सभी ग्रन्थ इसी शैली मे लिखे हुए हैं, परन्तु जैन आगमो के पुस्तकारूढ होने के समय यह शैली कुछ अशो मे बदलकर सूत्र सक्षिप्त कर दिये गये और जिस विषय की चर्चा एक स्थल मे व्यवस्थित रूप से हो चुकी होती, उसे अन्य स्थल मे सक्षिप्त कर दिया जाता था और जिज्ञासुओ के लिए उसी स्थल मे सूचना कर दी जाती थी कि "यह विषय अमुक सूत्र अथवा अमुक स्थल मे देख लेना'। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी बातें, जो उस समय शास्त्रीय मानी जाने लगी थी, उचित स्थान मे यादी के तौर पर लिख दी गई जो आज तक उसी रूप मे दृष्टिगोचर होती हैं और अपने स्वरूप से ही वे नयी प्रतीत होती हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय भी पहले उन्ही आगमो को प्रमाण मानता था, जिन्हें आज तक श्वेताम्बर जैन मानते आए हैं। परन्तु छठी शताब्दी से जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय बहुत-सी बातो मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुदा

पड गया था, खासकर केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति आदि बातो के एकान्त निषेध की प्ररूपणा प्रारम्भ कर दी, तब से इन्होने इन आगमो को अप्रामाणिक कह कर छोड दिया और नई रचनाओ से अपनी परम्परा को समृद्ध करने लगे थे।

दिगम्बर विद्वान् महावीर के गर्भापहार की बात को अर्वाचीन मानते है, परन्तु यह मान्यता दो हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है, ऐसा कथन डॉ० हर्मन जैकोबि आदि विद्वानो का है। यह कथन अटकल मात्र नही, ठोस सत्य हैं। इस विषय मे जिनकी शका हो, वे मथुरा के ककाली टीला में से निकले हुए "गर्भापहार का शिलापट्ट" देख लें, जो आजकल लखनऊ के म्युजियम मे सुरक्षित हैं। प्राचीन लिखित कल्पसूत्रो की पुस्तको मे जैसा इस विषय का चित्र मिलता है, ठीक उसी प्रकार का दृश्य उक्त शिलापट्ट पर खुदा हुआ है। माता त्रिसला और पखा झलने वाली दासी को अवस्वापिनी निद्रा मे सोते हुए और हिरन जैसे मुख वाले हरिनैगमेषी का अपने हस्त-सपुट मे महावीर को लेकर ऊर्ध्वमुख जाता हुआ बताया है। इस दृश्य के दर्शनार्थी लखनऊ के म्युजियम मे नं० जे ६२६ वाली शिला की तलाश करे।

इसी प्रकार भगवान् महावीर की 'आमलकीक्रीडा" सम्बन्धी वृत्तान्तदर्शक तीन शिलापट्ट ककाली टीला मे से निकले हैं और इस समय मथुरा के म्युजियम मे सुरक्षित हैं। इन पर नम्बर १०४६ F ३७ तथा १११५ हैं, उपर्युक्त दोनो प्रसगो से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख भी वहाँ मिलते हैं।

पाठकगण को ज्ञात होगा कि महावीर की "आमलकीक्रीडा" का वर्णन भी जैन श्वेताम्बर शास्त्रो मे ही मिलता है, दिगम्बरो के ग्रन्थो मे इसका कही भी उल्लेख नही है।

उपर्युक्त दो प्रसगो के प्राचीन लेखो और चित्रपटो से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि श्वेताम्बर जैन आगमों मे वर्णित गर्भापहार और आमलकी क्रीडा का वृत्तान्त दो हजार वर्षों से भी अधिक प्राचीन है।

इस प्रकार श्वेताम्बर जैन-शास्त्रोक्त वृत्तान्तो के प्रामाणिक सिद्ध होने से उनके शास्त्रो की प्राचीनता और प्रामाणिकता स्वय सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बर जैनसघ के मान्य कल्पसूत्रो मे पुस्तक लिखने के समय की स्मृति मे लिखे हुए, वीर निर्वाण स० ९८० और ९९३ के उल्लेख मिलते हैं। और इस सूत्र की थेरावली मे भगवान् देवर्द्धिगणि तक की गुरु-परम्परा का भी वर्णन है। इन दो बातो के आधार पर दिगम्बर विद्वान् कह बैठते हैं कि कल्पसूत्र देवर्द्धिगणि की रचना है। पर वे यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि इसी सूत्र की थेरावली मे वर्णित कतिपय गण, शाखा और कुलों के निर्देश राजा कनिष्क के समय मे लिखे गए मथुरा के शिलालेखो मे भी मिलते हैं। जिज्ञासु पाठक इसके लिए हमारी सम्पादित "कल्प-स्थविरावली" पढें।

ऊपर हमने मथुरा के जिन लेखो और चित्रपटो का उल्लेख किया हैं, वे सब मथुरा के ककाली टीला के नीचे दबे हुए एक जैन-स्तूप मे से सरकारी शोधखाता वालो को उपलब्ध हुए हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थ "आचाराग" की निर्युक्ति मे तथा "निशीथ" "बृहत्कल्प" और "व्यवहार" सूत्रो के भाष्यो और चूर्णियो मे इस स्तूप का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थो के रचनाकाल मे यह स्तूप जैनो का अत्यन्त प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था। चूर्णिकारो के समय में यह "देवनिर्मित स्तूप" के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था, "व्यवहारचूर्णि" मे इसकी उत्पत्ति-कथा भी लिखी मिलती है। इस स्तूप मे से उक्त लेखो से भी सैकडो वर्षो के पुराने अन्य अनेक लेख तीर्थङ्करो की मूर्तिया, पूजा-पट्टक, प्राचीन पद्धति की अग्रावतार वस्त्र वाली जैन-श्रमण की मूर्ति आदि अनेक स्मारक मिले हैं जो सभी श्वेताम्बर जैन परम्परा के हैं और लखनऊ तथा मथुरा के अजायबघरो मे सुरक्षित हैं। इन अतिप्राचीन स्मारको मे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला कोई स्मारक अथवा उनके चतुर्दश पूर्वधर, दश पूर्वधर, एकादशागधर, अगधर या उनके बाद के किसी प्राचीन आचार्य का नाम या उनके गण, गच्छ, या सघ का कहीं नामोल्लेख

तक नहीं है। गुप्तकालीन कुछ नग्न जिनप्रतिमाएँ भी वहा से हाथ लगी हैं, उसका कारण यह है कि मिहिरगुल हूण राजा के उपद्रवो के समय उत्तर तथा पश्चिम भारत के श्वेताम्बर सम्प्रदाय राजस्थान, मेवाड और मालवा की तरफ आ गये थे, उस समय दिगम्बरो ने कही-कही अपने सम्प्रदाय की नग्न मूर्तियां मथुरा के स्तूप मे बैठा दी थी, जो गुप्तकालीन, विक्रम की सप्तम तथा अष्टम शती मे बनी हुई हैं, इससे प्राचीन नही। श्वेताम्बर जैन परम्परा कितनी प्राचीन है और उसके वर्तमान आगम कैसे प्रामाणिक हैं इसके निर्णय के लिए हमारा उपर्युक्त थोडा सा विवेचन ही पर्याप्त होगा।

निह्नवों का निरूपण

भगवान् महावीर के समय मे जैन-सघ अविभक्त था। पर आज जैन-धम का अनुयायी वर्ग दो विभागो मे बटा हुआ है १ श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे और २ दिगम्बर सम्प्रदाय मे। महावीर के केवलज्ञान प्राप्त कर अपना तीथ स्थापित करने के पूर्व जैन धर्म का अनुयायी वर्ग साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध सघ तीथङ्कर पार्श्वनाथ का अनुयायी था।

विक्रम सवत् के पूर्व ५०० (ई० ५५७) मे जब भगवान् महावीर ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया और वैशाख शुक्ला ११ को पावामध्यमा के महासेन उद्यान मे चतुर्विध सघ की स्थापना की, तब से जैन-सघ पर भगवान् महावीर का धमशासन आरम्भ हुआ था। पार्श्वनाथ के कतिपय श्रमणगण जो तत्काल महावीर के शासन के नीचे नही आये थे, वे धीरे-धीरे सशय दूर करके महावीर के उपदेशानुसार चलने लगे थे और भगवान् महावीर का धमशासन व्यवस्थित रूप से चलता था।

भगवान् महावीर के जीवनकाल मे दो साधु ऐसे निकले जिन्होंने भगवान् के वचन मे सदेह किया और अपना नया मत प्रचलित किया। इन दो मे पहले का नाम "जमालि और दूसरे का नाम "तिष्यगुप्त" था। इन दो के अतिरिक्त ५ व्यक्तियो ने महावीर के निर्वाण के बाद भिन्न भिन्न विषयो मे महावीर के कथन से अपना मतभेद व्यक्त किया था। वे सात ही मतवादी "निह्नव" कहे गये हैं, इनका कालक्रम से विशेष विवरण नीचे दिया जाता है

(१) बहुसमयवादी जमालि

भगवान् महावीर के धर्मशासन के १४ वर्ष के अन्त मे सर्वप्रथम जमालि नामक एक शिष्य ने भगवान् के एक आदेश का उल्लघन किया।

जमालि क्षत्रियकुण्डपुर का रहने वाला क्षत्रियपुत्र था। वह महावीर का जामाता लगता था, पाच सौ क्षत्रियपुत्रों के साथ महावीर के पास निग्र थ श्रमणधर्म को स्वीकार किया था और एकादशागश्रुत पढा था।

एक बार जमालि ने अपने सहप्रव्रजित पाच सौ साधुओ के साथ पृथक् विहार करने की महावीर से आज्ञा मागी, पर महावीर ने उसे कोई उत्तर नही दिया। दूसरी, तीसरी बार पूछने पर भी भगवान् की तरफ से कोई उत्तर नही मिला, तब जमालि ५०० श्रमणो को साथ ले महावीर से पृथक् हो विचरने लगा।

एक बार वह श्रावस्ती नगरी के "तिन्दुकोद्यान के कोष्ठक चैत्य" मे ठहरा हुआ था। वहा तप और रूक्ष आहारादि के कारण इसका स्वास्थ्य बिगडा और ज्वर आने लगा। शाम का प्रतिक्रमणादि नित्यकम करने के बाद उसने सोने की इच्छा व्यक्त की। वैयावृत्यकर साधु उसके लिए सस्तारक बिछाने लगा, आतुरतावश जमालि ने पूछा 'सस्तारक हो गया ?' वैयावृत्यकर ने कहा 'हो गया' जमालि उठा, पर खडे होने के बाद मालूम हुआ कि सस्तारक बिछ रहा है। जमालि ने कहा सस्तारक हो रहा था तब कैसे कह दिया कि हो गया ? गीतार्थ स्थविरो ने उत्तर दिया कि 'यह नयसापेक्ष वचन है, ऋजुसूत्रनय के मत से इस प्रकार के वचन सत्य माने गये हैं।' भगवान् महावीर ने इसी नय की अपेक्षा से "करेमाणे कडे, डज्झमाणे डड्ढे, गम्ममाणे गए, णिज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे" (क्रियमाण कृत, दह्यमान दग्ध, गम्यमान गत, निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण, इत्यादि वचनप्रयोग किये हैं और इसी नय के अनुसार "सथरिज्जमाण सथरिय" अर्थात् "सस्तारक करना शुरु किया था, इसे किया कहा, यह वचन निश्चय नय के मत से सत्य है। निश्चय नय के मत से

जो क्रिया जिस काय के लिए प्रवृत्त होती है वह अपने पीछे कुछ कार्य करके ही विराम पाती है, क्योकि निश्चय नय क्रिया-काल और निष्ठा-काल को अभिन्न मानता है, परन्तु रुग्ण जमालि के दिमाग मे यह नयवाद नही उतरा और कहने लगा जब तक कोई भी कार्य अर्थ-साधक नही बनता, तब तक उसे "हुआ" नही कहना चाहिए। सस्तारक हो रहा था, उसे हुआ कहा पर वह "शयनक्रियोपयुक्त" नही हुआ, फिर "हुआ" कहने से क्या मतलब निकला ? सत्य बात तो यह है कि "पूरा हुए को ही 'हुआ' कहना चाहिए जो ऐसा नही कहते वे असत्यभाषी हैं।" काय एक समय मे नही बहुतरे समयो के अन्त मे निष्पन्न होता है।

जमालि का उक्त अभिनिवेश देख कर अधिकाश श्रमण उसे छोड कर महावीर के पास चले गये। फिर भी जमालि आप जीवनपर्यन्त अपने दुराग्रह के कारण अकेला ही "बहुरत" वाद का प्रतिपादन करता हुआ निह्नव के नाम से प्रसिद्ध हुआ और महावीर के वचन का विरोध करता रहा।

प्रियदशना साध्वी, जो गृहस्थाश्रम मे महावीर की पुत्री और जमालि की भार्या थी, एक हजार स्त्रीपरिवार के साथ दीक्षित होकर महावीर के श्रमणीसघ मे दाखिल हुई थी। वह भी जमालि के राग से उसके मत को खरा मानती थी और अपनी हजार श्रमणियो के परिवार से परिवृत हुई प्रियदशना श्रावस्ती मे ढक नामक महावीर के कुभकार श्रमणोपासक की भाण्डशाला मे ठहरी हुई था। वह जमालि के बहुसामयिक सिद्धान्त का उपदेश कर रही थी। कुभकार ढक ने अपने आपाक-स्थान (निवाहे) से एक आग की चिनगारी साध्वी की सघाटी पर फेंकी, सघाटी के सुलगते ही प्रियदशना ने कहा श्रावक ! यह क्या किया ? मेरी सघाटी (चद्दर) जला दी ! ढक ने कहा यह क्या कहती हो, सघाटी जलाई ? अभी तो सघाटी जलने लगी है, जली कहा ? यहा साध्वी समझ गई, बोली अच्छा उपदेश दिया ढक ! अच्छा उपदेश दिया। वह अपनी हजार साध्वियो के साथ जाकर महावीर के श्रमणी-सघ मे मिल गई, फिर भी जमालि ने अपने नूतन सिद्धान्त का त्याग नही किया।

(२) जीवप्रदेशवादी तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुए १६ वर्ष हुए तब ऋषभपुर अर्थात् राजगृह मे जीवप्रदेशवादी दर्शन उत्पन्न हुआ । इसका विशेष विवरण इस प्रकार है

एक समय चतुर्दश पूर्वधर वसु नामक आचार्य राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य मे ठहरे हुए थे। वसु के तिष्यगुप्त नामक शिष्य था, जो आत्मप्रवाद पूर्वगत यह आलापक शिष्यो को पढा रहा था, जैसे

"एगे भंते ! जीवपएसे जीवेत्ति वत्तव्व सिया ? नो इणमट्ठे समट्ठे, एव दो जीवपएसा-तिण्णि सखेज्जा-असखेज्जा वा, जाव एगेणावि पदेसेण ऊणो णो जीवोत्ति वत्तव्व सिया, जम्हा कसिणे पडिपुण्णे लोगागासपदेस-तुल्लपएसे जीवेत्ति वत्तव्व ।"

अर्थात् 'हे भगवन् ! एक आत्मप्रदेश को जीव कह सकते है ?, इस प्रश्न का उत्तर मिला, यह बात नही हो सकती । इसी प्रकार दो जीव-प्रदेश, तीन जीवप्रदेश, सख्येय जीवप्रदेश, असख्येय जीवप्रदेश भी जीव नाम को प्राप्त नही कर सकते । यावत् आत्म प्रदेशो के पिण्ड मे से एक भी प्रदेश कम हो, तब तक उसको जीव नही कहा जा सकता, क्योकि सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण लोकाकाश प्रदेशतुल्य प्रदेश वाला जीव ही "जीव" इस नाम से व्यवहृत होता है ।'

जीव सम्बन्धी उक्त व्याख्या पर चिन्तन करते हुए, तिष्यगुप्त के मन मे यह विचार आया—जब कि एक आदि प्रदेशहीन 'जीव', 'जीव' नही है । यावत् एक प्रदेशहीन आत्मप्रदेशपिण्ड भी 'जीव' नाम को नही पाता, किन्तु अन्तिम प्रदेशयुक्त ही जीव नाम प्राप्त करते हैं, तो वह एक अन्तिम प्रदेश ही जीव है, यह क्या न मान लिया जाय ? क्योकि वही प्रदेश जीवभाव से भावित है । इस प्रकार का प्रतिपादन करते हुए तिष्यगुप्त को गुरु ने कहा यह बात ऐसी नही है जैसी तुम समझ रहे हो । ऐसा मानने पर जीव का ही अभाव मानना पडेगा, क्योकि तुम्हारे अभिमत "अन्त्य जीव-

प्रदेश को भी अजीव ही मानना पडेगा। क्योकि अन्य प्रदेशो से इसका कोई भेद नही है अथवा प्रथमादि प्रत्येक प्रदेश को जीव मानना पडेगा, इत्यादि अनेक युक्तियो से आचार्य ने तिष्यगुप्त को समझाया फिर भी उसने अपने दुराग्रह को नही छोडा। तब गुरु ने उसे अपने समुदाय से पृथक् कर दिया, फिर भी वह अनेक प्रकार की असत्कल्पनाओ से अपने अभिनिवेश को पुष्ट करता और लोगो को व्युद्ग्राहित करता हुआ कालान्तर मे 'आमलकल्पा' नगरी गया। वहा अम्बशाल वन मे ठहरा। आमलकल्पा मे "मित्रश्री" नामक एक श्रमणोपासक रहता था। वह जानता था कि "तिष्यगुप्त" प्रदेशवादी है, उसने तिष्यगुप्त को निमन्त्रण दिया कि आप स्वय मेरे घर पधारियेगा। तिष्यगुप्त कुछ साधुओ के साथ गया। मित्रश्री ने उसे आसन पर बिठाया और बठने पर अनेक प्रकार के खाद्य पकवान वहा लाये। प्रत्येक पदार्थ मे से थोडा-थोडा टुकडा पात्र मे रखा, भात मे से चावल का एक दाना, दाल शाक मे से एक-एक बूद। इसी प्रकार वस्त्र का अन्तिम धागा उसको देकर पैरो मे सिर नवाया और अपने मनुष्यो को कहा आओ, वन्दन करो, साधु महाराज को दान दिया है। आज मैं पुण्यवान् तथा भाग्यशाली हुआ जो आप स्वय मेरे घर आए। तब साधु बोले हे महानुभाव ! क्या तुम आज हमारा ठट्ठा कर रहे हो ? श्रावक ने कहा मैंने आपके सिद्धान्तानुसार आपको दान दिया है, यदि आप कहे तो वधमान स्वामी के सिद्धान्त से दान दू ? यहा पर "तिष्यगुप्त" समझा और बोला आय, तुमने बहुत अच्छी प्रेरणा की, बाद मे श्रावक ने विधिपूवक अन्नवस्त्रादि का दान दिया और अन्त मे मिथ्यादुष्कृत दिया।

उक्त रीति से 'तिष्यगुप्त' और उनके शिष्य ठिकाने आये और अपनी भूल का प्रायश्चित्त कर विचरने लगे।

ऊपर लिखे बहुरत जमालि और प्रदेशवादी तिष्यगुप्त इन दोनो ने भगवान् महावीर की जीवित अवस्था मे ही उनके सिद्धान्त से अमुक विषयो मे अपना नया मत प्रचलित किया था। इनमे से तिष्यगुप्त और उनके शिष्य कालान्तर में अपना मत छोडकर महावीर के सिद्धान्त से अनुकूल हो

गये थे, पर जमालि अन्त तक अपने मत को पकडे रहा था और महावीर के श्रमणो की दृष्टि मे वह बिलकुल गिर गया था।

महावीर के केवलिजीवन के ३० वर्षो मे गोशालक के साथ जो खटपट हुई थी, उसका परिणाम महावीर को भोगना पडा था। फिर भी उस प्रकरण की समाप्ति छ महीनो के अ त मे हो गई थी, पर जमालि के विरोध की समाप्ति जमालि की जीवित अवस्था मे नही हुई थी।

उक्त तीन प्रसगो के अतिरिक्त महावीर की जिनावस्था मे कोई भी अनिष्ट प्रसग नही बना था।

(३) अव्यक्तवादी आषाढाचार्य शिष्य

भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए दो सौ चौदह वर्ष बीतने पर आषाढाचार्य के शिष्यो ने श्वेतविका नगरी मे महावीर के शासन मे अव्यक्तवादी दर्शन की उत्पत्ति की। इस घटना का विवरण इस प्रकार है

श्वेतविका नगरी के पोलासोद्यान मे आर्य आषाढ नामक आचार्य आए हुए थे। वहा पर उनके अनेक शिष्यो ने आगाढ योग मे प्रवेश किया था। आषाढाचार्य ही उन योगवाहियो के वाचनाचार्य थे, एक रात्रि मे हृदयशूल से आषाढाचार्य मरकर सौधर्म देवलोक मे "नलिनीगुल्म" नामक विमान मे देव हुए। उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान से उपयोग लगाया तो अपने पूर्वभविक शरीर को देखा, आगाढ योगवाही साधुओ को तब तक पता नहीं है कि आचार्य काल कर गए हैं। तब आचार्य के जीव देव ने "नलिनिगुल्म" से आकर अपने उस शरीर मे प्रवेश कर योगवाही साधुओ को उठाया और वैरात्रिक काल लिवाया। इस प्रकार देव ने अपने दिव्य प्रभाव से निर्विघ्नतापूर्वक योगवाही साधुओ का कार्य पूरा करवाया। बाद में उसने कहा "खमिएगा भगवन्त! आज तक मैंने असयत होते हुए भी आपसे वन्दन करवाया। मैं अमुक दिन की रात्रि मे कालधर्म प्राप्त हुआ था और तुम्हारे ऊपर दया लाकर आया था। इस प्रकार वह अपनी सर्व हकीकत व्यक्त करके साधुओं से क्षमा माग कर चला गया। साधु भी

आचार्य के शरीर का विसर्जन कर सोचने लगे "इतने समय तक हमने असंयत को वन्दन किया। वे अव्यक्तभाव की प्ररूपणा करते हुए बोले कौन जानता है कि यह साधु है या देव? इसलिए किसी को वन्दन नहीं करना चाहिए, क्योंकि निश्चय बिना असंयत को नमन करना अथवा अमुक असंयत को संयत कहना मृषावाद है। इस पर स्थविरों ने उनको समझाया यदि संयत के विषय में देव होने की शंका होती है तो देव के विषय में साधु की शंका क्या नहीं होती? अथवा तो देव के विषय में अदेव की शंका क्यों नहीं होती? देव ने अपना रूप बता कर कहा कि मैं देव हूँ, तो साधु साधु के रूप में रहा हुआ कहे कि मैं साधु हूँ, तो इसमें शंका क्यों की जाती है? क्या देव का वचन ही सच है? और साधुरूप-धारी का नहीं? जो जानते हुए भी परस्पर वन्दना नहीं करते हो, इत्यादि अनेक प्रकार से स्थविरों ने योगवाही साधुओं को समझाया परन्तु उन्होंने अपना 'अव्यक्तवाद' नहीं छोड़ा। तब अपने गच्छ से उन्हें पृथक कर दिया। विचरते हुए वे राजगृह नगर गए। वहां मौर्यवंशीय बलभद्र नामक राजा श्रमणोपासक था। उसने जाना कि अव्यक्तवादी साधु यहां आए हुए हैं, तब उसने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि जाओ गुणशिलक चैत्य से साधुओं को बुला लाओ। राजसेवक साधुओं को राजा के पास ले आये। राजा ने अपने पुरुषों को आज्ञा दी जल्दी इन्हें सैन्य से मरवा डालो। राजा की आज्ञा होते ही वहां हाथी आदि सैन्यदल आया देख कर अव्यक्त-वादी बोले हम जानते हैं कि तुम श्रावक हो फिर हम साधुओं को कैसे मरवाते हो? राजा ने कहा तुम चोर हो, चारिक हो अथवा अभिमर हो, कौन जानता है? अव्यक्तवादी बोले हम साधु हैं। राजा ने कहा तुम कैसे साधु हो, जो अव्यक्तवाद को पकड़े हुए परस्पर वन्दन तक नहीं करते। तुम श्रमण हो या चारिक, यह कौन कह सकता है? मैं भी श्रावक हूँ या नहीं, यह निश्चय से कौन कह सकता है? यहां अव्यक्तवादी समझे। लज्जित हुए और अव्यक्तवाद को छोड़ कर निश्शंकित हुए। तब राजा ने कठोर और कोमल वचनों से उपालम्भ देते हुए कहा तुमको समझाने के लिए यह सब प्रवृत्ति की है, माफ करना, यह कह कर उन्हें मुक्त किया।

(४) सामुच्छेदिक - अश्वमित्र

भगवान् महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए ३२० वर्ष के बाद मिथिलापुरी मे "सामुच्छेदिक दर्शन" उत्पन्न हुआ।

उपर्युक्त दर्शन के सम्बन्ध मे "आवश्यक भाष्यकार" ने निम्नलिखित विशेष विवरण दिया है

मिथिला नगरी के लक्ष्मीधर चैत्य मे महागिरि आचार्य के शिष्य कौडिन्य नामक ठहरे हुए थे। कौडिन्य का शिष्य अश्वमित्र था, वह आत्मप्रवाद पूर्व का नैपुणिक वस्तु पढ रहा था। वहा छिन्नछेद नय की वक्तव्यता का आलापक आया, जसे

'पडुप्पन्नसमयनेरइया वोच्छिज्जिस्सति, एव जाव वेमाणियत्ति, एव बिइयाविसमएसु वत्तव्व, एत्थ तस्स वितिगिच्छा जाया।"

अर्थात् 'वर्तमान समय के नारकीय जीव समयान्तर मे व्युच्छिन्न हो जावेगे एव असुरादि यावत् वैमानिक समझना। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीयादि समयो मे उत्पन्न होने वालो का व्युच्छेद कहना। यहा अश्वमित्र को शका उत्पन्न हुई, जैसे "सब वर्तमान समय मे उत्पन्न होने वालो का व्युच्छेद हो जायगा, तब सुकृत दुष्कृत कर्मों के अणुओ का वेदन कैसे होगा, क्योकि उत्पाद के अनन्तर तो सब का विनाश ही हो जायगा।'

इस प्रकार की प्ररूपणा करते हुए "अश्वमित्र' को आचार्य कौडिन्य ने कहा यह सूत्र एक नयमताश्रित है। इसको सिद्धान्त समझ कर शेष नयो से निरपेक्ष होकर मिथ्यात्व का समर्थक न बन। हृदय से विचार कर, कालपर्याय के नाश मे किसी का सर्वथा विनाश नही होता, वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। वह अनेक स्वपर पर्यायो से युक्त होती है। सूत्र में ऐसा लिखा है कि इस बात पर भी निर्भर न बन, क्योंकि सूत्र मे तो उन्ही द्रव्यो को शाश्वत भी कहा है। जो भी वस्तु द्रव्य रूप से शाश्वत है, वही पर्यव रूप से अशाश्वत भी है। उसमे भी समयादि का विशेषण

होने से सर्वनाश नही समझना चाहिए, अन्यथा सर्वनाश में समयादि के विशेषण का उपन्यास निरर्थक होता, इत्यादि अनेक युक्तियो से समझाने पर भी अपना हठाग्रह नही छोड़ा, तब उसे समुदाय में से निकाल दिया। वह समुच्छेदवाद का प्रचार करता हुआ, काम्पिल्यपुर गया। काम्पिल्यपुर में "खण्डरक्ष" नामक श्रावक रहते थे। वे शुल्कपाल भी थे। उन्होंने वहा आए हुए सामुच्छेदिको को पकड़वाया और मरवाना शुरु किया। भयभीत होकर वे बोले हमने तो सुना था कि तुम श्रावक हो, फिर भी इस प्रकार साधुओ को मरवाते हो? 'खण्डरक्षक' ने कहा जो साधु थे वे उसी समय व्युच्छिन्न हो गए। तुम्हारा ही तो यह सिद्धान्त है, इसलिए तुम दूसरे कोई चोर हो। उन्होने कहा मत मरवाओ, हम वे ही साधु हैं जो पहले थे। इस प्रकार उन्होने सामुच्छेदिकता का त्याग कर सिद्धान्त मार्ग को स्वीकार किया।

(५) द्विक्रियावादी आर्य गंग

भगवान् महावीर को सिद्धि प्राप्त होने के बाद २२८ वर्ष व्यतीत होने पर उल्लुकातीर नगर मे "द्विक्रियावादियों का दर्शन" उत्पन्न हुआ।

इसका विशेष विवरण भाष्यकार निम्न प्रकार से देते हैं

उल्लुका नाम की नदी थी। उसके आसपास का प्रदेश भी उल्लुका जनपद के नाम से पहिचाना जाता था। नदी के दोनो तटो पर दो नगर बसे हुए थे, एक का नाम "खेट" दूसरे का नाम "उल्लुका तीर" नगर था। वहा पर महागिरि के शिष्य "धनगुप्त" नामक आचार्य रहे हुए थे, धनगुप्त के शिष्य आचार्य गंग थे। वह नदी के पूर्वी तट पर थे, तब उनके गुरु आचार्य धनगुप्त पश्चिम तट स्थित नगर मे। शरत्काल मे आचार्य "गंग" अपने गुरु को वन्दन करने के लिए चले। वे सिर मे गंजे थे। उल्लुकानदी को उतरते हुए उनका गंजा सिर धूप से जलता था, तब नीचे पगो मे शीतल पानी से शैत्य का अनुभव होता था। गंग सोचने लगे सूत्रो मे कहा है एक समय मे एक ही क्रिया का ज्ञान होता है, शीत-

स्पश अथवा उष्ण स्पश था । पर तु मैं तो दो क्रियाओ का अनुभव कर रहा हूँ, इसलिये एक समय मे एक नही, दो क्रियाओ का अनुवेदन होता है । आचाय गग की बात सुनकर आचाय धनगुप्त न कहा "आय, ऐसी प्रज्ञापना न कर, एक समय मे दो क्रियाओ का वेदन नही होता । क्योकि समय और मन बहुत सूक्ष्म होते हैं, वे भिन्न-भिन्न होते हुए भी स्थूलबुद्ध मनुष्य को एकसमयात्मक प्रतीत होते हैं, उत्पलपत्रशतवेधकी तरह"। इत्यादि प्रकार से गग को समझाने पर भी जब उसने अपना हठवाद न छोडा तब उसे श्रमणसघ से पृथक् कर दिया । वह चलता हुआ राजगृह पहुचा । वहा पर "महातपोतीर प्रभव" नामक एक बडा पानी का झरना है, उसके निकट "मणिनाग" नामक नागजाति के देव का चैत्य है। आचाय गग "मणिनाग चैत्य" के निकट ठहरे और एक समय मे दो क्रियाओ के अनुभव की बात कहने लगे, तब मणिनाग ने उस परिषद् के मध्य मे कहा "अरे दुष्ट शिष्य ! अप्रज्ञापनीय का प्रज्ञापन कैसे करता है ? इसी स्थान मे ठहरे हुए भगवान् वधमान स्वामी ने कहा है एक समय मे एक ही क्रिया का वेदन होता है, क्या तू उनसे भी बढकर हो गया ? छोड दे इस वाद को । तेरे इस दोष से मुझे शिक्षा करनी न पडे इसलिए कहता हूँ । मणिनाग की धमकी और उपपत्ति से समझ कर गग बोला हम चाहते है कि गुरु के पास जाकर अपनी इस विरुद्ध प्ररूपणा की क्षमा माग ल ।

(६) त्रैराशिक - रोहगुप्त

महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए ५४४ वष व्यतीत होने पर "अ तरजिका नगरी" में त्रराशिक दशन उत्पन्न हुआ, इस दशन की उत्पत्ति का विशेष वणन इस प्रकार है

अ तरजिका नगरी के बाहर "भूतगुहा" नामक चैत्य था, जहा पर श्रीगुप्त नामक आचाय ठहरे हुए थे । उस नगर के तत्कालीन राजा का नाम था "बलश्री" । "स्थविर श्रीगुप्त ' का "रोहगुप्त" नामक शिष्य था । वह अन्य गाव में ठहरा हुआ था । एक समय अपने अध्यापक श्रीगुप्त को

वन्दन करने "अन्तरजिका" को जा रहा था, उस समय एक परिव्राजक अपने पेट पर लोह का पट्टा बाधकर जामुन की टहनी[1] हाथ मे लिये चल रहा था। पूछने पर वह कहता था, ज्ञान से पेट फट न जाय इसलिए पेट पर लोहे का पट्टा बाधा है। जम्बू की टहनी के सम्बन्ध मे कहा जबू-द्वीप मे मेरा कोई प्रतिवादी नही है। उसने नगर मे ढिढोरा पिटवाया कि परप्रवाद सभी शून्य हैं, लोगो ने उसकी इस स्थिति को देख "पोट्टसाल" नाम रख दिया। गुरु के पास जाते रोहगुप्त ने ढिण्ढोरे को रोका और कहा मैं वाद करूगा, बाद मे वह अपने आचार्य के पास गया और कहा मैंने परिव्राजक का ढिण्ढोरा रुकवाया है। आचाय ने कहा बुरा किया, क्योकि वह विद्यावली है, बाद मे पराजित हो जायगा तो भी विद्याओ से सामना करेगा। आचाय ने रोहगुप्त को परिव्राजक की विद्याओ का पराजय करने वाली प्रतिविद्याओ को देकर अपना रजोहरण दिया और कहा विद्याओ के अतिरिक्त कोई उपद्रव खडा हो जाय, तो इसको घुमाना, अजेय हो जायगा। विद्याओ को लेकर रोहगुप्त राजसभा मे गया और बोला, यह क्या जानता है ? भले ही यह अपना पूवपक्ष खडा करे। परिव्राजक ने सोचा, ये लोग चतुर होते है। अत इन्ही का सिद्धान्त ग्रहण कर वाद करूँ। उसने कहा ससार मे "जीव" और "अजीव" ये दो राशिया होती हैं। रोहगुप्त ने विचार किया, इसने हमारा ही सिद्धान्त स्वीकार किया है तो इसकी बुद्धि को चक्कर मे डालने के लिए मैं तीन राशियो की स्थापना करू, यह सोचकर वह बोला राशि दो नही पर तीन हैं—जीव, अजीव, नोजीव। इनमे शरीरधारी मनुष्य, पशु आदि ससारी जीवो का समावेश जीव राशि मे होता है। घर, वस्त्रादि प्राणहीन सभी पदार्थ "अजीव राशि" मे आते है और तत्काल मूल शरीर से जुदा पडी हुई छिपकली की पूछ आदि "नोजीव" मे जानना चाहिये। जिस प्रकार दण्ड का आदि, मध्य, अन्त भाग होता है उसी प्रकार सव पदाथ तीन राशियो मे बटे हुए है—जीवा मे, अजीवो मे और नोजीवो मे। इस प्रकार रोहगुप्त द्वारा तर्क-वाद मे निरुत्तर हो जाने से परिव्राजक ने रुष्ट होकर अपनी विद्याएँ रोहगुप्त पर छोडी, रोहगुप्त ने भी उन पर प्रतिपक्ष विद्याएँ छोडी। जब परिव्राजक का कोई वश नही चला तब उसने अपनी सरक्षित गदभी विद्या

छोडी। रोहगुप्त ने उसको अपने रजोहरण से परास्त किया। सभा मे रोहगुप्त की जीत और परिव्राजक पोट्टशाल की हार उद्घोषित हुई। परिव्राजक को पराजित करके रोहगुप्त अपने आचार्य के पास गया और अपनी युक्ति-प्रयुक्तियो का वर्णन किया। आचाय ने कहा सभा से उठते हुए तुझे स्पष्टीकरण करना चाहिये था कि हमारे सिद्धा त मे तीन राशि ग नही हैं, मैंने जो यहा तीन राशियो की प्ररूपणा की है वह वादी की बुद्धि को पराभूत करने के लिए। आचाय ने कहा अब भी राजसभा मे जाकर खरी स्थिति का स्पष्टीकरण कर दे। पर रोहगुप्त जाने के लिए तैयार नही हुआ। आचाय के बार बार कहने पर वह बोला अगर तीन राशिया कही तो इसमे कौनसा दोष लग गया, क्योकि तीन राशिया तो हैं ही। आचाय श्रीगुप्त ने कहा, आय ! तू जो बात कह रहा है वह असद्भावविषयक है, इससे तीर्थङ्करो की आशातना होती है। फिर भी उसने आचाय का वचन स्वीकार नही किया और उनके साथ वाद करने लगा, तब आचाय राजकुल मे गए और कहा मेरे उस शिष्य ने आपकी सभा मे जो तीन राशियो को प्ररूपणा की है वह अपसिद्धान्त है। हमारे सिद्धान्त मे दो ही राशि मानी गई हैं, परन्तु इस समय हमारा वह शिष्य हमसे भी विरुद्ध हो गया है। अत आप हमारे बीच होने वाले वाद को सुनें। राजा ने स्वीकार किया और उन दोनो गुरु शिष्यो का वाद राजसभा मे आरम्भ हुआ। एक एक दिन करते छ मास निकल गए। राजा ने कहा मेरे राज्यकार्य बिगडते हैं, आचार्य ने कहा इतने दिन मैंने अपनी इच्छा से विलम्ब किया, अब आप देखिए ! कल ही इसको निगृहीत कर दूगा। दूसरे दिन आचार्य ने राजा से कहा कुत्रिकापण मे ससार भर के सब द्रव्य रहते हैं, आप वहा से जीव, अजीव और नोजीव, इन तीनो द्रव्यो को मगवाइये। राजपुरुष कुत्रिकापण को भेजे गए और उन्होने उक्त तीनो पदार्थों को वहा मागा। कुत्रिकापण की अधिष्ठायिका देवता ने "जीव" मागने पर 'सजीव पदार्थ" दिया, "अजीव" के मागने पर "निर्जीव पदार्थ" दिया, पर नोजीव के मागने पर कुछ नही दिया। इस ऊपर से "राजसभा मे रोहगुप्त का सिद्धान्त अपसिद्धान्त माना गया।"

आचाय श्रीगुप्त ने अपना खेलमात्रक रोहगुप्त के सिर पर फोडा और उसे निकाल दिया। राजा ने नगर मे उद्घोषणा करवाई कि "वर्द्धमान जिन का शासन जयवन्त है" और पराजित रोहगुप्त को राजा ने अपने राज्य की हद छोडकर चले जाने की आज्ञा दी।

रोहगुप्त ने "मूल छ पदार्थो को पकडा, जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय"। द्रव्य उसने नौ माने, "पृथ्वी, पानी, अग्नि, पवन, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।" गुण उसने १७ माने हैं, जैसे 'रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।" कर्म पाच प्रकार का माना है उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण और गमन। सामान्य दो प्रकार का, "महासामान्य सत्तासामान्य और सामान्य-विशेष।" विशेष अनेक प्रकार के माने हैं, 'इह' इस प्रकार के प्रत्यय का हेतु समवाय है।

रोहगुप्त ने वैशेषिक दर्शन का प्रणयन किया, दूसरो ने आगे से आगे प्रसिद्ध किया। इसको औलुक्य दर्शन भी कहते हैं, क्योकि रोहगुप्त गोत्र से औलुक्य थे।

(७) अबद्धिक - गोष्ठामाहिल

महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए ५८४ वर्ष बीते तब दशपुर नगर मे "अबद्धिक दर्शन" उत्पन्न हुआ, इसका विवरण नीचे लिखे अनुसार है

दशपुर नगर मे इक्षुघर मे आर्यरक्षित के तीन पुष्यमित्र नामक साधु और गोष्ठामाहिल आदि ठहरे हुए थे। विन्ध्य नामक साधु आठवे "कर्मप्रवादपूर्व" मे लिखे अनुसार कर्म का स्वरूपवर्णन करता था, जैसे "कुछ कर्म जीवप्रदेशो से बद्ध मात्र होता है, कालान्तर मे वह जीवप्रदेशो से जुदा पड जाता है। कुछ कर्म बद्ध और स्पष्ट होता है, वह कुछ विशेष कालान्तर के बाद जुदा पडता है। कुछ कर्म बद्ध-स्पष्ट और निकाचित होता है जो जीव के साथ एकत्वप्राप्त होकर कालान्तर मे अपना फल बताता है। विन्ध्य की यह व्याख्या सुनकर गोष्ठामाहिल बोला कर्मबन्ध की

व्याख्या इस प्रकार से करोगे तब तो कर्म से जीव वियुक्त होगा ही नही, अन्योन्य अविभक्त होने से जीवप्रदेशो की तरह। इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करो, जैसे कचुकी पुरुष का कचुक स्पृष्ट होकर रहता है, बद्ध होकर नही। इसी प्रकार कर्म भी जीव से बद्ध न होकर स्पृष्ट होकर उसके साथ रहता है। इस प्रकार गोष्ठामाहिल की व्याख्या सुनकर विन्ध्य ने कहा गुरु ने तो हम लोगो को इसी प्रकार का व्याख्यान सिखाया है। गोष्ठामाहिल ने कहा वह इस विषय को नही जानता, व्याख्यान क्या करेगा। इस पर विन्ध्य शकित होकर पूछने को गया, इसलिए कि शायद मेरे समझने मे गलती हुई हो। उसने जाकर दुबलिका पुष्यमित्र को पूछा, तब उन्होने कहा जैसा मैंने कहा था वैसा ही तुमने समझा है इस पर गोष्ठामाहिल का वृत्तान्त कहा, तब गुरु ने कहा गोष्ठामाहिल का कथन मिथ्या है। यहा पर उसकी प्रतिज्ञा ही प्रत्यक्ष विरोधिनी है, क्योकि आयुष्यकर्म-वियोगात्मक मरण प्रत्यक्षसिद्ध है, उसका हेतु भी अनैकान्तिक है, क्योकि अन्योन्य अविभक्त पदार्थ भी उपाय से वियुक्त होते हैं, जैसे दूध से पानी, दृष्टान्त भी साधनधर्मानुगत नही है। स्वप्रदेश का युक्तत्व असिद्ध होने से अपने स्वरूप से अनादि काल से कर्म जीव से भिन्न है। अपने अनुयोगधर के पास कर्मबध सम्बन्धी विवरण सुनने के बाद विन्ध्य ने गोष्ठामाहिल को कहा आचार्य इस प्रकार कहते है, इस पर वह मौन हो गया। मन मे वह सोचता था, अभी इसको पूरा होने दो, बाद मे मैं इसकी गलतिया निकालूगा।

एक दिन नवम पूर्व मे साधुओ के प्रत्याख्यान का वर्णन चलता था, जैसे : "प्राणातिपात का त्याग करता हू, यावज्जीवनपर्यन्त" गोष्ठामाहिल ने कहा ' इस प्रकार प्रत्याख्यान की सीमा बाधना अच्छा नही है, किन्तु प्रत्याख्यान के कालपरिमाण की सीमा न बाध कर प्रत्याख्यान कालपरिमाणहीन करना ही श्रेयस्कर है। जिनका परिमाण किया जाता है, वे प्रत्याख्यान दुष्ट हैं, क्योंकि उनमे आशसा दोष होता है। इस प्रकार प्रज्ञापन करते हुए गोष्ठामाहिल को विन्ध्य ने कहा जो तुमने कहा वह यथार्थ नही है। इतने मे नवम पूर्व का जो अवशेष भाग था वह समाप्त

हो गया, तब वह अभिनिवेश पूर्वक पुष्यमित्र के पास जाकर कहने लगा आचार्य ने अन्यथा पढाया है और तुम इसकी अन्यथा प्ररूपणा करते हो। इस पर आचार्य पुष्यमित्र ने गोष्ठामाहिल को अनेक प्रकार से समझाया और उसकी मान्यता का खण्डन किया, फिर भी आचार्य का कथन उसने मान्य नही किया, इस पर अन्यगच्छीय बहुश्रुत स्थविरो को पूछा गया, तो उन्होने भी पुष्यमित्र की बात का समर्थन किया। गोष्ठामाहिल ने कहा तुम क्या जानते हो, तीर्थङ्करो ने वैसा ही कहा है जैसा मैं कहता हू। स्थविरो ने कहा तुम पूरा जानते नही और तीर्थङ्करो का नाम लेकर उनकी आशातना करते हो। जब गोष्ठामाहिल अपने दुराग्रह से पीछे नहीं हटा, तब सघसमवाय किया गया। सब सघ ने देवता को लक्ष्य कर कायोत्सर्ग किया। जो भद्रिक देवता थी वह आई और बोली आदेश दीजिये क्या कार्य है ? तब उसे कहा गया तीर्थङ्कर के पास जाकर उन्हें पूछो कि गोष्ठामाहिल का कहना सत्य है अथवा दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रमुख सघ का। देवता ने कहा मुझे बल देने के लिए कायोत्सर्ग करें, जिससे मेरे गमन का प्रतिघात न हो। सघ ने कायोत्सर्ग किया। देवता तीर्थङ्कर भगवन्त को पूछ कर आई और कहा सघ सम्यग्वादी है और गोष्ठामाहिल मिथ्यावादी, यह सप्तम निह्नव है। इस पर गोष्ठामाहिल ने कहा यह बेचारी अल्पर्द्धि देवता है, इसकी क्या शक्ति जो वहा जाकर आ सके। यह सब होने पर भी गोष्ठामाहिल ने सघ के कथन पर विश्वास नही किया, तब सघ ने उसे सघ से बहिष्कृत उद्घोषित कर दिया। गोष्ठामाहिल अपनी विरुद्ध प्ररूपणा की आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना ही कालधर्म के वश हुआ।

उपर्युक्त जमालि से गोष्ठामाहिल तक के सातों मतप्रवर्तकों को पूर्वाचार्यो ने "निह्नव" कहा है और इनकी नामावलि "स्थानांग" और "औपपातिक" उपांग मे लिखी मिलती है, सभव है कि आगमो की युग-प्रधान स्कन्दिलाचार्य द्वारा की गई वाचना के समय में निह्नवो के नाम आगमो मे लिखे गये होंगे।

प्राचीन स्थविरकल्पी जैन श्रमणों का आचार

वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष के बाद रथवीर नामक नगर मे आचार्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति ने सर्वथा नग्न रहने के सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित किया। उसके पूर्वकाल मे जैन श्रमणो मे सवथा नग्न रहने का व्यवहार ब द सा हो गया था, जो कि "आचाराग" सूत्र मे श्रमणो को तीन, दो, एक वस्त्रो से निर्वाह करने का आदेश था और सवथा वस्त्रत्याग की शक्ति होती वह एक वस्त्र भी नही रखता था, परन्तु ये वस्त्र सर्दी मे ओढने के काम मे लिये जाते थे, परन्तु इस प्रकार का कठिन आचार महावीर निर्वाण की प्रथम शती मे ही व्यवच्छिन्न हो चुका था। अन्तिम केवली जम्बू के निर्वाण तक 'वस्त्रधारी निर्गन्थ स्थविर कल्पी" और "सर्वथा वस्त्रत्यागी निर्ग्रन्थ जिनकल्पी" कहलाते थे। दोनो प्रकार के श्रमण महावीर के निग्र न्थ श्रमण-सघ मे विद्यमान थे, पर तु जम्बू के निर्वाणा-नन्तर सहनन, देश, काल आदि की हानि होती देखकर सर्वथा नग्न रहने का सिद्धा त स्थविरो ने ब द कर दिया था। दिगम्बर परम्परा को मौलिक मानने वाले विद्वानो की मा यता है कि "महावीर के तमाम श्रमण निग्रन्थ महावीर के समय मे और उसके बाद भी श्रुतधर श्री भद्रबाहु स्वामी के समय तक नग्न ही रहते थे, परन्तु मौयकाल में होने वाले १२ वार्षिक दुर्भिक्ष के समय में जो जैन श्रमण दक्षिण मे न जाकर मध्यभारत के प्रदेशो मे रहे, उन्होंने परिस्थितिवश वस्त्र धारण किये और तब से "श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।"

दिगम्बर विद्वानो का उपर्युक्त कथन केवल निराधार है, क्योकि महावीर के समय मे भी अधिकाश निग्र न्थ साधु "स्थविर-कल्प" का ही

पालन करते थे। यद्यपि वर्तमान काल मे श्वेताम्बर जैन साधु जितना वस्त्र, पात्र आदि का परिग्रह रखते हैं, उतना उस समय नही रखते थे। तत्कालीन स्थविर कल्पी एक एक पात्र, एक-एक नग्नता ढाकने का वस्त्र-खण्ड और शरदी की मौसम मे दो सूती और एक ऊर्णामय वस्त्र रखते थे। रजोहरण और मुखवस्त्र तो उनका मुख्य उपकरण था ही, परन्तु इनके अतिरिक्त अपने पास अधिक उपकरण नही रखते थे। लज्जावरण का वस्त्रखण्ड नाभि से चार अगुल नीचे से घुटनो से ४ अगुल ऊपर तक लटकता रहता था। बौद्धपाली त्रिपिटको मे इस वस्त्र को "शाटक" नाम दिया है और इस वस्त्र को धारण करने वाले जैन निग्रन्थो को "एक-शाटक" के नाम से सम्बोधित किया है। स्थविरकल्पियो की परम्परा इस वस्त्र को "अग्रावतार" के नाम से व्यवहार करती थी। विक्रम की दूसरी शती के मध्यभाग तक 'अग्रावतार' का स्थविरकल्पियो मे व्यवहार होता रहा, ऐसा मथुरा के देवनिर्मित स्तूप मे से निकली हुई "जैन आचार्य कृष्ण" को प्रस्तर मूर्ति से ज्ञात होता है।

जैन निग्रन्थो का बौद्ध पिटको मे "एकशाटक" के नाम से अनेक स्थानो मे उल्लेख मिलता है। दिगम्बरो की मान्यतानुसार महावीर के सब साधु "नग्न" ही रहते होते तो बौद्ध ग्रन्थकार उनको "एकशाटक" न कहकर 'दिगम्बर" अथवा "नग्न" ही कहते, परन्तु यह बात नही थी। इससे सिद्ध है कि महावीर के समय मे निग्रन्थ श्रमणगण वस्त्रधारी रहते थे, नग्न नही। यह बात ठीक है कि उस समय का वस्त्रधारित्व नाम मात्र का होता था। इस समय के बाद स्थविरकल्पियो के उपकरणो की सख्या फिर से निश्चित की गई। विक्रम की दूसरी शती के प्रथम चरण मे युगप्रधान आचार्य श्री आर्यरक्षितजी ने जैन आगमो मे चार अनुयोगो का पृथक्करण किया। इतना ही नही देशकाल का विचार करके आचार्य ने श्रमणो के उपकरणो की सख्या तक निश्चित की। स्थविरकल्पियो के लिए कुल चौदह उपकरण निश्चित किए पात्र १, पात्रबन्धन २, पात्र-स्थापनक ३, पात्रप्रमार्जनिका ४, पात्रपटलक ५, पात्ररजस्त्राण ६, गोच्छक ७ ये सात प्रकार के उपकरण "पात्रनिर्योग" के नाम से निश्चित

किये गये और १ रजोहरण, २ मुखवस्त्रिका, ३-४-५ कल्पत्रिक (२ सूती वस्त्र, १ ऊर्णामय), ६ चोलपट्टक, ७ मात्रक (छोटा पात्र विशेष) ये सात प्रकार के उपकरण व्यवहार मे लेने के लिए रक्खे गए। इनके अतिरिक्त "दण्ड" और "उत्तरपट्टकादि" कतिपय "औपग्रहिक" उपकरणो के रखने की आज्ञा दी।

उपर्युक्त उपधि का परिमाण विक्रम की द्वितीय शती तक निश्चित हो चुका था। "दण्डाऊछन" आदि "औपग्रहिक" उपकरण उसके बाद मे भी श्रमणो की उपधि मे प्रविष्ट हुए हैं। इस नयी व्यवस्था से प्राचीन व्यवस्था मे बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ जो निम्नलिखित गाथा से ज्ञात होगा

"कप्पाण पावरण, अग्गोयरच्चाओ झोलियाभिक्खा।
ओवग्गहिअकडाहय् – तुबयमुहदाणदोराई ॥"

अथ १ "कल्प" अर्थात् वस्त्रत्रय जो पहले शीत ऋतु मे ओढा जाता और शेषकाल मे पड़ा रहता था उसका मालिक श्रमण कही बाहर जाता तब अन्य किसी साधु को सभलाकर जाता अथवा तो अपने कधे पर रखकर जाता, परन्तु ओढता नहीं था। जब से नये उपकरणो की व्यवस्था प्रचार मे आयी तब से वस्त्रो का ओढना भी शुरु हुआ। २ 'अग्रावतार वस्त्र' जो सदाकाल लज्जा-निवारणार्थ कमर पर लटका करता था, उसका चोलपट्टक के स्वीकार करने के बाद त्याग कर दिया गया। ३ पहले साधु भिक्षा पात्र हाथ मे रखकर उस पर पटलक ढाकते थे और पटलक का दूसरा आचल दाहिने कधे के पिछली तरफ लटकता रहता था। जब से भिक्षा-पात्र झोली मे रखकर भिक्षा लाने का प्रचार हुआ, तब से पटलक बाम हस्त मे भराई हुई झोली के ऊपर ढाकने का चालू हुआ और पडले का एक छोर कधे पर रखना बन्द हुआ। ४ दण्डाऊँछण (दण्डासन) आदि औपग्रहिक उपकरणो का उपयोग किया जाने लगा। ५ पहले साधु दिन मे एक बार ही भोजन करते थे, परन्तु जब श्रमणसख्या बढ़ी और उसमें बाल, वृद्ध, ग्लान आदि के लिए दूसरी बार खाद्य, पेय,

औपधादि वस्तु की आवश्यकता प्रतीत हुई तब मध्याह्न का लाया हुआ खाद्य पेय पदार्थ रखने के लिए शिक्यक (सिक्का) रखने लगे। ६ तुंबे के मुह पर लगाने का दोरा रखने आदि की गीतार्थ पूर्वाचार्यों ने आचरणा की।

शिवभूति गुरु को छोड कर जाने के बाद कुछ समय उत्तर-भारत मे विचर कर दक्षिण की तरफ विचरे, क्योंकि दक्षिण मे पहले से ही "आजीविक" सम्प्रदाय के भिक्षु विचर रहे थे। वहा के लोग नग्नता का आदर करते थे। शिवभूति के दक्षिण मे जाने के बाद कौन-कौन शिष्य हुए, इसका कही भी श्वेताम्बर या दिगम्बर जैन साहित्य मे उल्लेख नही मिलता। श्वेताम्बर साहित्य मे सवप्रथम आवश्यक मूल-भाष्य मे आर्य शिवभूति तथा इसके उत्तराधिकारियो के सम्बन्ध मे विस्तृत वर्णन दिया है, जो कि शिवभूति के नग्नता धारण करने के बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भाष्य आदि अनेक शिष्ट ग्रन्थ बने है, परन्तु किसी ने भी इस विषय मे कुछ नही लिखा, क्योंकि एक तो शिवभूति ने किसी मूल सिद्धान्त के विरुद्ध कोई प्ररूपणा नही की थी, दूसरा इनके दक्षिणापथ मे दूर चले जाने के कारण स्थविरकल्पियो को शिवभूति तथा उनके अनुयायियो के साथ सघर्ष होने का प्रसग ही नही था। शिवभूति ने दक्षिणापथ मे कहा-कहा विहार किया, कितने शिष्य किये इत्यादि बातो का प्राचीन जैन साहित्य से पता नही चलता। शिवभूति के परम्परा शिष्य कौण्डकुन्द अपने परम्परा-गुरु शिवभूति से कितने समय के बाद हुए, इसके सम्बन्ध मे ऊहापोह किये विना दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलिया देना अशक्य है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता

अब हम देखेंगे कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते है या नही ?

बौद्धो के प्राचीन पाली ग्रन्थो मे आजीविक मत के नेता गोशालक के कुछ सिद्धान्तो का वणन मिलता है, जिसमे मनुष्यो की कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छ अभिजातिया बताई है। इनमे से दूसरी नीलाभिजाति मे बौद्ध भिक्षुओ और तीसरी लोहिताभिजाति मे निग्रन्थो का समावेश किया है। उस स्थल मे निग्रन्थो के लिए प्रयुक्त बौद्ध सूत्र के शब्द इस प्रकार के हैं

"लोहिताभिजाति नाम निगन्था एकसाटकातिवदति" अ०) अर्थात् "एक चिथडे वाले निग्रन्थो को गोशालक "लाहिताभिजाति" कहता है।" (अ० नि० भा० ३ पृ० ३८३)

इस प्रकार गोशालक ने निर्ग्रन्थो के लिए जहा "एक चिथडे वाले" यह विशेषण प्रयुक्त किया है और इसी प्रकार दूसरे स्थलो मे भी अति-प्राचीन बौद्ध लेखको ने जैन निग्रन्थो के लिए "एकशाटक" विशेषण लिखा है। इससे सिद्ध हाता है कि बुद्ध के समय मे भी महावीर के साधु एक वस्त्र अवश्य रखते थे, तभी अन्य दाशनिको ने उनको उक्त विशेषण दिया है।

"एकशाटक" विशेषण उदासीन जैन श्रावको के लिए प्रयुक्त होने की सम्भावना करना भी बेकार है, क्योकि बौद्ध त्रिपिटको मे "निगन्थ" शब्द केवल जैन साधुओ के लिए प्रयुक्त हुआ है, श्रावको के लिए नही।

जहा कही जैन श्रावको का प्रसग आया है वहा सवत्र "निगण्ठस्स नाथ-पुत्तस्स सावका" अथवा "निगण्ठ सावका" इस प्रकार श्रावक शब्द का ही उल्लेख हुआ है, केवल निगन्थ शब्द का नही। इस दशा मे "निगण्ठ" शब्द का श्रावक अर्थ करना कोरी हठधर्मी है।

बौद्ध सूत्र "मज्झिम-निकाय" मे निर्ग्रन्थ सघ के साधु "सच्चक" के मुख से बुद्ध के समक्ष गोशाल मखलिपुत्त तथा उसके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससकिच्च के अनुयायियो मे पाले जाने वाले आचारो का वर्णन कराया है। सच्चक कहता है

"ये सब वस्त्रो का त्याग करते हैं (अचेलका) सर्व शिष्टाचारो से दूर रहते हैं (मुक्ताचारा), आहार अपने हाथो मे ही चाटते हैं (हस्तापलेखणा)" इत्यादि।

सोचने की बात है कि यदि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सच्चक स्वय अचेलक और हाथ मे भोजन करने वाला होता, तो वह आजीविक भिक्षुओ का (हाथ चाटने वाले) आदि कह कर उपहास कभी नही करता। इससे भी जाना जाता है कि महावीर के साधु वस्त्र पात्र अवश्य रखते थे।

कषायप्राभृतकार गुणधर आचार्य श्वेताम्बर थे

श्रुतावतार कथाकार इन्द्रनन्दी का कथन बिल्कुल ठीक है कि उसके पास "गुणधर" और "धरसेन" की वंश-परम्परा जानने का कोई साधन नहीं था, क्योंकि उक्त दोनों आचार्य श्वेताम्बर परम्परा के अनुयायी श्रुतधर थे। गुणधर निर्वृत्ति परम्परा के आचार्य थे, जो विक्रम की सप्तम शती के प्रारम्भ में होने वाले "कर्मप्राभृत" के जानने वाले विद्वान् थे और "कर्म-प्राभृत" के आधार से ही आपने गाथाओं में "कषायपाहुड" बनाया था। इन्हीं की परम्परा में होने वाले "गर्गर्षि" आदि आचार्यों ने विक्रम की नवमी और दशमी शती के मध्यभाग में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला "पंचसंग्रह" नामक मौलिक ग्रन्थ बनाया था, जिसके आधार से ग्यारहवीं शती तथा इसके परवर्ती समय में अमितगति, नेमिचन्द्र, पद्मनन्दी आदि विद्वानों ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में "पंच-संग्रहों" की रचनाएँ की हैं।

इसी प्रकार आचार्य धरसेन भी श्वेताम्बर परम्परा के स्थविर थे। इनका विहार बहुधा सौराष्ट्र भूमि में होता था। आप "योनि प्राभृत" के पूर्ण ज्ञाता थे और "योनि-प्राभृत" नामक श्रुतज्ञान का ग्रन्थ आप ही ने बनाया था, जो आज भी पूना के एक पुस्तकालय में खण्डित अवस्था में उपलब्ध होता है। अधिक संभव है कि आचार्य वृद्धवादी, सिद्धसेन दिवाकर आदि प्रखर विद्वान् इन्हीं धरसेन की परम्परारूपी खनि के मूल्यवान् रत्न थे, क्योंकि आचार्य "सिद्धसेन दिवाकर" के पास भी "योनिप्राभृत" का विषय पूर्णरूपेण विद्यमान था, ऐसा "निशीथ" चूर्णि के आधार से जाना जाता

है। आचाय धरसेन का सत्तासमय विक्रम की तीसरी शताब्दी का अन्त-भाग और चौथी का प्रारम्भ भाग था।

श्रुतावतार के लेखानुसार "वीरनिर्वाण से ६८३ के बाद श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त, अर्हद्बलि और माघनन्दी मुनि का क्रमिक समय व्यतीत होने के बाद कर्मप्राभृत के जानकार धरसेन आचाय का अस्तित्व लिखा है। इस क्रम से धरसेन का सत्ता-समय निर्वाण की आठवी शती तक पहुँचता है। धरसेन से भूतवलि पुष्पदन्त कम-प्राभृत पढे थे और उन्होने उसके आधार से "षट्खण्डागम" का निर्माण किया है, इस क्रम से भूतवलि, पुष्पदन्त का समय जिन-निर्वाण की नवम शती तक अर्थात् विक्रम की पचमी शती के अन्त तक गुणधर आचार्य का समय पहुँचता है और पल्लीवाल गच्छीय प्राकृत-पट्टावली के आधार से भी गुणधर आचाय का समय विक्रम की छठी शती में ही पडता है।

"कषाय-प्राभृत" ऊपर के चूर्णिसूत्र भी वास्तव मे किसी श्वेताम्बर आचार्य निर्मित प्राकृत चूर्णि है, जो बाद मे शौरसेनी भाषा के सस्कार से दिगम्बरीय चूर्णि-सूत्र बना दिए गए हैं। "यतिवृषभ" और "उच्चारणा-चार्य" ये दो नाम भट्टारक वीरसेन के कल्पित नाम है। "जदिवसह" इत्यादि गाथाएँ भट्टारक श्री वीरसेन ने चूर्णि के प्रारम्भ मे लिखकर "यतिवृषभ" को कर्ता के रूप मे खडा किया है। वास्तव में चूर्णिकर्त्ताओ की चूर्णियो के प्रारम्भ मे इस प्रकार का मङ्गलाचरण करने की पद्धति ही नही है।

इसी प्रकार सैद्धान्तिक श्रीमाघनन्दी और बालचन्द्र ने "तिलोय-पण्णत्ति" नामक एक सग्रह ग्रन्थ का सन्दभ बनाकर उसे "यतिवृषभ' के नाम चढा दिया है जो वास्तव मे १३वी शती की कृति है और दिगम्बर ग्रन्थो का ही नही, विशेषकर श्वेताम्बर ग्रन्थो मे से सैकडो विषयो का सग्रह करके दिगम्बर जैन साहित्य मे एक कृति की वृद्धि की है। इसमें जैन श्वेताम्बर मान्य "आवश्यक निर्युक्ति" "वृहत्सग्रहणी" और "प्रवचन-सारोद्धार" आदि ग्रन्थो को सगृहीत करके इसका कलेवर बढाया गया है। इसमे लिखे गये २४ तीथङ्करो के चिह्न (लाछन) "प्रवचनसारोद्धार" के

ऊपर से लिये गए हैं। २४ तीर्थङ्करो मे यक्ष यक्षिणियो की नामावलि पादलिप्तसूरि की "निर्वाण कलिका" से ली गई है। तीर्थङ्करो की दीक्षा भूमि, निर्वाण भूमि, जन्म-नक्षत्र आदि सैकड़ों बातों का श्वेताम्बरों की "आवश्यक नियुक्ति" से सग्रह किया गया है। यह पद्धति दिगम्बरों मे एक साकेतिक परम्परा सी हो गई है, कि कोई भी अच्छा जैन दिगम्बर विद्वान् कुछ अपनी रचनाएँ अपने पूर्वाचार्यों के नाम से अंकित करके अपने भडारो मे रख दे। 'कषाय-पाहुड" की चूर्णि का कर्त्ता कौन था, यह कहना तो कठिन है, परन्तु इस चूर्णि मे "स्त्रीवेद" वाला जीव सयोगी केवली पर्यन्त के गुणस्थानो का स्पर्श करने की जो बात कही है, वह श्वेताम्बर मान्य है, इससे इतना तो निश्चित है कि इस चूर्णि का निर्माता श्वेताम्बराचार्य अथवा तो यापनीय सम्प्रदाय को मानने वाला कोई विद्वान् साधु होना चाहिए। यही कारण है कि भट्टारक वीरसेन ने चूर्णि के कई मन्तव्यो पर अपनी असम्मति प्रकट की है।

"श्वेताम्बर" तथा "यापनीय" सघ के अनुयायी सदा से स्त्रीनिर्वाण को मानते आये हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियो ने विक्रम की दशवीं शती से स्त्रीनिर्वाण का विरोध प्रारम्भ किया था, क्योकि इसके पूर्वकालीन किसी भी ग्रन्थ मे दिगम्बर जैन विद्वान् ने स्त्री निर्वाण का खण्डन नही किया। "तत्वार्थ सूत्र" की "सर्वार्थसिद्धि" टीका मे आचार्य देवनन्दी ने "केवली को कवलाहार मानने वालो को साशयिक मिथ्यात्वी कहा है", परन्तु स्त्री-निर्वाण के विरोध मे कुछ भी नही लिखा। इसी प्रकार विक्रम की अष्टम शती के आचार्य अकलकदेव ने अपने "सिद्धिविनिश्चय" "न्याय-विनिश्चय" आदि ग्रन्थो मे छोटी-छोटी बातो की चर्चा की है, परन्तु स्त्री-निर्वाण के सम्बन्ध मे कुछ भी नही लिखा। दशवी शती के यापनीय आचार्य की कृति "केवलिभुक्ति स्त्रीमुक्ति" नामक ग्रन्थ मे केवली के कवला-हार और स्त्री के निर्वाण का समर्थन किया है और इस समय के बाद के बने हुए दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रत्येक न्याय के ग्रन्थ मे स्त्री निर्वाण का खण्डन किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि स्त्री-निर्वाण न मानने वालों मे अग्रगामी दशवी-ग्यारहवी शती के दिगम्बर आचार्य थे।

यापनीय शिवभूति के वंशज थे

हम पहले ही कह आये हैं कि आर्य शिवभूति जिन्होने कि विक्रम स० १३९ मे नग्नता के व्यवहार को मथुरा के समीपवर्ती "रथवीरपुर" नामक स्थान मे फिर प्रचलित किया था और कालान्तर मे वे दक्षिणापथ मे चले गये थे। दक्षिणापथ-प्रदेश मे जाने पर उनकी कदर हुई और कुछ शिष्य भी हुए होंगे, परन्तु व्यवस्थित उनकी परम्परा बताना कठिन है। शिवभूति अथवा तो उनके शिष्यो की उस प्रदेश मे "यापनीय" नाम से प्रख्याति हुई थी। कोई-कोई विद्वान् "यापनीय" शब्द का अर्थ निर्वाह करना बताते हैं, जो यथार्थ नही है। यापनीय नाम पडने का खास कारण उनके गुरुवन्दन मे आने वाला "जावणिज्जाए" शब्द है। निर्ग्रन्थ श्रमण अपने बडेरो को वन्दन करते समय निम्नलिखित पाठ प्रथम बोलते हैं :

"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउ जावणिज्जाए निसीहिआए, अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि।"

अर्थात् "मैं चाहता हू, हे पूज्य ! वन्दन करने को, शरीर की शक्ति के अनुसार। इस समय मैं दूसरे कार्यो की तरफ का ध्यान रोकता हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए, परिमित स्थान मे आने की।"

उपर्युक्त वन्दनक सूत्र मे आने वाले "यापनीय" शब्द के बारम्बार उच्चारण करने के कारण लोगो मे उनकी "यापनीय" नाम से प्रख्याति हो गई। लोगो को पूरे सूत्र पाठ की तो आवश्यकता थी नही। उसमे जो विशिष्ट शब्द बारम्बार सुना उसी को पकड कर श्रमणो का वही नाम रख दिया, ऐसा होना अशक्य भी नही है। मारवाड के यतियो का इसी

प्रकार "मत्थेण" यह नामकरण हुआ है। जब वे एक दूसरे से मिलते हैं अथवा जुदे पड़ते हैं तब "मत्थएण वंदामि" यह शब्द संक्षिप्त वन्दन के रूप में बोला जाता है। इसको बार बार सुनकर बोलने वालों का नाम ही लोगों ने "मत्थेण" रख दिया। यही बात "यापनीय" नामकरण में समझ लेना चाहिए।

शिवभूति के अनुयायियों ने यापनीयों के नाम से प्रसिद्ध होने के बाद भी सैकड़ों वर्षों तक श्वेताम्बर मान्य "आगम" सूत्रों को माना। श्वेताम्बरों में और यापनीयों में मुख्य भेद नग्नता और पाणिपात्रत्व में था। दूसरी मामूली बातों का भी साम्प्रदायिक भेद रहा होगा, परन्तु सिद्धान्त भेद नाम मात्र का था। जिस प्रकार श्वेताम्बर संघ में वार्षिक पर्व पर "पर्युषणाकल्प" पढ़ा जाता है, वैसे यापनीयों में भी पढ़ा जाता था। श्वेताम्बर केवली का कवलाहार और स्त्री का निर्वाण मानते थे, उसी प्रकार यापनीय भी मानते थे। आजकल श्वेताम्बर-दिगम्बरों के बीच जितनी मतभेदों की खाई गहरी हुई है इसका एक शतांश भी उस समय नहीं थी। मानवस्वभावानुसार संयम मार्ग में धीरे-धीरे शिथिलता अवश्य प्रविष्ट होने लगी थी। श्वेताम्बरों के इस प्रदेश में चैत्यवास की तरह दक्षिण में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय श्रमणों में भी उसी प्रकार की शिथिलता घुस गई थी। उद्यत विहार के स्थान मठपति बनकर एक स्थान में अधिक रहना, राजा आदि को उपदेश देकर मठ मन्दिरों के लिए भूमिदान आदि ग्रहण करना और आय व्यय का हिसाब ठीक रखना, रखवाना इस प्रकार की प्रवृत्तियां दक्षिण में भी होने लगी थीं। यह बात उस प्रदेश से प्राप्त होने वाले शिलालेखों तथा शासनपत्रों से जानी जा सकती है। उधर के लेखों में निर्ग्रन्थ, श्वेताम्बर, यापनीयों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन की आवश्यकता नहीं, परन्तु निर्ग्रन्थ कूर्चकों के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने आवश्यक हैं। जहां केवल निर्ग्रन्थ शब्द का ही उपादान है, वहां "श्वेताम्बर" और "यापनीय मान्य" सिद्धान्तों को न मानने वाले दिगम्बरों को समझना चाहिए, तब "कूर्चक" सम्प्रदाय से उन निर्ग्रन्थ श्रमणों को समझना चाहिए जो वर्ष भर में एक ही बार सांवत्सरिक

तिथि को अपने केशो का लुंचन करते थे। श्वेताम्बरो के "पर्युपरणा-कल्पसूत्र" मे पाण्मासिक और सावत्सरिक केश लुचन करने का विधान है। इसके अनुसार जो श्रमण वर्ष मे एक ही वार लुचन करते थे, उनकी दाढी-मूछो के वाल लम्बे वढ जाने के कारण से लोग उन्हे "कूचक" इस नाम से पुकारते थे।

शिवभूति से दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव

आवश्यक मूल भाष्यकारादि श्वेताम्बर जैन ग्रन्थकार दिगम्बरो की उत्पत्ति का वर्णन नीचे लिखे अनुसार करते हैं

'भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त किये छ सौ नौ वर्ष व्यतीत हुए तब रथवीरपुर मे बोटिको का दर्शन उत्पन्न हुआ।'

'रथवीरपुर नगर के बाहर दीपक नामक उद्यान था। वहा पर आर्यकृष्ण नामक आचार्य ठहरे हुए थे। आर्यकृष्ण के एक शिष्य का नाम था "सहस्रमल्ल शिवभूति"। शिवभूति गृहस्थावस्था मे वहा के राजा का कृपापात्र सेवक था। दीक्षा लेने के बाद जब वह गुरु के साथ विहार करता हुआ रथवीरपुर आया, तब वहा के राजा ने उसको कम्बलरत्न का दान दिया। आचार्य आर्यकृष्ण को जब इस बात का पता लगा, तो उन्होंने उपालम्भ के साथ कहा "साधुओ को ऐसा कीमती वस्त्र लेना वर्जित है, तुमने क्यो लिया ?" यह कह कर आचार्य ने उस कम्बल को फाड कर उसकी निषद्याए (बैठने के आसन) बनाकर साधुओ को दे दी। शिवभूति को गुस्सा तो आया, पर कुछ बोला नही।

एक दिन सूत्रानुयोग मे जिनकल्प का वर्णन चला, जैसे "जिन-कल्पिक दो प्रकार के होते हैं, करपात्री और पात्रधारी। वे दोनो दो प्रकार के होते है वस्त्रधारी और वस्त्र न रखने वाले। वस्त्र न रखने वाले जिनकल्पिको की उपधि आठ प्रकार की होती है दो प्रकार की, तीन

प्रकार की, चार प्रकार की, नव प्रकार की, दस प्रकार की, ग्यारह प्रकार की और बारह प्रकार की, जिनकल्पिक उपधि के ये आठ विकल्प होते हैं। कोई रजोहरण मुखवस्त्रिका रूप दो प्रकार की ही उपधि रखते हैं, तब कोई इन दो उपकरणो के उपरान्त एक चद्दर भी ओढने के लिए रख कर त्रिविध उपधिधारी होते हैं, कोई उपर्युक्त एक वस्त्र के स्थान मे दो रखते है, तब चतुर्विध उपधि होती है और तीन वस्त्र रखने वालो की पचविध उपधि होती है। ये चार उपधि के प्रकार करपात्री जिनकल्पी के होते हैं। जो पात्रधारी होते हैं उनके नवविध, दशविध, एकादशविध और द्वादशविध उपधि होती है, जैसे पात्र, पात्रबन्धन, पात्रस्थापनक, पात्रप्रमार्जनिका, पटलक, रजस्त्राण और गोच्छक, ये सप्तविध पात्रनिर्योग और रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका मिलकर पात्रभोजी की नवविध उपधि होती है। इसमे एक वस्त्र बढाने से दशविध, दो वस्त्र बढाने से एकादशविध और तीन वस्त्र रखने वालो की उपधि १२ प्रकार की होती है।'

यहाँ शिवभूति ने पूछा "इस समय उपधि अधिक क्यो रखी जाती है ? जिनकल्प क्यो नही किया जाता ?" गुरु ने कहा जिनकल्प करना आज शक्य नही है, वह विच्छिन्न हो गया है। शिवभूति ने कहा विच्छेद कैसे हो सकता है ? मैं करता हूँ। परलोकहितार्थी को जिनकल्प ही करना चाहिए। इतना उपधि का परिग्रह क्यो रखना चाहिये ? परिग्रह के सद्भाव मे कषाय, मूर्छा, भय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते है। शास्त्र मे अपरिग्रहत्व ही हितकारी बताया है। जिनेश्वर भगवन्त भी अचेलक ही रहते थे। अत अचेलक रहना ही अच्छा है। गुरु ने कहा देख, शरीर के सद्भाव मे भी किसी को मूर्छा आदि दोष होते है, तो क्या शरीर का भी त्याग कर देना ? सूत्र मे अपरिग्रहत्व कहा है, उसका अर्थ इतना ही है कि धर्मोपकरणो मे भी मूर्छा नही करनी चाहिये, जिन भगवान् भी एकान्त अचेलक नही थे। दीक्षा के समय सभी तीर्थङ्कर एक वस्त्र के साथ निकलते है, इत्यादि स्थविरो ने उसको बहुत समझाया, फिर भी वह वस्त्रो का त्याग कर चला गया। उसकी "उत्तरा" नामक बहन साध्वी उद्यान मे ठहरे हुए शिवभूति को वन्दनार्थ गई। उनकी यह स्थिति देखकर उत्तरा ने

उन्हें अपने लिए पूछा। शिवभूति ने कहा सघाटी तेरे पास रहने दे। शिवभूति ने कोडिन्य-कोट्टवीर नामक दो शिष्य किये और वहा से आगे शिष्य परम्परा चली, भाष्यकार कहते हैं

"बोडियसिवभूईओ, बोडियलिंगस्स होई अप्पत्ती।

कोडिण्ण-कोट्टवीरा, परपराफासमुप्पण्णा ॥१४८॥" (मू भा)

अर्थात्–'बोटिक-शिवभूति से बोटिक-लिंग की उत्पत्ति हुई और उनकी परम्परा को स्पर्श करने वाले कोण्डकुन्द, वीर नामक शिष्य हुए।'

टीकाकारो ने "कोडिन्य" और "कोट्टवीर" इस प्रकार पदो का विश्लेष किया है। हमारे विचारानुसार "कोडिन्यकोट्ट" यह कोण्डकुण्ड का अपभ्रंश है और "वीर" ये भी इनके परम्परा शिष्य हैं।

निह्नव वक्तव्यता का निगमन करते हुए भाष्यकार कहते हैं वर्तमान अवसर्पिणी काल मे महावीर के धर्मशासन मे होने वाले सात निह्नवो का वर्णन किया है महावीर को छोडकर किसी तीर्थङ्कर के शासन में निह्नव नही हुए। उक्त निर्ग्रन्थ रूपधारी निह्नवो के दर्शन ससार का मूल और जन्म-जरा-मरण गर्भवास के दुःखो का कारण है। प्रवचन-निह्नवो के लिए कराये हुए आहार आदि के ग्रहण मे निर्ग्रन्थो के लिए भजना है, अर्थात् वे उक्त आहार आदि ले सकते हैं और नही भी ले सकते।

दिगम्बर सम्प्रदायप्रवर्तक शिवभूति का नाम निह्नवो की नामावलि मे नही मिलता। आवश्यक-भाष्यकार और उसके टीकाकार कहते हैं: "बोटिक सर्वविसवादी होने के कारण अन्य निह्नवो के साथ इनका नाम नही लिखा।" कुछ भी हो, पर इस सम्प्रदाय के उत्पन्न होने के समय मे इसको कही भी "निह्नवसप्रदाय नही लिखा, न शिवभूति को आचार्य कृष्ण द्वारा अपने गण या सघ से बहिष्कृत करने का उल्लेख मिलता है", बल्कि "एवपि पण्णविओ कम्मोदएण चीवराणि छड्डेत्ता गओ" अर्थात् स्थविर आचार्यों ने उसको बहुत समझाया तो भी कर्मोदयवश होकर शिवभूति अपने वस्त्रो का त्याग कर चला गया; इससे भी ज्ञात होता है कि

शिवभूति को उसके गुरु तथा सघ ने अन्य निह्नवों की तरह सघ से वहिष्कृत नही किया था, वल्कि वह स्वय नग्न होकर चला गया था। यही कारण है कि सूत्रोक्त निह्नवो की नामावलि मे इनका नाम सम्मिलित नही किया। भाष्यकार तथा टीकाकारो ने इन्हे निह्नव ही नही "मिथ्यादृष्टि" तक लिख डाला है। इसका कारण यह है कि तब तक दोनो परम्पराओ के बीच पर्याप्त मात्रा मे कटुता बढ़ चुकी थी। दिगम्बर आचार्य "देवनन्दी' ने केवली को कवलाहारी मानने वालो को "साशयिक मिथ्यात्वी" ठहराया, तब जिनभद्र आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने "देवनन्दी" के अनुयायियो को भी मिथ्यादृष्टि करार दिया था। यह आपसी तनातनी छठवीं शती से प्रारम्भ होकर तेरहवी शती तक अन्तिम कोटि को पहुँच चुकी थी।

कुन्दकुन्द के गुरु

आचार्य श्री कुन्दकुन्द के दीक्षा गुरु अथवा श्रुतपाठक गुरु कौन थे, इस विषय मे भी विद्वान् एकमत नही हैं। श्रवणबेलगोला के ४०वें लेख के दो पद्यो मे कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती कुछ आचार्यो के नाम दिये हैं, जो इस प्रकार हैं

"मूल सघ मे नन्दी सघ था और नन्दी सघ मे बलात्कार गण। उस गण मे पूर्वपदो का अश जानने वाले श्री माघनन्दी हुए। माघनन्दी के पद पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए और जिनचन्द्र के पद पर पचनामधारी श्री पद्मनन्दी मुनि हुए।' इस लेखाश से इतना ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द के प्रगुरु माघनन्दी और गुरु जिनचन्द्रसूरि थे। इसके विपरीत पट्टावली मे माघनन्दी के अतेवासी का नाम गुणचन्द्र लिखा है और उसके शिष्य अथवा उत्तराधिकारी के रूप मे कुन्दकुन्द का वर्णन किया है।

कुन्दकुन्द कृत "पचास्तिकाय प्राभृत" के व्याख्यान मे श्री जयसेनाचार्य ने पद्मनन्दी जिनका नामान्तर है ऐसे कुन्दकुन्द को कुमारनन्दी सैद्धान्तिक देव का शिष्य बताया है।

श्रुतावतार कथा मे अर्हद्बलि के बाद माघनन्दी का और उनके बाद धरसेन आदि आचार्यो का वर्णन किया है, माघनन्दी का नही, न माघनन्दी के बाद गुणचन्द्र और कुमारनन्दी के नामोल्लेख हैं। श्रवणबेलगोला के लेखो मे कुन्दकुन्द के गुरु का उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता, किन्तु राजा चन्द्रगुप्त के वर्णन के बाद सीधा कुन्दकुन्द का वर्णन किया है। परम्परा का वर्णन भी कुन्दकुन्द से ही प्रारम्भ किया है, अर्थात् नन्दी सघ के प्रधान

आरातीय मुनि श्री कुन्दकुन्द ही माने गए हैं। यह किसी ने सोचा ही नही कि कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे। अपने ग्रन्थो मे कुन्दकुन्द ने भी अपने गुरु का नामोल्लेख नही किया। इस परिस्थिति मे कुन्दकुन्द के गुरु, प्रगुरु आदि का निर्णय करना असम्भव है और पिछली पट्टावली और शिलालेखो मे भले ही कुन्दकुन्द के गुरु का नाम कुछ भी लिखा हो, परन्तु वह निर्विवाद माननीय नही हो सकता।

नन्दी सघ की पट्टावली मे जो आचार्य-परम्परा लिखी हैं, वह भी उपर्युक्त कुन्दकुन्द के गुरु आदि के नामो के साथ सहमत नही होती। नन्दी सघ की पट्टावली का क्रम यह है

उमास्वाति, लोहाचार्य, यशकीर्ति, यशोनन्दी, देवनन्दी, गुणनन्दी इत्यादि।

पट्टावली-लेखक के मत से लोहाचार्य के बाद होने वाले अर्हद्बलि, माघनन्दी, भूतबलि, पुष्पदन्त ये आचार्य भी अग ज्ञान के जानने वाले थे, परन्तु पट्टावली-लेखक का उक्त कथन प्रामाणिक मालूम नही होता। इस परिस्थिति मे आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे, यह प्रश्न अनिर्णीत ही रहता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का सत्ता-समय

आचार्य कुन्दकुन्द के सत्ता समय के सम्बन्ध मे दिगम्बर जैन विद्वान् भी एकमत नही है। कोई उनको विक्रम की प्रथम शती मे हुआ मानते हैं, कोई दूसरी शती मे, तब कोई विद्वान् दूसरी शती से भी परवर्ती समय के कुन्दकुन्दाचार्य होने चाहिए ऐसे विचार वाले है। परन्तु हमने दिगम्बर जैन साहित्य का परिशीलन कर इस विषय मे जो निर्णय किया है, वह उक्त सभी विचारको से जुदा पडता है। जितने भी कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्धि पाए हुए "प्राभृत" आदि ग्रन्थ पढ़े हैं, उन सभी से ही प्रमाणित हुआ है कि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की छठी शती के पूर्व के व्यक्ति नही हैं। हमारी इस मान्यता के साधक प्रमाण निम्नोद्धत हैं

(१) कुन्दकुन्दाचार्य कृत "पचास्तिकाय" की टीका मे "जयसेनाचार्य लिखते हैं कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिए रचा था। डा० पाठक के विचार से वह "शिवकुमार" ही कदम्बवंशी "शिवमृगेश" थे जो सम्भवत विक्रम की छठी शताब्दी के व्यक्ति थे। अतएव इनके समकालीन कुन्दकुन्द भी छठी सदी के व्यक्ति हो सकते हैं।

(२) "समय-प्राभृत" की गाथा ३५० तथा ३५१ मे कुन्दकुन्दाचार्य कहते है "लोगो के विचार मे देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य प्राणियो को विष्णु बनाता है, तथा श्रमणो (जैन साधुओ) के मत से षट्निकाय के जीवो का कर्त्ता आत्मा है।

"इस प्रकार लोक और श्रमणो के सिद्धान्त मे कोई विशेष भेद नही है। लोगो के मत मे कर्त्ता विष्णु है और श्रमणो के मत में "आत्मा"।

कहने की जरूरत नही है कि "विष्णु" को कर्त्ता पुरुष मानने वाले "वैष्णव" सम्प्रदाय की उत्पत्ति विष्णु स्वामी से ई० स० का तीसरी शताब्दी मे हुई थी। उनके सिद्धान्त ने खासा समय बीतने के बाद ही लोक सिद्धान्त का रूप धारण किया होगा, यह निश्चित है। इससे कहना पडेगा कि कुन्दकुन्द विक्रम की चौथी सदी के पहले के नही हो सकते।

(३) "रयणसार" की १८वी गाथा मे सात क्षेत्र मे दान करने का उपदेश है, श्वेताम्बर जैन साहित्य मे सात क्षेत्रो मे दान देने का उपदेश प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ 'उपदेशपद' में है, जो ग्रन्थ विक्रम की अष्टमी शती की प्राचीन कृति है। दिगम्बर ग्रन्थो मे भी इसके पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ मे सात क्षेत्रो में दान देने का उपदेश हमने नही पढा। उपरान्त उसी प्रकरण की गाथा २८वी मे कुन्दकुन्द कहते हैं "पचम काल में इस भारतवर्ष मे यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, परिचर्या (सेवा या खुशामद), पक्षपात और मीठे वचनो के ही कारण से दान दिया जाता है, मोक्ष के हेतु नही।"

इससे यह साबित होता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे, जब कि इस देश मे तान्त्रिक मत का खूब प्रचार हो गया था और मोक्ष की भावना की अपेक्षा से सासारिक स्वार्थ और पक्षापक्षी का बाजार गर्म हो रहा था। पुरातत्ववेत्ताओ को कहने की शायद ही जरूरत होगी कि भारतवर्ष की उक्त स्थिति विक्रम की पाचवी सदी के बाद मे हुई थी।

(४) "रयणसार' की गाथा ३२वी मे जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थवन्दन विषयक द्रव्य भक्षण करने वालो को नरक दुःख का भोगी बता कर कुन्दकुन्द कहते हैं "पूजा दानादि का द्रव्य हरने वाला, पुत्र-कलत्रहीन, दरिद्र, पगु, गूगा, बहरा और अन्धा होता है और चाण्डालादि कुल मे जन्म लेता है। इसी प्रकार अगली ३३–३६ वी गाथाओ मे पूजा और दानादि द्रव्य भक्षण करने वालो को विविध दुर्गतियो के दुःख-भोगी होना बतलाते है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के समय मे देवद्रव्य और दान दिये हुए द्रव्यो की दुर्व्यवस्था होना एक सामान्य बात हो गई थी। मन्दिरो की व्यवस्था मे साधुओ का पूरा दखल हो चुका था और वे अपना

आचार मार्ग छोड़ कर गृहस्थोचित चैत्य कार्यों मे लग चुके थे। जैन इतिहास से यह बात सिद्ध है कि विक्रम की छठी सातवी सदी से साधु चैत्यों में रह कर उनकी व्यवस्था करने लग गए थे और छठी से दसवीं सदी तक उनका पूर्ण साम्राज्य रहा था। वे अपने अपने गच्छ सम्बन्धी चैत्यों की व्यवस्था मे सर्वाधिकारी के ढंग से काम करते थे। उस समय के सुविहित आचार्य इस प्रवृत्ति का विरोध भी करते थे, परन्तु उन पर उसका कोई असर नहीं होता था। इस समय को श्वेताम्बर ग्रंथकारो ने "चैत्यवास प्रवृत्ति-समय' के नाम से उद्घोषित किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे विक्रम की ग्यारहवी शती से "भट्टारकीय समय" की प्रसिद्धि हुई है। आचार्य कुंदकुंद का अस्तित्व उक्त समय के बाद का है, इसी से तत्कालीन प्रवृत्तियो का खण्डन किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि वे छठी सदी के पूर्व के व्यक्ति नही थे।

(५) "रयणसार" की १०५ तथा १०८ से १११ वी तक की गाथाओ मे कुंदकुंद ने साधुओ की अनेक शिथिल प्रवृत्तियो का खण्डन किया है, जिनमे "राजसेवा, ज्योतिष-विद्या, मन्त्रो से आजीविका, धनधान्य का परिग्रह, मकान, प्रतिमा, उपकरण आदि का मोह, गच्छ का आग्रह, वस्त्र और पुस्तक की ममता" आदि बातो का खण्डन लक्ष्य देने योग्य है। कहने की शायद ही जरूरत होगी कि उक्त खराबिया साधु समाज मे छठी और सातवी सदी मे पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो चुकी थी। पाचवी सदी मे इनमे से बहुत कम प्रवृत्तिया साधु समाज मे प्रविष्ट होने पायी थी और विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी तक तो ऐसी कोई भी बात जैन निग्रन्थों में नहीं पायी जाती थी। इससे यह निस्सदेह सिद्ध होता है कि आचार्य कुंदकुंद विक्रम की छठी शताब्दी के बाद के ग्रंथकार है। यदि ऐसा न होता और दिगम्बर जैन पट्टावलियो के लेखानुसार वे विक्रम की प्रथम अथवा दूसरी शती के ग्रंथकार होते तो छठी शती की प्रवृत्तियो का उनके ग्रंथो मे खण्डन नही होता।

(६) कुंदकुंद ने अपने ग्रंथो मे अनेक स्थानो पर "गच्छ" शब्द का प्रयोग किया है, जो विक्रम की पाचवी सदी के बाद का पारिभाषिक

शब्द है। श्वेताम्बरों के प्राचीन भाष्यों तक में "गच्छ" शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। हाँ, छठी सातवीं शताब्दी के बाद के भाष्यों, चूर्णियों और प्रकीर्णकों में "गच्छ" शब्द का व्यवहार अवश्य हुआ है। यही बात दिगम्बर सम्प्रदाय में भी है। जहा तक हमें ज्ञात है उनके तीसरी चौथी शताब्दी के साहित्य में तो क्या आठवीं सदी तक के साहित्य में भी "गच्छ" शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ।

(७) विक्रम की नवीं सदी के पहले के किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रंथ में कुंदकुंदाचार्य का नामोल्लेख न होना भी सिद्ध करता है कि वे उतने प्राचीन व्यक्ति न थे, जितना कि आधुनिक दिगम्बर विद्वान् समझते हैं। यद्यपि मकरा के एक ताम्रपत्र में, जो शक संवत् ३८८ का लिखा हुआ माना जाता है, कुंदकुंद का नामोल्लेख है, तथापि हमारी उक्त मान्यता में इससे कुछ भी विरोध नहीं आ सकता, क्योंकि उस ताम्रपत्र में उल्लिखित तमाम आचार्यों के नामों के पहले "भटार" (भट्टारक) शब्द लिखा गया है, जो विक्रम की सातवीं सदी के बाद शुरु होता है। इस दशा में ताम्रपत्र वाला संवत् कोई अर्वाचीन संवत् होना चाहिये अथवा तो यह ताम्रपत्र ही जाली होना चाहिए।

श्रमण भगवान् महावीर के "जिनकल्प और स्थविरकल्प" नामक एक परिशिष्ट में मकरा का ताम्रपत्र जाली होने की हमने संभावना की थी। उस पर "कषायप्राभृत' के प्रथम भाग के सम्पादक महोदय ने हमारी उस सम्भावना पर नाराजगी प्रकट करते हुए लिखा था कि ताम्रपत्र को जाली कहना कल्याणविजयजी का साहस है।" उस समय तक ताम्रपत्र प्रकाशित नहीं हुआ था, परंतु अन्यान्य प्रमाणों से कुंदकुंदाचार्य की अर्वाचीनता निश्चित होती थी और मुझे उन प्रमाणों पर पूरा विश्वास था। जब "जैन शिलालेख-संग्रह' का द्वितीय भाग मेरे पास आया, तब उसमें मुद्रित मकरा का ताम्रपत्रीय लेख पढने को मिला। मैंने उसको ध्यान से पढा और विश्वास हो गया कि वास्तव में यह ताम्रपत्र जाली ही है, क्योंकि उसमें माघ सुदि पंचमी को पूर्वाभाद्रपद उत्तराभाद्रपद अथवा

रेवती इन तीनो मे से कोई भी एक नक्षत्र हो सकता है, परन्तु स्वाति तो किसी हालत मे नही आ सकता ।

माघ सुदी पचमी के दिन सोमवार होने की बात ताम्रपत्र मे लिखी थी, परन्तु शक सवत् ३८८ के समय में वार शब्द का भारतवर्ष मे प्रयोग ही नही होता था। भारतीय साहित्य मे विक्रम की नवमी शती के बाद मे "वार" शब्द का प्रयोग होने लगा है। इन बातो के आधार पर हमने ताम्रपत्र को जाली होने की सम्भावना की थी, वह सत्य प्रमाणित हुई।

कुछ समय के बाद "जैन शिलालेख सग्रह" का तृतीय भाग मिला और डा० श्री गुलाबचन्द्र चौधरी एम ए पी-एच डी, आचार्य की प्रस्तावना पढी तो मकरा-ताम्रपत्र के सम्बन्ध मे उनका निम्नलिखित अभिप्राय पाया। उसमे चौधरी महोदय लिखते हैं

"कुछ विद्वान् मकरा के ताम्रपत्रो ९५ को प्राचीन (सन् ४६६ ई०) मान कर देशीयगण कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व एव उल्लेख बहुत प्राचीन मानते हैं, पर परीक्षण करने पर उक्त लेख बनावटी सिद्ध होता है तथा देशीयगण की जो परम्परा वहा दी गई है, वह लेख न० १५० के बाद की मालूम होती है।"

श्रीयुत् चौधरी ने अपने कथन के समर्थन मे स्वर्गीय बी एल राइस महोदय द्वारा स० १८७२ मे *"इण्डियन एण्टिक्वेरी" (भाग १ पृ० ३६३ –३६५)* मे मूल तथा अनुवाद के साथ प्रकाशित करवाये गए इन ताम्रपत्रो के सम्बन्ध मे व्यक्त किये गए अभिप्राय को टिप्पण मे उद्धृत किया है जिसका साराश मात्र यहा देते हैं

बर्जेस महाशय का कथन है कि "लेख का सवत् विल्सन सा० के (मेकेन्जी कलेक्शन) के आधार पर शक सवत् है, पर ज्योतिष शास्त्र के आधार पर उक्त सवत् के दिन "सोमवार और नक्षत्र स्वाति" लिखा है, वह ठीक नही। "वार बुध और नक्षत्र उत्तराभाद्रपद" होना चाहिए था।

इन्हीं ताम्रपत्रो के सम्बन्ध में चौधरी महोदय का निम्नलिखित तक भी ध्यान देने योग्य है

"यदि किन्ही कारणों से मर्करा के ताम्रपत्रो को प्राचीन भी मान लिया जाय तो उस लेख के सन् ४६६ के बाद और लेख न० १५० के सन् ६३१ के पहले चार-पाच सौ वर्षो तक बीच के समय मे कोण्डकुन्दान्वय और देशीयगण का एक साथ लेखगत कोई प्रयोग न मिलना आश्चर्य की बात है और इतने पहले उस लेख मे उक्त दोनो का एकत्री प्रयोग मकरा के ताम्रपत्रो की स्थिति को अजीब सी बना देता है।"

मकरा के ताम्रपत्रा मे 'कोण्डकुन्दान्वय" शब्द प्रयोग से कुन्दकुन्दाचाय के सत्ता समय को विक्रम की दूसरी शती तक खीच ले जाने वाले विद्वानो को आचार्य चौधरी महोदय के कथन पर विचार करना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे "जैन शिलालेख सग्रह" के तृतीय भाग के प्राक्कथन मे प्रो० हीरालालजी जैन डायरेक्टर प्राकृत जैन विद्यापीठ मुजफ्फरपुर (बिहार) की निम्नलिखित सूचनायें भी इतिहाससशोधको को अवश्य विचारणीय है

(१) "मकरा के जिस ताम्रपत्र लेख के आधार पर कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व पाचवी शती में माना जाता है, वह लेख परीक्षण करने पर बनावटी सिद्ध होता है तथा देशीयगण की जो परम्परा उस लेख में दी गई है, वही लेख न० १५० (सन् ६३१) के बाद की मालूम होती है।

(२) कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग आठवीं नौवी शती के लेख मे देखा गया है तथा मूल सघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सवप्रथम प्रयोग ले० न० १८० (लगभग १०४४ ई०) मे हुआ पाया जाता है।

(३) डॉ० चौधरी की प्रस्तावना में प्रकट होने वाले तथ्य हमारी अनेक सास्कृतिक और ऐतिहासिक मान्यताओ को चुनौती देने वाले हैं। अतएव इनके ऊपर गम्भीर विचार करने तथा उनसे फलित होने वाली

बातो को अपने इतिहास मे यथोचित रूप से समाविष्ट करने की आवश्यकत। है।"

आचाय कुदकुद के सम्बन्ध मे उपयुक्त विद्वानों का निणय लिखने के बाद इसी समय एक अन्य जैन विद्वान् का कुदकुदाचार्य का सत्ता-समय विक्रम की पष्ठी शती मे होने का निणय दृष्टिगोचर हुआ, जो नीचे उद्धृत किया जाता है

कुदकुदाचाय विरचित सटीक "समयप्राभृत" का प्रथम सस्करण जो ईसवी सन् १९१४ मे प्रकाशित हुआ था, उसकी प्रस्तावना में उसके सम्पादक न्यायशास्त्री प० श्री गजाधरलालजी जैन लिखते हैं

"श्रीशिवकुमार-महाराज प्रतिबोधनार्थं विलिलेख भगवान् कुदकुद स्वीय ग्रथमिति, समाविर्भावित च पचास्तिकायस्य क्रमश कार्णाटिक-सस्कृत-टीकाकारै श्रीबालचन्द्र-जयसेनाचार्ये ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुद-कुदसमय सस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्व त् ४५० तमशकसवत्सर एव सिद्धयति, स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति ॥" (पृ० ८)

अर्थात् 'श्री शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिए भगवान् कुदकुद ने अपने इस ग्रन्थ को रचा था, ऐसा "पचास्तिकाय सार" के क्रमश कार्णाटिक सस्कृत टीकाकार श्री बालचन्द्र, जयसेनाचाय ने प्रकट किया है, इस युक्ति से भी भगवान् कुदकुद का समय शिवमृगेशवर्म के सम-कालीन होने से ४५० वा शक सवत्सर सिद्ध होता है और इसके स्वीकार मे कुछ बाधक भी नही है।'

प० गजाधरलालजी के उपर्युक्त विचार के अनुसार भी कुदकुदाचाय का सत्ता-समय शक सवत् ४५० मे सिद्ध होता है, जो हमारे मत से ठीक मिल जाता है।

श्रवणबेलगोल तथा उसके आसपास के जन शिलालखो में शक की आठवीं शती के पहले के किसी भी लेख मे कुदकुद का नामनिर्देश न मिलना

भी यही प्रमाणित करता है कि प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुदकुद विक्रम की षष्ठी शती के उत्तरार्ध के विद्वान् थे।

कुदकुद ने "समयसार-प्राभृत" आदि मे जो दार्शनिक चर्चा की है, उससे भी वे हमारे अनुमानित समय से पूर्ववर्तिकालभावी नही हैं। कुन्दकुदाचार्य ने अपने समय-प्राभृत की ३८३ आदि गाथाओ मे श्वेत-मृत्तिका के दृष्टान्त से अद्वैतवाद का जो खण्डन किया है, वह अद्वैतवाद वास्तव मे बौद्धो का विज्ञानवाद समझना चाहिए। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने अपने "प्रमाणवार्तिक" ग्रन्थ मे बौद्ध विज्ञानवाद का जो प्रति-पादन किया है उसी का "जहसेटियादु' इत्यादि गाथाओ मे कुदकुद ने निरसन किया है, धर्मकीर्ति का कथन था कि ज्ञान और ज्ञान का विषय भिन्न नही है। जो नील पीत आदि पदार्थों से नीलाभास पीताभास वाला पदार्थ दृष्टिगोचर होता है, वह विज्ञान मात्र है। इसके उत्तर मे आचार्य कुदकुद कहते हैं जिस प्रकार श्वेतमृत्तिका से मकान पोता जाता है और सारा मकान श्वेतमृत्तिका के रूप मे देखा जाता है, फिर भी मकान मृत्ति-कामय नही बन जाता। मकान मकान ही रहता है और उस पर पोती हुई श्वेतमृत्तिका उससे भिन्न मृत्तिका ही रहती है। इन गाथाओ की व्याख्या मे टीकाकारो ने अपनी व्याख्याओ मे "ब्रह्माद्वैतवाद" का खण्डन बताया है, जो यथार्थ नही है क्योंकि शकराचार्य का 'ब्रह्माद्वैतवाद' कुदकुन्दाचार्य के परवर्ती समय का है न कि पूर्ववर्ती समय का। अत "जहसेटियादि" गाथाओ की व्याख्या विज्ञानवाद खण्डनपरक समझना चाहिए। समयसार के इस निरूपण से भी विक्रम की षष्ठी शती के पूर्वार्ध-वर्ती बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद का खण्डन करने से कुदकुदाचार्य का सत्ता समय निर्विवाद रूप से विक्रम की षष्ठी शती का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है।

भट्टारक जिनसेनसूरि का शक-संवत् कलचूरी संवत् है

भट्टारक वीरसेनसूरि ने हरिवंश-पुराणकार आचार्य जिनसेनसूरि का, जो कि पुंनाट वृक्षगिण के आचार्य थे, अपने ग्रन्थ मे स्मरण किया है। जिनसेन ने शक ७०५ मे हरिवंश-पुराण समाप्त किया है। उसमे वर्धमान नगर के राजा धरणीवराह का उल्लेख किया है। धरणीवराह चापवंशी राजा था और उसका सत्तासमय विक्रम सं० ९७१ (शक ८३६) था। हरिवंश का शक ७०५ विक्रम संवत् ८४० होता है जो धरणीवराह के समय के साथ संगत नहीं होता। इस परिस्थिति में जिनसेन के शक को शालिवाहन शक के अर्थ में न लेकर केवल संवत् के अर्थ मे लेना चाहिए और इस संवत् को विक्रम, वलभी वा गुप्त संवत् न मान कर "कलचूरी" संवत् मानना चाहिए। पुन्नाटगणीय जिनसेन उसी प्रदेश से आये हुए थे, जहाँ "कलचूरी संवत्" चलता था। इसलिए जिनसेन की कलचूरी संवत् की पसंदगी स्वाभाविक थी। कलचूरी संवत् ईसा से २४९ और विक्रम से ३०६ वर्षों के बाद प्रचलित हुआ था। इस प्रकार जिनसेन के हरिवंश-पुराण की समाप्ति के ७०५ संवत् मे कलचूरी के ३०६ वर्ष मिलाने पर ७०५+३०६=१०११ विक्रम वर्ष बनेंगे, इससे धरणीवराह के और जिनसेन के समय की संगति भी हो जायगी।

इसी प्रकार धवला की समाप्ति का समय शक संवत् ७०३ माना जाता है। इसमे कलचूरी के ३०६ वर्ष मिला कर ७०३+३०६=१००९ बना लिये जायें तो वीरसेन का जिनसेन से परवर्तित्व सिद्ध हो सकता है।

धनजय, प्रभाचन्द्र और जिनसेन के नामोल्लेख भी सगत हो जाते हैं, मात्र वीरसेन स्वामी को विक्रम की ग्यारहवी शती के ग्रन्थकार मानने पडेंगे।

दिगम्बर ग्रन्थकारो मे से अनेक लेखको ने अपने ग्रन्थो में समय-निर्देश मे सवत् के अर्थ में 'शक विक्रम नृप' आदि शब्द प्रयुक्त किये हैं, उदाहरणस्वरूप भट्टारक श्री देवसेनसूरि ने "दर्शनसार" मे श्वेताम्बर मत आदि की उत्पत्ति की सूचना ' विक्रम नृप" शब्द से की है। पहले दिगम्बर विद्वान् इस समय-निर्देश को "विक्रम सवत्" मानते थे, पर वर्तमान मे डॉ० ज्योतिप्रसाद आदि ने इसे शक सवत् मान कर भट्टारक देवसेन का समय विक्रम सवत् १०२५ का निश्चित किया है, इसी प्रकार सर्वत्र विशाल दृष्टि रख कर विद्वानो को वास्तविकता समझ कर मतभेदो का समन्वय करना चाहिए।

आधुनिक दिगम्बर समाज के सघटक आचार्य कुन्दकुन्द और भट्टारक वीरसेन

हम ऊपर देख आये है कि दिगम्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था, यद्यपि कर्नाटक देशो मे इसका पर्याप्त मान और प्रचार था, तथापि विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग इसके साधु, राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लगे थे। कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नही लगी। उन्होने केवल स्थूल-परिग्रह का ही नही बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय मे जो "आपवादिक उपधि" के नाम से वस्त्र, पात्र की छूट थी उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जाते श्वेताम्बर आगम ग्रन्थो को भी उद्धारको ने अप्रामाणित ठहराये और उन्ही आगमो के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रन्थो का निर्माण शुरु किया। कुन्दकुन्द वगैरह जो प्राकृत के विद्वान् थे, उन्होंने प्राकृत मे और देवनन्दी आदि सस्कृत के विद्वानो ने सस्कृत मे ग्रन्थ निर्माण कर अपनी परम्परा को परापेक्षता से मुक्त करने का उद्योग किया।

यद्यपि शुरु-शुरु मे उन्हे पूरी सफलता प्राप्त नही हुई। यापनीय सघ का अधिक भाग इनके क्रियोद्धार मे शामिल नही हुआ और शामिल होने वालो मे से भी बहुत सा भाग इनकी सैद्धान्तिक क्रान्ति के कारण विरुद्ध हो गया था, तथापि इनका उद्योग निष्फल नही हुआ। इनके ग्रन्थ और विचार धीरे-धीरे विद्वानो के हृदय मे घर करते जाते थे। विक्रम की आठवी, नवी और दशवी सदी के अकलकदेव, विद्यानन्दी आदि दिग्गज दिगम्बर विद्वानो के द्वारा तार्किक पद्धति से परिमार्जित होने के उपरान्त

वे और भी आकर्षक हो गये। फलस्वरूप प्राचीन सिद्धान्तो के आधार से बने नये ग्रंथो और सिद्धान्तो का सार्वत्रिक प्रसार हो गया।

इस प्रकार आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय और इसके श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्तो की नीव विक्रम की छठी शताब्दी के अन्त मे कुन्दकुन्द ने और ग्यारहवी शती मे भट्टारक वीरसेन ने डाली।

हमारे उक्त विचारो का विशेष समर्थन नीचे की बातो से होगा :

(१) परम्परागत श्वेताम्बर जैन आगम जो विक्रम की चौथी शती मे मथुरा और वलभी मे और छठी सदी के प्रथम चरण मे माथुर और वालभ्य सघ की सम्मिलित सभा मे वलभी मे व्यवस्थित किये और लिखे गए थे, उनमे से स्थानाग मे औपपातिक उपाग सूत्र मे और आवश्यक-नियुक्ति मे सात निह्नवो के नामो और उनके नगरो के भी उल्लेख किये गये हैं। ये ७ निह्नव मात्र साधारण विरुद्ध मान्यता के कारण श्रमणसघ से बाहर किये गये थे, उनमे अन्तिम निह्नव गोष्ठामाहिल था, जो वीर सवत् ५८४, विक्रम सवत् ११४ मे सघ से बहिष्कृत हुआ था। यदि विक्रम को चतुर्थ शताब्दी तक भी दिगम्बर परम्परा मे केवलिकवलाहार का और स्त्री तथा सवस्त्र की मुक्ति का निषेध प्रचलित हो गया होता तो उनको निह्नवो की श्रेणि मे परिगणित न करने का कोई कारण नही था, परन्तु ऐसा नही हुआ, इससे जान पडता है कि विक्रम की पाचवी शताब्दी तक श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादक वर्तमान दिगम्बर परम्परा का प्रादुर्भाव नही हुआ था।

(२) विक्रम की सातवी सदी के पहले के किसी भी लेख-पत्र मे वर्तमान दिगम्बर-परम्परा सम्मत श्रुतकेवलि, अगपाठी, आचार्यों, गणो, गच्छो और सघो का नामोल्लेख नही मिलता।

(३) दिगम्बर परम्परा के पास एक भी प्राचीन पट्टावली नही है। इस समय जो पट्टावलिया उसके पास विद्यमान बताई जाती हैं, वे सभी बारहवी सदी के पीछे की हैं और उनमे दिया हुआ प्राचीन गुरुक्रम बिल्कुल

अविश्वसनीय है, बल्कि यह कहना चाहिए कि महावीर निर्वाण से एक हजार वर्ष तक का इन पट्टावलियो मे जो आचार्यक्रम दिया हुआ है, वह केवल कल्पित है। पाच चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशागधर, एकाग-पाठी, अगैकदेशपाठी आदि आचार्यों का जो नाम, समय और क्रम लिखा है उसका मूल्य दन्तकथा से अधिक नही है। इनके विषय मे पट्टावलिया एक मत भी नही हैं। श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, एकादशागधर, अगपाठी और उनके बाद के बहुत समय तक के आचार्यो का नाम क्रम और समय-क्रम बिलकुल अव्यवस्थित है। कही कुछ नाम लिखे हैं और कही कुछ, समय भी कही कुछ लिखा है और कही कुछ। कही भी व्यवस्थित समय या नामावली तक नही मिलती।

इन बातो पर विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि दिगम्बर पट्टावली-लेखको ने विक्रम की पाचवी छठी सदी से पहले के प्राचीन आचार्यों की जो पट्टावलिया दी हैं, वे केवल दन्तकथायें हैं और अपनी परम्परा की जड को महावीर तक ले जाने की चिंता से अर्वाचीन आचार्यो ने इधर-उधर के नामो को आगे-पीछे करके अपनी परम्परा के साथ जोड दिया है। प्रसिद्ध जैन दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी भगवती आराधना की प्रस्तावना मे लिखते हैं "दिगम्बर सम्प्रदाय मे अगधारियो के बाद की जितनी परम्पराएँ उपलब्ध हैं वे सब अपूर्ण हैं और उस समय सग्रह की गई हैं जब मूल सघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओ को जानने का कोई साधन न रह गया था।" परन्तु वस्तुस्थिति तो यह कहती है कि दिगम्बर सम्प्रदाय मे महावीर के बाद एक हजार वर्ष पर्यन्त की जो परम्परा उपलब्ध मानी जाती है वह भी उस समय सग्रह की गई थी जब मूल सघ आदि भेद हो चुके थे, क्योकि पट्टावली सग्रहकर्त्ताओ के पास जब अपने निकटवर्ती आचार्यो की परम्परा जानने के भी साधन नही थे, तो उनके भी पूर्ववर्ती अगपाठी और पूर्वधरो की परम्परा का जानना तो इससे भी कठिन था यह निश्चित है।

(४) श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण मे जाने के सम्बन्ध में जो कथा दिगम्बर ग्रन्थो में उपलब्ध होती है, वह विक्रम की ग्यारहवीं सदी के पीछे

की है। दक्षिण मे जाने वाले भद्रबाहु विक्रम की कई शताब्दियो के बाद के आचार्य थे। यह बात श्रवणबेलगोला की पार्श्वनाथबसति के शक संवत् ५२२ के आसपास के लिखे हुए एक शिलालेख से और दिगम्बर सम्प्रदाय के "दर्शनसार", "भावसग्रह" आदि ग्रन्थो से सिद्ध हो चुकी है, अतएव श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाते दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता विषयक विद्वानो के अभिप्राय निर्मूल हो जाते हैं और निश्चित होता है कि श्रुत-केवली भद्रबाहु के वृत्तान्त से दिगम्बर सम्प्रदाय का कुछ भी सम्बन्ध नही था। दिगम्बर विद्वानो ने जो-जो बातें उनके नाम पर चढाई है, वास्तव में उन सब का सम्बन्ध द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु के साथ है और ज्योतिषी भद्रबाहु का सत्तासमय विक्रम की छठी शती था। वे सप्तमी शती के प्रारम्भ मे परलोकवासी हुए थे।

(५) बौद्धो के प्राचीन शास्त्रो मे नग्न जैन साधुओ का कही उल्लेख नही है और विशाखावत्थु, धम्मपद, अट्ठकथा, दिव्यावदान आदि मे जहा नग्न निर्ग्रन्थो के उल्लेख मिलते है, वे ग्रन्थ उस समय के है जब कि यापनीय सघ और आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे। "डायोलोग्स् ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तक के ऊपर से बौद्ध ग्रन्थो मे वर्णित कुछ आचार (भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध) नामक पुस्तक मे (पृष्ठ ६१ ६५) दिए गए हैं जिनमे नग्न रहने और हाथ मे खाने का भी उल्लेख है। पुस्तक के लेखक बाबू कामताप्रसादजी की दृष्टि मे ये आचार प्राचीन जैन साधुओ के है, परन्तु वास्तव मे यह बात नही है। "मज्झिमनिकाय" मे साफ साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविक सघ के नायक गोशालक तथा उनके मित्र नन्दवच्छ और किस्स सकिच्च के है जिनका बुद्ध के समक्ष निग्गथ श्रमण "सच्चक" ने वर्णन किया था।

(६) दिगम्बरो के पास प्राचीन साहित्य नही है। इनका प्राचीन से प्राचीन साहित्य षट्खण्डागमसूत्र, कषायप्राभृत, भगवती आराधना और कतिपयप्राभृत, जो कुन्दकुन्दाचार्यकृत माने जाते है, परन्तु उक्त कृतियो मे विक्रम की षष्ठ शती से पहिले की शायद ही कोई कृति हो।

उपर्युक्त एक एक बात ऐसी है जो वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय को अर्वाचीनता की तरफ लाती हुई विक्रम की छठी सदी तक पहुँचा देती है।

इनके अतिरिक्त स्त्री तथा शूद्रों को मुक्ति के लिए अयोग्य मानना, जैनों के सिवाय दूसरों के घर जैन साधुओं को आहार लेने का निषेध, आहवनीयादि अग्नियों की पूजा, सन्ध्यातपण, आचमन और परिग्रह मात्र का त्याग करने का आग्रह करते हुए भी कमण्डलु प्रमुख शौचोपधि का स्वीकार करना आदि ऐसी बातें हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के पौराणिक कालीन होने का साक्ष्य देती हैं।

श्वेताम्बर जैन आगमों में जब कि पुस्तकों को उपधि में नहीं गिना और उनके रखने में प्रायश्चित्त-विधान किया गया है, तब नाम मात्र भी परिग्रह न रखने के हिमायती दिगम्बर ग्रन्थकार साधु को पुस्तकोपधि रखने की आज्ञा देते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि साधुओं में पुस्तक रखने का प्रचार होने के बाद यह सम्प्रदाय व्यवस्थित हुआ है।

दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियाँ

दिगम्बर जन सम्प्रदाय की पट्टावलियो का गाधार कुछ प्राचीन शिलालेख श्रौर कतिपय इनके ग्रन्थ, जिनके नाम "तिलोयपण्णत्ति", "वेदना-खण्ड की घवला टीका", "जयघवला टीका", "श्रादिपुराण" श्रौर "श्रुतावतार कथा" हैं, इन सभी मे दी हुई श्राचायपरम्पराएँ केवली, चतुदशपूवधर, दशपूर्वधर, एकादशागधर, श्राचारागधर श्रौर उसका एक श्रश जानने वाले श्राचार्यो तक की हैं।

ले० न० १ (श्रनुमित ७ शती)	ले० न० १०५ श० स० १३२०	हरिवश पुराण शक स० ७०५	
१ गौतम	१ इन्द्रभूति	१ गौतम	केवली ३
२ लोहाचाय	२ सुधर्मा	२ सुधर्मा	
३ जम्बू	३ जम्बू	३ जम्बू	
१ विष्णुदेव	१ विष्णु	१ विष्णु	श्रुतकेवली ५
२ श्रपराजित	२ श्रपराजित	२ नन्दिमित्र	
३ गोवर्धन	३ नन्दिमित्र	३ श्रपराजित	
४ भद्रबाहु	४ गोवर्धन	४ गोवर्धन	
	५ भद्रबाहु	५ भद्रबाहु	

१ विशाख	१ क्षत्रिय	१ विशाख	११ दशपूर्वी
२ प्रोष्ठिल	२ प्रोष्ठिल	२ प्रोष्ठिल	
३ कृत्तिकाय (क्षत्रिकाय)	३ गगदेव	३ क्षत्रिय	
४ जय	४ जय	४ जय	
५ नाम (नाग)	५ सुधम	५ नाग	
६ सिद्धाथ	६ विजय	६ सिद्धाथ	
७ धृतिषेण	७ विशाख	७ धृतिषेण	
८ बुद्धिलादि	८ बुद्धिल	८ विजय	
	९ घृतिषेण	९ बुद्धिल	
	१० नागसेन	१० गगदेव	
	११ सिद्धाथ	११ धमसेन	

उक्त लेखो मे इन आचार्यों का समय नही बतलाया तथापि इन्द्रनन्दी कृत "श्रुतावतार" से जाना जाता है कि महावीर स्वामी के बाद ३ केवली ६२ वर्षों मे, ५ श्रुतकेवली १०० वर्षों मे, ११ दशपूर्वी १८३ वर्षो मे, पाच एकादशागधर २२० वर्षो मे और चार आचारागधर ११८ वर्षों मे हुए हैं, इस प्रकार महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद लोहाचाय तक ६८३ वष व्यतीत हुए थे।

ले न १०५, श १३२०	हरिवश पु०	
१ नक्षत्र	१ नक्षत्र	एकादशागधर ५
२ पाण्डु	२ यश पाल	
३ जयपाल	३ पाण्डु	
४ कसाचाय	४ ध्रुवसेन	
५ द्रुमसेन (धृतिसेन)	५ कसाचार्य	

१ लोह	१ सुभद्र	आचारागधर ४
२ सुभद्र	२ यशोभद्र	
३ जयभद्र	३ यशोबाहु	
४ यशोबाहु	४ लोहाचाय	

बहुत से लेखो मे उपर्युक्त आचार्यों की परम्परा के बाद कुदकुदाचाय की परम्परा लिखी गई है। किसी भी लेख मे उपर्युक्त श्रुतज्ञानियो और कुन्दकुन्दाचाय के बीच की पूरी गुरु-परम्परा नही पायी जाती, केवल उपर्युक्त लेख न० १०५ मे ही इनके बीच के आचार्यो के कुछ नाम पाए जाते हं, वे इस प्रकार है '

१ कुम्भ
२ विनीत (अविनीत ?)
३ हलधर
४ वसुदेव
५ अचल
६ मेरुधीर
७ सवज्ञ
८ सवगुप्त
९ महीधर
१० धनपाल
११ महावीर
१२ वीर
१३ कोण्डकुन्द

नन्दी सघ की पट्टावली मे कुन्दकुन्दाचाय की गुरु-परम्परा इस प्रकार पायी जाती है।

भद्रबाहु
गुप्तिगुप्त

माघनन्दी
जिनचन्द्र
कुन्दकुन्द

इन्द्रनन्दी-कृत श्रुतावतार के अनुसार कुन्दकुन्द उन आचार्यों मे हुए हैं जिन्होंने अगज्ञान के लोप होने के पश्चात् आगम को पुस्तकारूढ किया था।

कुन्दकुन्द प्राचीन और नवीन परम्परा के बीच को एक कडी हैं, इनसे पहल जो भद्रबाहु आदि श्रुतज्ञानी हो गए हैं, उनके नाम मात्र के सिवाय उनके कोई ग्रन्थ आदि अब तक प्राप्त नही हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य से कुछ प्रथम जिन पुष्पदन्त भूतवलि आदि आचार्यो ने आगम को पुस्तकारूढ किया था, उनके भी ग्रन्थों का अब तक कुछ पता नही चलता। परन्तु कुन्दकुन्दाचाय के अनेक ग्रन्थ हमे प्राप्त हैं। आगे के प्राय सभी आचार्यों ने इनका स्मरण किया है और अपने को कुन्दकुन्दान्वयी कह कर प्रसिद्ध किया है।

अनुमित शक स० १०२२ के शिलालेख न० ५५ मे कुन्दकुन्द को मूल सघ का आदि आचाय लिखा है।

लेख न० १०५ की कुन्दकुन्दाचाय की गुरु-परम्परा ऊपर दी जा चुकी है। आगे हम इसी लेख की कुन्दकुन्द के शिष्यो की परम्परा देते हैं, वह इस प्रकार है

कुन्दकुन्द के शिष्यों की परम्परा

कुन्दकुन्द
उमास्वाति (गृद्धपिच्छ)
बलाकपिच्छ
समन्तभद्र
शिवकोटि
देवनन्दी
भट्टाकलंक
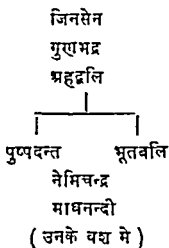
सिद्धर वसति के शक स० १३२० के लेख न० १०५ मे भट्टाकलक जिनसेन और गुणभद्रसूरि पयन्त पट्टावलि देने के बाद लेखक सघ-विभाजन की हकीकत लिखते हैं

> "य पुष्पदन्तेन च भूतबल्या ख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।
> फलप्रदानाय जगज्जनाना, प्राप्तोऽकुराभ्यामिव कल्पभूज ॥२४॥
> अर्हद्वलिस्सघ चतुर्विधं स, श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसघ ।
> कालस्वभावादिह जायमान द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥
> सिताम्बरादौ विपरीतरूपेऽखिले विसघे वितनोतु भेद ।
> तत्सेन-नन्दि त्रिदिवेश सिंह सघेषु यस्त मनुते कुदृक्स ॥२५॥

अर्थात्—'लक्षण, व्यजन, स्वर, आन्तरिक्ष, शारीरिक, छिन्नाग, भौम, शाकुन, अगविद्या, आदि निमित्तो से त्रिकालवर्ती सुख, दुख, जय, पराजय आदि समस्त बातो को जानने वाले आचाय अर्हद्वलि शिष्यद्वय से नवाकुर कल्पवृक्ष तुल्य पृथ्वी पर शोभित थे। ऐसे आचाय अर्हद्वलि ने कालस्वभाव से होने वाले रागद्वेष को कम करने के लिए श्री कौण्डकुन्दान्वय मूल सघ को सेन, नन्दी, देव और सिंह इन चार विभागो मे विभक्त किया, इन चारो मे जो भेद मानता है वह कुदृष्टि है ।

उपर्युक्त लेख मे अर्हद्वलि द्वारा मूल सघ को चार विभागो मे बाटने की बात कही गई है। यह बात कहा तक सत्य हो सकती है, इसका

निएाय मैं विद्वान् पाठको पर छोडता हूं। क्योकि एक तरफ तो दिगम्बर ग्रन्थकार भूतबलि और पुष्पदन्त को आचाय "धरसेन" के पास पढ़ने की बात कहते हैं और दूसरी तरफ पट्टावली और प्रशस्तिलेखक उनके गुरु अहद्बलि द्वारा चार सघो का विभाजन करवाते हैं। इन बातों मे काल का समन्वय किसी ने नही किया। क्या आचार्य "धरसेन" और "अहद्बलि" समकालीन थे ? यदि यह बात नही है तो "अहद्बलि" के समय मे जिनका विभाजन किया गया है उन "सेन", "नन्दो", "देव" और "सिंह" नामक चार सघो का उत्पत्ति-समय क्या है ?, यह कोई बता सकता है ? यदि सचमुच ही अहद्बलि के समय मे चार सघ विभक्त हुए हैं, तो अहद्बलि का समय विक्रमीय अष्टम शती के पहले का नही हो सकता और इस स्थिति में "भूतबलि" और "पुष्पदन्त" ने "धरसेन" से कर्मसिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया, इस कथन का मूल्य दन्तकथा से अधिक नही हो सकता।

एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि जिन धरसेन, अहद्बलि, पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, आर्य मखू, नागहस्ती आदि आचार्यो का कर्म-सिद्धान्त "कषायप्राभृत" "षट्खण्डागम" आदि के साथ सम्बन्ध जोडा जाता है, इनका प्राचीन शिलालेखो मे कही भी नाम निर्देश तक नही मिलता, इसका कारण क्या हो सकता है ? क्योकि इतने बडे भारी लेख-सग्रहो मे अहद्बलि, भूतबलि और पुष्पदन्त का नाम निर्देश केवल एक शिलालेख मे उपलब्ध होता है और जिस लेख मे नाम मिलते हैं वह लेख भी शक स० १३२० मे लिखा हुआ है, अर्थात् विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे आता है। इस परिस्थिति को देखते हुए पूर्वोक्त आचार्यो के सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त लिखने की बातें प्रचलित हुई हैं उनका आधार मात्र भट्टारक इन्द्रनन्दी की "श्रुतावतार कथा" है। इसके पहले के किसी भी श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ में उक्त बातो का उल्लेख नही मिलता और इन्द्रनन्दी ने "श्रुतावतार" के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, उसका मूल्य दन्तकथाओ से अधिक नही आकना चाहिए।

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा मे "मथुरा" और "वलभी" में आगमो के लिखने सम्बन्धी प्रसग बने थे, उसी प्रकार शायद उन्ही प्रसगो

को ध्यान मे लेकर इन्द्रनन्दी ने पुण्डवधन नगर मे दिगम्बर साधुग्रा द्वारा पुस्तक लिखने सम्बन्धी प्रचलित दन्तकथा को "श्रुतावतार" कथा के नाम से प्रसिद्ध किया है। इतना होने पर भी इस कथा को हम बिल्कुल निराधार नही मान सकते। इसमे आंशिक सत्यता अवश्य होनी चाहिए। चीनी परिव्राजक हुवेनत्साग भारत भ्रमण करता हुआ, जब "पुण्ड्रवर्धन" में गया था, तो उसने वहा पर "नग्न साधु" सबसे अधिक देखे थे। इससे अनुमान होता है कि उस समय अथवा तो उसके कुछ पहले वहा दिगम्बर जैन सघ का सम्मेलन हुआ होगा, कतिपय दिगम्बर जैन विद्वान् उक्त सम्मेलन को कुन्दकुन्दाचार्य के पहले हुआ बताते है। कुछ भी हो दिगम्बरीय पट्टावलियो मे कुन्दकुन्द से लोहाचार्य पर्यन्त के सात आचार्यों का पट्टकाल निम्नलिखित क्रम से लिखा मिलता है

(१) कुन्दकुन्दाचार्य	५१५–५१९
(२) अहिवल्याचार्य	५२०–५६५
(३) माघनन्द्याचार्य	५६६–५९३
(४) धरसेनाचार्य	५९४–६१४
(५) पुष्पदन्ताचार्य	६१५–६३३
(६) भूतबल्याचार्य	६३४–६६३
(७) लोहाचार्य	६६४–६८७

पट्टावलीकार उक्त वर्षों को वीरनिर्वाण सम्बन्धी समझते हैं। परन्तु वास्तव मे ये वर्ष विक्रमीय होने चाहिए, क्योंकि दिगम्बर परम्परा मे विक्रम की १२वीं शती तक बहुधा शक और विक्रम सवत् लिखने का ही प्रचार था। प्राचीन दिगम्बराचार्यों ने कही भी प्राचीन घटनाओं का उल्लेख "वीर सवत्" के साथ किया हो यह हमारे देखने मे नही आया, तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि उक्त आचार्यों का समय लिखने मे उन्होने "वीर सवत्" का उपयोग किया होगा? जान पडता है कि सामान्य रूप मे लिखे हुए विक्रम वर्षों को पिछले पट्टावलीलेखको ने निर्वाणाब्द मान कर धोखा खाया है और इस भ्रमपूर्ण मान्यता को यथार्थ मान कर पिछले इतिहासविचारक भी वास्तविक इतिहास का बिगाड बैठे हैं।

"श्रुतावतार" मे मतानुसार आरातीय मुनियों के बाद "अर्हद्बलि" आचार्य हुए थे। आरातीय मुनि वीर निर्वाण से ६८३ (विक्रम सवत् २१३) तक विद्यमान थे, इनके बाद क्रमश अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि नामक आचार्य हुए। पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम सूत्र की रचना की। उधर गुणधर मुनि ने नागहस्ती और आर्य मक्षु को "कषायप्राभृत" का सक्षेप पढ़ाया। उनसे "यतिवृषभ" और "यतिवृषभ" से "उच्चारणाचार्य" ने "कषायप्राभृत" सीखा और गुरु-परम्परा से दोनो प्रकार का सिद्धान्त पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) तक पहुचा।

श्रुतावतार कथा के अनुसार आरातीय मुनि वीर निर्वाण स० ६८३ तक विद्यमान थे। इनके बाद अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य हुए हो तो इन पाच आचार्यों मे कम से कम १२५ वर्ष और बढ़ जाते हैं और वीर निर्वाण स० ८०८ तक समय पहुँचता है। दोनो प्रकार के सिद्धान्त कुन्दकुन्दाचार्य तक पहुँचाने वाली गुरु-परम्परा मे भी पाच छ आचार्य तो रहे ही होगे और इस प्रकार निर्वाण के बाद की समय शृङ्खला लगभग दशवी शती तक पहुँचती है और इस प्रकार भी आचार्य कुन्दकुन्द का समय विक्रम की छठी शती के उत्तरार्ध तक पहुच जाता है। इसके बाद लगभग १०० वर्षों के उपरान्त दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रन्थ पुस्तको पर लिखे गये हो तो यह घटना विक्रम की सातवी शती के मध्यभाग मे पहुँचेगी। यहा तक हमने जो ऊहापोह किया है, वह दिगम्बरीय पट्टावलियो और दन्तकथाओ के आधार पर, यह ऊहापोह अन्तिम सिद्धान्त ही है यह दावा तो नही कर सकते, क्योंकि दिगम्बर पट्टावलिया तथा दन्तकथायें इतनी अव्यवस्थित और छिन्नमूलक हैं कि उनके आधार पर कोई भी सिद्धान्त निश्चित हो ही नही सकता। जितने भी दिगम्बरीय सम्प्रदाय के शिलालेख तथा ग्रन्थप्रशस्तिया प्रकाशित हुई हैं, वे सभी विक्रम की नवमी शती और उसके बाद की हैं। इन शिलालेखो, ग्रन्थ-प्रशस्तियो के आधार से दिगम्बरो की अविच्छिन्न परम्परा-सूचक पट्टावलियों का तैयार होना असम्भव है। निर्वाण से ६८३ वर्षों के अन्दर होने वाले केवलियो, श्रुतकेवलियो, दशपूर्वधरो, एकादशागधरो और एकागधरों की

दी गई यादिया कहा तक ठीक हैं, यह कहना विचारणीय है। क्योकि एक तो इनके सम्प्रदाय मे मौलिक साहित्य नही, दूसरा ऐसी कोई पट्टावली नहीं कि जिसका विश्वास किया जाय।

उपर्युक्त केवलियो, श्रुतकेवलियो आदि के व्यक्तिगत सत्ता-समय के पृथक्-पृथक् वर्ष न देकर तीन, पाच, ग्यारह आदि के वर्षो का समुदित पिण्ड बनाना यह सूचित करता है कि ये सभी नाम इस परम्परा ने सैकडो वर्षो के बाद लिखे हैं। "मूलगच्छ" की जो "प्राकृत पट्टावली" बताई जाती है, वह भी वास्तव मे भट्टारक-कालीन कृत्रिम पट्टावली है, मौलिक नहीं। यही कारण है कि कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती श्रमणो की परम्परा क्रमिक शृङ्खला की कड़ियो की तरह नहीं मिलती। हम पहले ही दो शिलालेखों और हरिवंशपुराण के आधार से कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का विवरण दे आये हैं जो व्यवस्थित नही है। उक्त लेखों और पुराण के अतिरिक्त "तिलोयपण्णत्ति", पट्खण्डागम के वेदना खण्ड की "धवला टीका" 'कषायपाहुड' की "जयधवला टीका" जिनसेन के "आदि-पुराण" और इन्द्रनन्दी के "श्रुतावतार" में भी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पट्टावलिया दी गई हैं, परन्तु वे सभी अन्तिम आचारांगधारी "लोहाचार्य" तक जाकर समाप्त हो जाती हैं। "तिलोय-पण्णत्ति" विक्रम की १३ वी शती का एक संगृहीत संदर्भ है, यह बात पहले ही कह आये हैं। "श्रुताव-तार कथा" भी विक्रम की १३वी शती से पहले की प्रतीत नहीं होती, क्योकि इसमें "पुस्तक के लिए साधु को थोडा द्रव्य संग्रह करने की छूट दी है"। साधुओ की यह स्थिति १३ वीं शती के पहले नहीं थी। अब रही धवलादि तीन ग्रन्थों की बात, इसमे धवला की समाप्ति भट्टारक वीरसेन ने शक स० ७०२ में की थी यह माना जा रहा है। "जयधवला" भी उनके शिष्य जिनसेन ने पूर्ण की है और आदिपुराण जिनसेन का ही है। इस परिस्थिति में उक्त छः ग्रन्थों की प्रशस्तियों मे सब से प्राचीन "धवला" की प्रशस्ति है, शेष ग्रन्थकारो ने प्राय इसी प्रशस्ति का अनु-सरण किया है। इस दशा मे केवली जम्बू के उपरान्त के भद्रबाहु को छोड कर शेष श्रुतकेवलियो, एकादशपूर्वधरो, पाच एकादशांगधरो और

चार एकागधरो के नाम भट्टारक श्री वीरसेन स्वामी ने ईजाद किये हो तो आश्चर्य नही है, क्योकि ऐसे कामो मे आप सिद्धहस्त थे। चूर्णिकार को आप ही ने "यतिवृषभ" के नाम से प्रसिद्ध किया है। दिगम्बर परम्परा मे व्यवस्थित और अविच्छिन्न परम्परा-सूचक पट्टावली नही है। अत अब दो चार अपूर्ण पट्टावलिया देकर इस अधिकार को पूरा कर देंगे।

नन्दिसघ, द्रमिलगण, अरुङ्गलान्वय की पट्टावलियाँ

महावीर स्वामी
गोतम गणधर
समन्तभद्र स्वामी
एकसन्धि सुमति भट्टारक
अकलकदेव वादीभसिंह
वक्रग्रीवाचार्य
श्रीनन्द्याचाय
सिंहनन्द्याचार्य
श्रीपाल भट्टारक
कनकसेन वादिराज देव
श्री विजयशान्तिदेव
पुष्पसेन सिद्धान्तदेव
वादिराज
शान्तिषेण देव
कुमारसेन सिद्धातिक
मल्लिषेण मलधारी
श्रीपाल त्रैविद्यदेव (शक स० १०४७ मे विष्णुवर्द्धन नरेश ने शल्य ग्राम का दान दिया।)

देशीयगण के आचार्यों की परम्परा

त्रैकाल्य योगीश,
देवेन्द्रमुनि (सिद्धान्तभट्टार)

चन्द्रायणद भट्टार
गुणचन्द्र
अभयणंदि
शीलभद्र भटार
जयणंदि
गुणनन्दि
चन्द्रणंदि

शक सवत् १०५० के लेख न० ५४ मे निर्दिष्ट आचार्यपरम्परा

वर्द्धमानजिन
गौतम गणधर
भद्रबाहु
चन्द्रगुप्त
कुन्दकुन्द
समन्तभद्र – वाद मे धूर्जटि की जिह्वा को भी स्थगित करने वाले
सिंहनन्दि
वक्रग्रीव – छ मास तक "अथ" शब्द का अर्थ करने वाले
वज्रनन्दि (नव स्तोत्र के कर्त्ता)
पात्रकेसरिगुरु (त्रिलक्षण सिद्धान्त के खण्डनकर्त्ता)
सुमतिदेव (सुमति-सप्तक के कर्त्ता)
कुमारसेन मुनि
चिन्तामणि (चिन्तामणि कर्त्ता)
श्री वर्द्धदेव (चूडामणि काव्य के कर्त्ता दण्डी द्वारा स्तुत्य)
महेश्वर (ब्रह्मराक्षसो द्वारा पूजित)
अकलंक (बौद्धो के विजेता साहसतुंग नरेश के सम्मुख हिमशीतल नरेश की सभा मे)
पुष्पसेन (अकलंक के सधर्मा)
विमलचन्द्र मुनि – इन्होने शैव पाशुपतादि वादियो के लिए "शत्रुभयकर" नाम से भवन द्वारपर नोटिस लगा दिया था।

इन्द्रनन्दि
परवादिमल्ल (कृष्णराज के समक्ष)
आर्य्यदेव
चन्द्रकीर्ति (श्रुतविन्दु के कर्त्ता)
कर्मप्रकृति – भट्टारक

श्रीपालदेव मतिसागर	वादिराज कृत पार्श्वनाथ चरित (शक ९४७ से विदित होता है कि वादिराज के गुरु मतिसागर थे और मतिसागर के गुरु श्रीपाल ।

हेमसेन विद्याधनञ्जय महामुनि

दयापाल मुनि	(रूपसिद्धि के कर्त्ता मतिसागर के शिष्य) वादिराज (दयापाल के सब्रह्मचारी चालुक्य चक्रेश्वर जयसिंह के कटक मे कीर्ति प्राप्त की ।)

श्रीविजय (वादिराज द्वारा स्तुत्य हेमसेन गुरु के समान)
कमलभद्रमुनि
दयापाल पण्डित महासूरि

शान्तिदेव	(विनयादित्य होयसल नरेश द्वारा पूज्य) चतुर्म्मुखदेव (पाण्ड्य नरेश द्वारा स्वामी की उपाधि और आहवमल्ल नरेश द्वारा चतुर्मुखदेव की उपाधि प्राप्त थी)

गुणसेन (मुल्लूर के)

अजितसेन - वादीभसिंह
├── शान्तिनाथ कविताकान्त
└── पद्मनाभ वादिकोलाहल

कुमारसेन
मल्लिषेण मलधारि (अजितसेन पण्डित देव के शिष्य, स्वर्गवास शक स० १०५०)

मूल सघ के देशीय गण की पट्टावली :

कुदकुदाचाय (पद्मनदि)
उमास्वाति (गृध्द्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
गुणनदि
देवेन्द्र सैद्धान्तिक
चतुर्मुखदेव (वृपभनदी)
माघनन्दि
मेघचद्र

मूल सघ के नन्दिगण की पट्टावली :

कुदकुदाचाय
उमास्वाति (गृध्द्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
गुणनन्दि
देवेद्र सैद्धातिक
कलधौतनदि मुनि
महेद्रकीर्ति
वीरनदि
गोल्लाचाय
त्रैकाल्य योगी
अभयनन्दि
सकलचद्र
मेघचद्र
वीरनदि
अनन्तकीर्ति
मल० रामचद्र
शुभचन्द्र
पद्मनन्दि

उपसहार :

दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियो से हमको सतोष नही हुआ। एक भी सम्पूर्ण पट्टावली मिल गई होती तो हम इस प्रकरण को सफल हुआ मानते, अस्तु।

दिगम्बर सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे लिखते हुए, हमको अनेक स्थानो पर खण्डनात्मक शैली का आश्रय लेना पडा है, इसका कारण दिगम्बर विद्वानो के श्वेताम्बर परम्परा विरुद्ध किये गये आक्षेपो के प्रत्याघात मात्र हैं। दिगम्बर समाज मे आज सैकडो पण्डित हैं और वे साहित्य सेवा मे लगे हुए है, परन्तु इस पण्डितसमाज मे शायद ही दो चार विद्वान् ऐसे होगे, जो सत्य बात को सत्य और असत्य को असत्य मानते हो। कुछ पण्डित तो ऐसे है, जो श्वेताम्बर जैन परम्परा के मन्तव्यो का खण्डन करके आत्म-सन्तोष मानते हैं। पण्डित नाथूरामजी प्रेमी, जुगलकिशोरजी मुख्तार, डॉ० हीरालालजी जैन और ए० एन० उपाध्याय आदि कतिपय स्थितप्रज्ञ विद्वान् भी हैं जो सत्य वस्तु को स्वीकार कर लेते है, शेप पण्डितमण्डली के विद्वानो मे ऐसी उदारता दृष्टिगोचर नही होती। इनमे से कतिपय तो ऐसे भी ज्ञात हुए है, जो अपनी अशक्ति को न जानते हुए, धुरन्धर श्वेताम्बर जैनाचार्यो पर आक्षेप करते भी विचार नही करते। कुछ समय पहले की बात है, एक पण्डितजी का "ज्ञानारणव" ग्रन्थ पर लिखा हुआ वक्तव्य पढ़ा और बडा आश्चर्य हुआ। आपने लिखा था कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपने "योगशास्त्र" मे "ज्ञानारणव" के कई श्लोक ज्यो के त्यो उद्धृत किये हैं", उस समय हमारे पास मुद्रित "ज्ञानारणव" नही था। ग्रथसग्रह मे से हस्तलिखित "ज्ञानारणव" को मगवाकर पढा तो हमारे आश्चर्य का पार नही रहा। पण्डितजी ने जो कुछ लिखा था वह असत्य ही नही बिल्कुल विपरीत था।

"ज्ञानारणव" के कर्त्ता भट्टारक शुभचन्द्राचार्य ने "हेमचन्द्रसूरि के योगशास्त्र" के कई श्लोक अपने ग्रन्थ मे ज्यो के त्यो ले लिए देखे गए।

आचार्य हेमचन्द्र का समय विक्रम की बारहवी और तेरहवी शती का मध्यभाग था, तब भट्टारक शुभचन्द्र सोलहवी-सत्रहवी शती के मध्यवर्ती ग्रन्थकार थे। कृति का मिलान करने से ही ज्ञात होता था कि यह श्लोक भट्टारकजी के हैं और अमुक श्लोक पूर्वाचार्य कृत। भट्टारकजी की कृति बिल्कुल साधारण कोटि की है, तब हेमचन्द्र आदि विद्वानो की कृति ओजस्वी होने से छिपी नही रहती। पण्डितजी की उक्त विचारणा से मुझे बडी ग्लानि हुई, क्योकि ऐसे लेखको से ही सम्प्रदायो के बीच कटुता बढती और बनी रहती है।

मैं आशा करता हूँ कि मेरे इस लेख के अन्तर्गत किसी कथन से किसी को दुःख नही लाना चाहिए, क्योकि मेरा अभिप्राय अपने सम्प्रदाय की सत्यता प्रतिपादन करने का है, न कि दिगम्बर सम्प्रदाय के खण्डन का।

द्वितीय परिच्छेद

[तपागच्छीय पट्टावलियाँ]

श्री तपागच्छ-पट्टावली-सूत्र

कर्ता : उपाध्याय धर्मसागर गणी

'सिरिमतो सुहहेऊ, गुरु-परिवाडीइ आगओ सतो।
पज्जोसवणाकप्पो, वाइज्जइ तेण त वुच्छ ॥१॥"

'पट्टावली सूत्रकार उपाध्याय श्री धर्मसागरजी महाराज पट्टावली सूत्र लिखने के पहले अपनी इस प्रवृत्ति का कारण बताते हुए कहते हैं, श्रीमान् 'पर्युषणाकल्प" जो सुख का हेतु है और गुरु परम्परा से हम तक आया है, इसलिए मैं गुरु परिपाटी का निरूपण करूगा।१।'

'गुरुपरिवाडीमूल, तित्थयरो वद्धमाणनामेण ।
तप्पट्टोदय पढमो, सुहम्मनामेण १ गणसामी ॥२॥
बीओ जबू २ तइओ, पभवो ३ सिज्जभवो चउत्थो अ।
पचमओ जसभद्दो ५, छट्ठो सभूय-भद्दगुरू ६ ॥३॥"

'गुरुपरिपाटी का मूल तीर्थङ्कर महावीर है, जिनके पट्ट पर सुधर्मनामा प्रथम गणधर हुए। सुधर्मा के पट्ट पर जबूस्वामी, जबूस्वामी के पट्ट पर तीसरे पट्टधर प्रभव, प्रभव के पट्टधर शय्यम्भव, शय्यम्भव के उत्तराधिकारी पांचवे यशोभद्र और यशोभद्र के पट्टधारी छठवे सभूतविजय और भद्रबाहु हुए। २। ३।'

गणधर सुधर्मा ने पचास वर्ष की अवस्था मे महावीर के पास प्रव्रज्या ली थी। ३० वर्ष तक श्री महावीर की सेवा मे रहे वीरनिर्वाण के बाद १२ वर्ष तक छद्मस्थपर्याय मे विचरे और अन्त मे आठ वर्ष तक

केवलीपर्याय भोगा। इस प्रकार १०० वर्ष का आयुष्य भोगकर जिन-निर्वाण से २० वर्ष के अन्त में सुधर्मा गणधर सिद्धि को प्राप्त हुए।

सुधर्मा के पट्टधर श्री जम्बूस्वामी, जो राजगृह नगर के श्रेष्ठिपुत्र थे, गणधर सुधर्मा के पास १६ वर्ष की वय में दीक्षा लेकर २० वर्ष तक अपने गुरु सुधर्मा की सेवा में रहे और सुधर्मा के बाद ४४ वर्ष तक युगप्रधान रहकर ८० वर्ष की अवस्था में वीरनिर्वाण से ६४ वर्ष व्यतीत होने पर निर्वाण प्राप्त हुए थे।

जम्बू के पट्टधर आचार्य श्री प्रभव ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर ४४ वर्ष तक व्रतपर्याय में रहे और जम्बू का निर्वाण होने के बाद ११ वर्ष युगप्रधान रह कर ८५ वर्ष की उम्र में वीरनिर्वाण से ७५ वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुए।

आचार्य प्रभव के उत्तराधिकारी श्री शय्यम्भवसूरि २८ वर्ष की उम्र में दीक्षा लेकर ११ वर्ष सामान्य व्रत पर्याय में और २३ वर्ष तक युगप्रधान पर्याय में रहकर वीरनिर्वाण के ९८ वर्ष के अन्त में स्वर्गवासी हुए थे।

आचार्य श्री शय्यम्भव स्वामी के पट्टधर श्री यशोभद्रसूरि हुए — २२ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और १४ वर्ष तक सामान्य व्रती की अवस्था में रहकर ५० वर्ष तक युगप्रधान रहे और ८६ वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण के बाद १४८ वर्ष व्यतीत होने पर स्वर्गवासी हुए।

आचार्य यशोभद्रसूरिजी के पट्टधर दो समर्थ आचार्य हुए। पहले श्री सम्भूतविजयजी और दूसरे श्री भद्रबाहु स्वामी। सम्भूतविजयजी २२ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए थे और ८ वर्ष तक सामान्यव्रती-पर्याय भोगकर युगप्रधान बने और ६० वर्ष तक युगप्रधान रहकर ९० वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण से २०८ वर्ष के अन्त में स्वर्गवासी[1] हुए।

---

(१) आचार्य सम्भूतविजयजी के युगप्रधान पर्याय के वर्ष सब पट्टावलियों में ८ लिखे मिलते हैं परन्तु हमने यहां ६० लिखे हैं, क्योंकि पुस्तक लेखक के प्रमाद से 'सट्ठि' के स्थान पर 'सट्ठ' बन जाने से ६० को आठ (८) मान लिया गया, यह भूल

आचार्य भद्रबाहु ने ४५ वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर, १७ वर्ष तक सामान्य व्रतीपर्याय में रहे और १४ वर्ष तक युगप्रधान पद भोगा। ७६ वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण से २२२ वर्ष में आपश्री ने स्वर्ग प्राप्त किया।

"सिरियूलभद्दमत्तम ३, अट्ठमगा महगिरी सुह यी ८ अ।
सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धा, कोडिय काकणदा नवमा ६ ॥२॥"

'आचार्य सभूतविजय और भद्रबाहु के पट्ट पर सातवें पट्टधर स्थूलभद्रजी हुए और स्थूलभद्रजी के पट्ट पर आर्यमहागिरि तथा आर्य सुहस्ती नामक दो आचार्य हुए और आर्य सुहस्ती के पट्ट पर कोटिक काकन्दक नाम से प्रसिद्ध सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध नामक दो आचार्य हुए'

आचार्य स्थूलभद्र ३० वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहकर आर्य सभूतविजयजी के हाथ से प्रव्रजित हुए थे और २४ वर्ष तक व्रत पर्याय में रहकर भद्रबाहु के बाद युगप्रधान बने और ४५ वर्ष तक युगप्रधान पद भोगा, और जिननिर्वाण से २६७ वर्ष के अन्त में ६६ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए।

श्री स्थूलभद्रजी के पट्टधर आर्य महागिरि और सुहस्ती दो गुरु-भाई थे। इनमें आर्यमहागिरिजी ६० वर्ष की उम्र में प्रव्रज्या लेकर ४० वर्ष तक सामान्य श्रमण रहे और ३० वर्ष तक युगप्रधान पद भोगकर १०० वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण से २६७ के अन्त में स्वर्गवासी हुए।

स्थूलभद्र के द्वितीय पट्टधर आर्य सुहस्तीजी ३० वर्ष की वय में दीक्षित होकर २४ वर्ष तक सामान्य व्रती रहे। अनन्तर ४६ वर्ष तक युगप्रधान पद भोगा, और १०० वर्ष का आयुष्य पूरा करके आर्य सुहस्ती जिननिर्वाण से ३४३ वर्ष में स्वर्गवासी हुए।

आधुनिक नहीं बल्कि १०००-८०० वर्षों की पुरानी है और इसी भूल के परिणाम-स्वरूप हमारी पट्टावलियों में अनेक विषयों में विसवाद उपस्थित होते थे परन्तु इस परिमार्जन के बाद सभी विसंगतियां मिट जाती हैं इतना ही नहीं परन्तु 'तित्थोगाली पइन्नय' में लिखी हुई राजत्वकाल गणना के साथ भी परिमार्जित स्थविर काल गणना ठीक बैठ जाती है।

आर्य सुहस्ती के पट्टधर श्री सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध जो कोटिक और काकन्दक कहलाते थे, करोडो बार सूरिमन्त्र का जाप करने से अथवा कोट्यंश सूरिमन्त्रधारक होने से उनका गण कोटिक कहलाता था। कोटिक नाम के सम्बन्ध मे आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरिजी महाराज कहते है आर्य वज्रस्वामी तक सूरिमन्त्र करोडो वार तक जपा जाता था, इसीलिये सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के गण का नाम "कोटिक" प्रसिद्ध हुआ था। तब आचार्य श्री गुणरत्नसूरि अपने गुरुपर्व-क्रम के वर्णन मे लिखते हैं – "उस समय सूरि-मन्त्र का ध्यान करने वाला श्रमण "चार ज्ञानवान्" बनकर सर्वज्ञदृष्ट द्रव्यो मे से एक कोट्यंश लगभग द्रव्य देखता था, इस कारण से लोक मे सुस्थित सुप्रतिबुद्ध और उनका "गण" "कोटिक" नाम से प्रसिद्ध हुए।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने अपनी "सन्देहविषौषधि" नामक "कल्प-टीका" मे कोट्यंश शब्द का प्रयोग किया था और उन्ही के अनुकरण मे पिछले लेखको ने "कोटीश" "कोट्यंश" आदि शब्द सूरिमन्त्र के साथ जोड कर, अपनी अपनी समझ के अनुसार "कोटिक" शब्द की व्याख्या की है। इस सम्बन्ध मे हमारी राय मे "कोटिक" शब्द "कोटिवर्षीय" शब्द का सक्षिप्त रूप है। आचार्य सुस्थित कोटिवर्ष नगर के रहने वाले थे, इसीलिये "कोटिक" कहलाते थे और उनसे प्रचलित होने वाला गण भी "कोटिक" नाम से प्रसिद्ध हुआ था। सूरिमन्त्र आदि जाप की कल्पनाए कल्पना मात्र हैं।

सिरिइंददिन्न सूरी, दसमो १० इक्कारसो अ दिन्नगुरू ११।
बारसमो सीहगिरी १२, तेरसमो वयरसामी गुरू १३॥१५॥

'आचार्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के पट्ट पर दसवें इन्द्रदिन्नसूरि, इन्द्रदिन्न-सूरि के पट्ट पर ग्यारहवें आर्य दिन्नगुरु, आर्य दिन्न के पट्ट पर बारहवें सिंह गिरि और सिंहगिरि के पट्टधारी तेरहवें आचार्य श्री वज्रस्वामी हुए।

आर्य सुस्थित[1] सुप्रतिबुद्ध, इन्द्रदिन्न, दिन्न और सिंहगिरि के समय के सम्बन्ध मे पट्टावलियो मे कोई भी उल्लेख नही मिलता। आर्य वज्रस्वामी

(१)–अचल गच्छ की बृहत् पट्टावली म आचार्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का स्वर्ग

के समय विषयक प्राचीन गाथाओं के आधार से पट्टावली लेखकों ने ऊहापोह अवश्य किया है, परन्तु आवश्यक नियुक्ति के साथ आर्य वज्र का समय भी ठीक नहीं मिलता। आवश्यक नियुक्ति में गोष्ठामाहिलनिह्नव का समय वीरनिर्वाण से ५८४ में बताया है। आर्य रक्षितसूरि दशपुर नगर में चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, तब गोष्ठामाहिल वर्षाचातुर्मास्य में मथुरा में थे, आर्य रक्षितजी उसी चातुर्मास्य में स्वर्गवासी हुए थे, तब गोष्ठामाहिल ने चातुर्मास्य के बाद मथुरा से दशपुर आकर ५८४ में "अबद्धिक मत" की प्ररूपणा की थी। वीरनिर्वाण का संवत्सर कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को बैठता है, इससे पाया गया कि आर्य रक्षितजी का स्वर्गवास ५८३ में हुआ था और आर्य-रक्षित, आर्य वज्रस्वामी के अनन्तर १३ वर्ष तक युगप्रधान रहे थे। इस परिस्थिति में निश्चित हो जाता है कि आर्य वज्रस्वामी का स्वर्गवास ५८४ में नहीं किन्तु ५७० में हुआ था और उसके १३ वर्ष के बाद दशपुर में आर्यरक्षित ने जिननिर्वाण से ५८३ में स्वर्गवास प्राप्त किया था। हमारी गणना के अनुसार आर्य वज्र का जन्म वीर-निर्वाण से ४८२ में हुआ। इनकी दीक्षा ४६० में हुई, ५३४ में युगप्रधान पद प्राप्त हुआ। और स्वर्ग-वास ५७० में हुआ।

इस प्रसंग पर उपाध्यायजी श्री धर्मसागरजी महाराज एक शंका उपस्थित करते हैं और उसका समाधान न होने से प्रश्न बहुश्रुतों के ऊपर छोड़ते हैं। सागरजी की वह शंका निम्नोद्धृत है

"तत्र श्रीवीरात् त्रयस्त्रिंशदधिकपंचशत ५३३ वर्षे श्री आर्यरक्षित-सूरिणा श्री भद्रगुप्ताचार्यो निर्यामित स्वर्गभागिति पट्टावल्या दृश्यते। पर

समय वीर निर्वाण से ३२७ में लिखा है। इनमें हमारे परिशोधित आर्य संभूत के ६० वर्ष के अनुसार ५२ वर्ष मिलाने से सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का समय ३७९ आता है जो संगत ठहरता है। हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली में जो कि १८ वीं शती के अन्तिम भाग में लिखी हुई भाषा पट्टावली है, उसमें स्थविर सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का समय वीर निर्वाण से ३७२ वर्ष का लिखा है। इसी पट्टावली में आर्य इन्द्रदिन्न का स्वर्ग समय ३७८ आर्य दिन्न सूरि का समय ४५८ और सिंहगिरि का ५२३ वर्ष लिखा है, इन वर्षों में आर्य संभूतसूरि के परिगणित ५२ वर्षों को मिलाने से क्रमशः ४३०,५१० और ५७५ निर्वाण के वर्ष आते हैं।

दुष्षमासघस्तवयत्रकानुसारेण चतुश्चत्वारिंशदधिक पचशत ५४४ वर्षातिक्रमे श्रीआर्यरक्षितसूरीणा दीक्षा विज्ञायते तथा चोक्तवत्सरे निर्यामण न सभवतीत्येतद्बहुश्रुतगम्यम् ॥"

सागरजी का प्रश्न वास्तविक है, परन्तु इसका समाधान अशुद्धिपूर्ण यन्त्रको के आधार से नही हो सकता। हमारी गणना के अनुसार आर्यरक्षितजी का स्वर्गवास जिननिर्वाण से ५८३ मे आता है। आर्यरक्षितजी के सर्वायुष्य का अक ७५ वर्ष और कुछ महीनो का था। उन्होने २२ वर्ष की उम्र मे "तोसलिपुत्राचार्य" के पास दीक्षा ली थी। ५८३ वर्ष मे से ७५ वर्ष बाद करने पर आर्य रक्षितजी का जन्म समय ५०८ का आता है, उसमे २२ वर्ष गृहस्थाश्रम के जोडने पर ५३० मे दीक्षा का समय आता है। दीक्षा लेकर दो ढाई वर्ष तक अपने गुरु के पास पढकर विशेष अध्ययन के लिये वज्रस्वामी के पास जा रहे थे, जबकि उज्जैनी मे स्थविर भद्रगुप्त की निर्यामणा करने का अवसर मिला था और भद्रगुप्त के स्वर्गवास के बाद वज्रस्वामी के पास पहुँचे थे। इस प्रकार से उपाध्यायजी की शका का समाधान ठीक ढग से हो जाता है।

इसी प्रकार आर्यरक्षितसूरि के स्वर्गवास समय के बारे मे भी उपाध्यायजी महाराज ने अपने पट्टावली-सूत्र की टीका मे एक शका उपस्थित की है जो निम्न शब्दो मे है

"श्रीमदार्यरक्षितसूरि सप्तनवत्यधिकपचशत ५९७ वर्षान्ते स्वर्गभागिति पट्टावल्यादौ दृश्यते, परमावश्यकवृत्त्यादौ श्रीमदार्यरक्षितसूरीणां स्वर्गगमनानन्तर चतुरशीत्यधिकपचशत ५८४ वर्षान्ते सप्तमनिह्नवोत्पत्तिरुक्तास्ति तेनतद् बहुश्रुतगम्यमिति।"

उपाध्याय की यह शका भी वास्तविक है और इसका समाधान भी यही है कि आर्यवज्र तथा आर्यरक्षितसूरि के स्वर्गवास के समय मे जो १४-१४ वर्ष अधिक आए हैं, उनको हटा दिया जाय, क्योकि इस प्रकार की अशुद्धियां प्रकीर्णक अशुद्ध गाथाओ के ऊपर से पट्टावलियो मे घुस गई हैं, जिनका परिमार्जन करना आवश्यक है।

"सिरिवज्जसेणसूरी १४, चउदसमो चदसूरि पचदसो १५।
सामन्तभद्दसूरी, सोलसमो १६ रण्णवासरइ १६ ॥६॥'

'आचाय वज्रस्वामी के प्रथम पट्टधर श्री वज्रसेनसूरि, जो पट्टक्रम मे चौदहव होते थे। वज्रसेनसूरि के पट्टधर श्री चन्द्रसूरि पन्द्रहव पट्टधर आचाय हुए और चन्द्रसूरि के पट्टधारी सोलहवें आचाय श्रीसमन्तभद्रसूरि हुए जो वसति के बाहर रहने के कारण वनवासी कहलाते थे ॥६॥

आचाय वज्रस्वामी के मुख्य शिष्य श्री वज्रसेनसूरि दुर्भिक्ष के समय मे वज्रस्वामी के वचन से सोपारक नगर की तरफ गए थे। सोपारक मे वज्रसेन ने जिनदत्त श्रेष्ठी के पुत्र नागेन्द्र, चन्द्र, निवृति, विद्याधर को उनके कुटुम्ब के साथ दीक्षा दी थी और उन चारो के नामो से चार कुलो की उत्पत्ति हुई थी। आचाय वज्रसेन दीर्घजीवी थे। आय वज्रसेन का जन्म जिननिर्वाण से ४७७ में, दीक्षा ८८६ वष मे, सामान्य श्रमणपर्याय ११६ वर्ष, अर्थात् ६०२ तक, युगप्रधानपर्याय मे वष ३ रहकर ६०५ के उपरान्त स्वगवासी हुए।

आचार्य वज्रसेन के पट्टधर श्री चन्द्रसूरि हुए, इन्ही चन्द्रसूरि से "चन्द्रकुल"१ की उत्पत्ति हुई, जो आज तक यह कुल इसी नाम से श्रमणो के दीक्षादि प्रसगो मे व्यवहृत होता है। आचाय चन्द्रसूरि के आयुष्य *अथवा मरण समय के सम्बन्ध मे पट्टावलियो मे कुछ भी उल्लेख नहीं है,* फिर भी वज्रसेन के शिष्य होने के कारण से इनका सत्ता-समय वज्रसेन के जीवन का ही उत्तरार्द्ध अर्थात् विक्रम की दूसरी शती का मध्यभाग मान लेना वास्तविक होगा।

पट्टावली सूत्र की प्रस्तुत गाथा मे श्री चन्द्रसूरि के पट्टधर का नाम "सामन्तभद्र" लिखा है। वह छन्दोनुरोध से समझना चाहिये, वास्तव मे

---

१ अञ्चलगच्छ की बृहत्पट्टावली म श्री चन्द्रसूरिजी का स्वर्गवास विक्रम सवत् १७० वष के बाद होना लिखा है।

इन तपस्वी आचाय का नाम "समन्तभद्र" था। इनके सत्ता समय के सम्बन्ध मे पट्टावलियो मे वर्णन नही मिलता।

वास्तव में वज्रसेनसूरि के बाद के श्री चन्द्रसूरि से लेकर विमलचन्द्र-सूरि तक के २० आचार्यों का सत्ता समय अन्धकारावृत है। बिवला यह समय चैत्यवासियो के साम्राज्य का समय था। उग्रवैहारिक सविज्ञ श्रमणो की सख्या परिमित थी, तब शिथिलाचारी तथा चैत्यवासियो के अड्डे सवत्र लगे हुए थे, इस परिस्थिति म वैहारिक श्रमणो के हाथ मे कालगणना-पद्धति नही रही। इसी कारण से वज्रसेन के बाद और उद्योतनसूरि के पहले के पट्टधरो का समय व्यवस्थित नही है, दर्मियान कतिपय आचार्यों का समय गुर्वावलीकारो ने दिया भी है तो वह सगत नही होता, जैसे तपागच्छ-गुर्वावलीकार आचाय श्री मुनिसुन्दरसूरजी ने आचाय श्री वज्रसेन सूरि का स्वगवास समय जिन निर्वाण से ६२० म लिखा है, जो विक्रम वर्षों की गणनानुसार १५० मे पडता है। तब वज्रसेन से चतुथ पुरुष श्री वृद्धदेव-सूरिजी द्वारा विक्रम सवत् १२५ मे कोरण्ट नगर मे प्रतिष्ठा होना बताया है, इसी प्रकार १८ वें पट्टधर प्रद्योतनसूरि के बाद श्री मानदेवसूरि को पट्टधर बताया है। मानदेव के बाद श्री मानतुगसूरि जो बाण और मयूर के समकालीन थे, उनको २० वा पट्टधर माना है, मयूर का आश्रम दाता कन्नौज का राजा श्रीहर्ष था, जिसका समय विक्रम की सातवी शती का उत्तरार्द्ध था, यह समय श्रीमान तुगसूरि के पट्टगुरु मानदेवसूरि के और मानतुगसूरि के पट्टधर वीरसूरि के साथ सगत नही होता, क्योकि माननुग-सूरि के बाद के पट्टधर श्री वीरसूरि का समय गुर्वावलीकार श्री मुनिसुन्दरजी ने निम्नोद्धत श्लोक मे प्रकट किया है

"जज्ञे चैत्ये प्रतिष्ठा कृष्णसेनागिपुरे नृपात्।
त्रिभिवर्षशतैः ३०० किंचिदधिकै वीर सूरिराट् ॥३७॥"

आचार्य माननुग कवि बाण मयूर का समकालीन मानना और मानतुग के उत्तराधिकारी वीरसूरि का समय विक्रम वर्ष ३०० से कुछ अधिक वर्ष मानना युक्ति सगत नहीं है, वीरसूरि के बाद के आचाय जयदेव,

देवानन्द विक्रम और नरसिंह इन चार आचार्यों के समय की चर्चा गुर्वावली तथा पट्टावली मे नहीं मिलती।

गुर्वावलीकार द्वारा लिखित आचार्यों के सत्तासमय की विसगति का समन्वय :

ऊपर हमने गुर्वावली सूचित पट्टधरो के समय मे जो विसगतिया दिखाई हैं उनका समन्वय निम्न प्रकार से किया जा सकता है

यद्यपि मुनिसुन्दरसूरिजी ने श्री वज्रसेनसूरि का समय वीरनिर्वाण ६२० मे माना है, परन्तु हमारी गणना से वज्रसेन का समय जिननिर्वाण से ६०५ तक पहुँचता है, उसके बाद चन्द्रसूरि, समन्तभद्रसूरि और वृद्धदेवसूरि का समय विक्रम मे १२५ तक सूचित किया है, परन्तु हमारा अनुमान है कि गुर्वावलीकार को जो १२५ का अक मिला है, वह विक्रम सवत् का न होकर शक सवत् का होना चाहिए।

गुर्वावलीकार के लेखानुसार विक्रम सवत् १५० मे वज्रसेन का स्वर्गवास हुआ है, तब उनके बाद के तीन आचार्यों के समय के १७५ वर्ष वज्रसेन के समय सहित नही लिखते, पर लिखा है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वज्र के बाद के वज्रसेन चन्द्र समन्तभद्र और वृद्धदेवसूरि की प्रतिष्ठा तक के १२५ वर्ष की सख्या सूचित की है प्रतिष्ठा के बाद भी वे पूर्ण वृद्धावस्था तक जीवित रहे थे, इस दशा मे १० वर्ष अधिक जीवित रहे ऐसा मान लेने पर वृद्धदेवसूरि का स्वर्ग–समय विक्रम सवत् ३७५ तक पहुँच सकता है और इनके बाद प्रद्योतनसूरि, मानदेवसूरि, मानतुगसूरि और वीरसूरि इन चार आचार्यों का सत्ता समय ३०० वर्ष के लगभग मान लिया जाय तो एकत्रित समयाक ६७५ तक पहुँचेगा और इस प्रकार से मानतुगसूरि बाण, मयूर और राजा श्रीहर्ष के समय मे विद्यमान हो सकते हैं। वीरसूरि के अनन्तर जयदेवसूरि, देवानन्दसूरि विक्रमसूरि, नरसिंहसूरि और समुद्रसूरि इन ५ आचार्यो के सम्मिलित १०० वर्ष मान लेने पर खोमाण राजा के कुलज समुद्रसूरि का समय वि० स० ७७५ मे आ सकता है, और हरिभद्र के मित्र द्वितीय मानदेवसूरि का समय भी

७८० के लगभग रह सकता है। इसके बाद विबुधप्रभ जयानन्द, रविप्रभ, यशोदेवसूरि, प्रद्युम्नसूरि, उपधान प्रकरणकार मानदेवसूरि इन ६ आचार्यों के सत्तासमय के सम्मिलित १७५ वर्ष मान लेने पर पट्टधरों का सत्तासमय ९५५ तक पहुँचेगा। इस प्रकार उपधानप्रकरणकार मानदेवसूरि का भी अन्तिम समय ९५५ में पहुचता है, जो सगत है। इनके बाद आचार्य विमलचन्द्र, उनके पट्टधर आचार्य श्री उद्योतनसूरि और इनके पट्टधर सर्वदेवसूरि का समय विक्रम की ११वीं शती के प्रथम चरण तक पहुँचता है, क्योंकि ९५६ से विमलचन्द्रसूरि का समय प्रारम्भ हो जाता है और ९९४वें में उनके शिष्य उद्योतनसूरि सर्वदेवसूरि को पट्ट पर स्थापित करते हैं, तब विक्रम स० १०१० में सर्वदेवसूरि रामसैन्यपुर में चन्द्रप्रभ जिन की प्रतिष्ठा करते हैं।

ऊपर लिखे अनुसार मुनिसुन्दरसूरि की गुर्वावली में दिये हुए समय में सशोधन करने से सत्तासमय का समन्वय होकर पारस्परिक विरोध मिट सकता है।

> 'सत्तरस बुड्ढदेवो १७, सूरी पज्जोअणो अठारसमे १८।
> एगूणवीसइमो, सूरी सिरिमाणदेवगुरू १९ ॥ ७ ॥
> सिरिमाणतु गसूरि २०, वीसइमो एगवीस सिरिवीरो २१।
> बावीसो जयदेवो २२, देवाणदो य तेवीसो २३ ॥ ८ ॥
> चउवीसो सिरिविक्कम २४, नरसिंहो पववीस २५ छव्वीसो।
> सूरीसमुद्द २६ सत्तावीसो सिरिमाणदेव गुरु २७ ॥ ९ ॥"

'आचार्य समन्तभद्र के पट्टधर १७वें श्री वृद्धदेवसूरि, वृद्धदेवसूरि के पट्ट पर १८वें प्रद्योतनसूरि, प्रद्योतन के पट्ट पर श्री मानदेवसूरि, मानदेवसूरि के पट्ट पर श्री मानतुगसूरि, मानतुगसूरि के पट्ट पर श्री वीरसूरि, वीरसूरि के पट्ट पर श्री जयदेवसूरि, जयदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवानन्दसूरि, देवानन्दसूरि के पट्ट पर श्री विक्रमसूरि, विक्रमसूरि के पट्ट पर श्री नरसिंहसूरि, नरसिंहसूरि के पट्ट पर श्री समुद्रसूरि, समुद्रसूरि के पट्ट पर श्री मानदेवसूरि २७वें पट्टधर हुए।

समुद्रसूरि को गुर्वावलीकार खोमाण राजा का कुलज बताते हैं। मेवाड राणाओ मे खोमाण नामक तीन राणे हुए हैं, "बापा रावल" नामक मेवाड के राणाओ मे प्रथम था, जो खोमाण भी कहलाता था। यदि हम समुद्रसूरि को खोमाण कुलज मान लें, तो भी समुद्रसूरिजी का समय विक्रम की सप्तम शती के बाद मे आता है। इनके उत्तराधिकारी द्वितीय मानदेव-सूरि को प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्रसूरिजी का मित्र बताते हैं और हरिभद्र-सूरिजी का समय विक्रम की अष्टम शती का उत्तरार्द्ध निश्चित हो चुका है, इस दशा मे द्वितीय मानदेवसूरि मे चतुर्थ पीढी पर आने वाले श्री रविप्रभा-चार्य का सत्ता-समय विक्रम की सप्तम शती बताना सगत नही होता।

> "अट्ठावीसो विबुहो २८, एगुणतीसो गुरू जयाणंदो २९।
> तीसो रविप्पहो ३०, इगतीसो जसदेवसूरिवरो ३१ ॥१०॥
> बत्तीसो पज्जुण्णो ३२, तेतीसो माणदेव जुगपवरो ३३।
> चउतीस विमलचंदो ३४, पणतीसुज्जोअणो सूरी ३५ ॥११॥"

'मानदेवसूरि के पट्टधर श्री विबुधप्रभसूरि, विबुधप्रभसूरि के पट्टधर श्री जयानन्दसूरि, जयानन्दसूरि के पट्ट पर श्री रविप्रभसूरि, रविप्रभसूरि के पट्ट पर श्री यशोदेवसूरि, यशोदेवसूरि के पट्ट पर श्री प्रद्युम्नसूरि, प्रद्युम्न-सूरि के पट्ट पर श्री मानदेवसूरि, मानदेवसूरि के पट्ट पर श्री विमलचन्द्र-सूरि और विमलचन्द्रसूरि के पट्ट पर श्री उद्योतनसूरि ३५वे हुए।१०।११।।'

विमलचन्द्रसूरि के सत्ता-समय की गुर्वावली आदि मे चर्चा नही है, परन्तु प्रभावकचरित्रान्तगत वीरसूरि के प्रबंध मे विमलचन्द्रसूरि के हस्त-दीक्षित वीरसूरि का स्वर्गवास विक्रम सम्वत् ९९१ मे होना लिखा है, इससे प्रतीत होता है कि वीरसूरि के दीक्षा-गुरु श्री विमलचन्द्र का समय विक्रम की दशवी शती का मध्यभाग हो सकता है।

आचार्य श्री उद्योतनसूरि का समय विक्रम की दशवी शती का उत्तर-भाग गुर्वावलीकार ने बताया है, लिखा है कि विक्रम सवत् ९९४ मे आचार्य उद्योतनसूरि ने आबू के निकट एक वट के नीचे बैठे हुए सर्वदेव प्रमुख अपने

आठ शिष्यो को सवश्रेष्ठ लग्न मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। कितनेक आचाय केवल सवदेवसूरि को ही वट के नीचे सूरि पद देने की बात कहते हैं। प्रारम्भ मे सवदेवसूरि के श्रमणगण को लोगो ने "वट गच्छ' इस नाम से प्रसिद्ध किया और धीरे धीरे गुणी श्रमणो की वद्धि होने से "वटगच्छ" का ही नामान्तर "वृहद्गच्छ" प्रसिद्ध हुआ।

"सिरिसव्वदेवसूरी, छत्तीसो ३६ देवसूरि सगतीसो ३७।
अडतीसइमो सूरी, पुणोवि सिरिसव्वदेव गुरू ३८ ॥१२॥
एगुणचालीसइमो, जसभद्दो नेमिचद गुरुबधू ३९ ।
चालीसो मुणिचदो ४०, एगुआलीसो अजिअदेवो ४१ ॥१३॥"

'श्री उद्योतनसूरि के पट्ट पर श्री सवदेवसूरि, सर्वदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि, देवसूरि के पट्ट पर फिर श्री सवदेवसूरि, द्वितीय सवदेवसूरि के पट्ट पर श्री यशोभद्रसूरि तथा नेमिचन्द्र ये दो आचाय हुए और इस आचाय युगल के पट्ट पर श्री मुनिचन्द्रसूरि और मुनिचन्द्रसूरि के पट्ट हर ४१वे श्री अजितदेवसूरि हुए। १२। १३॥'

आचाय श्री सर्वदेवसूरि से महावीर की मूल परम्परा का नाम 'वट गच्छ' हुआ, तब से इस गच्छ मे विद्वान् आचार्यो और श्रमणो की सख्या प्रतिदिन वढती ही गई। परिणामस्वरूप चन्द्रकुल वट की तरह अनेक शाखाओ मे विस्तृत हुआ और इसके मुकाबिले मे इसके सहजात 'नागिल 'निर्वृत्ति' और 'विद्याधर' ये तीन कुल इसके विस्तार के नीचे ढक से गए।

बडे शिष्य सवदेवसूरि लब्धिधारी थे। इन्होने विक्रम सवत् १०१० मे रामसैन्य नगर मे चन्द्रप्रभजिन की प्रतिष्ठा की थी, इतना ही नही बल्कि चन्द्रावती नरेश के नेत्र-तुल्य उच्च ऋद्धिमान् "कुकण मन्त्री" को प्रतिबोध देकर अपना श्रमण शिष्य बनाना था।

सर्वदेवसूरि के पट्ट पर जो देवसूरि हुए उनको अचलगच्छ पट्टावली-कार ने "पद्मदेवसूरि" लिखा है। देवसूरि के पट्टधारी द्वितीय सवदेवसूरि ने यशोभद्र आदि आठ साधुओ को आचाय पद पर प्रतिष्ठित किया था,

जिनमे यशोभद्र और नेमिचन्द्रसूरि ये दोनो गुरु भाई थे और द्वितीय सव-देवसूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित थे।

श्री यशोभद्रसूरि और नेमिचन्द्रसूरि के पट्ट पर चालीसवे आचाय श्री मुनिचन्द्रसूरि थे, जो विद्वान् होने के उपरान्त बडे त्यागी थे। मुनिचन्द्र-सूरि का स्वर्गवास ११७८ के वर्ष मे हुआ था।

मुनिचन्द्रसूरि के अनेक विद्वान् शिष्य थे। श्री अजितदेवसूरि के अतिरिक्त वादी श्री देवसूरि जैसे प्रखर विद्वान् आप ही के शिष्य थे। वादी देवसूरि के नाम से २४ शाखाएं प्रसिद्ध हुई थी, जो 'वादि देवसूरि-पक्ष' के नाम से प्रख्यात थी। वादिदेवसूरि का जन्म ११३४ मे, दीक्षा ११५२ मे, आचाय-पद ११७४ मे और स्वगवास १२२६ के वप मे हुआ था।

मुनिचन्द्रसूरि के पट्ट पर ४१वें श्री अजितदेवसूरि हुए जिनके समय मे १२०४ मे "खरतर", १२१३ मे "आचलिक", १२३६ में "साढपौरा-मियक" और १२५० मे "आगमिक" मतो की उत्पत्ति हुई।

"बायालु विजयसिंहो ४२, तेआला हुति एगगुरुभाया।
सोमप्पह-मणिरयणा ४३, चउआलीसो अ जगचदो ४४ ॥१४॥
देविंदो पणयालो ४५, छायालीसो अ धम्मघोसगुरू ४६।
सोमप्पह सगचत्तो, ४७, अडचत्तो सोमतिलग गुरू ४८ ॥१५॥"

'अजितदेवसूरि के पट्ट पर विजयसिंहसूरि, विजयसिंहसूरि के पट्ट पर सोमप्रभसूरि तथा मणिरत्नप्रभसूरि नामक दोनो गुरु भाई ४३व पट्टधर हुए और उनके पट्टधर श्री जगच्चन्द्रसूरि हुए, जगच्चन्द्र के पट्ट पर श्री देवेन्द्रसूरि, देवेन्द्रसूरि के पट्ट पर श्री धमघोषसूरि, धमघोषसूरि के पट्ट पर श्री सोमप्रभसूरि और सोमप्रभसूरि के पट्ट पर ४८वें सोमतिलकसूरि हुए। १४। १५॥

जगच्चन्द्रसूरि के समय मे साधुओ मे शिथिलाचार की वृद्धि हो रही थी, यह देखकर जगच्चन्द्रसूरि को दु ख हुआ और चैत्रगच्छीय उपाध्याय

देवभद्र गणि की सहायता से क्रियोद्धार करके उग्रविहार करने लगे। जगच्चन्द्रसूरि बडे तपस्वी थे। जीवनपर्यंत आचाम्ल तप का अभिग्रह धारण करके विहार कर रहे थे, आपको आचाम्ल करते १२ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। आपकी इस उग्र तपस्या और विद्वत्ता की बातें सुनकर आपको आघाटपुर (मेवाड) के राणाजी ने 'महातपा" के नाम से सम्बोधित किया। "महातपा" मे से 'महा' शब्द निकल कर आपका 'तपा" यह विरुद रह गया। यह घटना वि० सं० १२८५ मे घटी थी, तब तक महावीर की शिष्य-परम्परा मे ६ नाम रूढ हो गए थे। आर्य सुहस्ती तक महावीर की शिष्य सन्तति "निर्ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध थी, सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के समय मे वह "कौटिक गण" के नाम से पहिचानी जाने लगी। वज्रसेन के शिष्य श्री चन्द्रसूरि के समय मे श्रमण गण का मुख्य भाग "चन्द्रकुल" के नाम से प्रख्यात हुआ। श्री समन्तभद्र के समय मे वह "वनवासी गण" के नाम से सम्बोधित होने लगा, श्री सर्वदेवसूरि के समय मे उसका नाम "वटगच्छ" पडा, श्री जगच्चन्द्रसूरि के समय से वही श्रमण-समुदाय "तपागण" अथवा "तपागच्छ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जगच्चन्द्रसूरि के पट्ट पर ४५वें आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि हुए। देवेन्द्रसूरि विद्वान् होने के उपरान्त बडे त्यागी साधु थे, इनका विहार बहुधा गुजरात और मालवा की तरफ होता था। आपने उज्जैन के जिनभद्र[१] सेठ के पुत्र वीरधवल को विवाहोत्सव दर्मियान प्रतिबोध देकर विक्रम संवत् १३०२ मे दीक्षा दी थी और उसका नाम 'विद्यानन्द" रक्खा था। कुछ समय के बाद उसके भाई को भी श्रमणधर्म मे दीक्षित किया था और उसका नाम "धर्मकीर्ति" रक्खा था। लम्बे काल तक मालवे मे विचर कर देवेन्द्रसूरिजी गुजरात मे स्तम्भतीर्थ पधारे। देवेन्द्रसूरिजी ने जब खम्भात से मालवा की तरफ विहार किया था, उस समय उनके छोटे गुरु भाई श्री विजयचन्द्रसूरि खंभात मे थे और १२ वर्ष से अधिक समय तक मालवा मे विचर कर वापस गुजरात आकर खम्भात पहुचे तो विजयचन्द्रसूरि उस समय तक खम्भात मे ही रहे हुए थे, इतना ही नही उन्होंने धीरे-धीरे साधुओं के आचार मे अनेक

१ धवल के पिता श्रेष्ठी का नाम मुनिसुन्दर-गुर्वावली में जगच्चन्द्र लिखा है।

शिथिलताएं कर दी थी, जैसे प्र येक गीताथ को अपनी निश्रा मे वस्त्र की गठरी रखने की आज्ञा, नित्य विकृति ग्रहण की आज्ञा, हर एक साधु को वस्त्र धोने की आज्ञा, फल-शाक ग्रहण करने की आज्ञा, साधु-साध्वी को नीवी के प्रत्याख्यान मे निर्विकृतिक ग्रहण करने की छूट, नित्य दुविहाहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना, गृहस्थो को आकृष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण कराने की आज्ञा, सविभाग के दिन श्रावक के घर गीताथ को जाना चाहिये, साध्वी का लाया हुआ आहार लेना ऐसी प्ररूपणा, लेप की सन्निधि न मानना, तत्काल उतारा हुआ गम जल लेने की आज्ञा, इत्यादि अनेक बातें जो क्रियामाग मे शिथिल साधुओ के लिए अनुकूल हो ऐसी प्ररूपणाएं करके उन्हे अपने अनुकूल किया। श्री जगच्चन्द्रसूरिजी ने देव-द्रव्यादि दूषित जिस पोषधशाला मे उतरना निषिद्ध किया था, उसी वृद्ध पोषधशाला मे १२ वष तक विजयचन्द्रसूरि ठहरे रहे। जिन प्रव्रज्यादि कृत्यो के करने में गुरु की आज्ञा ली जाती थी, उन कार्यो को भी गुरु आज्ञा के विना करने लगे थे। इन सब बातो का देवेन्द्रसूरिजी को पता लग चुका था, इसलिये वे विजयचन्द्रसूरि वाली पोषधशाला मे न जाकर एक दूसरी शाला मे ठहर, जो विजयचन्द्रसूरि वाली शाला से अपेक्षाकृत छोटी थी। इस प्रकार देवेन्द्रसूरि तथा विजयचन्द्रसूरि भिन्न भिन्न शाला मे उतरे, तब से उन दोनो गुरु-भाइयो का साधु परिवार लघु पोषधशालिक और वृद्ध पोषधशालिक के नाम मे प्रसिद्ध हुआ।

एक समय पालनपुर के श्रावक–सघ ने श्री देवेन्द्रसूरि को आग्रह पूर्वक विज्ञप्ति कर पालनपुर पधारने और पदस्थापनादि–शासनोन्नति के कार्यो द्वारा पालनपुर के सघ को कृताथ करने की प्राथना की, आचाय श्री ने पालनपुर के सघ की बीनती स्वीकृत की और पालनपुर जाकर सवत् १३२३ के वष मे "श्रीविद्यानन्द" को आचार्य पद दिया[1] और उनके छोटे

---

१ गुर्वावली तथा पट्टावली सूत्र की टीका मे विद्यानन्द का आचाय पद मतान्तर से १३०४ में होना सूचित किया ह एक तो विद्यानन्द का दीक्षापर्याय उस समय केवल २ वष का था इतने अल्प पयाय में आचाय पद देने की पद्धति तब तक तपागच्छ में प्रचलित नही हुई थी, दूसरा कारण यह भी है कि, 'खरतर बृहद् गुर्वावली मे सवत् १३-

देवभद्र गणि की सहायता से क्रियोद्धार करके उग्रविहार करने लगे। जगच्चन्द्रसूरि बडे तपस्वी थे। जीवनपर्यन्त आचाम्ल तप का अभिग्रह धारण करके विहार कर रहे थे, आपको आचाम्ल करते १२ वष व्यतीत हो चुके थे। आपकी इस उग्र तपस्या और विद्वत्ता की बातें सुनकर आपको आघाटपुर (मेवाड) के राणाजी ने 'महातपा" के नाम से सम्बोधित किया। "महातपा" मे से 'महा' शब्द निकल कर आपका 'तपा" यह विरुद रह गया। यह घटना वि० स० १२८५ मे घटी थी, तब तक महावीर की शिष्य-परम्परा मे ६ नाम रूढ हो गए थे। आय सुहस्ती तक महावीर का शिष्य सतति "निग्रथ' नाम से प्रसिद्ध थी, सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के समय मे वह "कोटिक गण" के नाम से पहिचानी जाने लगी। वज्रसेन के शिष्य श्री चन्द्रसूरि के समय मे श्रमण गण का मुख्य भाग "चन्द्रकुल" के नाम से प्रख्यात हुआ। श्री समन्तभद्र के समय मे वह "वनवासी गण" के नाम से सम्बोधित होने लगा, श्री सवदेवसूरि के समय मे उसका नाम "वटगच्छ" पडा, श्री जगच्चन्द्रसूरि के समय से वही श्रमण समुदाय "तपागण" अथवा "तपागच्छ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जगच्चन्द्रसूरि के पट्ट पर ४५वे आचाय श्री देवेन्द्रसूरि हुए। देवेन्द्रसूरि विद्वान् होने के उपरान्त बडे त्यागी साधु थे, इनका विहार बहुधा गुजरात और मालवा की तरफ होता था। आपने उज्जैन के जिनभद्र१ सेठ के पुत्र वीरधवल को विवाहोत्सव दमियान प्रतिबोध देकर विक्रम सवत् १३०२ मे दीक्षा दी थी और उसका नाम 'विद्यानन्द" रक्खा था। कुछ समय के बाद उसके भाई को भी श्रमणधम मे दीक्षित किया था और उसका नाम "धमकीर्ति" रक्खा था। लम्बे काल तक मालवे मे विचर कर देवेन्द्रसूरिजी गुजरात मे स्तम्भतीर्थ पधारे। देवेन्द्रसूरिजी ने जब खम्भात से मालवा की तरफ विहार किया था, उस समय उनके छोटे गुरु भाई श्री विजयचन्द्रसूरि खभात मे थे और १२ वष से अधिक समय तक मालवा मे विचर कर वापस गुजरात आकर खम्भात पहुचे तो विजयचन्द्रसूरि उस समय तक खम्भात मे ही रहे हुए थे, इतना ही नही उन्होंने धीरे धीरे साधुओं के आचार मे अनेक

१ धवल के पिता श्रेष्ठी का नाम मुनिसुन्दर-गुर्वावली में जगच्चन्द्र लिखा है।

शिथिलताएँ कर दी थी, जैसे प्रत्येक गीतार्थ को अपनी निश्रा मे वस्त्र की गठरी रखने की आज्ञा, नित्य विकृति ग्रहण की आज्ञा, हर एक साधु को वस्त्र धोने की आज्ञा, फल शाक ग्रहण करने की आज्ञा, साधु-साध्वी को नीवी के प्रत्याख्यान मे निर्विकृतिक ग्रहण करने की छूट, नित्य दुविहाहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना, गृहस्थो को आकृष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण कराने की आज्ञा, सविभाग के दिन श्रावक के घर गीतार्थ को जाना चाहिये, साध्वी का लाया हुआ आहार लेना ऐसी प्ररूपणा, लेप की सन्निधि न मानना, तत्काल उतारा हुआ गर्म जल लेने की आज्ञा, इत्यादि अनेक बातें जो क्रियामार्ग मे शिथिल साधुओ के लिए अनुकूल हो ऐसी प्ररूपणाएँ करके उन्हे अपने अनुकूल किया। श्री जगच्चन्द्रसूरिजी ने देव-द्रव्यादि दूषित जिस पौषधशाला मे उतरना निषिद्ध किया था, उसी वृद्ध पौषधशाला मे १२ वर्ष तक विजयचन्द्रसूरि ठहरे रहे। जिन प्रव्रज्यादि कृत्यो के करने में गुरु की आज्ञा ली जाती थी, उन कार्यो का भी गुरु-आज्ञा के विना करने लगे थे। इन सब बातो का देवेन्द्रसूरिजी को पता लग चुका था, इसलिये वे विजयचन्द्रसूरि वाली पौषधशाला मे न जाकर एक दूसरी शाला मे ठहरे, जो विजयचन्द्रसूरि वाली शाला से अपेक्षाकृत छोटी थी। इस प्रकार देवेन्द्रसूरि तथा विजयचन्द्रसूरि भिन्न भिन्न शाला मे उतरे, तब से उन दोनो गुरु भाइयो का साधु परिवार लघु पौषधशालिक और वृद्ध पौषधशालिक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक समय पालनपुर के श्रावक-सघ ने श्री देवेन्द्रसूरि को आग्रह पूर्वक विज्ञप्ति कर पालनपुर पधारने और पदस्थापनादि-शासनोन्नति के कार्यो द्वारा पालनपुर के सघ को कृतार्थ करने की प्रार्थना की, आचार्य श्री ने पालनपुर के सघ की बीनती स्वीकृत की और पालनपुर जाकर सवत् १३२३ के वर्ष मे "श्रीविद्यानन्द" को आचार्य पद दिया[१] और उनके छोटे

१ गुर्वावली तथा पट्टावली सूत्र की टीका में विद्यानन्द का आचार्य पद मतान्तर से १३०४ में होना सूचित किया है एक तो विद्यानन्द का दीक्षापर्याय उस समय केवल २ वर्ष का था, इतने अल्प पर्याय में आचार्य पद देने की पद्धति तब तक तपागच्छ में प्रचलित नही हुई थी, दूसरा कारण यह भी है कि, 'खरतर बृहद् गुर्वावली मे सवत् १३-

भाई "घमकीर्ति" को उपाध्याय पद प्रदान किया, शासन की बडी उन्नति हुई, आचार्य श्री विद्यान दसूरि ने "विद्यानन्द" नामक एक व्याकरण बनाया जो स्वल्पसूत्र वह्वथ युक्त होने से विद्वानो में पसन्दगी पाया।

आचाय श्री देवे द्रसूरिजी ने गुजरात से फिर मालवे की तरफ विहार किया और विक्रम सवत् १३२७ के वर्ष मे आप वही स्वगवासी हुए। दैवयोग से श्रीविद्यान दसूरि भी केवल १३ दिन के बाद बीजापुर मे स्वर्गवासी हो गए, इसलिये छ महीने के बाद "विद्यानन्द" के समान गोत्रीय किसी आचार्य ने "श्री घमकीर्ति" उपाध्याय को आचाय पद दिया और "श्री धर्मघोषसूरि" यह नाम रक्खा।

आचार्य देवेन्द्रस रिजी ने "श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति" "नव्य पाच कर्म ग्रन्थ" सवृत्ति, "सिद्धपचाशिका" सवृत्ति, "धर्मरत्न प्रकरण" बृहद्वृत्ति, "सुदशनाचरित्र" "चैत्यवन्दनादि तीन भाष्य" "व दारु वृत्ति" आदि अनेक स स्कृत प्राकृत ग्र थो की रचना की है।

श्री देवे द्रसूरिजी के पट्ट पर ४६ वे धमघोषसूरिजी हुए। धर्मघोषसूरि भी बडे विद्वान् और प्रभावक आचाय थे। धर्मघोषसूरि ने भी "सघाचार भाष्य" "कायस्थितिस्तव" "भवस्थितिस्तव" ',चतुर्विंशतिजिनस्तव सग्रह" "स्तुतिचतुर्विंशति" यमकमय इत्यादि अनेक छोटे बडे ग्र थो की रचना की थी। सवत् १३५७ के वष मे धमघोषसूरिजी स्वगवासी हुए।

धमघोषसूरि के पट्टधर श्रीसोमप्रभसूरि भी विद्वान् आचाय हो गए हैं, आपने "नमिऊण भणइ" इत्यादि आराघना प्रकरण की रचना की थी, वि

---

१९ के वष मे खरतर उपाध्याय अभयतिलक के साथ विद्यान द की उज्जैन मे श्रमणयोग्य जल के सम्ब ध मे चर्चा होना लिखा है, और उस स्थल मे "तपोमतीय पडित विद्यानन्द" इस प्रकार का शब्दप्रयोग किया गया है, यदि उस समय विद्यानन्द आचाय होते तो गुर्वावलीकार विद्यानन्द के लिये 'प० शब्द का प्रयोग न कर आचाय अथवा सूरि आदि शब्द का प्रयोग करते, इससे प्रमाणित होता है कि १३२३ में ही श्रीविद्यानन्द आचाय बने थे और १३२७ ।

स १३१० में आपका जन्म, १३२१ मे दीक्षा, १३३२ मे आचाय पद प्राप्त हुआ।

आचाय सोमप्रभसूरि ने अप्काय की विराधना के भय से जलप्रचुर कुकुणदेश मे और शुद्ध जल की दुर्लभता से मारवाड में अपने साधुओ का विहार निषिद्ध किया था।

वि० सवत् १३३४ के वर्षा चातुर्मास्य मे शास्त्र की मर्यादानुसार द्वितीय कार्तिक की पूर्णिमा को चातुर्मास्य पूरा होता था, परन्तु उसके पहले ही भाविनगर-भग को जानकर सोमप्रभसूरिजी प्रथम कार्तिक की चतुर्दशी को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके दूसरे दिन वहा से विहार कर गए थे, अन्य गच्छीय आचार्य जो वहा चातुर्मास्य मे ठहरे हुए थे, उन्होने प्रथम कार्तिक की चतुर्दशी को चातुर्मास्य पूरा नही किया था, परिणामत उनके वहा रहते रहते नगरभग हुआ और विहार न करने वाले आचार्यों को मुसीबत मे उतरना पड़ा था।

सोमप्रभसूरि के गुरु धमघोषसूरि १३५७ मे स्वर्गवासी हुए थे, उसी वष सोमप्रभसूरि ने अपने मुख्य शिष्य विमलप्रभ को आचार्य पद दिया था। सोमप्रभसूरि के विमलप्रभ के अतिरिक्त तीन शिष्य और आचाय थे, जिनके नाम – श्री परमानन्दसूरि, श्री पद्मतिलकसूरि और श्री सोमतिलकसूरि थे। सोमप्रभसूरि के प्रथम शिष्य अल्पजीवी थे, इसलिये उन्होने अपना जीवन अल्प समझ कर १३७३ मे श्री परमानन्द और सोमतिलक को सूरि पद दिये और आपने तीन महीनो के बाद उसी वष स्वर्गवास प्राप्त किया। श्री परमानन्दसूरि भी आचार्य-पद प्राप्त करने के बाद ४ वष तक जीवित रहे थे, इस लिये सोमप्रभ के पट्ट को श्री सोमतिलकसूरिजी ने सम्हाला, सोमतिलकसूरिजी स० १३५५ मे जन्मे, १३६९ मे दीक्षित हुए, १३७३ मे सूरि बने और १४२४ मे स्वर्गवासी हुए। "बृहद् नव्य क्षेत्र समास", "सत्तरिसयठाणं" आदि अनेक ग्रथ और स्तुति स्तोत्रादि की रचना की थी, तथा श्री पद्मतिलक, श्रीचन्द्रशेखरसूरि, श्री जयानन्दसूरि और श्री देवसुन्दरसूरि को आचार्य पद दिए थे।

"एगुणवण्णो सिग्दिेव सु'दरो ४६ सोमसुन्दरो पण्णो ५० ।
मुनिसुन्दरेगवण्णो ५१, बावण्णो रयणसेहरश्रो ५२ ॥१६॥"

'सोमतिलक सूरि के पट्ट पर ४६ वें श्री देवसु'दरसूरि हुए और देव-सु'दरसूरि के पट्ट पर श्री सोमसु'दरसूरि, सोमसु'दर के पट्ट पर श्री मुनि-सु दरसूरि और मुनिसुन्दरसूरि के पट्ट पर श्री रत्नशेखरसूरि ५२ वें पट्टधर हुए ॥१६॥

आचाय देवसु'दरसूरि का ज म १३६६ मे, दीक्षा १४०४ मे, आचायपद १४२० मे अणहिल पाटन मे हुआ ।

आचाय देवसु दरसूरिजी के ५ शिष्य थे जिनके नाम श्री ज्ञानसागर-सूरि, श्रो कुलमण्डनसूरि, श्री गुणरत्नसूरि, श्री सोमसु'दरसूरि और श्री साधुरत्नसूरि थे। ज्ञानसागरसूरि का ज'म १४०५ मे, दीक्षा १४१७ मे, आचार्यपद १४४१ मे और स्वगवास १४६० मे हुआ था ।

ज्ञ नसागरसूरि ने आवश्यक और ओघनियुक्ति पर अवचूर्णिया लिखी थी और अनेक तीथङ्करो के स्तव स्तोत्रादि बनाये थे ।

श्री कुलमण्डनसूरि का ज'म १४०६ मे, दीक्षा १४१७ मे, सूरिपद १४४२ मे और १४५५ मे स्वगवास हुआ था ।

श्री कुलमण्डनसूरि ने "सिद्धान्ताल पकोद्धार" और अनेक "चित्रकाव्य स्तवो" की रचना की थी।

आचाय श्री गुणरत्नसूरि ने "क्रियारत्नसमुच्चय" "षड्दशनसमुच्चय-बहद्वृत्ति" आदि ग्र'थ रचे थे और साधु रत्नसूरि ने "यतिजीतकल्पवृत्ति" आदि का निर्माण किया था ।

आचाय श्री सोमसु दरसूरिजी का ज म १४३० मे, दीक्षा १४३७ मे, वाचकपद १४५० मे और सूरिपद १४५७ मे हुआ था । सोमसु'दरसूरि बडे भाग्यशाली और क्रियापरायण थे। इनकी निश्रा मे १८०० क्रियापात्र सा'धु विचरते थे। श्री सामसु'दरसूरिजी ने 'योगशास्त्र" "उपदेशमाला"

"षडावश्यक" "नवतत्त्वादि" ग्रन्थो पर बालावबोध भाष्य लिखे थे, कई ग्रंथों पर अवचूर्णिया लिखी थी और "कल्याणकस्तोत्रादि' अनेक "जिन-स्तोत्र" बनाए थे।

श्री सोमसुन्दरसूरिजी के चार शिष्य आचार्यपद पर स्थित थे, श्री मुनिसुन्दरसूरि १, श्री जयसुन्दरसूरि २, श्री भुवनसुन्दरसूरि ३ और जिन-सुन्दरसूरि ४।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरिजी ने अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया था।

आचार्य श्री भुवनसुन्दरसूरि ने "महाविद्याविडम्बन" का टिप्पन लिखा था।

श्री जिनसुन्दरसूरि ने "दीपावली कल्प" बनाया था।

अपने इन विद्वान शिष्यो के परिवार मे परिवृत श्री सोमसुन्दरसूरिजी ने राणकपुर के श्रीधरणचतुर्मुख विहार मे सवत् १४९५ मे ऋषभादि अनेक जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा की थी और १४९९ मे आप स्वर्गवासी हुए थे।

आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरि का १४३६ मे जन्म, १४४३ मे दीक्षा, १४६६ मे वाचक पद और १४७८ मे सूरि पद हुआ था।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरि प्रखर जैन विद्वानो मे से एक थे, आपने सैंकडो चित्र स्तोत्रो की रचना की थी जिनकी सख्या ही नही है, आपने 'त्रिदश-तरगिणी" नामक १०८ एक सौ आठ हस्तपरिमित विज्ञप्तिलेख अपने गुरु पर भेजा था, 'उपदेशरत्नाकर" "चातुर्वैद्यवैशारद्यनिधि' 'विजयचन्द्रकेवलि-चरित्र" आदि अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना की थी, आपका स्वर्गवास १५०३ के कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन हुआ था।

श्री मुनिसुन्दरसूरि के पट्टधर श्री रत्नशेखरसूरि का जन्म १४५७ मे और मतान्तर से १४५२ मे हुआ, १४६३ मे व्रतग्रहण १४८३ मे पण्डित पद, १४९३ मे वाचक पद, १५०२ मे सूरिपद और १५१७ मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

"एगुणवण्णो सिरिदेव सुंदरो ४६ सोमसुन्दरो पण्णो ५० ।
मुनिसु दरेगवण्णो ५१, बावण्णो रयणसेहरश्रो ५२ ॥१६॥"

'सोमतिलक सूरि के पट्ट पर ४६ वें श्री देवसुंदरसूरि हुए और देवसुंदरसूरि के पट्ट पर श्री सोमसुंदरसूरि, सोमसुंदर के पट्ट पर श्री मुनि सुंदरसूरि और मुनिसुन्दरसूरि के पट्ट पर श्री रत्नशेखरसूरि ५२ वें पट्टधर हुए ॥१६॥

आचाय देवसुंदरसूरि का जन्म १३६६ मे, दीक्षा १४०४ मे, आचायपद १४२० मे अणहिल पाटन मे हुआ।

आचाय देवसुंदरसूरिजी के ५ शिष्य थे जिनके नाम श्री ज्ञानसागरसूरि, श्री कुलमण्डनसूरि, श्री गुणरत्नसूरि, श्री सोमसुंदरसूरि और श्री साधुरत्नसूरि थे। ज्ञानसागरसूरि का जन्म १४०५ मे, दीक्षा १४१७ में, आचायपद १४४१ मे और स्वगवास १४६० मे हुआ था।

ज्ञानसागरसूरि ने आवश्यक और ओघनियुक्ति पर अवचूर्णिया लिखी थी और अनेक तीथङ्करो के स्तव स्तोत्रादि बनाये थे।

श्री कुलमण्डनसूरि का जन्म १४०६ मे, दीक्षा १४१७ मे, सूरिपद १४४२ मे और १४५५ मे स्वगवास हुआ था।

श्री कुलमण्डनसूरि ने "सिद्धान्तालपकोद्धार" और अनेक "चित्रकाव्य स्तवो" की रचना की थी।

आचाय श्री गुणरत्नसूरि ने "क्रियारत्नसमुच्चय" "षडदर्शनसमुच्चय-बृहद्वृत्ति" आदि ग्रन्थ रचे थे और साधु रत्नसूरि ने "यतिजीतकल्पवृत्ति" आदि का निर्माण किया था।

आचाय श्री सोमसुंदरसूरिजी का जन्म १४३० मे, दीक्षा १४३७ मे, वाचकपद १४५० मे और सूरिपद १४५७ मे हुआ था। सोमसुंदरसूरि बडे भाग्यशाली और क्रियापरायण थे। इनकी निश्रा मे १८०० क्रियापात्र साधु विचरते थे। श्री सोमसुंदरसूरिजी ने 'योगशास्त्र" 'उपदेशमाला"

"षडावश्यक" "नवतत्त्वादि" ग्रन्थो पर बालावबोध भाष्य लिखे थे, कई ग्रन्थो पर अवचूर्णिया लिखी थी और "कल्याणकस्तोत्रादि" अनेक "जिन-स्तोत्र" बनाए थे।

श्री सोमसुन्दरसूरिजी के चार शिष्य आचार्यपद पर स्थित थे, श्री मुनिसुन्दरसूरि १, श्री जयसुन्दरसूरि २, श्री भुवनसुन्दरसूरि ३ और जिन-सुन्दरसूरि ४।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरिजी ने अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया था।

आचार्य श्री भुवनसुन्दरसूरि ने "महाविद्याविडम्बन" का टिप्पन लिखा था।

श्री जिनसुन्दरसूरि ने "दीपावली कल्प" बनाया था।

अपने इन विद्वान शिष्यो के परिवार से परिवृत श्री सोमसुन्दरसूरिजी ने राणकपुर के श्रीधरणचतुर्मुख विहार मे सवत् १४६५ मे ऋषभादि अनेक जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा की थी और १४९९ मे आप स्वर्गवासी हुए थे।

आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरि का १४३६ मे जन्म, १४४३ मे दीक्षा, १४६६ मे वाचक पद और १४७८ मे सूरि पद हुआ था।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरि प्रखर जैन विद्वानो मे से एक थे, आपने सैकडो चित्र स्तोत्रो की रचना की थी जिनकी सख्या ही नही है, आपने 'त्रिदश-तरगिणी" नामक १०८ एक सौ आठ हस्तपरिमित विज्ञप्तिलेखन अपने गुरु पर भेजा था, 'उपदेशरत्नाकर" "चातुर्वैद्यवशारद्यनिधि" 'विजयचन्द्रकेवलि-चरित्र" आदि अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना की थी, आपका स्वर्गवास १५०३ के कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन हुआ था।

श्री मुनिसुन्दरसूरि के पट्टधर श्री रत्नशेखरसूरि का जन्म १४५७ मे और मतान्तर से १४५२ मे हुआ, १४६३ मे व्रतग्रहण, १४८३ मे पण्डित पद, १४९३ मे वाचक पद, १५०२ मे सूरिपद और १५१७ मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

"एगुणवण्णो सिरिदेव सुन्दरो ४९ सोमसुन्दरो पण्णो ५० ।
मुनिसु दरेगवण्णो ५१, बावण्णो रयणसेहरग्रो ५२ ॥१६॥"

'सोमतिलक सूरि के पट्ट पर ४९ वें श्री देवसुन्दरसूरि हुए और देव-सुन्दरसूरि के पट्ट पर श्री सोमसुन्दरसूरि, सोमसुन्दर के पट्ट पर श्री मुनि-सु दरसूरि और मुनिसुन्दरसूरि के पट्ट पर श्री रत्नशेखरसूरि ५२ वें पट्टधर हुए ॥१६॥

आचाय देवसुन्दरसूरि का जन्म १३९६ मे, दीक्षा १४०४ मे, आचायपद १४२० मे अणहिल पाटन मे हुआ।

आचाय देवसुन्दरसूरिजी के ५ शिष्य थे जिनके नाम श्री ज्ञानसागर-सूरि, श्रो कुलमण्डनसूरि, श्री गुणरत्नसूरि, श्री सोमसुन्दरसूरि और श्री साधुरत्नसूरि थे। ज्ञानसागरसूरि का जन्म १४०५ मे, दीक्षा १४१७ मे, आचायपद १४४१ मे और स्वगवास १४६० मे हुआ था।

ज्ञानसागरसूरि ने आवश्यक और ओघनिर्युक्ति पर अवचूर्णिया लिखी थी और अनेक तीथङ्करो के स्तव स्तोत्रादि बनाये थे।

श्री कुलमण्डनसूरि का जन्म १४०९ मे, दीक्षा १४१७ मे, सूरिपद १४४२ मे और १४५५ मे स्वर्गवास हुआ था।

श्री कुलमण्डनसूरि ने "सिद्धान्ताल पकोद्धार" और अनेक "चित्रकाव्य स्तवो" की रचना की थी।

आचाय श्री गुणरत्नसूरि ने "क्रियारत्नसमुच्चय" "षडदशनसमुच्चय-बहद्वृत्ति" आदि ग्रन्थ रचे थे और साधु रत्नसूरि ने "यतिजीतकल्पवृत्ति" आदि का निर्माण किया था।

आचाय श्री सोमसुन्दरसूरिजी का जन्म १४३० मे, दीक्षा १४३७ मे, वाचकपद १४५० मे और सूरिपद १४५७ मे हुआ था। सोमसुन्दरसूरि बडे भाग्यशाली और क्रियापरायण थे। इनकी निश्रा मे १८०० क्रियापात्र सन्धु विचरते थे। श्री सामसुन्दरसूरिजी ने 'योगशास्त्र" 'उपदेशमाला"

"षडावश्यक" "नवतत्त्वादि" ग्रन्थो पर बालावबोध भाष्य लिखे थे, कई ग्रन्थो पर अवचूर्णिया लिखी थी और "कल्याणकस्तोत्रादि" अनेक "जिन-स्तोत्र" बनाए थे।

श्री सोमसुन्दरसूरिजी के चार शिष्य आचार्यपद पर स्थित थे, श्री मुनिसुन्दरसूरि १, श्री जयसुन्दरसूरि २, श्री भुवनसुन्दरसूरि ३ और जिन-सुन्दरसूरि ४।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरिजी ने अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया था।

आचार्य श्री भुवनसुन्दरसूरि ने "महाविद्याविडम्बन" का टिप्पन लिखा था।

श्री जिनसुन्दरसूरि ने "दीपावली कल्प" बनाया था।

अपने इन विद्वान शिष्यो के परिवार से परिवृत श्री सोमसुन्दरसूरिजी ने राणकपुर के श्रीधरणचतुर्मुख विहार मे सवत् १४९५ मे ऋषभादि अनेक जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा की थी और १४९९ मे आप स्वर्गवासी हुए थे।

आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरि का १४३६ मे जन्म, १४४३ मे दीक्षा, १४६६ मे वाचक पद और १४७८ मे सूरि पद हुआ था।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरि प्रखर जैन विद्वानो मे से एक थे, आपने सैकडो चित्र स्तोत्रो की रचना की थी जिनकी संख्या हो नही है, आपने "त्रिदश-तरगिणी" नामक १०८ एक सौ आठ हस्तपरिमित विज्ञप्तिलेख अपने गुरु पर भेजा था, "उपदेशरत्नाकर" "चातुर्वैद्यशारदनिधि" "विजयचन्द्रकेवलि-चरित्र" आदि अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना की थी, आपका स्वर्गवास १५०३ के कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन हुआ था।

श्री मुनिसुन्दरसूरि के पट्टधर श्री रत्नशेखरसूरि का जन्म १४५७ मे और मतान्तर से १४५२ मे हुआ, १४६३ मे व्रतग्रहण, १४८३ मे पण्डित पद, १४९३ मे वाचक पद, १५०२ मे सूरिपद और १५१७ मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

रत्नशेखरसूरि के "श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति" "श्राद्धविधिसूत्रवृत्ति" "आचारप्रदीप" नामक तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

आचार्य रत्नशेखरसूरि के समय मे १५०८ मे जिनप्रतिमा का विरोधी "लुकामत" प्रवृत्त हुआ और लुकामत मे १५३३ मे "भाणा" नामक प्रथम "साधुवेशधारी" हुआ।

"तेवण्णो पुण लच्छीसायरसूरीसरो मुणेयव्वो ५३ ।
चउवण्णु सुमइसाहू, ५४ पणवण्णो हेमविमल गुरू ५५ ॥ १७ ॥

'रत्नशेखरसूरि के पट्ट पर ५३ वें लक्ष्मीसागरसूरि, लक्ष्मीसागरसूरि के पट्ट पर ५४ वें सुमतिसाधुसूरि और सुमतिसाधु के पट्ट पर ५५ वें हेमविमलसूरि हुए। १७॥'

श्री लक्ष्मीसागरसूरि का १४६४ मे जन्म, १४७७ मे दीक्षा, १४९६ मे पन्यासपद, १५०१ मे वाचकपद, १५०८ मे सूरिपद और १५१७ मे गच्छनायक पद हुआ था।

श्री लक्ष्मीसागरसूरि के पट्टधर श्री सुमतिसाधुसूरिजी ने "दशवैकालिक" पर "लघुटीका" बनाई थी, जो छप कर प्रसिद्ध हो गई है।

श्री सुमतिसाधु के पट्टधर श्री हेमविमलसूरि के समय मे साधु-समुदाय मे पर्याप्त शिथिलता फैल गई थी, फिर भी हेमविमलसूरि की निश्रा मे रहने वाले साधु ब्रह्मचय तथा निष्परिग्रहपन मे सवप्रसिद्ध थे। क्षमाश्रमण आदि विधि से श्रावक के घर से लाया हुआ आहार हेमविमलसूरि नही लेते थे और अपने समुदाय मे कोई द्रव्यधारी यति ज्ञात होता तो उसे गच्छ से निकाल देते थे, आपकी इस निस्पृहवृत्ति को देखकर लुकागच्छ के ऋषि हाना ऋषि श्रीपति, ऋ० गणपति प्रमुख अनेक आत्मार्थी वेशधारी लुकामत का त्याग कर श्री हेमविमलसूरि की शरण मे आए थे और समयानुसार चारित्र पालकर आत्महित करते थे।

आचार्य हेमविमल के समय मे 'आजकल शास्त्रोक्त साधु दृष्टिगोचर नहीं होते' इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले कटुक नामक त्रिस्तुतिक

गृहस्थ से १५६२ मे "कटुक" (कडुग्रा) मत की उत्पत्ति हुई। १५७० मे लुकामत से निकल कर विजय ऋषि ने "बीजा मत" प्रचलित किया और सवत् १५७२ मे नागपुरीय तपागच्छ से निकल कर उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने अपने नाम से मत निकाला जो आजकल "पायचदगच्छ" के नाम से प्रसिद्ध है।

"सुविहिय मुणिचूडामणि,–कुमयतमोमहणमिहिरसममहिमो ।
आणंदविमलसूरी–सरो अ छावण्णपट्टधरो ॥ १८ ॥"

श्री हेमविमलसूरि के पट्टधर सुविहित-मुनिचूडामणि और कुमत-रूपी अधकार को मथन करने मे सूर्य समान महिमा वाले श्री आनन्दविमल-सूरि हुए।

आचार्य आनन्दविमलसूरि का १५४७ मे इडरगढ़ मे जन्म, १५५२ मे दीक्षा और १५७० मे सूरिपद हुआ था।

आनन्दविमलसूरि के समय मे साधुओ मे शिथिलता अधिक बढ़ गई थी, उधर प्रतिमा विरोधी तथा साधु-विरोधी लुपक तथा कटुक मत के अनुयायियो का प्रचार प्रतिदिन बढ रहा था। इस परिस्थिति को देखकर आनन्दविमलसूरिजी ने अपने पट्टगुरु आचार्य की आज्ञा से शिथिलाचार का परित्याग रूप क्रियोद्धार किया। आपके इस क्रियोद्धार मे कतिपय सविग्न साधुओ ने साथ दिया, यह क्रिया उद्धार आपने १५८२ के वर्ष मे किया। आपकी इस त्यागवृत्ति से प्रभावित होकर अनेक गृहस्थो ने 'लुकामत" तथा "कडुग्रामत" का त्याग किया और कई कुटुम्ब धनादि का मोह छोड कर दीक्षित भी हुए।

तपागच्छ के आचार्य श्री सोमप्रभसूरिजी ने जेसलमेरु आदि मरुभूमि मे जल दौर्लभ्य के कारण साधुओ का विहार निषिद्ध किया था, उसको श्री आनन्दविमलसूरिजी ने चालू किया, क्योकि ऐसा न करने से उस प्रदेश मे कुमत का प्रचार होने का भय था। प्रतिषिद्ध क्षेत्र मे भी प्रथम विद्या-सागर गणि का विहार करवाया, क्योकि कम उम्र से ही वे छट्ठ-छट्ठ का पारणा आचाम्ल से करने वाले तपस्वी थे। उन्होने जेसलमेरु आदि स्थली

मे खरतरो, मेवात देश मे बीजामतियो और सोराष्ट्र मे मोरबी आदि स्थानो मे लुका आदि मतो के अनुयायी गृहस्थो को प्रतिबोध देकर उनमे सम्यक्त्व के बीज बोये, वीरमगाव मे उपाध्याय पार्श्वचन्द्र को वाद मे निरुत्तर करके बहुत से लोगो को जैन धर्म मे स्थिर किया। इसी प्रकार मालव देश मे भी विहार कर उज्जैनी आदि नगरो मे यथार्थ उपदेश से गृहस्थो को धर्म मे स्थिर किया था।

क्रियोद्धार करने के बाद श्री आनन्दविमलसूरिजी ने १४ वर्ष तक कम से कम षष्ठ तप करने का अभिग्रह रक्खा, आप ने उपवास तथा छट्ठ से २० स्थानक तप का आराधन किया, इसके अतिरिक्त अनेक विकृष्ट तप करके अन्त मे १५९६ में चैत्रसुदि में आलोचनापूर्वक अनशन करके नव उपवास के अन्त में अहमदाबाद नगर में स्वर्गवासी हुए।

> "सिरि विजयदाणसूरि–पट्टे, सगवण्णए अ ५७ अडवण्णे।
> सिरि हीरविजयसूरी, ५८ सपइ तवगणदिणिदसमा ॥१९॥"

श्री आनन्दविमलसूरि के पट्ट पर श्री विजयदानसूरिजी और विजयदानसूरि के पट्टधर श्री हीरविजयसूरि तपागच्छ मे सूर्य समान विचर रहे हैं ॥१९॥

श्री आनन्दविमलसूरि के पट्टपर श्री विजयदानसूरिजी ने खभात, अहमदाबाद, पाटन, महेशाना, गन्धार बन्दर आदि अनेक स्थानो मे सैकडो जिनबिम्बो की प्रतिष्ठाए की थी, श्री विजयदानसूरिजी के उपदेश से ही बादशाह मुहम्मद के मान्य मन्त्री गुलराज ने जो "मालिक श्री नगदल" कहलाता था, छ महीने तक शत्रुञ्जय पर का टेक्स माफ करवाया और सर्वत्र पत्रिका भेजकर नगर, ग्राम आदि के सघसमुदाय के साथ श्री शत्रुजय की यात्रा की थी।

श्री विजयदानसूरि का वि स १५५३ मे जामला स्थान मे जन्म, १५६२ में दीक्षा, १५८७ में सूरिपद और १६२२ में वडावली मे आराधनापूर्वक स्वर्गवास हुआ था।

विजयदानसूरि के पटधर श्री हीरसूरिजी का पालनपुर मे १५८३ में जन्म, १५९६ मे पाटन मे दीक्षा, १६०७ में नाडलाई मे पण्डित पद, १६०८ मे नाडलाई मे वाचक पद और १६१० मे सिरोही मे आचार्य पद हुआ था।

आचार्य श्री हीरसूरि ने सिरोही, नाडलाई, अहमदावाद, पाटन आदि नगरो मे हजारो जिनबिम्बो की प्रतिष्ठायें की।

अहमदावाद नगर मे लु कामत के आचार्य श्री मेघजी ने अपने २५ मुनियो के साथ श्री हीरसूरिजी के पास दीक्षा ली।

आचार्य श्री हीरसूरिजी के उपदेश से बादशाह श्री अकबर ने गुजरात, मालवा, बिहार, अयोध्या, प्रयाग, फतेहपुर, दिल्ली, लाहोर, मुलतान, काबुल, अजमेर और बगाल नामक १२ सूबो मे पाण्मासिक अमारिप्रवतन किया, "जजीया" टक्स नामक कर बद कर दिया।

"सिर विजयसेण सूरि-प्पमुहेहिं रणेगसाहुवग्गेहिं ।
परिकलिग्रा पुहविग्रले, विहरन्ता दितु मे भद्द ॥२०॥"

श्री विजयहीरसूरि के पट्ट पर श्री विजयसेनसूरि हुए, श्री विजयसेनसूरि प्रमुख अनेक श्रमणवर्ग के साथ परिवृत पृथ्वीतल पर विचरते हुए, श्री विजयहीरसूरि मेरे लिये कल्याणकारक हो।

इस प्रकार महोपाध्याय धमसागर गणि विरचिता तपागच्छपट्टावली सूत्र वृत्तिसहिता समाप्ता।

यह पट्टावली श्री विजयहीरसूरीश्वरजी के आदेश से उपाध्याय श्री विमलहर्षगणी, उपाध्याय श्री कल्याणविजयगणी, उपा० श्री सोमविजयगणी, प लब्धिसागरगणी, प्रमुख गीतार्थों ने इकट्ठा होकर स १६४८ के चैत्र वदि ६ शुक्रवार को अहमदावाद नगर में श्री मुनिसुदर कृतगुर्वावली, जीर्ण पट्टावली दुष्षमा सघ स्तोत्रयत्नक आदि के आधार से सुधारी है, फिर भी इसमे जो कुछ शोधन योग्य हो उसको मध्यस्थ गीतार्थों को सुधार लेना चाहिये।

पट्टावली सशोधन होने के पहले इसकी अनेक प्रतिया लिखी जा चुकी हैं, इसलिये उनको सशोधित पट्टावली के अनुसार शुद्ध करके फिर पढना चाहिये, ऐसी श्री विजयहीरसूरीश्वरजी महाराज की आज्ञा है।

—

श्री तपा-गणपति-गुण-पद्धति

— कर्ता : उपाध्याय गुणविजय गणी

"सिरि विजयसेणसूरि-पट्टे गुणसट्ठिमे 'अ'सट्ठिअमे ।
सिरि विजयदेवसूरो, तवइ, तवगणे तरणितुल्लो ॥२१॥
सिरि विजयसोहसूरिपमुहेहिं णेगसाहुवग्गेहिं ।
परिकलिया पुहविअले, विहरंता दिंतु मे भद्द ॥२२॥"

श्री विजयहीरसूरि के पट्ट पर ५९ वें श्री विजयसेनसूरि और विजयसेनसूरि के पट्ट पर ६० वें श्री विजयदेवसूरि तपागच्छ मे सूर्य समान तप रहे हैं ।२१।,

विजयसिंहसूरि प्रमुख अनेक साधुवर्गों से परिवृत्त श्री विजयदेवसूरि पृथ्वीतल पर विचरते हुए कल्याणकारी हो ।।२२।।

श्री हीरसूरिजी के पट्ट पर श्री विजयसेनसूरिजी हुए, आपका जन्म स० १६०४ मे नाडुलाई मे हुआ था और स० १६१३ मे माता-पिता के साथ श्री विजयदानसूरि के हाथ से दीक्षा हुई थी, श्री विजयहीरसूरिजी ने इनको पढाया और सवत् १६२८ में फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन अहमदाबाद मे इनको सूरि पद दिया गया था ।

एक समय श्री हीरविजयसूरिजी श्री विजयसेनसूरि के साथ राधनपुर मे वर्षा चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, उस समय लाहोर में रहे हुए श्री अकबर बादशाह ने विजयसेनसूरि के गुणों का वर्णन सुना और उनको अपने पास बुलाने के लिये फरमान भेजा । तब अपने गुरु की आज्ञा सिर पर चढ़ाकर

पाटन आदि अनेक नगरों गावों को पवित्र करते हुए आप आबु पहुँचे। आबु की यात्रा कर सिरोही गए, सिरोही के राजा श्री सुरतान ने बड़ा बड़ा सम्मान किया, वहां से क्रमशः श्री राणकपुर, वरकाणा पादर्वनाथ की यात्रा करते हुए अपनी जन्मभूमि नाडलाई होते हुए, मेड़ता, फोहपुरा, सागट, महिम नगरादि में होते हुए लुधियाना पहुंचे। वहां पर बादशाह के वकील अबुल फजल के तीजे फैजी नामक ने सूरि का वंदन किया, श्रावकों की तरफ से आचार्य का होता हुआ सत्कार देखकर फैजी बहुत खुश हुआ और जल्दी से लाहौर पहुँच कर बादशाह को सब वृत्तान्त निवेदन किया, जिसे सुनकर बादशाह भी मिलने के लिये विशेष उत्कण्ठित हुआ। क्रमशः विजयसेनसूरिजी ने बादशाह की तरफ से दिए गए वादित्रादि ठाट के साथ लाहौर में प्रवेश किया और उसी दिन श्री शेखजी, रामदास प्रमुख पुरुषों द्वारा 'काश्मीरी महल' नामक महल में बादशाह से मिले बादशाह भी आचार्यश्री को देखकर परम संतुष्ट हुआ और श्री हीरविजयसूरिजी के वृत्तान्त के साथ मार्ग का कुशलवृत्त पूछा। आचार्य ने भी श्री हीरसूरिजी की तरफ से धर्माशीर्वाद देने को कहा, बादशाह खुश हुआ और विजयसेनसूरिजी से आठ अवधान सुनने की इच्छा व्यक्त की गुरु की आज्ञा से गुरु के शिष्य श्री (नन्दि) नन्दविजय पंडित ने बादशाह के सामने आठ अवधान किये, जिन्हें देखकर बादशाह बहुत ही चमत्कृत हुआ।

एक जैन आचार्य के सामने बादशाह का इतना सुकार और सत्कार देखकर किसी भट्ट ने बादशाह के सामने जैन साधुओं की निन्दा की। उसने कहा— जैन लोग ईश्वर को नहीं मानते, सूर्य को नहीं मानते इसलिए ऐसे साधुओं के दर्शन भी राजा को नहीं करने चाहिये। इत्यादि सुनकर बादशाह को मानसिक कोप तो हुआ परन्तु ऊपर से कुछ भी विकृति नहीं दिखाई अन्य दिवस आचार्य के वहां जाने पर बादशाह ने भट्ट द्वारा कही हुई बात आचार्य के सामने प्रकट की। आचार्य ने देखा कि किसी खल ने बादशाह को बहकाया है, यह सोचकर उन्होंने उन्हीं के शास्त्र से जगदीश्वर के स्वरूप का वर्णन किया। इसी प्रकार सूर्य तथा गंगोदक के सम्बन्ध में भी आचार्य ने ऐसा वर्णन किया कि जिसे सुनकर बादशाह खुश हुआ और पहले से भी

अधिक सन्मान किया और दुर्जनो की तरफ तिरस्कार दिखाया । बादशाह के आग्रह से आचार्य विजयसेनसूरिजी ने लाहोर मे दो चातुर्मास्य किये और प्रसग पाकर बादशाह को उपदेश देते रहे ।

एक समय पुण्योपदेश के प्रसग पर प्रमुदित होकर बादशाह ने आचार्य को कुछ मागने को कहा । यह सुनकर आचार्य ने कहा—हे बादशाह ! जगत् के प्राणियो का दुख भागने वाले राजाओ को गाय, बैल, भैसा, भैस की हत्या, नाऔलाद का द्रव्य लेना और निरपराधी पशु पक्षियो को कैद करना योग्य नही है— इन बातो का त्याग करना ही हमारे लिये सतोष का कारण है और शाही सम्पत्ति का भी कारण है । इस बात से तुष्टमान होकर शाह अकबर ने उपर्युक्त छ बातो के निषेध का फर्मान लिखकर अपने राज्य के सब सूबो मे भेजा और विजयसेनसूरिजी को भी उसकी नकल दी । इस वर्ष का वर्षा चातुर्मास्य श्री विजयहीरसूरिजी ने सौराष्ट्र मडल मे किया था, आचार्य श्री के शरीर मे बाधा बढ रही थी, इसलिये अपनी तरफ से लेख देकर विजयसेनसूरजी के पास पत्रवाहक भेजा और अन्तिम मिलाप के लिये अपने पास बुलाया। गुरु की आज्ञा मिलते ही विजयसेनसूरिजी ने लाहोर से विहार किया और अविच्छिन्न प्रयाणो से पाटण तक पहुँचे, तब ऊना मे श्री हीरसूरि का स्वर्गवास होने की बात विजयसेनसूरिजी ने सुनी और आगे का विहार रोका ।

श्री विजयसेनसूरि द्वारा जो कुछ धार्मिक और जिनशासन की प्रभावना के कार्य हुए, उनकी रूपरेखा नीचे दी जाती है

स० १६३२ मे चम्पानेरगढ मे जिनप्रतिष्ठा की और सुरतबन्दर मे श्रीमिश्र चिन्तामणि प्रमुख विद्वानो की सभ्यता मे श्री विजयसेनसूरिजी ने विवाद मे भूषण नामक दिगम्बर भट्टारकजी को जीता ।

राजनगर मे अपने उत्तराधिकारी शिष्य श्री विद्याविजय को दीक्षा दी और प्रतिष्ठा कराई, गधार बन्दर तथा स्तम्भ तीर्थ मे प्रतिष्ठा कराई और चातुर्मास्य भी खम्भात में किया, वजिया राजीया द्वारा वहां चिन्तामणि पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा की । बाद मे १६५४ में अहमदाबाद में जमीन में से

निकली हुई विजयचिन्तामणि पार्श्वनाथ की मूर्ति शकन्दरपुर में स्थापित की, फिर उसी वर्ष में सा मोटा की तरफ से अहमदपुर में प्रतिष्ठा की और दोसी लहुआ की तरफ से प्रतिष्ठा कराकर गुजर तीर्थों की यात्रा करते हुए, शत्रुञ्जय की यात्रार्थ गये। यात्रा के बाद वहां से लौटकर स्तम्भतीर्थ आकर श्री विजयदेवसूरि को सूरि पद दिया और दो वर्ष के बाद सं० १६५८ में पाटन में विजयदेवसूरि को आपने गच्छानुज्ञा की। वहां से शंखेश्वर तीर्थ की यात्रा करते हुए आप राजनगर पधारे और चातुर्मास्य वहीं किया। आपके उपदेश से वहां के अनेक श्रावकों ने बड़े आडम्बर के साथ छः प्रतिष्ठा महोत्सव करवाये। राजनगर के निवासी सघवी सूरा ने प्र तगृह महमुदी की प्रभावना की और बाद में श्री आबु श्री राणकपुर आदि तीर्थों की यात्रा कर कुशलपूर्वक वापिस आचार्य के साथ संघ राजनगर आया। एक वर्ष में श्रावकों ने एक लाख महमुदी खर्ची। वहां से राधनपुर जाकर दो प्रतिष्ठाएं करवाई, स्तम्भतीर्थ में एक, अकब्बरपुर में एक और गन्धार बन्दर में दो प्रतिष्ठायें करवा कर सौराष्ट्र के संघ के अत्याग्रह से सौराष्ट्र में पधारे। शत्रुञ्जय की यात्रा कर उस प्रदेश में तीन चातुर्मास्य और आठ प्रतिष्ठाएँ करवा कर गिरनार की यात्रा को गये और जामनगर में वर्षा चातुर्मास्य किया। सौराष्ट्र से लौट कर श्री शंखेश्वर होते हुए राजनगर पहुँचे। वहां चातुर्मास्य किया और चार प्रतिष्ठाएँ करवाई। एकन्दर श्री विजयसेनसूरिजी के हाथ से ५० प्रतिष्ठाएँ और हजारों जिनप्रतिमाओं का अंजन विधान हुआ। श्री शत्रुञ्जय, तारगा, नारंगपुर, शंखेश्वर, पचासर, राणकपुर, आरासण, बीजापुर आदि स्थानों में अपने उपदेश द्वारा जीर्णोद्धार करवाये।

श्री विजयसेनसूरिजी ने आठ साधुओं को वाचक-पद और १५० साधुओं को पंडित पद दिये। कुल २ हजार साधु समुदाय के ऊपर २० वर्ष तक नेतृत्व करके सं० १६७१ के ज्येष्ठ कृष्णा ११ को अकब्बरपुर में स्वर्गवासी[1] हुए।

---

१ उ० मेघविजयजी ने पट्टावली के अपने अनुसन्धान में विजयसेनसूरिजी का स्वर्गवास खम्भात में ज्येष्ठ शुक्ला ११ को होना लिखा है। और 'नमो दुवाररागादि०' इस योगशास्त्र के श्लोक के ७०० अर्थ बनाने वाला विवरण और सूक्तावलि आदि ग्रन्थों की रचना की है।

श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर ६०वें पट्टधर तपागण के सूय समान श्री विजयदेवसूरि तप रहे हैं। विजयदेवसूरि का ज म स० १६३४ मे ईडरगढ मे हुग्रा था था। स० १६४३ मे अपनी माता के साथ दीक्षा ली थी, स० १६५५ मे पण्डित-पद और स० १६५६ मे सूरि-पद तथा १६५८ मे पाटन मे गच्छानुज्ञा न दी हुई।

अहमदाबाद, पाटन और स्तम्भतीथ मे क्रमश दो, चार और तीन प्रतिष्ठाएँ करवा कर आपने अपनी ज मभूमि ईडरगढ मे चातुर्मास्य किया। वहा पर बडी प्रभावना हुई। चातुमास्य के बाद वडनगर मे वीरजिन की प्रतिष्ठा करवा कर राजनगर गए और वर्षा चातुर्मास्य वही किया। इस समय दर्मियान ईडरगढ मे मुसलमानो द्वारा ऋषभदेव प्रतिमा खण्डित हो गई थी, इसलिये वहा के श्रावको ने उसी प्रमाण का नया जिनबिम्ब बनवा कर नडियाद की बडी प्रतिष्ठा मे आचाय विजयदेवसूरि द्वारा प्रतिष्ठित करवा के ईडर के किले पर के च य मे स्थापित करवाया।

एक समय बादशाह जहागीर ने आचाय विजयदेवसूरि के सम्ब ध मे कुछ विरुद्ध बातें सुनी, इससे बादशाह ने खम्भात से बहुमानपूवकसूरिजी को अपने पास बुलाया, उनसे अनेक बातचीतें की जि हें सुनकर बादशाह को बडा स तोष हुआ और देवसूरि की विरोधी पार्टी की बातो से बादशाह के मन पर जो कुछ विपरीत असर हुआ था, वह मिट गया और बादशाह ने कहा – श्री हीरसूरिजी तथा विजयसेनसूरिजी के पट्ट पर सर्वाधिकार पाने के योग्य ये ही आचाय हैं, दूसरा कोई नहीं, इत्यादि प्रशसा करते हुए बादशाह ने उनको "जहागिरी महातपा" यह विरुद देकर शाही ठाट के साथ सूरिजी को अपने स्थान पहुँचवाया।

कालान्तर मे विजयदेवसूरिजी गुजरात होते हुए, सौराष्ट्रदेशा तगत दीवब दर गए। वहा के फिरगी शासक ने आपको धार्मिक व्याख्यान देने की इजाजत दी, आप भी वहा २ वर्षाचातुर्मास्य कर जामनगर होते हुए शत्रुञ्जय की यात्रा करके खम्भात पधारे और वर्षा चातुर्मास्य वहीं किया। चातुर्मास्य के बाद खम्भात से विहार कर सावली स्थान मे पहुचे और

सूरिमन्त्र का तीन महीने तक ध्यान किया और वही चातुर्मास्य तथा २ प्रतिष्ठाएँ करके ईडर गए। वहा तीन प्रतिष्ठाएँ करवा कर सघ के साथ आरासण आदि तीर्थों की यात्रायें करते हुए पोसीना गए, वहा के पुराने पाच मन्दिरो का उपदेश द्वारा जीर्णोद्धार करवाया। आरासण के मूल नायक की प्रतिष्ठा योग्य समय मे पुन स्थापित किया।

कालान्तर मे आप फिर ईडर पधारे और कल्याणमल्ल राजा के आग्रह से १६८१ मे वैशाख सुदि ६ को विजयसिंहसूरि का आचार्य-पद देकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और चातुर्मास्य वहा ही ठहरे।

चातुर्मास्य के बाद आप विजयसिंहसूरिजी आदि परिवार के साथ आबु तीर्थ की यात्रा करके विहारक्रम से सिरोही पहुचे और वर्षा चातुर्मास्य वहा ही किया। आसपास के अनेक स्थानो के भाविक श्रावक वन्दनार्थ आए और अपने-अपने नगर की तरफ विहार करने की प्रार्थनाये की, उनमे सादडी के श्रावक भी थे। उन्होने लुम्पक मत के अनुयायियो के प्रचार की बात कह कर फरियाद करते हुए कहा — हमारे नगर मे लुकामत का प्रचार जोरो से बढ रहा है और हमारा समुदाय निर्बल हो रहा है। इस पर से आचार्यश्री ने अपने पास के गीतार्थो को सादडी भेजा और उन्होने वहा जाकर लुका के वेशधारियो को ललकारा और निरुत्तर किया। वहा से गीतार्थ उदयपुर पहुँचे और मेवाड के राणा कर्णसिंह के पास जाकर राणाजी का अपनी विद्वत्ता से सन्तुष्ट करके उनकी राजसभा मे लुम्पक वेशधारियो को शास्त्रार्थ के लिये बुलवाया और राजसभा समक्ष लुम्पको का पराजित करके राणाजी की सही वाला आज्ञा पत्र लिखवाया कि तपागच्छ वाले सच्चे हैं और लुके झूठे है, राणाजी का यह पत्र सादडी के चौक मे पढा गया और लुको का प्राबल्य हटाया।

इसके बाद जोधपुर के राजा श्री गजसिंहजी के मन्त्री जयमल्लजी ने श्री विजयदेवसूरिजी को जालोर बुलाया और बडे आडम्बर के साथ एक-एक वर्ष के अन्तर मे तीन प्रतिष्ठाएँ तथा तीन चातुर्मास्य करवा कर सुवर्णगिरि के ऊपर तीन चैत्यो की प्रतिष्ठाए करवाई।

सं० १६८४ मे मन्त्री जयमल्लजी ने जालार मे श्री विजयसिंहसूरिजी की गच्छानुज्ञा नन्दी करवाई। बाद मे मेडता नगर मे तीन प्रतिष्ठाएं करवा कर बीजोवा मे चातुर्मास्य किया। गच्छ के गीतार्थों के उपदेश से खुश होकर राणा श्री जयसिंहजी ने पौष दशमी के मेले पर आने वाले यात्रियो से लिया जाने वाला मुडका के रूप मे यात्रिक कर माफ किया। अपनी आज्ञा ताम्र-पत्र मे खुदवा कर गुरु को भेंट किया तथा पत्थर पर खुदवा कर मन्दिर के बाहर पत्थर खडा किया। बाद मे राणपुर आदि की यात्रा कर झाला श्री कल्याणजी के आग्रह से आपने मेवाड मे विहार किया और खमणोर मे दो, देलवाडा मे एक, नाही गाव मे एक और आघाट नगर मे एक, ऐसी ५ प्रतिष्ठा करा कर उदयपुर मे चातुर्मास्य किया। चातुर्मास्य पूर्ण होने के बाद गुजरात की तरफ विहार करते समय आप दल बादल महल मे ठहरे जहा राणा श्री जगत्सिंहजी आचार्य को वन्दन करने आए और देर तक उपदेश सुना। परिणामस्वरूप राणाजी ने श्री विजयदेवसूरि के सामने चार बातो की प्रतिज्ञा की, वह इस प्रकार है — आज से पिछोला तथा उदयसागर तालाब मे मछली नही पकडी जायगी १, राज्याभिषेक के दिन, गुरुवार को, जीवहिंसा बन्द रहेगी २, अपने जन्म-मास भाद्रवा मे जीवहिंसा नही होगी ३, मचिदगढ मे, कुम्भलविहार जिन चैत्य का जीर्णोद्धार कराया जायगा ४। राणाजी की उक्त ४ प्रतिज्ञाएँ सुनकर लोगो को बडा आश्चर्य हुआ। आचार्य के लोकोत्तर प्रभाव पर विश्वास आया।

मालवमण्डल मे उज्जैनी आदि मे, दक्षिण देश मे बीजापुर, बुरहानपुर आदि मे, कच्छ मे भुजनगर आदि मे, मारवाड मे जालोर, मेडता, घघानी आदि गावो मे जीर्णोद्धारपूर्वक सकडो जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराते अनेक साधुओ को पण्डित-पद तथा पाठक-पदो पर स्थापित करते और जीव हिंसादि के निषेध नियम कराते हुए विचरे।

"तपगणगणप्रतिपद्धति - रेषा गुणविजयवाचकैर्लिखे ।
गन्धारबन्दिरीय-श्रावक सा० मालजी तुष्ट्यै ॥ १ ॥"

तपागच्छ पट्टावली सूत्रवृत्ति अनुसन्धित पूर्ति दूसरी

— उपाध्याय मेघविजयजी विरचित

दाक्षिणात्य सघ का अत्याग्रह जानकर श्री विजयदेवसूरिजी गुजरात से विहार कर सूरतबन्दर पहुँचे, वहा स० १६८७ मे उत्पन्न हुए सागरमत के अनुयायी श्रावको ने यह मत सत्य है, ऐसा गुरुमुख से कहलाने के लिये बहुत धन व्यय करके श्री मीर मोज नामक शासक को अपने अनुकूल कर अपनी तरफ के गीतार्थो को बुलवा कर श्री विजयदेवसूरिजी से वाद शुरु करवाया। सूरिजी ने भी सागरमत की प्ररूपणा सूत्रविरुद्ध होने से यथार्थ नहीं है, ऐसा प्रामाणिक पुरुषो की सभा मे राजा के समक्ष गीतार्थो द्वारा सागरपाक्षिक गीतार्थों को परास्त करवाया, सभाजनो ने विजयदेवसूरि के जीतने का निर्णय दिया। राजा ने आचार्य का सन्मान किया, वहा से सूरिजी दक्षिण मे विचरे। वीजापुर मे आपने कुल ४ चातुर्मास्य किये। वहा के बादशाह श्री इदलशाह ने गुरु से धर्म का स्वरूप सुना और प्रतिज्ञा की कि जब तक गुरु महाराज यहा ठहरेगे, तब तक यहा गोवध नही होने पाएगा। समुद्र तटवर्ती 'करहेड पार्श्वनाथ' 'कलिकुण्ड पार्श्वनाथ' आदि तीर्थो की यात्राये करते हुए, विजयदेवसूरि ने उन देशो के लोगो को धर्म मे जोडा, आखिर औरगाबाद मे चातुर्मास्य करके आपने खानदेश की तरफ विहार किया और बुरहानपुर मे २ चातुर्मास्य किये, वहा से सघ के साथ श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ, श्री माणिक्य स्वामी की यात्रा करते हुए, तिलिंग देश मे गोलकुण्डा के निकट भाग्यनगर मे बादशाह श्री कुतुबशाह से मिले और उनकी सभा मे तलिंग ब्राह्मणो को वाद मे जीत कर जैनधर्म की

व्यवस्थापना के लिये श्री बादशाह को खुश किया और उससे जरूरी आज्ञाए प्राप्त की। बाद वहा अनेक जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठाये करवाई। राजा-प्रतिबोध आदि से दक्षिणापथ मे उनका विहार सर्वत्र सुगम हो गया। इतना ही नही, उस देश मे सात प्रतिष्ठाए और सात ही वर्षा-चातुर्मास्य करके उस प्रदेश मे जैनधर्म का खासा प्रचार किया।

दक्षिणापथ मे विजयदेवसूरिजी ने ८० विद्वानो को पण्डित पद दिए और एक को उपाध्याय पद, फिर आप सघ के आग्रह से गुजरात मे पधारे।

इधर श्री विजयसिंहसूरिजी ने भी गुरु आज्ञा से मारवाड, मेवाड, मेवात आदि प्रदेशो मे विचर राणा श्री जगत्सिंहजी को उपदेश देकर देश मे जीवदया का प्रचार करवाया। जैन तीर्थो मे उपदेश द्वारा १७ भेदी पूजा का प्रचार करवाया, मारवाड मे मेडता नगर मे एक प्रतिष्ठा कराई, किशनगढ मे राठौडवशी श्री रूपसिंह महाराज के महामात्य श्री रायचद के आग्रह से चातुर्मास्य किया और चातुर्मास्य के बाद मन्त्री द्वारा अनेक जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा करवाई। वहा पर आल्हणपुर से आए हुए, श्री महेशदास के मन्त्री श्री सुगुणा ने सुवर्णमुद्राओ से पूजन कर गुरु को वन्दन किया बाद मे माल्यपुर, बुन्दी, चतलेर पार्श्व प्रमुख तीर्थो की यात्रा करते हुए आप जतारण पधारे और वहा चातुर्मास्य करने के बाद आप स्वर्णगिरि को यात्रा कर अहमदाबाद पहुचे और गुरु को वन्दन किया। गुरु के साथ आपने स० १७०५ मे ईडरगढ मे प्रतिष्ठा करवाई और वहा पर देवसूरिजी की तरह विजयसिंहसूरिजी ने भी ६४ विद्वानो को पण्डित पद पर स्थापित किया। वहा से क्रमश पाटन, राजनगर आदि मे चातुर्मास्य करते हुए[१] खम्भात पहुचे और वर्षा चातुर्मास्य वही किया।

श्री विजयसिंहसूरि का स० १६४४ मे जन्म, १६५४ मे व्रत, १६७२ में वाचक-पद और स० १६८१ मे सूरि पद हुआ था। श्री विजयसिंहसूरिजी बडे क्षमाशील और विवेकी थे। आप २८ वर्ष तक सूरि-पद पर रह कर

---

१ स० १७०६ में सुधामत के पूज्य बजरगजी के शिष्य लवजी से मुख पर मुँहपत्ति बांधने वाले ढुढकों की उत्पत्ति हुई। इसमें दो भेद हैं – पट्पोटिक और अष्टकोटिक।

स० १७०८ मे अहमदाबाद के निकटवर्ती नवीनपुर मे आपाढ सुदि २ को स्वगवासी हुए ।

आचाय श्री विजयदेवसूरि अनेक देशो मे विचरे और जिनप्रवचन की उन्नति की । समय आने पर अपना आयुष्य चार वप का शेप जान कर स० १७१० मे वैशाख सुदि १० को श्री विजयप्रभसूरि को अपने पाट पर प्रतिष्ठित किया । विजयप्रभसूरि का वृत्तलेश निम्न प्रकार से है

"सिरिविजयदेवपट्टे, पढम जाओ गुरू विजयसीहो ।
सग्गगए तम्मि गुरु - पट्टे विजयप्पहो सूरी ॥ १ ॥"

श्री विजयदेवसूरि के पट्ट पर प्रथम श्री विजयसिंहसूरि उत्तराधिकारी हुए थे, परन्तु विजयदेवसूरि की विद्यमानता मे ही उनका स्वगवास हो जाने से आचायश्री ने अपन पट्ट पर श्री विजयप्रभसूरि को प्रतिष्ठित किया ।

आचार्य श्री विजयप्रभसूरि का ज म १६३७ म कच्छ देश के मनोहरपुर मे हुआ था । स० १६८६ में दीक्षा, १७०१ मे प यास पद, स० १७१० मे आचाय-पद और सवत् १७१३ मे भट्टारक पद हुआ था ।

विजयप्रभसूरि का श्रमणावस्था का नाम "वीरविजय" था । गा धार ब दर मे आचाय-पद पर स्थापित करके श्री विजयदेवसूरिजी ने "विजयप्रभसूरि" नाम रक्खा । वहा से विचरते हुए विजयदेवसूरिजी नवीन आचाय के साथ सूरत पहुँचे और वर्षा चातुर्मास्य सूरत मे किया, सूरत के बाद अहमदाबाद जाकर वर्षा चातुर्मास्य किया और चातुर्मास्य के बाद वही पर विजयप्रभसूरि को गणानुज्ञा की, बाद मे एक चातुर्मास्य अहमदपुर मे करके विजयदेवसूरिजी विजयप्रभसूरि के साथ शत्रुञ्जय की यात्रा के लिये सौराष्ट्र की तरफ पधारे और सघ के साथ यात्रा करके सौराष्ट्रीय सघ के आग्रह से ऊनापुर गए । क्रमश स० १७१३ म आपाढ शुक्ला ११ को श्री विजयदेवसूरिजी ने स्वग प्राप्त किया ।

आचाय श्री विजयप्रभसूरि ने सौराष्ट्र मे १० वर्षा चातुर्मास्य किए, स० १७१५, १७१७ और स० १७२० इन तीन वर्षो मे गुजरात आदि

व्यवस्थापना के लिये श्री बादशाह को खुश किया और उससे जरूरी आज्ञाए प्राप्त की। बाद यहां अनेक जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठायें करवाई। राजा-प्रतिबोध आदि से दक्षिणापथ मे उनका विहार सर्वत्र सुगम हो गया। इतना ही नही, उस देश मे सात प्रतिष्ठाए और सात ही वर्षा चातुर्मास्य करके उस प्रदेश मे जैनधर्म का खासा प्रचार किया।

दक्षिणापथ मे विजयदेवसूरिजी ने ८० विद्वानो को पण्डित पद दिए और एक को उपाध्याय पद, फिर आप सघ के आग्रह से गुजरात मे पधारे।

इधर श्री विजयसिंहसूरिजी ने भी गुरु आज्ञा से मारवाड, मेवाड, मेवात आदि प्रदेशो मे विचर राणा श्री जगत्सिंहजी को उपदेश देकर देश मे जीवदया का प्रचार करवाया। जन तीर्थो मे उपदेश द्वारा १७ भेदी पूजा का प्रचार करवाया, मारवाड मे मेडता नगर मे एक प्रतिष्ठा कराई, किशनगढ मे राठौडवशी श्री रूपसिंह महाराज के महामात्य श्री रायचद के आग्रह से चातुर्मास्य किया और चातुर्मास्य के बाद मन्त्री द्वारा अनेक जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा करवाई। वहा पर माल्हणपुर से आए हुए, श्री महेशदास के मन्त्री श्री सुगुणा ने सुवर्णमुद्राओ से पूजन कर गुरु को वन्दन किया बाद मे माल्यपुर, बुन्दी, चतलेर पार्श्व प्रमुख तीर्थो की यात्रा करते हुए आप जैतारण पधारे और वहा चातुर्मास्य करने के बाद आप स्वर्णगिरि को यात्रा कर अहमदाबाद पहुचे और गुरु को वन्दन किया। गुरु के साथ आपने स० १७०५ मे ईडरगढ मे प्रतिष्ठा करवाई और वहा पर देवसूरिजी की तरह विजयसिंहसूरिजी ने भी ६४ विद्वानो को पण्डित-पद पर स्थापित किया। वहा से क्रमश पाटन, राजनगर आदि मे चातुर्मास्य करते हुए[१] खम्भात पहुचे और वर्षा चातुर्मास्य वही किया।

श्री विजयसिंहसूरि का स० १६४४ मे जन्म, १६५८ मे व्रत, १६७२ मे वाचक-पद और स० १६८१ मे सूरि पद हुआ था। श्री विजयसिंहसूरिजी बडे क्षमाशील और विवेकी थे। आप २८ वर्ष तक सूरि-पद पर रह कर

---

१ स० १७०६ मे लुकामत के पूज्य बजरगजी के शिष्य लवजी से मुख पर मुंहपत्ति बाधने वाले ढुढकों की उत्पत्ति हुई। इसमें दो भेद हैं – षट्कोटिक और अष्टकोटिक।

स० १७०८ मे अहमदावाद के निकटवर्ती नवीनपुर मे आपाढ़ सुदि २ को स्वगवासी हुए।

आचार्य श्री विजयदेवसूरि अनेक देशो मे विचरे और जिनप्रवचन की उन्नति की। समय आने पर अपना आयुष्य चार वप का शेप जान कर स० १७१० मे वैशाख सुदि १० को श्री विजयप्रभसूरि को अपने पाट पर प्रतिष्ठित किया। विजयप्रभसूरि का वृत्तलेश निम्न प्रकार से है

"सिरिविजयदेवपट्टे, पढम जाओ गुरू विजयसीहो।
सग्गगए तम्मि गुरु - पट्टे विजयप्पहो सूरी॥ १॥"

श्री विजयदेवसूरि के पट्ट पर प्रथम श्री विजयसिंहसूरि उत्तराधिकारी हुए थे, परन्तु विजयदेवसूरि की विद्यमानता मे ही उनका स्वर्गवास हो जाने से आचायश्री ने अपने पट्ट पर श्री विजयप्रभसूरि को प्रतिष्ठित किया।

आचाय श्री विजयप्रभसूरि का जन्म १६३७ मे कच्छ देश के मनोहरपुर में हुआ था। स० १६८६ में दीक्षा, १७०१ म प यास-पद, स० १७१० मे आचाय-पद और सवत् १७१३ मे भट्टारक पद हुआ था।

विजयप्रभसूरि का श्रमणावस्था का नाम "वीरविजय" था। गा धार बन्दर मे आचाय-पद पर स्थापित करके श्री विजयदेवसूरिजी ने "विजयप्रभसूरि" नाम रक्खा। वहा से विचरते हुए विजयदेवसूरिजी नवीन आचाय के साथ सूरत पहुँचे और वर्षा चातुर्मास्य सूरत मे किया, सूरत के बाद अहमदावाद जाकर वर्षा चातुर्मास्य किया और चातुर्मास्य के बाद वही पर विजयप्रभसूरि को गणानुज्ञा की, बाद मे एक चातुर्मास्य अहमदपुर मे करके विजयदेवसूरिजी विजयप्रभसूरि के साथ शत्रुञ्जय की यात्रा के लिये सौराष्ट की तरफ पधारे और सघ के साथ यात्रा करके सौराष्टीय सघ के आग्रह से ऊनापुर गए। क्रमश स० १७१३ मे आपाढ शुक्ला ११ को श्री विजयदेवसूरिजी ने स्वग प्राप्त किया।

आचाय श्री विजयप्रभसूरि ने सौराष्ट्र मे १० वर्षा चातुर्मास्य किए, स० १७१५, १७१७ और स० १७२० इन तीन वर्षो मे गुजरात आदि

देशो मे दुष्काल पडे, पर सौराष्ट्र में उसका प्रसार नही हुग्रा । स० १७२३ में घोघा बन्दर में अनेक जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठा करवाई और इसके बाद अहमदाबाद नगर के सघ के आग्रह से आपने गुजरात की तरफ विहार किया ।

"सिरिविजयरयणसूरि–पमुहेहिं रोगसाहुवग्गेहिं ।
परिकलिश्रा पुहविश्रले, सूरिवरा विन्तु मे भद्द ॥४॥"

श्री विजयरत्नसूरि प्रमुख अनेक साधु-वर्गो से परिवृत पृथ्वीतल पर विचरते श्री विजयदेवसूरि के पट्टधर श्री विजयप्रभसूरि कल्याणप्रद हो; जिनके गुजरात, मारवाड, मालवा, मेवाड, मेवात, कच्छ, हालार, सौराष्ट्र, दक्षिणादि देशो में तप तेज के प्रताप से धमकार्य निर्विघ्नता से हो रहे हैं ।

"श्रीविजयप्रभसूरे – रुपासक श्री कृपादिविजयानाम् ।
विदुषा शिष्यो मेघ, सबन्धमिम लिलेख मुदा ॥३॥"

श्री विजयप्रभसूरि के चरणसेवी और पण्डित श्री कृपाविजयजी के शिष्य मेघविजय ने पट्टावली का यह सम्बन्ध सहप लिखा ।

पट्टावलीसारोद्धार

लेखक : रविवर्धन उपाध्याय

आचार्य श्री विजयप्रभसूरि स० १७२६ मे उदयपुर गए, उदयपुर मे प्रतिष्ठा कराकर मेवाड मे दो चातुर्मास्य किये, फिर मारवाड मे गए और स० १७३२ मे नागोर नगर मे श्री विजयरत्नसूरि को अपना पट्टधर कायम किया और मेडता नगर मे वर्षा चातुर्मास्य ठहरे, बाद मे मेवाड मेवात, मारवाड देश मे धर्म का प्रचार करते हुए, स० १७३९ मे गुजरात गये और श्री पाटन नगर मे वर्षा चातुर्मास्य किया, आचार्य श्री विजयरत्नसूरिजी के दोनो प्रकार के भाई प० विजयविमलगणि के वाचनार्थ उपा० रविवर्द्धनगणि ने इस पट्टावलीसारोद्धार का उद्धार किया।

इस पट्टावली के नीचे की अनुपूर्ति :

५९ श्री विजयसेनसूरि, ६० राजसागरसूरि, ६१ वृद्धिसागरसूरि, ६२ लक्ष्मीसागरसूरि, ६३ कल्याणसागरसूरि।

श्री गुरुपट्टावली—अनुपूर्ति :

विजयरत्नसूरि का पालनपुर मे जन्म स० १७२२ मे, दीक्षा स० १७-३० मे, आचार्य-पद १७५० मे सूरिपद (गणानुज्ञा) स० १७७३ के भाद्रपद वदि ३ को, उदयपुर मे स्वर्गवास।

विजयरत्नसूरि के पट्ट पर ६४ वे विजयक्षमासूरि, इनका जन्म पाली मे, स० १७३८ मे दीक्षा, स० १७७३ मे सूरिपद, और स० १७८५ मे चैत्र सुदि ५ को मागलोर मे स्वर्गवास।

विजयदामासूरि मे पट्ट पर ६५ वें विजयदयासूरि का दीवनगर मे आचार्य-पद, स० १७८२ में पो०, और विजयदयासूरि के पट्ट पर ६६ वें विजयधमसूरि, विजयधर्मसूरि मे पट्ट पर श्री ६७ जिनेन्द्रसूरि और जिनेन्द्र सूरि के पट्ट पर श्री ६८ वें देवेन्द्रसूरि, देवेन्द्रसूरि वे पट्ट पर ६९ श्री धरणेन्द्रसूरि, धरणेन्द्रसूरि के पट्ट पर ७० विजयराजसूरि, विजयराजसूरि के पट्ट पर ७१वें विजयमुनिचन्द्रसूरि और मुनिचन्द्र के पट्टधर ७२ वें श्री विजयकल्याणसूरि।

श्री बृहत्पौषधशालिक-पट्टावली

"सत्यसिरिसिद्धिसयणं, णमिऊण वद्धमाणजिणनाहं ।
गुरुपरिवाडीहेउ, तहेव सिरिइंदभूइगुरु ॥ १ ॥
गुरुपरिवाडिं वुच्छं, तत्थेव जिणिंदवीरदेवस्स ।
पट्टोदयपढमगुरू, सुहम्मनामेण गणसामी ॥ २ ॥"

'कल्याण लक्ष्मी तथा सिद्धि के कुलगृह समान और गुरुपरम्परा के हेतु ऐसे वर्द्धमान जिननाथ को तथा श्री इन्द्रभूति गुरु को नमन करके गुरुपरम्परा को कहूंगा, जिनेन्द्र वीरदेव के पट्ट पर तथा शासनोदय में प्रथम गुरु सुधर्मा नामक गण के स्वामी हुए । १ २।'

"बीओ गणवइ जंबू, पभवो तइओ गणाहिवो जयइ ।
सिरि सिज्जंभवसामी, जसभद्दो दिसउ भद्दाणि ॥३॥
संभूइविजयसूरि, सुभद्दबाहू य - थूलभद्दो अ ।
अज्ज महागिरिसूरी, अज्ज सुहत्थी दुवे पट्टे ॥४॥"

'गणधर सुधर्मा के बाद दूसरे गणाधिपति जम्बू और तीसरे गणाधिपति आर्य प्रभव जयवंत हुए, आर्य प्रभव के बाद श्री शय्यम्भव स्वामी और शय्यम्भव के पट्टधर श्री यशोभद्र कल्याणप्रद हो, यशोभद्र के पट्टधर श्री संभूतिविजयसूरि और भद्रबाहु आचार्य हुए और इन दोनों के पट्ट पर आचार्य स्थूलभद्र हुए, स्थूलभद्र के पट्ट पर आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती दो पट्टधर हुए । ३।४।'

"सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धा, कोडिअ-काकंदिगा गणाभिक्खा ।
सिरिइंददिन्न दिन्ना, सीहगिरी वयरसामी अ ॥५॥

"सिरि वज्जसेणसूरी, कुलहेऊ चवसूरितप्पट्टे ।
सामतभद्दसुगुरु, वणवास रईविरायेण ॥६॥"

'आय सुहस्ति के पट्ट पर कोटिक और काकंदिक सुस्थित सुप्रतिबुद्ध हुए जिनसे गण का नाम "कोटिक" प्रसिद्ध हुआ, सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के पट्ट पर श्री इन्द्रदिन, इन्द्रग्नि क पट्ट पर श्री दिन्न, श्री दिन क पट्ट पर श्री सिंहगिरि, सिंहगिरि के पट्ट पर वज्रस्वामी और वज्रस्वामी के पट्ट पर श्री वज्रसेनसूरि हुए। वज्रसेन के पट्ट पर श्री चन्द्रकुल के हेतुभूत श्री चन्द्रसूरि, चन्द्रसूरि के पट्ट पर सामन्तभद्र गुरु हुए, जो वैराग्यवश वनवास-रुचि होने से "वनवासी" कहलाए ।५।६।।'

"सिरिवुड्ढदेवसूरी, पज्जोयण – माणदेव मुणिदेवा ।
सिरिमाणतुंगपुज्जो, वीरगुरु जयउ जयदेवो ॥ ७ ॥
देवाणंदो विक्कम – नरसिंह – समुद्द – माणदेववरा ।
विबुहप्पहाभिहाणो, युगप्पहाणो जयाणंदो ॥ ८ ॥"

'श्री समन्तभद्र के पट्टधर श्री वृद्धदेवसूरि, वृद्धदेव के पट्टधर प्रद्योतनसूरि, प्रद्योतनसूरि के पट्टधर मानदेवसूरि, रूप से देव स्वरूप हुए श्री मानदेव के पट्टधर श्री मानतुंगसूरि पूज्य हुए, मानतुंग के पट्ट पर वीरसूरि, वीरसूरि के पट्टधर जयदेव हुए, जयदेव के पट्ट पर देवानन्दसूरि, देवानन्द के पट्ट पर विक्रमसूरि, विक्रमसूरि के पट्ट पर नरसिंहसूरि, नरसिंहसूरि के पट्ट पर समुद्रसूरि, समुद्रसूरि के पट्ट पर मानदेवसूरि, मानदेवसूरि के पट्ट पर विबुध-प्रभाचार्य और विबुधप्रभ के पट्ट पर युगप्रधान जयानन्दसूरि हुए ।७ ८।।'

'सिरिरविपहसूरिंदो, जसदेवो देवयाहिं दीवंतो ।
पज्जुन्नसूरि पुण माण-देवसिरि विमलचंदगुरू ॥९॥
उज्जोयणो य सूरी, वडगच्छो सव्वदेवसूरि पहू ।
सिरिदेवसूरि तत्तो, पुणोवि सिरिसव्वदेवमुणी ॥१०॥"

'जयानन्दसूरि के पट्टधर श्री रविप्रभसूरि, रविप्रभ के पट्टधर यशो-देवसूरि हुए, जो सूरिमन्त्र के अधिष्ठातृ देवों से देदीप्यमान थे। यशोदेव के

पट्ट पर प्रद्युम्नसूरि, प्रद्युम्नसूरि के पट्टपर फिर मानदवसूरि और मानदेव-सूरि के पट्ट पर विमलचद्रसूरि हुए। विमलचन्द्र के पट्टधर उद्योतनसूरि और उद्योतनसूरि के पट्ट पर वटगच्छ-प्रवतक सवदेवसूरि, सवदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि और देवसूरि के पट्ट पर फिर सवदेवसूरि हुए ६।१०।'

"जेण य अट्टायरिया, समय सुत्तत्थदायगा ठविश्रा।
तत्थ धणेसर सूरी, पभावगो वीरतित्थस्स ॥ ११ ॥
सवणाण सत्तसया – एगुच्चिश्र दिक्खिश्रा सहत्थेण।
चित्तपुरि जिण वीरो पइट्ठिश्रो चित्तगच्छो य ॥१२॥"

'जिन द्वितीय सवदेवसूरि ने सूत्र और अथ के देने वाले आठ मुनियो को आचाय पद पर स्थापित किया, जिनमे भगवान् महावीर के शासन-प्रभावक धनेश्वरसूरि भी एक थे। इन्ही धनेश्वरसूरि ने ७०१ दिगम्बर साधु एक साथ अपने शिष्य बनाये थे, चत्रपुर नगर मे वीर जिन की प्रतिष्ठा करने से इनका समुदाय "चैत्रगच्छ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥११।१२॥'

"तत्थ सिरिचित्तगच्छे, तश्रो गणी भुवणचद तप्पट्टे।
जावज्जीव अबिल – तवकरणाभिग्गहा उग्गा ॥१३॥"
आबालगोव सुपसिद्ध-सुद्ध सपत्त"तवगणाभिक्खा"।
सिरिदेवभद्दगुरुणो, जगचदो तप्पढम सीसो ॥१४॥"

'इस श्री चत्रगच्छ मे धनेश्वरसूरिजी के पट्ट पर भुवनचन्द्र आचाय हुए और भुवनचन्द्र के पट्ट पर यावज्जीव आयम्बिल तप करने के अभिग्रह-वान् उग्रविहारी श्री देवभद्र गुरु हुए, जिनसे आबाल गोपाल सुप्रसिद्ध सुद्ध सयमवान् "तपागण" की प्रसिद्धि हुई, उन देवभद्र गुरु के प्रथम शिष्य "जगच्चन्द्रसूरि" हुए ।१३।१४॥'

"देविंद – विजयचदा, गुरुबधू खेमकित्ति-कित्तिधरो।
गुरुहेमकलस पुज्जो, रयणायरसूरिणो सधा ॥१५॥
रयणप्पह मणिसेहर – गुरुणो सिरिधम्मदेवनाणससी।
अभयाश्रो सिंहवरा जयतिलया रयणसिंहगुरू ॥१६॥"

'जगच्चन्द्रसूरिजी के दो शिष्य हुए, आचार्य देवेन्द्रसूरिजी और विजयचन्द्रसूरिजी। इन दो गुरु-भाइयों में से विजयचन्द्रसूरि के पट्टधर श्री क्षेमकीर्तिसूरि हुए, जिन्होंने 'बृहत्कल्प' पर टीका लिखकर अपनी कीर्ति का विस्तार किया। क्षेमकीर्ति के पट्ट पर हेमकलशसूरि हुए, हेमकलश के पट्टधर श्री रत्नाकरसूरि हुए, जो सच्चे रत्नाकर थे। रत्नाकरसूरि के पट्ट पर श्री रत्नप्रभसूरि, रत्नप्रभ के पाट पर श्री मुनिशेखरसूरि, मुनिशेखर के पट्ट पर धर्मदेवसूरि हुए, धर्मदेवसूरि के पट्ट पर ज्ञानचन्द्रसूरि, ज्ञानचन्द्र के पट्ट पर श्री अभयसिंहसूरि, अभयसिंह के पट्ट पर श्री जयतिलकसूरि हुए, जयतिलकसूरि के पट्ट पर रत्नसिंहसूरि हुए ॥१५।१६॥'

> "सिरिउदयवल्लहा पुण, सच्चत्था नाणसायरा गुरुणो।
> सिरिउदयसायरा वि य, लद्धिवरा लद्धिसायरया ॥१७॥
>
> सिरिधणरयणगणाहिव, अमराओ रयणतेअओ रयणा।
> गुरुभायरा गुणन्नू, सूरिवरो देवरयणो य ॥ १८ ॥'

'आचार्य रत्नसिंह के पट्ट पर श्री उदयवल्लभसूरि और उदयवल्लभ के पट्ट पर नामानुरूप गुण वाले श्री ज्ञानसागरसूरि, ज्ञानसागर के पट्टधर उदयसागरसूरि, उदयसागर के पट्टधर लब्धिधारी श्री लब्धिसागरसूरि, लब्धिसागर के पट्ट पर श्री धनरत्नसूरि धनरत्न के पट्ट पर श्री अमररत्नसूरि और श्री तेजरत्नसूरि गुरुभ्राता थे, अमररत्नसूरि ने चार विद्वानों को आचार्य बनाया था, जिनके नाम – तेजरत्नसूरि, देवरत्नसूरि, कल्याणरत्नसूरि और सौभाग्यरत्नसूरि थे ॥१७। १८॥'

> "सिरिदेवसुदराभिहा, विहरंता विजयसुन्दरा गुरुणो।
> चिरजीविणो हवंतु, जिणसासणभूसणा परमा ॥१९॥
>
> धणरयणसूरिसीसा, विबुहवरा भाणुमेरुगणिपवरा।
> माणिक्करयणवायग, – सीसा लहुभायरा तेसिं ॥२०॥
>
> नयसुंदराभिहाणा, उवज्झाया सुगुरुचरणकमलाइं।
> पणमंति भत्तिजुत्ता, गुरुपरिवाडि पयासंता ॥२१॥"

'विचरते हुए श्री देवसुंदर और विजयसुंदर गुरु जो जिनशासन के परम भूषण हैं, वे चिरजीवी हो ।

धनरत्नसूरि के शिष्य पंडितवर भानुमेरु गणी और माणिक्यरत्न वाचक के शिष्य और भानुमेरु गणी के छोटे भाई नयसुंदर नामक उपाध्याय गुरु परिपाटी को प्रकाशित करते हुए गुरुओं के चरणकमलों मे भक्तियुक्त प्रणाम करते हैं ।१६।२०।२१।।'

बृहत्पौषधशालिक आचार्यों की पट्ट-परम्परा

आचार्य मणिरत्नसूरिजी के शिष्य जगच्चन्द्रसूरिजी ने अपने गच्छ के साधुओ मे शिथिलाचार का प्रवेश होता देख, किसी त्यागी महात्मा की निश्रा मे रह कर विशुद्ध चारित्र पालते हुए, आत्महित करने का निश्चय किया। तपास करने पर उन्हे चैत्रगच्छीय आचार्य भुवनचन्द्र के शिष्य देवभद्रगणि के त्याग और सवेग का पता लगा और उन्होने देवभद्रगणि से चारित्रोपसम्पदा लेकर विशुद्ध चारित्र और निरीह तप करना शुरु किया। देवभद्रगणि को यावज्जीव आयम्बिल करने का नियम था, वसे ही जगच्चन्द्रसूरिजी ने भी यावज्जीव आयम्बिल करने का अभिग्रह किया। दोनो महात्मा एक दूसरे के सहायक बनते हुए धम का आराधन और प्रचार करते थे। जगच्चन्द्रसूरिजी के तपस्त्याग का देवभद्रगणि पर बडा भारी असर पडा। वे जगच्चन्द्रसूरिजी के उपसम्पदादाता होने पर भी जगच्चन्द्रसूरि को शिष्य स्थानीय न मान कर कई बातो मे अपना गुरु स्थानीय मानते थे, साथ साथ विचरते थे और एक ही सामाचारी को पालते थे, जो बृहद्गच्छ मे परम्परा से चली आती थी।

जगच्चन्द्रसूरिजी के दो विद्वान् शिष्य हुए, पहले देवेन्द्रसूरि और दूसरे विजयचन्द्रसूरि। लघु पौषधशालिक पट्टावली तथा तपागच्छ की पट्टावलियो के लेखानुसार विजयचन्द्र गृहस्थाश्रम मे मन्त्री वस्तुपाल की देखभाल के नीचे गुजरात राज्य के ५०० गावो के प्रात के अथाधिकारी थे और आर्थिक व्यवस्था मे गोलमाल करने के कारण वे कारागार के अतिथि

बने थे, परन्तु दीक्षा लेन की शत से वे देवभद्रगणि के प्रयत्न से कारागार से मुक्त हुए थे और दीक्षा लेकर शास्त्राध्ययन करके देवभद्रगणि के आग्रह से उनको जगच्चन्द्रसूरिजी ने आचाय पद तक दे दिया था।

जगच्चन्द्रसूरि के स्वगवास के बाद कई वर्षों तक विजयचन्द्र देवेन्द्र-सूरिजी की आज्ञा मे रहे थे, परन्तु बाद मे वह अपने साथ के श्रमण समुदाय का सचालन स्वय करने लगे थे। कोई १२ वष के बाद देवेन्द्र-सूरिजी गुजरात मे आए और खम्भात पहुचे, तो उन्हे ज्ञात हुआ कि विजय-चन्द्रसूरि १२ वष से उसी बडी पौषधशाला मे ठहरे हुए हैं, जिसमे जगच्चन्द्रसूरिजी तथा श्री देवेन्द्रसूरिजी ठहरते नही थे। क्योंकि उसमे शिथिलावस्था प्राप्त पासत्थाचाय ठहरते आये थे और रिपेरिंग काम मे देवद्रव्य लगाया गया था। आचाय देवेन्द्रसूरिजी खम्भात की उस बडी पौषधशाला मे न जाकर दूसरी पौषधशाला मे उतरे, जो अपेक्षाकृत उससे कुछ छोटी थी। देवेन्द्रसूरिजी के पास श्रमण अधिक थे और श्रावक-श्राविकाये भी वहा अधिक जाते थे, फिर भी मकान छोटा होने के कारण उनका समुदाय 'लघु पौषधशालिक" अथवा "लघु शालिक" नाम से प्रसिद्ध हुआ और विजयचन्द्रसूरि का समुदाय "बृहत्पौषधशालिक" नाम से।

अब बृहत्पौषधशालिक पट्टावलीकार का विजयचन्द्रसूरिजी के सम्बन्ध मे क्या मन्तव्य है वह भी जान लेना जरूरी है।

बृहत्पौषधशालिक पट्टावली के टीकाकार लिखते है – "पूवकाल मे माणसा नगर मे रहने वाला अनेक प्रकार की ऋद्धि-समृद्धि का उपभोक्ता ओसवाल वश का शृङ्गार और दुखी लोगो का आधार मन्त्री गजराज था। उसके कुल मे सूय समान श्री वीरधवल राजा के ५०० गावो का अधिकारी जिसका अन्तःकरण जिनधम की वासना से वासित है, सम्यक्त्व मूल द्वादश व्रत का पालने वाला, सवजनो का उपकार करने वाला, निरवद्य विद्याओ का ज्ञाता श्री विजयपाल नामक मन्त्री था।

एक समय देवभद्र गुरु को बीजापुर मे रहे हुए जानकर २५ व्यापारियो से परिवृत श्री विजयपाल बीजापुर मे चतुदशी का पौषधोपवास ग्रहण

करने के लिये गुरु के समीप गया। व्यापारियो के साथ पौषध ग्रहण करके विजयपाल ने गुरु के मुख से देशना सुनी, वैराग्य-रस से पूर्ण चित्त वाले विजयपाल ने दूसरे दिन प्रभात को गुरु से दीक्षा देने की प्रार्थना की। गुरु ने यथा सुख कहा, विजयपाल भी पौषध पाल कर अपने घर गया और मन्त्री वस्तुपाल को अपने अधिकार का हिसाब देकर बडी धूमधाम के साथ २५ व्यापारियो के साथ और अपने पुत्र तथा स्त्री के साथ श्री देवभद्र के हाथ से चारित्र ग्रहण किया। गुरु के पास रहते हुए अनेक शास्त्रो का अभ्यास करके गीतार्थ बना। महामात्य वस्तुपाल को विजयपाल के इस जीवन सुधार से बडा हर्ष हुआ और देवभद्र तथा जगच्चन्द्र गुरु को विजय चन्द्र मुनि को आचार्य पद देने की प्रार्थना की। गुरुजी ने भी दोनों शिष्यो को पद योग्य जानकर श्री देवेन्द्रसूरि तथा विजयचन्द्राचार्य को आचार्य पद दिया। इसके उत्सव मे मन्त्री वस्तुपाल ने बहुत द्रव्य खर्च किया, ऐसा वृद्धो का कहना है। इस सम्बन्ध मे जो न्यून अधिक बाते कहते है, उनकी बात वे ही जानें। हम तो दोनो के गुणरागी हैं। वृद्धो की परम्परा से जो वृत्तान्त हम तक आया, उसी को लिखा, "खरा तत्त्व तो केवली भगवान् जानते है।"

"बृहत्पौषधशालिक पट्टावली" के लेख से इतना अवश्य ध्वनित होता है कि विजयपाल की दीक्षा का कारण देवभद्र के एक व्याख्यान का उपदेश मात्र नही, किन्तु कोई गर्भित कारण और भी है, परन्तु उसका स्पष्टीकरण करना निरर्थक है। यदि विजयपाल ने पच्चीस व्यापारियो के साथ दीक्षा ली है, तो वह अच्छे दर्जे का पुरुष होगा, इसमे शका को स्थान नही है। विजयचन्द्र का रचा हुआ कोई ग्रन्थ प्रकरण हमारे देखने मे नही आया, इसलिये इनकी विद्वत्ता के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना अनुचित होगा। परन्तु इन्होने अपने तीन शिष्यो को आचार्य बनाया था, इससे मालूम होता है कि खम्भात मे दीर्घकाल तक रह कर अपने शिष्य अवश्य तय्यार किये थे। श्री देवेन्द्रसूरिजी से आज्ञा न मगवा कर गच्छ सम्बन्धी कार्य स्वय करने के सम्बन्ध मे पट्टावलीकार का कहना है कि श्री देवेन्द्रसूरिजी को मालवा से बुलाया, परन्तु कारणविशेष से वर्षो तक वे नही आ सके। फलस्वरूप

खम्भात में रहे हुए, साधु साध्वी तथा श्रावक-श्राविका के आग्रह से वे स्वय गच्छपति बने थे। पट्टावलीकार का यह कथन विजयचन्द्रसूरि का बचाव करना मात्र है। गच्छाधिपति द्वारा अथवा उनके अभाव में किसी अन्य अधिकारी आचार्य द्वारा गच्छानुज्ञा करने के बाद ही कोई भी आचार्य गच्छपति की हैसियत से गच्छ का कार्य कर सकता है। कुछ भी हो परन्तु इतना तो निश्चित है कि देवेन्द्रसूरिजी के साथ के सम्बन्ध तोडने का परिणाम तपागच्छ के लिए हानिकर हुआ है।

श्री देवेन्द्रसूरिजी की पट्टपरम्परा के पट्टधर आचार्यो का पट्टक्रम लघु पौपधशालिक पट्टावली में दिया जा चुका है, अब हम वृहत्पौपधशालिक पट्टावली के अनुसार द्वितीय सवदवसूरि के आगे के आचार्यों का पट्टक्रम देते हैं

३६ पट्टे श्री धनेश्वरसूरि –	चत्रपुर मे महावीर की प्रतिष्ठा कर्त्ता और चत्रगच्छ के प्रवतक।
४० पट्टे श्री भुवनचन्द्रसूरि –	
४१ पट्टे श्री देवभद्र गणि –	"तपागण" को लोक मे प्रसिद्ध करने वाले। स० १२८५ मे "तपा" बिरद मिला।
४२ पट्टे श्री जगच्चन्द्रसूरि –	"हीरला जगच्चन्द्रसूरि" ऐसे बिरद वाले।
४३ पट्टे श्री विजयचन्द्रसूरि –	
४४ पट्टे श्री क्षेमकीर्तिसूरि –	स० १३३२ मे "वृहत्कल्प" की टीका की। इनके दो गुरुभाई थे, वज्रसेनसूरि और श्री पद्मचन्द्रसूरि। क्षेमकीर्ति के शिष्य प० श्री नयप्रभ गणि, "गुरुतत्त्व प्रदीप" अपर नाम "उत्सूत्रकन्दकुद्दाल" ग्रन्थ के कर्त्ता।
४५ हेमकलशसूरि –	हेमकलशसूरि ने यशोभद्रसूरि को आचाय-पद दिया।

४६ श्री रत्नाकरसूरि –	जिनके नाम से "वृद्ध तपागण" "रत्नाकर गच्छ" नाम से प्रसिद्ध हुआ।
४७ श्री रत्नप्रभसूरि –	
४८ श्री मुनिशेखरसूरि –	
४९ श्री धर्मदेवसूरि –	आरासण तीर्थ में प्रतिष्ठा कराई। सिंहदत्त को आचार्यपद दिया।
५० श्री ज्ञानचन्द्रसूरि –	
५१ पट्टे अभयसिंहसूरि –	अभयसिंहसूरि ने हेमचन्द्र नामक मुनि को आचार्य पद दिया।
५२ पट्टे श्री जयतिलकसूरि –	अनेक आचार्य, उपाध्याय, पन्यास, साधु, महत्तरा आदि मिलकर २२०० साधु-साध्वी के परिवार वाले थे। जयतिलकसूरि ने ३ आचार्य स्थापित किये, श्री धर्मशेखरसूरि, श्री माणिक्यसूरि और रत्नसागरसूरि। चौथे आचार्य श्री सघतिलकसूरि बड़े प्रभावक हुए।
५३ पट्टे श्री रत्नसिंहसूरि –	श्री रत्नसिंहसूरि ने विमलनाथ प्रासाद की तथा अनेक तीर्थङ्कर बिम्बों की प्रतिष्ठा सं० १५०९ में माघ सुदि ५ को की, तथा अपने हाथ से श्री हेमसुन्दरसूरि, श्री उदयवल्लभसूरि तथा ज्ञानसागरसूरि को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया। श्री रत्नसिंहसूरिजी ने "आदौ नेमिजिन नौमि" इत्यादि स्तोत्र बनाया, जिसके पाठ करने से और इसके अनुसार यन्त्र बना कर बादशाह के सिर पर रखने से बादशाह के कुल में उपद्रव की शान्ति हुई।

'श्री रत्नसिंह" के "श्री शिवसुन्दर गणि" विद्वान् शिष्य हुए, "वाक्यप्रकाश" ग्रन्थ के कर्ता उपाध्याय उदयधर्म गणि, श्री चारित्रसुन्दर-सूरि जिन्होंने महीपाल, कुमारपाल संस्कृत चरितों का निर्माण किया। श्री रत्नसिंहसूरि के तीन शिष्य आचार्य हुए, श्री हेमसुन्दरसूरि, पट्टधर आचार्य श्री उदयवल्लभसूरि।

५४ उदयवल्लभसूरि –

५५ पट्टे श्री ज्ञानसागरसूरि – आपने 'विमलचरित्र" आदि अनेक चरित ग्रन्थों की रचना की थी। ज्ञानसागरसूरि का सग्राम सौवर्णिक परम भक्त था।

५६ पट्टे श्री उदयसागरसूरि – उदयसागरसूरि ने ५ आचार्य बनाये थे, जिनके नाम श्री "लब्धिसागरसूरि", "श्री शीलसागरसूरि", "श्री चारित्र सागरसूरि, श्री धनसागरसूरि और श्री धनरत्नसूरि, इनमें से उदयसागर के पट्टधर श्री लब्धिसागरसूरि हुए।

५७ पट्टे श्री लब्धिसागरसूरि – लब्धिसागरसूरि ने "प्राकृत चतुर्विंशति-जिनस्तव रत्नकोश", 'पृथ्वीचन्द्रचरित्र, "यशोधरचरित्रा"दि ग्रन्थों का निर्माण किया।

५८ पट्टे श्री धनरत्नसूरि – लघुशालीय गच्छाधिराज श्री पूज्य श्री हेमविमलसूरीश्वर - पादारविन्द - मधुकर षड्दर्शन प्रसिद्ध शतार्थी बिरुदधर, बादशाह प्रदत्त सहस्रार्थी विरुदभृत, सकल पण्डितोत्तमपण्डित श्री रूपकुल गणि श्री

धनरत्नसूरिजी को देख कर हर्षोत्कर्ष मे प्रफुल्लित हुए और नये १५ पद्यो से गुरु की स्तुति की। धनरत्नसूरिजी ने श्री सौभाग्यसूरि को आचाय बनाया। उनके शिष्य श्री प० उदयसौभाग्य गणि ने 'हेमप्राकृत व्याकरण" पर ढुण्ढिका टीका बनाई थी।

५९ पट्टे श्री अमररत्नसूरि – श्री अमररत्नसूरि ने चार आचार्यों को आचाय पद दिये, जिनके नाम श्री तेजरत्नसूरि, श्री देवरत्नसूरि, श्री कल्याणरत्नसूरि और सौभाग्यरत्नसूरि। इनसे तीन शाखाए निकली। श्री तेजरत्न अमररत्नसूरि के गुरुभ्राता थे।

६० पट्टे श्री कल्याणरत्नसूरि –

गुर्वावली मे आचाय श्री मुनिसुदरसूरिजी ने श्री जगच्चद्रसूरि के क्रियोद्धार के सम्बध मे तथा विजयचन्द्रसूरि की परम्परा के कतिपय आचार्यो की नामावली दी है, उसका सक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है

चैत्रपुर नगर मे महावीर की प्रतिष्ठा करने वाले चद्रगच्छीय श्री धनेश्वरसूरि हुए, जिनसे "चैत्र गण" प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर मे उस चैत्रगण मे गुणवान् ऐसे भुवनचद्र नाम के गुरु हुए, शुद्ध सयम पालने की बुद्धि वाले, देवभद्र वाचक हुए। श्री जगच्चद्रसूरि ने श्री देवभद्र नामक वाचक को शुद्ध सामाचारी मे प्रवृत्त देख कर उनको उपसम्पदा विधि से स्वीकार कर उनके काय-सहायक बने और इन दोनो उत्तम पुरुषो ने शिथिलता के कीचड मे फसते हुए धमरथ को ऊचे उठाया। श्री जगच्चद्रसूरि ने ग्राम, कुल, नगर, देश, शय्या, उपधि और शरीर तक का ममत्व छोड कर अप्रमत्त भाव से पृथ्वी ऊपर विहार किया। यावज्जीव आयम्बिल तप करने का अभिग्रह धारण कर वे पृथ्वी पर विचरते थे। आपके इस क्रियोद्धार को १२ वप पूरे हुए तब आपके बृहद्गण का नाम वि० स० १२८५ मे "तपागण" यह प्रसिद्ध हुआ।

आजकल 'श्री चन्द्रगच्छ" "बृहद्गण" और "तपागण" इन नामो से गच्छ व्यवहृत होता है, जब कि पूर्वकाल मे कोटिक गच्छ मे "चान्द्रकुल" और "वाजी शाखा" ऐसी प्रसिद्धि थी। आजकल श्री देवेन्द्रसूरि, विजयचन्द्रसूरि और देवभद्र वाचक "तपागण" के भूषण रूप हैं। आचार्य जगच्चन्द्रसूरि चारित्र-धर्म को ऊचा उठाने मे सहायक मित्र समान श्री देवभद्र गणि का बहुमान करते है और गुरु की तरह इनकी गणना करते हैं तब सविग्न देवभद्र गणि भी अपने परिवार के साथ श्री जगच्चन्द्रसूरि को हर्षपूर्वक अपना गुरु मानते है।

श्री जगच्चन्द्रसूरिजी के पट्टधर श्री देवेन्द्रसूरि के विद्यानन्दादि अनेक विद्वान् शिष्य हुए, तब लघुशाखा मे श्री विजयचन्द्रसूरि के पट्ट पर तीन आचार्य हुए, श्री वज्रसेनसूरि १, श्री पद्मचन्द्रसूरि २ और श्री क्षेमकीर्तिसूरि। आचार्य क्षेमकीर्तिसूरि ने स० १३३२ मे 'बृहत्कल्प" की टीका बनाई।

क्षेमकीर्ति के बाद हेमकलशसूरि, हेमसूरि के पट्ट भूषण यशोभद्रसूरि हुए, । यशोभद्रसूरि के पट्टधर रत्नाकरसूरि और रत्नाकरसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि हुए। रत्नप्रभ के शिष्य मुनिशेखर, मुनिशेखरसूरि के शिष्य धर्मदेवसूरि, धर्मदेव के श्री ज्ञानचन्द्रसूरि, ज्ञानचन्द्र के श्री अभयसिंहसूरि, श्री अभयसिंहसूरि के हेमचन्द्रसूरि, हेमचन्द्रसूरि के जयतिलकसूरि, जयतिलक के जिनतिलकसूरि और जिनतिलकसूरि के माणिक्यसूरि नामक आचार्य हुए। ये सब गुणवन्त आचार्य थे, फिर भी दुष्षमकाल के प्रभाव से अपनी शाखा का पार्थक्य मानने वाले थे। गुणवन्त आचार्य श्रीसघ के कल्याणकर्त्ता हो।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरिजी तक वृद्ध शाखा से लघु शाखा को भिन्न हुए करीब आठ नौ पीढी हो चुकी थी, फिर भी वृद्ध शाखा की आचार्य-परम्परा पर उनका कितना सद्भाव था। वह ऊपर के निरूपण से ज्ञात होता है।

लघु पौषधशालिक पट्टावली

लघु पौषधशालिक पट्टावली के लेखानुसार आचाय सुमतिसाधुसूरि ने हेमविमलसूरि के अतिरिक्त श्री इन्द्रनन्दिसूरि और श्री कमलकलशसूरि को भी आचाय पद दिए थे, परन्तु उनको गच्छ नही सोपा ।

हेमविमलसूरि का जन्म स० १५२० के कार्तिक सुदि पूर्णिमा को, स० १५२८ वर्षे श्री लक्ष्मीसागरसूरिजी के हाथ से दीक्षा; स० १५४८ मे पचलासा गाव मे श्री सुमतिसाधुसूरिजी ने आचार्य पद दिया । उस समय श्री इन्द्रनन्दिसूरि ने तथा कमलकलशसूरि ने अपने दो गच्छ जुदे किये । इन्द्रनन्दी का समुदाय "कुतुबपुरा" और कमलकलशसूरि का समुदाय "कमलकलशा" नाम से प्रसिद्ध हुआ । कुतुबपुरा गच्छ मे से "हर्षविनय-सूरि" ने "निगममत" निकाला, जिसका दूसरा नाम "भूकटीया" मत भी था, परन्तु बाद मे हर्षविनयसूरि ने "निगम-पक्ष" छोड दिया था ।

स० १५७० वर्ष मे डाभेला गाव मे स्तम्भतीर्थ निवासी सोनी जीवा, जागा ने आकर धूमधाम के साथ आनन्दविमलसूरिजी को आचाय पद तथा दानशेखर एव माणिक्यशेखर गणि को वाचक-पद दिया, एक साध्वी को महत्तरा-पद दिया ।

स० १५७२ मे ईडर से खम्भात जाने के लिए रवाना हुए । कपडवज म बडो धूमधाम स प्रवेश उत्सव हुआ । किसी चुगलखार ने बादशाह मुदाफर के पास वृत्तान्त पहुँचाया, बादशाह ने कपडवज मे बन्दे भेजे, गुरु पहले हो वहा मे चुडेल पहुँच गये थे । रात को चुडेल से चल कर सोजि-तरा पहुँचे, सुबह चुडेल बन्दे पहुचे, ग्रामपति को पूछा – गुरु कहा है ?

उसने कहा – हमे मालूम नही। बाद मे आचार्य खम्भात पहुँचे, सघ ने प्रवेशोत्सव किया। चुगलीखोरो ने खोज करने वालो के पास पता भेजा और उन्हे बन्दीखाने मे रखा। सघ से १२ हजार लेकर उन्हे छोडा। इस घटना से आचार्य का बडा दुःख हुआ। उन्होने आयम्बिल तप करके सूरिमन्त्राधिष्ठायक को याद किया, अधिष्ठायक का वचन हुआ, "आक्षेप करो, द्रव्य वापस मिल जायगा। बाद मे शतार्थी प० हर्षकुल गणि, प० सघहर्षगणि, प० कुशलसयम गणि और शीघ्रकवि शुभशील गणि प्रभृति चार गीतार्थों को चम्पकदुर्ग भेजा और वहा बादशाह के पास जाकर अपनी काव्य-कला से बादशाह को खुश कर सघ से लिया हुआ द्रव्य वापस करवाया। स० १५७८ मे पूज्य हेमविमलसूरि ने पाटन मे चातुर्मास्य किया। उस वर्ष मे पूज्य के आदेश से श्री आनन्दविमलसूरिजी कुमरगिरि मे चातुर्मास्य कर रहे थे, वहा पूज्य की आज्ञा के बिना एक साध्वी को दीक्षा दी, जो अवस्था मे छोटी थी। हेमविमलसूरिजी ने कहा – मेरी आज्ञा के बिना दीक्षा कैसे दी ? इसको छोड दो। इतना कहने पर भी आनन्दविमलसूरि ने छोडा नहीं और सिद्धपुर, सिरोही आदि स्थानो मे चार चातुर्मास्य करके गुजरात मे आकर श्री हेमविमलसूरि को बिना पूछे ही स० १५८२ के वैशाख सुदि ३ को अलग उपाश्रय मे ठहरे। वहा पर तैलघूसक योग से कपडे मैले करके रहे। इसी प्रकार ऋषि-मतियो की प्रवृत्ति हुई।

स० १५८३ मे आचार्य का बिसलपुर मे चौमासा था, आसोज महीने मे पूज्य के शरीर मे वेदना उत्पन्न हुई, तब चौमासे मे वटपल्ली से श्री आनन्दविमलसूरि को बुलाया और गुरु ने कहा – गण का भार ग्रहण कर, उन्होने कहा – गण का भार ग्रहण करने की मेरी शक्ति नही है तब गीतार्थ सघ के साथ श्री हेमविमलसूरिजी ने आनन्दविमलसूरि के समक्ष अपने पट्ट पर श्री सौभाग्यहर्षसूरि को प्रतिष्ठित किया।

स० १५८३ के आश्विन शुक्ल १३ के दिन हेमविमलसूरि स्वर्गवासी हुए।

स० १५८३ मे ऋषिमत की उत्पत्ति हुई। द्विवन्दनिक गच्छ से आए राजविजयसूरि ने ऋषिमत से "लघुउपाश्रयक" मत निकाला।

सौभाग्यहर्षसूरि का जन्म १५५५ मे, स० १५६३ मे हर्षदान गणि को वडनगर मे वहराए और हेमविमलसूरिजी ने दीक्षा दी, स० १५८३ के आश्विन सुदि १० को श्री हेमविमलसूरिजी ने अपने पट्ट पर स्थापित किया।

स० १५८६ के ज्येष्ठ सुदि ६ को सौभाग्यसूरि का गच्छनायक पद महोत्सव किया। स० १५६५ मे पौष सुदि ५ गुरुपुष्य योग मे प० सोमविमल गणि को वाचक पद दिया। उसी वर्ष मे ईडरगढ मे श्री सौभाग्यहर्षसूरि ने ५०० जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठा की, स० १५६६ मे आप अहमदाबाद पधारे और चातुर्मास्य वही किया। श्रीसघ ने १५६७ के आश्विन सुदि ५ के दिन वाचक सोमविमल तथा सकलहर्षमुनि को आचार्य पद दिए तथा दो को वाचक पद दिए। उपाध्याय पद विजयकुशल तथा विनयकुशल को। स० १५६७ के कार्तिक सुदि १२ के दिन सौभाग्यहर्षसूरि स्वर्गवासी हुए।

सौभाग्यहर्षसूरि ओसवाल वशीय थे, उनके हाथ से ३०० दीक्षाएँ हुई थी।

६० तत्पट्टे सोमविमलसूरि –

खम्भात के समीप कसारीपुर मे पोरवाल कुल मे सोमविमल का जन्म हुआ था स० १५७० मे, स० १५७४ के वशाख शु० ३ को अहमदाबाद मे हेमविमलसूरि द्वारा दीक्षा, स० १५६० के कार्तिक व० ५ के दिन गणि पद स० १५६४ मे सिरोही नगर मे सौभाग्यहर्षसूरि के हाथ से फाल्गुण व० ५ दिने सोमविमल को प० पद, गुरु के साथ वीजापुर गए। स० १५६५ मे वाचक पद, १५६७ मे सौभाग्यहर्षसूरि द्वारा अहमदाबाद मे सूरिपद।

स० १५६६ मे पाटन मे चातुर्मास्य, चौमासे के बाद १६०० मे कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन पाटण के सघ के साथ शत्रुञ्जय, गिरनार की यात्रार्थ गए। कानमदेश के वणचरा गाव मे आपने प० आनन्दप्रमोद गणि को वाचक-पद दिया, तब उपाध्याय आनन्दप्रमोद गणि ने गच्छ को

परिधापनिका दी। क्रम से आम्रवद्र नगर पहुँचे, वहा प० विद्यारत्न गणि को तथा विद्याजय गणि को प० पद दिया। क्रमश १६०२ मे अहमदाबाद चातुर्मास्य किया। स० १६०४ मे खम्भात मे चातुर्मास्य किया और सघ समवाय मिलनपूर्वक स० १६०५ के माघ शु० ५ के दिन गच्छाधीश पद की स्थापना हुई, स० १६०८ में राजपुर मे चातुर्मास्य ठहरे, स० १६१० पाटन मे फिर चातुर्मास्य किया और वैशाख शु० ३ के दिन जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की, स० १६१७ मे अक्षयदुग मे चातुर्मास्य ठहरे। स० १६१६ मे खम्भात मे चौमासा किया, चातुर्मास्य के बाद नन्दुरबार गए और सघ के आग्रह से चातुर्मास्य वहो किया, स० १६२३ मे अहमदाबाद मे अभिगह किया। स० १५६६ वर्ष कार्तिक सुदि १५ का जन्म, १६०१ के कार्तिक सुदि १५ को दीक्षा और स० १६११ मे कार्तिक वदि ५ को पण्डित-पद, १६२८ पाटन मे आचार्यपद और "आनन्दसोमसूरि" यह नाम रक्खा, सोमविमलसूरिजी ने गण को परिधापनिका दी।

स० १६३० मे अहमदाबाद मे मा० शु० ५ के दिन आनन्दसोमाचाय को गणानुज्ञा हुई। उस समय मे हससाम गणि तथा देवसोम गणि को वाचक-पद दिए, सोमविमलजी की उपस्थिति मे स० १६३६ के भाद्र० वदि ६ को श्री आनन्दसागसूरि स्वर्गवास प्राप्त हुए। बाद मे हेमसोम को सूरि-पद दिया गया, स० १६३७ मे माग० मे सोमविमलसूरि स्वर्गवासी हुए। २०० साधुओ की दीक्षा इनके हाथ से हुई थी।

६१ श्री हेमसोमसूरि –

स० १६२३ वर्ष ढढार प्रदेश मे इनका जन्म, पोरवाल जाति के थे। १६३० मे वडगाव मे सोमविमलसूरि द्वारा दीक्षा, गृहस्थ नाम हषकुमार था और दीक्षा नाम हेमसोममुनि रक्खा, १६३५ में पण्डित पद १६३६ मे वैशाख सुदि २ को मुनि हमसोम को आचाय पद, अपने गच्छवासियो को एव अन्यगच्छीय साधुओ को परिधापनिका दी और हेमसोमसूरि गच्छाधिप घोषित किये गये।

६२ विमलसोमसूरि
६३ विशालसोमसूरि
६४ उदयविमलसूरि
६५ गजसोमसूरि
६६ मुनीन्द्रसोमसूरि
६७ राजसोमसूरि
६८ आनन्दसोमसूरि
६९ देवेन्द्रविमलसूरि
७० तत्त्वविमलसोमसूरि
७१ पुण्यविमलसोमसूरि

तपागच्छ-कमलकलश शाखा की पट्टावली

श्री रत्नशेखरसूरि
,, लक्ष्मीसागरसूरि
,, सोमदेवसूरि — लक्ष्मीसागरसूरि द्वारा आचार्य-पदप्रतिष्ठित।
,, सुधानन्दनसूरि
,, सुमतिसुन्दरसूरि
,, राजप्रियसूरि
,, कमलकलशसूरि — स० १५५५ से कमलकलश गच्छ चला।
,, जयकल्याणसूरि — १५३६ के फाल्गुन सुदि १० को अचलगढ़ पर प्राग्वाट साह सहसा के मन्दिर के मूलनायक की प्रतिष्ठा की।
,, कल्याणसूरि
,, चरणसुन्दरसूरि — ये भी अचलगढ की स० १५६६ की प्रतिष्ठा में हाजिर थे।

राजविजयसूरि-गच्छ की पट्टावली

५८ वें पाट पर श्री आनन्दविमलसूरि हुए, एक समय आबु पर यात्रार्थ गये, सूरिजी तुमुख चैत्य मे दर्शन कर विमल वसही के दर्शनार्थ गए, गभारा के बाहर खडे दर्शन कर रहे थे, उस समय अबुदादेवी श्राविका के रूप मे आचार्य के दृष्टिगोचर हुई, आचार्यश्री ने उसे पहिचान लिया और कहा—देवी ! तुम शासन भक्त होते हुए लु का के अनुयायी जिनमन्दिर और जिनप्रतिमाओं का विरोध करते हुए, लोगो को जैन मार्ग से श्रद्धाहीन बना रहे हैं, तुम्हारे जैसो को तो ऐसे मतो को मूल से उखाड डालना चाहिये, यह सुनकर देवी बोली—पूज्य ! मे आपको सहस्रोषधि का चूर्ण देती हू। वह जिसके सिर पर आप डालेगे, वह आपका श्रावक बन जायगा और आपकी आज्ञानुसार चलेगा, इसके, बाद अबुदादेवो आचार्यश्री को योग्य भलामण देकर अदृश्य हो गई, बाद मे आचार्य वहा से विहार करते हुए विरल (विसल) नगर पहुँचे, वही श्री विजयदानसूरि चातुर्मास्य रहे हुए थे, वही आकर आनन्दविमलसूरिजी ने देवी प्रश्नादिक सब बाते विजयदान-सूरिजी को सुनायी, जिससे वे भी इस काम के लिये तैय्यार हुए, वहा से आनन्दविमलसूरि और विजयदानसूरि अहमदावाद के पास गाव बारेजा मे राजसूरिजी के पास आए और कहा—हम दोनो लु का मत का प्रसार रोकने के कार्यार्थ तत्पर है, तुम भी इस काम के लिये तैयार हो जाओ, यह कहकर श्री आनन्दविमलसूरिजी ने कहा मेरे पट्टधर विजयदानसूरि हैं ही और विजय-दानसूरि के उत्तराधिकारी श्री राजविजयसूरि को नियत करके अपन तीनो आचार्य तपगच्छ के मार्ग की मर्यादा निश्चित करके अपने उद्देश्य के लिये प्रवृत्त हो जाए, आनन्दविमलसूरिजी ने श्री राजविजयसूरि को कहा—तुम विद्वान् हो इसलिये हम तुम्हारे पास आए हैं, लु कामति जिनशासन का लोप

कर रहे हैं, मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनो योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोडकर वही वट की वटिया जल मे घोल दी हैं, सवामन सोने की मूर्ति अन्धकूप मे डाल दी, सवा पाव सेर मोतियो का चूरा करवा के फेंक दिया है, दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड दिया है।

श्री राजविजयसूरि ने स० १५८२ मे क्रियोद्धार करने वाले लघुशालिक आचार्य श्री आनन्दविमलसूरि के पास योगोद्वहन करके श्री राजविजयसूरि नाम रखवा, बाद मे तीनो आचार्यो ने अपने-अपने परिवार के साथ भिन्न-भिन्न तीनो देशो मे विहार किया। श्री आनन्दविमलसूरिजी ने सवत्र फिरकर श्रावको को स्थिर किया है, कई गावो मे प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा की, नये जिन-बिम्ब करवाए जैनशासन की महिमा बढायी, स० १५६६ तक बहुत से लुका के अनुयायी गृहस्थ तथा वेशधारक उपदेशक मूर्ति मानने वाले हुए, विचरते हुए आप सोरठ के सिपा गाव मे आए, और वहा से आप अपना अन्तकाल निकट जान कर राजनगर आए और स० १५६६ मे गच्छ की मर्यादा निश्चित करके श्री आनन्दविमलसूरिजी स्वर्गवासी हुए।

५६ विजयदानसूरि :

विजयदानसूरिजी का वर्षा चातुर्मास्य अहमदाबाद में था, आचार्य श्री राजविजयसूरि का चातुर्मास्य राधनपुर मे था, चातुर्मास्य के उतरने पर श्री राजविजयसूरि श्री शखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रार्थ आए, यात्रा कर जब वे वापस जाने लगे, तब राजविजयसूरि के शिष्य प० श्री देवविजय के ससारी सगे जो घामा मे रहते थे उन्हें लेने आये। देवविजय ने उनको कहा—गुरु आदि को छोडकर मैं अकेला नही आ सकता, इस से श्रावक राजविजयसूरि के साथ उनको अपने गाव ले गए और मास कल्प कराया। घामा मे श्रावको के ७०० घर थे, वो सभी पूनमीया थे। जो आचार्य श्री के उपदेश से पूर्णिमा पक्ष को छोडकर सभी चतुदशी को पाक्षिक करने लगे। वहा से सूर्यपुर और जीजूवाडा आए, श्रावको ने उत्साह सहित नगरप्रवेश कराया और एक गृहस्थ की डेहली मे उतारे, गाव मे छापरीया-पूनमीया के दो उपाश्रय थे,

उनमे एक मै पुराने स्थायी आचाय रहते थे। प्रभात मे श्री राजविजयसूरि ने व्याख्यान शुरू किया, तब उस आचार्य ने अपना शिष्य उनके पास भेजकर व्याख्यान देने की मनाही करवाई। कहलाया कि यहा सभी पूनमीया श्रावक हैं, चऊदसीया कोई नही, इस पर राजविजयसूरि ने कहा—हमने पूनमीयो को मिटाने के लिये व्याख्यान शुरु किया है। इस पर उस आचार्य ने कहा—हमारे गाव मे तुम व्याख्यान नही दे सकते इस प्रकार उन दोनो मे खीचतान और विवाद हुआ, एक श्रावक ने वहा आकर श्री राजविजयसूरि को एकात मे कहा—स्वामी! आप इसको किसी प्रकार से गाव मे से निकल वा दें, तो बहुत अच्छा हो, श्रावक की इस सूचना को पाकर राजविजयसूरि राजकुल मे गए, वहा झाला राजपूत का राज्य था। गुरु को देख कर उसने आदर के साथ प्रणाम किया और पूछा—स्वामी! दरबार मे कैसे पधारे? गुरु ने कहा—हम आठम और चउदस को मानते हैं और यहा का रहने वाला आचाय सातम और पूनम मानता है। यह सुनकर ग्रामाधीश ने कहा, इस बात का निश्चय कैसे किया जाय कि किसका मानना सत्य है? तब राजविजयसूरि ने कहा—सूरज के कोठे मे मूलदेव की प्रतिमा है, वह ठहरावे, वह सही। इस पर राजा प्रजा सर्व मूल आचाय के साथ इकट्ठे हुए, स्थायी आचाय को समराबाब की माता और वाविभा वीर प्रत्यक्ष था। तब राजसूरि को चक्रेश्वरी प्रत्यक्ष थी। दोनो आचार्यो ने अपने अपने इष्ट देवो का ध्यान किया और आने पर कारण बताया। देव ने कहा—आठम चउदस हमारी है—इसलिये इस सम्बन्ध मे हम कुछ नही कहेगे, पुराने आचाय ने मन मे कहा—अब मेरा न चलेगा, दूसरे दिन राजा आदि सब सूर्य के कोठे पर गए, वहा चक्रेश्वरी ने मूल देव की प्रतिमा मे प्रवेश कर कहा, राजविजयसूरि जो कहते है वही तिथि सत्य है, पुराने आचाय की तिथि सत्य नही। सभा समक्ष वह आचाय झूठा पडा और रात मे अपनी चीज सामान लेकर गुप्तरूप से पाटन चला गया, बाद मे राजविजयसूरि को उपाश्रय में लेजाकर ठहराया, सब श्रावक वासक्षेप लेकर चउदसीए हुए, ९०० घर ओसवालो के, श्रीमाली तथा पोरवाल आदि आदि सब तपा श्रावक बने।

श्री सघ की वीनती से प० देवविजय गरिण को चातुर्मास्य के लिए वहा रक्खा, गुरु ने विहार किया, वहा से मु जपुर जाकर चौमासा किया।

उस समय उज्जैन मे एक दिगम्बर भट्टारक रहता था। उसने मालव देश मे तपा श्रावकों को दिगम्बर मत मे खींच लिया था। उज्जैनी का एक धनवन्न तपगच्छ का श्रावक जिसका नाम चमूपाल मन्त्री ताराचद मोतीचद था, उसने भट्टारक की बात नही मानी, इसलिये उसका न्याति-व्यवहार भट्टारक ने बन्द करवा दिया। श्रावक का भट्टारकजी को कहना था कि मेरे गुरु गुजरात मे विचरते हैं, उनको जीतो तो मैं तुम्हारा श्रावक बन जाऊ। भट्टारकजी ने कहा – तुम्हारे गुरु को यहा बुलाओ। श्रावक ने कहा – मेरे वास्ते वे नहीं आयेंगे, मैं सिद्धाचल का सघ निकालू सो आप सघ के साथ चलें। मेरे गुरु भी आजकल शत्रुञ्जय की यात्रार्थ गये हुए हैं, इसलिये आप कहो तो सघ निकालू तब भट्टारक ने स्वीकार किया। शा० ताराचन्द्र चमूपाल मन्त्री श्री शत्रुञ्जय का सघ निकाल कर शत्रुञ्जय आया और पहाड पर सघ चढ रहा है, वहा विजयदानसूरिजी को नीचे उतरते हुए देखा। शा० ताराचद मन्त्री ने उनको वदन किया, तब जीआजी भट्टारक ने पूछा – क्यो ताराचन्द्र, यही तेरे गुरु हैं? ताराचन्द ने कहा – यही मेरे गुरु हैं, तब जीआजी भट्टारक उनके पास जाकर विजयदानसूरि से विवाद करने लगा। युक्तिप्रयुक्ति करते हुए, एक प्रहर बीत गया। पूज्य आचार्य के अट्ठम का तप था और वृद्धावस्था, इस कारण भट्टारक को कोई प्रत्युत्तर नही दिया, इस पर भट्टारक ने कहा—अवे ताराचन्द? तुम्हारे गुरु को हमने जीत लिया, अब तू मेरा श्रावक हो जा, ताराचन्द ने कहा ये तो वृद्ध और तपस्वी महात्मा हैं। इनके पट्टधर आचार्य श्री राजविजयसूरि का जीतो, तो मैं आपका श्रावक हो जाऊं। वह नवी करके वे ऊपर चढे, और विजयदानसूरिजी नीचे उतरे, ताराचन्द यात्रा करके अपने मुकाम आया और स्वस्थ होकर आचार्य महाराज के पास गया और अपनी तथा मालवा की परिस्थिति से उनको वाकिफ किया और कहा—आज तक तो मैं दिगम्बर नही हुआ, परन्तु अब मालवे मे योग्य गीतार्थ न आएगे, तो सारा मालव देश दिगम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी बन जाएगा इत्यादि सब वृत्तान्त कहने के बाद शा० ताराचन्द अपने सघ के साथ वापस उज्जैनी चला गया, इधर दानविजयसूरिजी गुजरात पहुचे और राजविजयसूरि को मुजपुर मे जल्दी बुलाया और शा० ताराचन्द के मुह से सुनी हुई सभी बातें, उनको

कही, जिनको सुनकर श्री राजविजयसूरिजी भी मालवे मे
तैयार हुए। लगभग ७०० यतियो के साथ मालवा की
किया, स्थान स्थान पर दिगम्बरीय सम्प्रदाय की बातो का
हुए और पीछे साधुओ को छोड़ते हुए, लगभग ३०० सा
उज्जैन पहुँचे। चमूपाल ताराचद को खबर मिलने पर वह
गया और कहा – हमारे गुरु आये है, उनको नगर प्रवेश
कराना है, परन्तु यहां के वणिक तो हमको साथ नही द
करके आप पधार कर हमारे कार्य को पार करवाइयगा।
सुनकर राजा ने अपनी तरफ से आचाय महाराज का
का प्रबन्ध करवाया। हाथी, घोडे रथ सभी प्र
ठाट के साथ नगर प्रवेश करवाया। दिगम्बर भट्टा
कोई पराक्रमी पुरुष है, इसी से राजा भी इनकी
रहा है। पालक रास्ते पर भट्टारक जोगाजी
मिनट दो मिनट के लिये बाजे बद रहे, इस प
करने की आज्ञा दी और जुलूस आगे बढ़ा। नग
होता हुआ, जुलूस राजा की हाथीशाला मे उतरा।
मन पर इस धूमधाम का ऐसा प्रभाव पडा कि
समक्ष विवाद कर इनको जीतना आसान नही है,
ने एक कूट पद्य बनाकर अपने पण्डित द्वारा
पहुचाया और कहलाया कि इस पद्य का अर्थ सम
साथ विवाद करने के लिये तैयार होना, अन्यथा
पद्य वाली चिट्ठी सब साधुओ ने पढ़ी परन्तु
सूझा। पद्य वाला पत्र अपने पास मगा कर राजा
के पण्डित को कहा – सात दिन के भीतर
चला गया, राजविजयसूरि ने उस श्लोक पर
किया, परन्तु कुछ पता नही लगा। एक बार
परन्तु अन्त में उस पद्य का भेद उन्हें मिल गया,
ग्रन्थ के पद्यो मे प्रथमाक्षरो को लेकर वह पद्य बन

श्लोक का प्रत्युत्तर मागा, राजविजयसूरि ने कहा – चोर के साथ वाद क्या और प्रत्युत्तर क्या ? पण्डित बोला – जो चोर हो उसके नाक, कान, काट कर देश निकाला करना चाहिये। उस समय बादशाह श्री बहादुरशाह का दीवान श्री राजविजयसूरिजी के पास बैठा था, उसकी हाजरी मे राजविजयसूरि ने एक नया श्लोक लिख कर दीवान की मुहर लगवाई और पण्डित को देते हुए राजविजयसूरि ने पण्डित को कहा – लो, यह पत्र तुम्हारे भट्टारकजी को दे देना। चिट्ठी पढ कर भट्टारकजी ने जाना कि अपनी चोरी तो प्रकट हो गई है। हाँ, उत्तर पर दीवान की मुहर छाप भी हो गई है। अब यहा रहना सलामत नही, यह सोच कर भट्टारकजी अपना चीज-भाव लेकर उसी रात को वहा से चले गये। इस बात का पता लगने पर दूसरे दिन शा० ताराचन्द मन्त्री ने विजयराजसूरिजी को तपागच्छ के उपाश्रय मे पधराये। इस बात का बहादुरशाह बादशाह को पता लगते पर उसने विजयराजसूरिजी को अपने पास बुलाया और उनका बडा सत्कार किया। बादशाह ने विजयराजसूरि से अनेक बातें पूछी और सूरिजी ने उनका सतोषजनक उत्तर दिया।

राजविजयसूरिजी ने मालवा मे अनेक चातुर्मास्य किये और श्वेताम्बर जैन सघ को अपने धम मे स्थिर किया।

कहते हैं कि श्री राजविजयसूरिजी के पास एक कामदुघातपणी थी। उसमे जो पदार्थ भरते, अखूट हो जाता। राजविजयसूरिजी के पास हार्नषि और वार्नषि नामक दो गुरुभाई पण्डित थे। उन्होने श्री राजविजयसूरिजी से तपणी मागी, तब राजविजयसूरिजी ने उसे देने से इन्कार कर दिया। हार्नषि, वार्नषि इस कारण से रुष्ट हो गये और राजविजयसूरि की चुगलिया खाने लगे। उन्होने गच्छपति को लिखा – राजविजयसूरि यहा आकर बहुत ही शिथिलाचारी हो गए हैं, फिर भी उनके लेख पर विजयदानसूरिजी ने कोई ध्यान नही दिया, तब कालान्तर मे उन्होंने गच्छपति को लिखा कि राजविजयसूरिजी का यहा अकस्मात् स्वर्गवास हो गया है। इस पत्र को पढ़ कर श्री विजयदानसूरिजी ने राजनगर में श्री हीरविजयसूरि को अपना पट्टधर बना लिया। श्री राजविजयसूरि को इस

कही, जिनको सुनकर श्री राजविजयसूरिजी भी मालवे मे जाने के लिये तैयार हुए। लगभग ७०० यतियो के साथ मालवा की तरफ विहार किया, स्थान स्थान पर दिगम्बरीय सम्प्रदाय की बातो का खण्डन करते हुए और पीछे साधुओ को छोडते हुए, लगभग ३०० साधुओ के साथ उज्जैन पहुँचे। चमूपाल ताराचद को खबर मिलने पर वह राजा के पास गया और कहा – हमारे गुरु आये हैं, उनको नगर प्रवेश उत्सव के साथ कराना है, परन्तु यहा के वणिक तो हमको साथ नही देगे। महरबानी करके आप पधार कर हमारे कार्य को पार करवाइयेगा। मन्त्री की बात सुनकर राजा ने अपनी तरफ से आचार्य महाराज का प्रवेश उत्सव करने का प्रबन्ध करवाया। हाथी, घोडे रथ सभी प्रकार के सामान से बडे ठाट के साथ नगर प्रवेश करवाया। दिगम्बर भट्टारक जीआजी ने जाना कि कोई पराक्रमी पुरुष है, इसी से राजा भी इनकी पेशवाई मे सहकार कर रहा है। पब्लिक रास्ते पर भट्टारक जीआजी की पौषधशाला पडती है, मिनट दो मिनट के लिये बाजे बन्द रहे, इस पर राजा ने बाजे न बन्द करने की आज्ञा दी और जुलूस आगे बढा। नगर के खास रास्तो मे होता हुआ, जुलूस राजा की हाथीशाला मे उतरा। भट्टारक जीआजी के मन पर इस धूमधाम का ऐसा प्रभाव पडा कि आचार्य के साथ सभा समक्ष विवाद कर इनको जीतना आसान नही है, यह सोच कर भट्टारकजी ने एक कूट पद्य बनाकर अपने पण्डित द्वारा राजविजयसूरिजी के पास पहुचाया और कहलाया कि इस पद्य का अर्थ समझ सको तब तो हमारे साथ विवाद करने के लिये तयार होना, अन्यथा आये वैसे ही चले जाना। पद्य वाली चिट्ठी सब साधुओ ने पढ़ी परन्तु किसी को पद्य का अर्थ नहीं सूझा। पद्य वाला पत्र अपने पास मगा कर राजविजयसूरिजी ने भट्टारक के पण्डित को कहा – सात दिन के भीतर इसका उत्तर दे देंगे। पण्डित चला गया, राजविजयसूरि ने उस श्लोक पर ध्यान लगा कर अर्थ विचार किया, परन्तु कुछ पता नही लगा। एक बार तो वह निराश हो गए, परन्तु अन्त मे उस पद्य का भेद उन्हें मिल गया, अपने ही एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ के पद्यो के प्रथमाक्षरो को लेकर वह पद्य बनाया गया था। आचार्य ने उसका अर्थ निश्चय कर लिया। सातवे दिन पण्डित ने आकर उस

श्लोक का प्रत्युत्तर मागा, राजविजयसूरि ने कहा – चोर के साथ वाद क्या और प्रत्युत्तर क्या ? पण्डित बोला – जो चोर हो उसके नाक, कान, काट कर देश निकाला करना चाहिये। उस समय बादशाह श्री बहादुरशाह का दीवान श्री राजविजयसूरिजी के पास बैठा था, उसकी हाजरी मे राजविजयसूरि ने एक नया श्लोक लिख कर दीवान की मुहर लगवाई और पण्डित को देते हुए राजविजयसूरि ने पण्डित को कहा – लो, यह पत्र तुम्हारे भट्टारकजी को दे देना। चिट्ठी पढ कर भट्टारकजी ने जाना कि अपनी चोरी तो प्रकट हो गई है। हाँ, उत्तर पर दीवान की मुहर छाप भी हो गई है। अब यहा रहना सलामत नही, यह सोच कर भट्टारकजी अपना चीज-भाव लेकर उसी रात को वहा से चले गये। इस बात का पता लगने पर दूसर दिन शा० ताराचन्द मन्त्री ने विजयराजसूरिजी को तपागच्छ के उपाश्रय मे पधराये। इस बात का बहादुरशाह बादशाह को पता लगने पर उसने विजयराजसूरिजी को अपने पास बुलाया और उनका बडा सत्कार किया। बादशाह ने विजयराजसूरि से अनेक बातें पूछी और सूरिजी ने उनका सतोषजनक उत्तर दिया।

राजविजयसूरिजी ने मालवा मे अनेक चातुर्मास्य किये और श्वेताम्बर जैन सघ को अपने धर्म मे स्थिर किया।

कहते हैं कि श्री राजविजयसूरिजी के पास एक कामदुघातर्पणी थी। उसमे जो पदार्थ भरते, अखूट हो जाता। राजविजयसूरिजी के पास हार्नषि और वानर्षि नामक दो गुरुभाई पण्डित थे। उन्होने श्री राजविजयसूरिजी से तपणी मागी, तब राजविजयसूरिजी ने उसे देने से इन्कार कर दिया। हार्नषि, वानर्षि इस कारण से रुष्ट हो गये और राजविजयसूरि की चुगलिया खाने लगे। उन्होने गच्छपति को लिखा – राजविजयसूरि यहा आकर बहुत ही शिथिलाचारी हो गए हैं, फिर भी उनके लेख पर विजयदानसूरिजी ने कोई ध्यान नही दिया, तब कालान्तर मे उन्होने गच्छपति को लिखा कि राजविजयसूरिजी का यहा अकस्मात् स्वर्गवास हो गया है। इस पत्र को पढ कर श्री विजयदानसूरिजी ने राजनगर मे श्री हीरविजयसूरि को अपना पट्टधर बना लिया। श्री राजविजयसूरि को इस

बात की कोई खबर तक नही मिली। वे मालवा से गुजरात की तरफ विहार करते हुए चापानेर आए और वर्षा चातुर्मास्य वहा ठहरे। चौमासे के बाद वे अहमदाबाद आ रहे थे, बीच मे एक गाव मे वे महीना भर ठहरे, तब अहमदाबाद बात पहुची। किसी ने जाकर विजयदानसूरिजी को कहा – श्री राजविजयसूरि ने आपको वन्दना कही है, यह सुन कर विजयदानसूरिजी को बडा पश्चात्ताप हुआ। उन्होने सोचा – मैंने एक यति की बात मानकर बडी भूल की। राजविजयसूरि के विद्यमान रहते दूसरा पट्टधर कायम कर दिया। राजविजयसूरिजी आए और विजयदानसूरि को वन्दन किया, तब विजयदानसूरिजी ने हीरसूरिजी से कहा – उठो आचार्य! बडे आचार्य को वन्दना करो। यह सुनकर राजविजयसूरि ने कहा – आपने यह क्या किया ? विजयदानसूरि ने कहा – तुम्हारा निर्वाण सुनकर मैंने यह काम किया है, अब मेरे पट्टधर तुम राजविजयसूरि और राजविजयसूरि के पाट पर हीरविजयसूरि, इस प्रकार की व्यवस्था रहेगी। परन्तु राजविजयसूरि को यह व्यवस्था पसन्द नही आई और वे नाराज होकर विजयदानसूरिजी के पास से ७०० यतिया के साथ चले गये, तब बोहकल सघवी ने उन्हे दूसरे उपाश्रय मे उतारा और आग्रह करके वर्षा चातुर्मास्य भी वही करवाया।

एक समय बोहकल सघवी की बहू श्री हीरविजयसूरिजी का वन्दन करने गई, तब हीरविजयसूरिजी ने कहा– आइए राजविजयसूरि की श्राविका! यह वचन सुनकर सघविन को गुस्सा आया और वन्दन किये बिना ही घर चली गई और प्रतिज्ञा की कि हीरविजयसूरि को वन्दना नहीं करूगी, वह अट्ठम का तप कर घर मे बैठी रही, सघवी को पता लगने पर उसे पूछा, तब उसने सब बातें कही। सेठ ने समझा बुझाकर उसे पारणा करवाया, बोहकल सघवी, बादशाही सेठ, न्यात मे अधिकारी था, ७०० घर सघवी के पीछे थे। श्री राजविजयसूरि के पास जाकर बोला—स्वामी आप श्री आनन्दविमलसूरि के शिष्य हैं, इसलिये हीरविजयसूरि के साथ न मिलें तुम बडे पट्टधर हो, ये छोटे हैं, अब राजविजयसूरि ने कहा—ये और हम एक ही हैं, ममता करके क्या करना है। तब संघवी ने कहा—सघविन ने नियम कर लिया

है कि वह हीरविजयसूरिजी को नहीं वादेगा, आपको हमने आग्रह करके रक्खा, इस कारण मैं हीरविजयसूरिजी सघविन को राजविजयसूरि को श्राविका कहकर बतलाते हैं आर साधु, क्षेत्र की सब सामग्री समान है। आप अपना स्वतन्त्र गच्छ कायम करिये। यह कहकर बाहरन सघवी ने राजविजयसूरि के गच्छ की स्थापना की, बडे उत्सव महोत्सव किये, इस प्रकार दो गच्छनायक आचाय श्री अहमदाबाद मे भिन्न भिन्न उपाश्रयो मे चातुर्मास्य रहे, श्री विजयदानसूरि के स्वगवास के बाद ६० वे पाट पर श्री राजविजयसूरि हुए, जिन्होने मालव देश को प्रतिबोध दिया है।

राजविजयसूरि ने अपने उत्तराधिकारी पद पर श्री मुनिराजसूरि को स्थापित करके राधनपुर चातुर्मास्य के लिये भेजा, मुनिराजसूरि का इसी वर्ष मे राधनपुर मे स्वगवास हो गया, इस घटना से राजविजयसूरि को बडा दुःख हुआ, मुनिराजसूरि पर उनका बहुत मोह था, उनके जाने से उनके दिल मे ऐसा वैराग्य आगया कि अपना निर्वाण समय निकट जानकर भी किसी को अपने पद पर स्थापित करते नही थे, सघवी के आग्रह पूवक कहने पर आचार्य ने उत्तर दिया--मुनिराजसूरि जैसा आचाय चला गया, तो अब नया आचार्य स्थापित करके क्या करना है। सघवी की इच्छा थी कि आचायश्री किसी न किसी साधु के सिर पर हाथ रख दें तो अच्छा है, परन्तु आचार्य की ऐसा करने की इच्छा नहीं थी तब सघवी ने अपने भानजे रत्नसी को जो जातिका श्रीश्रीमाल था और उन्ही के घर पर रहता था, पूछा—यदि तू साधु हो जाय तो तुझे गच्छनायक का पद दिला दू। भानजे ने स्वीकार किया, सघवी उसे लेकर राजविजयसूरिजी के पास गया, श्रीजीने रत्नसी श्रावक के सिर पर हाथ रक्खा और राजविजयसूरिजी ने आयुष्य पूण किया।

राजविजयसूरि का राजनगर मे स० १५५४ मे जन्म स० १५७१ मे व्रत, स० १५८४ म सूरिपद और स० १६२४ मे स्वगवास।

६१. श्री रत्नविजयसूरिजी और इनकी परम्परा

बोकल सघवी ने रत्नविजयजी के सिर पर राजविजयसूरि का हाथ रखवाने के बाद तुरन्त गीताथ के पास से पाच महाव्रत उचर ए। उसी समय पाठक पद और उसी समय आचार्य पद, योगोद्वहन कराने के बाद पट्टाभिषेक तथा गच्छानुज्ञा उत्सव किया, परन्तु सूरिमन्त्र देने वाला कोई नही था, तब कमल कलश तथा श्री देवरत्नसूरिजो जो ससार पक्ष मे रत्नविजयसूरि के सगे लगते थे, श्री रत्नविजयसूरि ने सघवी को उनके पास भेजा, सघवी कतिपय गीतार्थो के साथ श्री देवरत्नसूरि के पास गया, सूरिमन्त्र आदि की सब हकीकत कही, तब कमलकलश गच्छनायक ने कहा—तुम हमारी अटक रखो तो मैं सूरिमन्त्र देऊ, तब उनकी शत मान्य की और कहा—आयन्दा पट्टधर आचाय होगा, उसके नाम के साथ "रत्नशाखा" रखेगे। यह बात नक्की करने के बाद देवरत्नसूरि ने विधिविधान के साथ सूरिमन्त्र का माग दिखाया। और विजयदानसूरि के पाट पर दो पट्टधर हुए।

हीरविजयसूरिजी ने राजविजयसूरि का स्वर्गवास होने के बाद गच्छ मे एकता करने का विचार किया और अपये गीतार्थो को श्री रत्नविजयसूरि के पास भेजा और कहा—अपन दोनो की सामाचारी एक है, गुरु एक है और गच्छ के आचाय दो, यह बात अपन दोनो के लिये अयुक्त है, मेरी इच्छा है कि मैं अपने पट्ट पर दूसरा कोई आचाय प्रतिष्ठित न करके आपके लिये स्थान खाली रखूगा। इस समय अपन दोनों एक हो जाये और मेरे बाद आप गच्छपति बने तो हम दोनों के लिये शोभा की बात होगी,

श्री रत्नविजयसूरि श्री श्रीमाल ज्ञाति के भोले भाले पुरुष थे। हीरविजय-सूरिजी की बातो को मान लिया और सब बाते लेखबद्ध कर साख मते भी करवा दिये, बाद में यह बात उनके गीतार्थ साधुओ ने तथा सघवी ने जानी, उनको बहुत उपालम्भ दिया, परन्तु कौल वचन लिखवा दिये थे, उनमे वृद्ध भी रद्दोबदल होने की गुजाइश नही थी, कौल के अनुसार श्री राज-विजयसूरिजी के क्षेत्र मे श्री हीरविजयसूरिजी ने अपने साधुओ को रक्खा और अपने क्षेत्रो मे श्री रत्नविजयसूरि के यतियो को भेजा, इस प्रकार स यतियों ने सब क्षेत्र अपने हाथ मे कर लिये। श्री रत्नविजयजी पालनपुर चातुर्मास्य करने जा रहे थे, शरीर मे स्थूल होने से मार्ग चलना उनके लिये कठिन हो गया। इस बात को जान कर "उनावा" के श्रावकों ने आग्रह कर अपने गाव मे ही चातुर्मास्य करवाया और इस प्रकार १५ वर्ष वही बीत गयें। दरमियान सब क्षेत्र यति श्रावक अपने हाथ से चले गये, तब श्री हीरविजयसूरिजी ने रत्नसूरि को पत्र लिखा और कहा – हमने आपको आचार्य पद देने का कहा था यह सही है पर एक क्षेत्र लेकर इतने वर्षों तक बैठे रहना गच्छनायक आचार्य के लिए अनुचित है। यदि क्षेत्रो मे फिरने की शक्ति नही है, तो उपाध्याय पद रखना कबूल करो, ताकि आचार्य के सम्बन्ध मे दूसरा विचार किया जाय। पत्र पढ कर रत्नसूरिजी ने सोचा कि मैंने किसी से नही पूछा और न किसी का कहना माना, उसका यह परिणाम है, परन्तु अब क्या हो सकता है। अहमदाबाद से निकल कर पहला चातुर्मास्य वलाद मे और दूसरा चातुर्मास्य बीसनगर मे करके तीसरा चातुर्मास्य ऊनाऊ गाव मे किया और वहा वर्षों तक रहा। अब क्षेत्र और यति कोई हाथ में नही रहे, यह सोच कर दूर विचरने वाले अपने साधुओ को आने के लिये कहलाया, परन्तु कोई नही आया। तब अहमदाबाद सघवी को पत्र लिखा, परन्तु उनके पास साधु हीरसूरिजी के हैं, वे पत्र सघपति के पास पहुँचने देते नही। एक बार पालनपुर से पत्र लेकर एक कासीद राजनगर जाने वाला है, यह उनको मालूम हुआ, तब वे स्वय स्थण्डिल के बहाने बाहर गए और अहमदाबाद के रास्ते पर खडे रह। उनको हरकारा मिला, उसको पूछने पर उसने कहा – मैं अहमदाबाद जा रहा हू, यह सुन कर रत्नविजयसूरि ने दस रुपया देना निश्चय किया और

कान मे रखी हुई सीसे की सली से समाचार लिख कर पत्र हलकारे को दिया। सघवी ने पत्रिका पढ़ी, समाचार जान कर सग्वी ने कहा – "कान फडवाए और बुद्धि गई", ऊनाऊ से उनको अहमदाबाद बुलवाया। वहा उपाश्रय दो थे, एक दोसीवाडा मे, दूसरा निशापोल मे। वे दोना हीरविजयसूरिजी के कब्जे मे थे। सघवी ने अहमदाबाद मे उनको अपनी वखार सौपी, वहा उतरे। दो शिष्य और रत्नविजयसूरि ये ३ सुख से वहा रहते थे। दूसरे सब यति श्री हीरविजयसूरि की आज्ञा मे रहते थे।

श्री रत्नविजयसूरि के पाट पर श्री हीररत्नसूरि हुए। श्री रत्नविजयसूरि का जन्म स० १५६४, स० १६१३ मे व्रत, १६२४ मे सूरि पद और स० १६७५ मे श्री राजनगर मे स्वगवास।

इस समय मे विजयआनन्दसूरि का गच्छ निकला। शाह सोमकरण मनीया तथा नव उपाध्यायो ने मिल कर जिनमे छ उपाध्याय श्री विजय देवसूरि के और तीन उपाध्याय विजयराजसूरि के थे। इन सब ने मिल कर आनन्दसूरि गच्छ की परम्परा चलाई।

६२ श्री हीररत्नसूरि

श्री हीररत्नसूरि का जन्म स० १६२० मे हुआ। स० १६३३ मे व्रत, स० १६५७ मे वाचक पद, स० १६६१ के वशाख सुदि ३ को आचाय पद, स० १६७५ मे भट्टारक-पद, स० १७१५ के श्रावण सुदि १४ को राजनगर मे आसासुआ की बाडी मे स्वगवास।

६३ श्री जयरत्नसूरि :

श्री जयरत्नसूरि का १६६६ मे जन्म, १६८६ मे व्रत, स० १६६६ में राजनगर मे आचाय-पद, १७१५ मे भट्टारक पद, स० १७३४ के चैत्र सुदि ११ के दिन सूरत मे स्वगवास।

६४ श्री हेमरत्नसूरि :

हेमरत्नसूरि का स० १६६६ मे जन्म, स० १७०४ मे व्रत, १७३४ मे भट्टारक पद, स० १७७२ मे कार्तिक सुदि १ को झिंझुवाडा मे स्वगवास।

६५. श्री दानरत्नसूरि :

श्री दानरत्नसूरि का जन्म सं० १७२२ मे, स० १७५१ मे दीक्षा, स० १७७० मे भट्टारक पद, स० १८२४ के फाल्गुण सुदि १० को धागधरा मे स्वगवास ।

६६. श्री कीर्तिरत्नसूरि :

६७ श्री मुक्तिरत्नसूरि :

मुक्तिरत्नसूरि का १८७४ मे सूरि पद और १८७६ के मागशीष सुदि ४ को स्वगवास हुआ ।

६८. श्री पुण्योदयरत्नसूरि :

पुण्योदय का स० १८७६ मे सूरि-पद, स० १८९० मे पौ० सु० ११ को स्वगवास ।

६९ श्री अमृतरत्नसूरि :

स० १८९० म वशाख सु० ७ सूरि-पद वमो मे ।

७० चन्द्रोदयसूरि

७१. सुमतिरत्नसूरि

७२. भाग्यरत्नसूरि

विजयदेवसूरि के सामने नया आचार्य क्यों बनाया ?

"सोहम्मकुलरत्न पट्टावली रास" के कर्त्ता कवि श्री दीपविजयजी लिखते हैं

> "सेनसूरि पाटे प्रगट, पाट साठ मे होय ।
> श्री देवसूरि श्री तिलकसूरि श्रे पडधारो दोय ॥१॥

अर्थात् – श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि और श्री तिलकसूरि ये दो पट्टधर हुए । दो पट्टधर क्यो हुए ? इसकी प्रस्तावना करते हुए कवि लिखते हैं –

> "तेणे समे धरमसागर गणि, वाचक राय महत ।
> कुमति कुद्दाल इति नाम छे, कीध्रो ग्र थ गुनवत ॥७॥
> बहु पडित श्री सेनसूरि ग्रन्थ कीध्रो अप्रमाण ।
> वाचक "गण बाहिर कीश्रा, पेढी त्रण प्रमाण ॥८॥"
> 'ससारी सगपण अर्छे मामा ने भाणेज ।
> देवसूरि भाणेज छे, वाचक मामा हेज ॥९॥
> लखी लेख व्यतिकर सहु, मेहे यो तुरत जवाब ।
> देवसूरि वाची करी, चिंती मन मे श्राप ॥१०॥
> पत्र जुश्राव श्रेहवो लख्यो, फिकर न करत्यो कोय ।
> गुरु निर्वाण हुश्रा पछे, गच्छ मे लेस्यां तोय ॥११॥"

कवि दीपविजय के कहने का सार यह है कि उपाध्याय धमसागर गणि बडे विद्वान् थे । उन्होने 'कुमति कुद्दाल" नामक एक ग्रन्थ बनाया

था, परन्तु श्री विजयसेनसूरिजी ने अनेक पण्डितो की सलाह से उस ग्रन्थ को अप्रामाणिक ठहराया और उपाध्याय धर्मसागरजी को तीन पीढी तक गच्छ बाहर किया ।

कविराज का यह कथन कि धर्मसागरजी ने "कुमतिकुद्दाल" ग्रन्थ बनाया था, यथार्थ नही है, क्योकि "कुमतिकुद्दाल" धर्मसागरजी के पूर्ववर्ती तपागच्छ के विद्वान् की कृति थी और धर्मसागरजी ने उसके आधार से दूसरे ग्रन्थ बना कर अन्यान्य गच्छो का खण्डन अवश्य किया था। परिणामस्वरूप "विजयदानसूरि तथा विजयहीरसूरिजी ने उन्हे गच्छ बाहर किया था" और उन ग्रन्थो का संशोधन कराये विना प्रचार नही किया जायगा, इस शर्त के साथ विपरीत प्ररूपणा के सम्बन्ध मे मिथ्यादुष्कृत करवा करके उन्हे वापस गच्छ मे लिया था ।

विजयसेनसूरि के समय मे उपाध्याय धर्मसागर गच्छ से बाहर थे, यह कथन प्रामाणिक ज्ञात नही होता, क्योकि १६५२ मे श्री विजयहीरसूरिजी स्वर्गवासी हुए थे और १६५३ मे उपाध्याय धर्मसागरजी भी स्वर्ग सिधारे थे ।

इस प्रकार एक वर्ष के भीतर धर्मसागरजी ने कौन-सा महान् अपराध किया और विजयसेनसूरि ने उन्हे गच्छ बाहर किया ? इसका कोई प्रमाण नही मिलता । इस परिस्थिति मे धर्मसागरजी और देवसूरि के बीच मामा-भान्जा का सम्बन्ध बता कर धर्मसागरजी द्वारा देवसूरि पर पत्र लिख कर गच्छ मे लेने की सूचना करना और उसके उत्तर मे गुरु का निर्वाण होने के बाद देवसूरि द्वारा "गच्छ मे लेने का आश्वासन" लिखना और वह पत्र भावियोग से विजयसेनसूरिजी के हाथ जाना, ये सब बातें एक कल्पित कहानी से अधिक नही हैं ।

कविराज लिखते हैं – "विजयदेवसूरि का पत्र पढ कर श्री विजयसेनसूरिजी को क्रोध आया कि ऐसे आचार्य को उत्तराधिकारी बनाने के बजाय किसी दूसरे को आचार्य बनाना ही ठीक होगा", यह सोच कर आचार्यश्री ४०० साधुओ के समुदाय और ८ उपाध्यायो के साथ खम्भात नगर पहुँचे ।

खम्भात मे अकबरपुर मे अपने स्वगवास के पहले आठ उपाध्यायो और मुनिगण का अपने पास बुला कर कहा – एक बार फिर देवसूरि के पास जाना, वह मेरा वचन प्रमाण करले तो दूसरा पट्टधर स्थापने की आवश्यकता नही, अन्यथा किसी योग्य पुरुप को प्रतिष्ठित करना। यह कह कर उन्होने सघ-समक्ष उपाध्यायो को सूरिमन्त्र सौंपा, बाद मे श्री विजयसेनसूरि स्वग सिधार गए।

आगे कविराज लिखते है

राजनगर मे देवगुरु कने रे, आया पुछण वाचक आठ।
तिण समे 'धरमसागर' गणि देखीया रे पूज्य समीपे सखरे ठाठ ॥६॥

हगीगत कही सहुसने गुरु तणी रे, काने न धरी रे गणधार।
रीसावी सहु पाछा आवीया रे, आप्या तिलकसूरि पट्टधार ॥७॥"

अर्थात् – विजयसेनसूरि के स्वगवास होने के बाद विजयसेनसूरि के कथनानुसार सोमविजयजी आदि आठ उपाध्याय अहमदाबाद आचाय देवसूरि के पास आए, तब उपाध्यायो ने विजयदेवसूरि के पास अच्छे ठाठ से धर्मसागर गणि को बैठा देखा, उपाध्यायो ने विजयसेनसूरि की बात विजयदेबसूरि को कही, पर देवसूरि ने उस पर कोई ध्यान नही दिया। परिणामस्वरूप सव उपाध्याय नाराज होकर वापस लौटे और विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री विजयतिलकसूरि को प्रतिष्ठित किया, परन्तु विजयतिलकसूरि तीन वर्ष मे स्वगवासी हो गए, तब उनके पट्ट पर विजयआनन्दसूरि को स्थापित किया।

एक समय श्री विजयदेवसूरिजी विजयआनन्दसूरिजी को मिलने आये। वहा दोनो आचार्यों की आपस मे अनेक वातें होने के बाद यह निश्चित हुआ कि दोनो आचार्य हिलमिल करके चलें और अब से यतियों की जो क्षेत्रादेश के पट्टक लिखे जाए वे श्री देवसूरि और आनन्दसूरि दोनो की सहियो से लिखे जाए। लगभग तीन वप तक यह सघटन चलता रहा, परन्तु चौथे वप गच्छपति श्री देवसूरिजी ने केवल अपने ही नाम से क्षेत्रादेश

पट्टक लिखे, तब आनन्दसूरिजी ने भी अपने अनुयायी साधुओं को अपने ही नाम से क्षेत्रादेश पट्टक लिखे।

उपर्युक्त ढाल ६ और ७ वी में कविराज ने आठ उपाध्यायों के अहमदाबाद में विजयदेवसूरि के पास जाने पर उपाध्याय धर्मसागरजी को विजयदेवसूरिजी के पास बैठे देखने की बात कही है, जो असंभव है। क्योंकि उस समय तक धर्मसागरजी को स्वर्गवासी हुए बीस वर्ष होने आए थे। इस दशा में कविराज का कथन प्रमादपूर्ण है। धर्मसागर नहीं, किन्तु उनके शिष्य लब्धिसागर नेमिसागर, अथवा मुक्तिसागर इनमें से सब या कोई एक हो सकते हैं। विजयदेवसूरि के विरोध में उपाध्याय सोमविजयजी, उ० कीर्तिविजयजी आदि ने जो विरोध का बवण्डर खड़ा किया था, उसका कारण भी सागर विरोधी उक्त उपाध्यायों के प्रचार का ही परिणाम था।

आचार्य श्री विजयदेवसूरि का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र पढ़ लेने पर भी यह वस्तु प्राप्त नहीं होती कि विजयदेवसूरिजी सागरों के पक्षकार थे। कई स्थानों पर तो विजयदेवसूरिजी को सागरों तथा सागर भक्त गृहस्थों से मुठभेड़ तक हुई है और सागरों को निरुत्तर होना पड़ा है। प्रस्तुत निरूपण से दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि तपागच्छीय आचार्य श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर दो आचार्य होकर देवसूरि गच्छ, आनन्दसूरि गच्छ नामक दो पार्टियां होने का कारण उपाध्याय धर्मसागर गणि नहीं थे। दूसरा विजयदेवसूरि को सागरों का पक्षकार बना कर इन पार्टियों की उत्पत्ति का कारण बताया जाता है यह भी निराधार है। इस झगड़े का मूल कारण क्या था, यह तो ज्ञानी ही कह सकता है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि तपागच्छ के उपाध्यायाष्टक ने इस सम्बन्ध में जो रस लिया है, उसमें उपा० सोमविजयजी, उपा० कीर्तिविजयजी के नाम सर्वप्रथम हैं। उपाध्याय कीर्तिविजयजी के शिष्य उपाध्याय विनयविजयजी ने भी कल्पसूत्र की "सुबोधिका टीका" के निर्माण काल सं० १६९६ तक इस विषय में बड़ी दिलचस्पी ली थी। वे प्रसंग आते ही उपाध्याय धर्मसागरजी की गलतियां बताने में अपना पुरुषार्थ किया करते थे, परन्तु धीरे धीरे वस्तु-

स्थिति स्पष्ट हुई। विजयदेवसूरिजी के ऊपर लगाया गया सागरो के पक्ष का आरोप निराधार प्रमाणित हुआ तब विद्वान् साधु आनन्दसूरि की परम्परा मे से निकल कर देवसूरि की परम्परा मे आने लगे थे।

प्रसिद्ध उपाध्याय यशोविजयजी प्रथम से ही मध्यस्थ थे, परन्तु विनयविजयजी अपने गुरुओं के कारण आनन्दसूरि की पार्टी मे मिले थे, परन्तु बाद मे वे भी विजयदेवसूरि की परम्परा मे आए थे, ऐसा इनके पिछले ग्रन्थो की प्रशस्तियो से ज्ञात होता है। विजयदेवसूरि ने अमुक सागरो को पद प्रदान करने के लिये अपना वासक्षेप सेठ शान्तिदास को अवश्य दिया था, परन्तु किसी भी सागर को आपने आचार्य पद नही दिया। इससे भी ज्ञात होता है कि विजयदेवसूरिजी सागरों को बढावा देने वाले नहीं थे, परन्तु दोनो पार्टिया हिलमिल कर रहे ऐसी भावना वाले थे। आज उपर्युक्त दोनो पार्टियो की आचार्य-परम्पराए कभी की समाप्त हो चुकी है।

विजयानन्दसूरि-गच्छ की परम्परा (१)

५९ आचार्य श्री विजयसेनसूरि –

६० आचाय श्री विजयतिलकसूरि –

जन्म स० १६५१, दीक्षा स० १६६२, प० १६६३, म० १६७३ मे सिरोही मे वडगच्छ के भट्टारक विजयसुन्दरसूरि के वासक्षेप से सूरि पद दिया था और उपाध्याय आदि ने मिलकर आचाय श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर विजयतिलकसूरि के नाम से प्रतिष्ठित किया। स्वग स० १६७६ मे।

६१ आचाय श्री विजयआनन्दसूरि –

मारवाड के रोहा गाव में स० १६४२ मे जन्म, स० १६५१ मे दीक्षा, स० १६७६ मे सिरोही मे विजयतिलकसूरि द्वारा आचार्य-पद, स० १७११ मे स्वगवास।

६२ आचाय श्री विजयराजसूरि –

स० १६७९ मे कडी मे जन्म, स० १६८९ मे दीक्षा, नाम कुशलविजय, स० १७०४ मे सिरोही मे विजयानन्दसूरि द्वारा आचाय पद, स० १७४२ मे खम्भात मे स्वगवास।

६३ आचार्य श्री विजयमानसूरि –

स० १७०७ मे बुरहानपुर मे जन्म, स० १७१९ मे मालपुर मे दीक्षा, वि० स० १८३१ मे उपाध्याय-पद स० १७३६ मे सिरोही मे विजयराजसूरि के हाथ से सूरि पद, स० १७७० मे साणद मे स्वगवास।

६४ आचार्य श्री विजयऋद्धिसूरि –

आबु के पास थाण गाव मे स० १७२७ मे जन्म, स० १७४२ मे अहमदाबाद मे दीक्षा, स० १७६६ मे सिरोही में आचाय-पद, १७९७ मे स्वगवास ।

६५ आचाय श्री विजयसौभाग्यसूरि –

आचार्य श्री विजयप्रतापसूरि –

स० १७९५ मे आचार्य-पद सादडी मे, १८१४ मे सिनोर मे स्वगवास ।

इन्होने अपने पट्ट पर विजयमानसूरि को बैठाया ।

६६ आचाय श्री विजयउदयसूरि –

जन्म वाकली गाव मे, आचाय पद मु डारा मे, गुजरात मे उदयसूरि ने सपरिवार जाकर काकागुरु सौभाग्यसूरि से मिलकर आगे दक्षिण मे विहार किया और स० १८३७ मे स्वगवासी हुए ।

६७ आचाय श्री विजयलक्ष्मीसूरि –

सिरोडी और हणादरा के वीच मे सिरोडी से दक्षिण मे १ कोस और हणादरा गाव से उत्तर मे दो कोस पर पालडी गाव मे स० १७९७ मे जन्म, स० १८१४ मे नमदा तट पर सिनोर में दीक्षा, उसी वर्ष सूरि पद, स० १८५८ मे सूरत मे स्वर्ग-गमन ।

६८ आचार्य श्री विजयदेवेन्द्रसूरि –

सूरत में जन्म, स० १८५७ मे आचार्य पद बडौदा मे, अहमदाबाद मे स० १८६१ मे स्वगवास ।

६९ आचार्य श्री विजयमहेन्द्रसूरि –

भीनमाल मे जन्म; स० १८२७ मे आमोद मे दीक्षा, स० १८६१ भट्टारक पद, स० १८६५ मे स्वगवास ।

७० आचार्य श्री विजयसमुद्रसूरि –

गोढवाड१ मे कवला गात्र मे जन्म, पोरवाड जातीय, पितृनाम हरनाथ, मातृनाम पूरी की कुक्षि से जन्म, आचार्य पद स० १८८० मे पूना मे ।

१ सोहम्म कुल पट्टावली मे कवि दीपविजयजी ने 'कवला' गाव गोढाण अर्थात् गोडवाड मे होना लिखा है, परन्तु कवला गोडवाड मे न होकर शिलावटी मे है, भूति से एक कोस उत्तर मे ।

विजयानन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (२)

६० विजयसेनसूरि –

६१ विजयतिलकसूरि –

विशल नगर मे जन्म, जाति पोरवाड, पिता नामदेवजी, माता जयवती, हीरविजयसूरि के प्रतिबोध से दीक्षा ली। वड गच्छ के भट्टारक विजयसुन्दरसूरि के वासक्षेप से सिरोही मे स० विजयसेनसूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित किया, १६७६ मे स्वर्गवासी हुए।

६२ विजयानन्दसूरि –

रोहिडा नगर मे जन्म। पोरवाल जातीय, पितृनाम श्रीवन्त, मातृनाम सिणगारदे, श्री विजयहीरसूरि के उपदेश से ६ लोगो के साथ स० १६५१ के वर्ष मे दीक्षा, उपाध्याय सोमविजयजी से शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया, आचार्य विजयतिलकसूरि ने विजयानन्दसूरि को सिरोही मे १६७६ मे सूरि-पद दिया, स० १७१७ मे, मतान्तर से १७११ मे स्वर्गवासी हुए।

६३ विजयराजसूरि –

कडी गाव मे स० १६७६ मे जन्म, पिता का नाम खीमा, ज्ञाति श्रीमाली, माता गमनादे, १६८६ में विजयानन्दसूरि के पास दीक्षा, १७०३ मे सिरोही मे सूरि-पद और स० १७४२ मे स्वर्ग।

६४ विजयमानसूरि –

नगर बुरहानपुर के, जाति से पोरवाल, पिता वागजी, माता वीरमदे, जन्म स० १७०७ मे, दीक्षा स० १७१७ मे दो भाइयो के साथ, सं० १७३६ मे सिरोही मे आचार्य-पद, १७४२ मे भट्टारक पद, स० १७७० में स्वर्गवास।

६५ विजयऋद्धिसूरि –

आबू के समीपवर्ती थाणा गाव के, वीसा पोरवाल, पिता नाम जसवत, माता नाम यशोदा, स० १७२७ मे जन्म, विजयमानसूरि के पास स० १७४२ मे दीक्षा, स० १७६६ मे सिरोही मे सूरि-पद, स० १७९७ मे स्वर्ग-गमन, मतान्तर से १८०६ मे स्वर्गवास।

६ विजयसौभाग्यसूरि –

विजयप्रतापसूरि –

विजयसौभाग्यसूरि का जन्म स्थान पाटन, जाति ओसवाल, १७९५ मे सादडी मे सूरिपद, स० १८१४ मे सिनोर मे स्वर्ग-गमन।

६७ विजयउदयसूरि –

जन्म-स्थान गाव वाकली, सूरिपद मुण्डारा मे, स० १८५९ मे, पाली मे स्वर्गवास।

६८ विजयलक्ष्मीसूरि –

स० १७९७ मे जन्म हणादरा समीपवर्ती पालडी मे, पिता का नाम हेमराज, माता आनन्दीबाई, दीक्षा स० १८१४ मे सिनोर मे, स० १८५९ मे भट्टारक-पद और इसी वर्ष मे स्वर्गवास।

६९ विजयदेवेन्द्रसूरि –

सूरत मे जन्म, १८५७ मे वडोदे मे गच्छाधिपति-पद और स० १८६१ में राजनगर मे स्वर्गवास।

७० विजयमहेन्द्रसूरि –

जन्म स्थान भीनमाल, जाति ओसवाल, स० १८२७ में आमोद में दीक्षा, स० १८६३ में विजापुर में स्वर्गवास।

७१ विजयसुरेन्द्रसूरि (समुद्रसूरि)

७२ धनेश्वरसूरि

विजयआनन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (३)

६० तत्पट्टे श्री विजयसेनसूरि
६१ ,, ,, विजयतिलकसूरि
६२ ,, ,, विजयानन्दसूरि
६३ ,, ,, विजयराजसूरि
६४ ,, ,, विजयमानसूरि
६५ ,, ,, विजयऋद्धिसूरि
६६ ,, ,, विजयसौभाग्यसूरि
विजयप्रतापसूरि – जन्म गाव वाकली।
६७ ,, ,, विजयउदयसूरि
६८ ,, ,, विजयलक्ष्मीसूरि – आबू के परिसर में जन्म, गांव पालडी में।
६९ ,, ,, विजयदेवेन्द्रसूरि
(महेन्द्रसूरि)
७० ,, ,, सुरेन्द्रसूरि
(समुद्रसूरि)
७१ ,, ,, धनेश्वरसूरि
७२ ,, ,, विद्यानन्दसूरि
७३ ,, ,, गुणरत्नसूरि ।

विजयानन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (४)

६०	तत्पट्टे	श्री	विजयसेनसूरि
६१	,,	,,	विजयतिलकसूरि
६२	,,	,,	विजयानन्दसूरि
६३	,,	,,	विजयराजसूरि
६४	,,	,,	विजयमानसूरि
६५	,,	,,	विजयऋद्धिसूरि
६६	,,	,,	विजयप्रतापसूरि } दोनो भाई थे ।
६७	,,	,,	विजयसौभाग्यसूरि
६८	,,	,,	विजयउदयसूरि
६९	,,	,,	विजयलक्ष्मीसूरि
७०	,,	,,	विजयमहेन्द्रसूरि
७१	,,	,,	विजयसुरेन्द्रसूरि

१ विजयप्रताप और विजयसौभाग्य दोनो भाई थे, परन्तु पट्टधर एक ही थे । यही कारण है कि अन्य पट्ट-परम्परा लेखको ने एक नम्बर बढाया है पर प्रकृत मे नही बढ़ाया ।

विजयआनन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (३)

६०	तत्पट्टे	श्री	विजयसेनसूरि
६१	,,	,,	विजयतिलकसूरि
६२	,,	,,	विजयानन्दसूरि
६३	,,	,,	विजयराजसूरि
६४	,,	,,	विजयमानसूरि
६५	,,	,,	विजयऋद्धिसूरि
६६	,,	,,	विजयसौभाग्यसूरि
			विजयप्रतापसूरि – जन्म गाव वाकली।
६७	,,	,,	विजयउदयसूरि
६८	,,	,,	विजयलक्ष्मीसूरि – आबू के परिसर में जन्म, गाव पालडी में।
६९	,,	,,	विजयदेवेन्द्रसूरि (महेन्द्रसूरि)
७०	,,	,,	सुरेन्द्रसूरि (समुद्रसूरि)
७१	,,	,,	धनेश्वरसूरि
७२	,,	,,	विद्यानन्दसूरि
७३	,,	,,	गुणरत्नसूरि।

विजयानन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (४)

६० तत्पट्टे श्री विजयसेनसूरि
६१ ,, ,, विजयतिलकसूरि
६२ ,, ,, विजयानन्दसूरि
६३ ,, ,, विजयराजसूरि
६४ ,, ,, विजयमानसूरि
६५ ,, ,, विजयऋद्धिसूरि
६६ ,, ,, विजयप्रतापसूरि }
६७ ,, ,, विजयसौभाग्यसूरि } [illegible]
६८ ,, ,, विजयउदयसूरि
६९ ,, ,, विजयलक्ष्मीसूरि
७० ,, ,, विजयमहेन्द्रसूरि
७१ ,, ,, विजयमुनीन्द्रसूरि

---

१ विजयप्रताप और [illegible]
कारण है कि [illegible]
बढ़ाया।

तपागच्छ-सागरशाखा-पट्टावली (१)

५८ हीरसूरि
५६ विजयसेनसूरि
६० राजसागरसूरि
६१ वृद्धिसागर
६२ लक्ष्मीसागर
६३ कल्याणसागर
६४ पुण्यसागर
६५ उदयसागरसूरि
६६ आनन्दसागरसूरि
६७ शान्तिसागरसूरि

सागरगच्छीय-पट्टावली (२)

५३ आचार्य लक्ष्मीसागरसूरि

५४ उपाध्याय विद्यासागर गणि

५५ उपाध्याय धर्मसागर गणि – नाडोल मे जन्म, स० १५६५ मे १६ वर्ष की उम्र मे श्री दानसूरि के हाथ से दीक्षा, स० १६५३ मे स्वर्गवास।

५६ उपाध्याय – लब्धिसागर के शिष्य नेमिसागर और नेमिसागर के शिष्य मुक्तिसागर, उपाध्याय मुक्तिसागरजी को नगर सेठ शान्तिदास ने स० १६७९ मे आचार्य विजयदेवसूरि के वासक्षेप से उपाध्याय-पद दिया और १६८६ मे उक्त आचार्य के ही वासक्षेप से अहमदाबाद मे आचार्य पद दिया गया, इनकी पट्ट परम्परा नीचे मुजब चली।

५९ आचार्य विजयसेनसूरि

६० आचार्य राजसागरसूरि – राजसागर, उपा० लब्धिसागर के शिष्य; उपा० नेमिसागर के छोटे भाई तथा शिष्य थे। इनका जन्म स० १६३७ मे सिपोर मे हुआ था, इनका दीक्षा नाम मुक्तिसागर था। स० १६६५ मे पन्यास-पद, स० १६७९ मे वाचक-पद और स० १६८६ मे आचार्य-पद अहमदाबाद मे हुआ, नाम "राजसागरसूरि" प्रतिष्ठित किया था,

स० १७२१ मे अहमदाबाद मे स्वर्गवास, आचार्य राजसागरसूरि से "सागर" शाखा की पट्टावली चली है ।

६१ वृद्धिसागरसूरि –	स्वगवास स० १७४७ मे अहमदाबाद मे ।
६२ लक्ष्मीसागरसूरि –	स्वर्ग० स० १७८८ मे सूरत मे ।
६३ कल्याणसागरसूरि –	स्वग० स० १८११ मे ।
६४ पुण्यसागरसूरि –	स० १८०८ मे आचार्य-पद ।
६५ उदयसागरसूरि –	
६६ आनन्दसागरसूरि –	
६७ शान्तिसागरसूरि –	इन्होने स० १६२६ मे "तिथिक्षय वृद्धि" के सम्बन्ध मे हेण्डबिल प्रकाशित करवाये थे ।

सागरगच्छ के प्रारम्भिक आचार्यों का नाम-क्रम (३)

६०	तत्पट्टे	श्री	हीरविजयसूरि
६१	,,	,,	विजयसेनसूरि
६२	,,	,,	राजसागरसूरि
६३	,,	,,	ऋद्धिसागरसूरि
६४	,,	,,	लक्ष्मीसागरसूरि
६५	,,	,,	कल्याणसागरसूरि
६६	,,	,,	पुण्यसागरसूरि

सोहम्मकुल पट्टावली रास के आधार से विजयदानसूरि का स० १६२२ मे वटपद्र मे स्वर्गवास।

५८ राजविजयसूरि को विजयदानसूरि ने अन्त मे गच्छ सम्भालने के लिए लिखा, पर उन्होने प्रत्युत्तर मे लिखा कि दूसरा पट्टधर स्थापन करियेगा।

	स० १७२१ मे अहमदाबाद मे स्वर्गवास, आचार्य राजसागरसूरि से "सागर" शाखा की पट्टावली चली है।
६१ वृद्धिसागरसूरि –	स्वर्गवास स० १७४७ मे अहमदाबाद मे।
६२ लक्ष्मीसागरसूरि –	स्वर्ग० स० १७८८ मे सूरत मे।
६३ कल्याणसागरसूरि –	स्वर्ग० स० १८११ मे।
६४ पुण्यसागरसूरि –	स० १८०८ मे आचार्य पद।
६५ उदयसागरसूरि –	
६६ आनन्दसागरसूरि –	
६७ शान्तिसागरसूरि –	इन्होने स० १९२९ मे "तिथिक्षय वृद्धि" के सम्बन्ध मे हेण्डबिल प्रकाशित करवाये थे।

स० १८५६ के भाद्रवा सुदि ३ की लिखी हुई एक लघु पट्टावली मे पट्टक्रम निम्न प्रकार का है

यशोभद्र के बाद सभूतविजयजी का नाम लिख कर उनके पट्टधर स्थूलभद्रजी को लिखा है, भद्रबाहु का नाम नही दिया।

उद्योतन और सवदेवसूरि के नाम लिख कर देवसूरि का ३८वा नम्बर खाली रखा है और दूसरे सवदेवसूरि का नाम न लिख कर ३९वें पट्ट पर यशोभद्रसूरि को लिखा है। विजयसिहसूरि के बाद सोमप्रभ का नाम न लिख कर मणिरत्न को ४८वा पट्टधर लिखा है। ५३वें पट्टधर मुनिसुन्दरसूरि के नाम के बाद सीधा लक्ष्मीसागरसूरि का ५४वा नाम लिखा है, रत्नशेखर का नाम छूट गया है।

विजयनन्नसूरि के बाद विजयतिलकसूरि की पट्टावली दी है।

एक चौथी हमारी हस्तलिखित लघु पट्टावली, जिसमे २० आचार्यों का पट्टक्रम नही है और बाद म विजयदेवेन्द्रसूरि तक की पट्टावली व्यवस्थित है, आगे का पाट-क्रम का भाग नही मिला।

यशोदेवसूरि के बाद प्रद्युम्नसूरि तथा उपधान ग्रन्थकार मानदेवसूरि के नाम लिख कर इस पट्टावली मे सीधा विमलचन्द्रसूरि का नाम लिखा

परिशिष्ट (१)

तपागच्छ की लघु-अपूर्ण पट्टावलियाँ

हमारे पास की एक हस्तलिखित लघु तपागच्छीय पट्टावली, जो सुमतिसाधुसूरि के समय की लिखी हुई है, उसमे लिखी हुई कतिपय बातें उल्लेखनीय होने से टिप्पन के रूप में यहा दी जाती हैं।

इस लघु पट्टावली मे ३१वे पट्टधर श्री यशादेवसूरि के बाद श्री प्रद्युम्नसूरि और मानदेवसूरि को नही लिया, सीधा विमलचन्द्र, उद्योतन और सवदेवसूरि का नाम लिखा है और सवदेव के बाद अजितदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, सोमप्रभसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, अजितसिंहसूरि, विजयसेनसूरि और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर जगच्चन्द्रसूरि का नाम लिखा है। मणिरत्नसूरि के पहले के ६ नामो मे कुछ गडबड हुआ प्रतीत होता है।

उद्योतनसूरि के नाम के बाद दिये हुए टिप्पन में विक्रम स० १००८ में पौषधशालाओं मे ठहरने का कारण हुआ, ऐसा उल्लेख किया है।

श्री सुमतिसाधुसूरि का नाम लिखने के बाद टिप्पन मे लिखा है

"तेषां शिष्या श्री हेमविमलसूरय सम्प्रति विजयन्ते"।

हमारी एक अन्य हस्तलिखित पट्टावली मे श्री यशोभद्रसूरि के बाद ४०वा मुनिचन्द्रसूरि का नाम लिखा है, नेमिचन्द्र का नाम नही लिखा। आगे अजितदेव नामक ४१वें पट्टधर से ६६वें पट्टधर श्री विजयजिनेन्द्रसूरि तक के नाम लिखे मिले हैं।

स० १८५६ के भाद्रवा सुदि ३ को लिखी हुई एक लघु पट्टावली में पट्टक्रम निम्न प्रकार का है

यशोभद्र के बाद सभूतविजयजी का नाम लिख कर उनके पट्टधर स्थूलभद्रजी को लिखा है, भद्रबाहु का नाम नही दिया ।

उद्योतन और सर्वदेवसूरि के नाम लिख कर देवसूरि का ३८वा नम्बर खाली रक्खा है और दूसरे सर्वदेवसूरि का नाम न लिख कर ३९वें पट्ट पर यशोभद्रसूरि को लिखा है । विजयसिंहसूरि के बाद सोमप्रभ का नाम न लिख कर मणिरत्न को ४८वा पट्टधर लिखा है । ५३वें पट्टधर मुनिसुन्दरसूरि के नाम के बाद सीधा लक्ष्मीसागरसूरि का ५४वा नाम लिखा है, रत्नशेखर का नाम छूट गया है ।

विजयरत्नसूरि के बाद विजयतिलकसूरि की पट्टावली दी है ।

एक चौथी हमारी हस्तलिखित लघु पट्टावली, जिसमे २० आचार्यों का पट्टक्रम नही है और बाद में विजयदेवेन्द्रसूरि तक की पट्टावली व्यवस्थित है, आगे का पाट क्रम का भाग नही मिला ।

यशोदेवसूरि के बाद प्रद्युम्नसूरि तथा उपधान ग्रन्थकार मानदेवसूरि के नाम लिख कर इस पट्टावली मे सीधा विमलचन्द्रसूरि का नाम लिखा गया है ।

उद्योतनसूरि के पट्टधर श्री सर्वदेवसूरि का नाम लिख कर सीधा अजितदेव, विजयसिंह सोमप्रभ, मुनिचन्द्र, अजितसिंह, विजयसेन और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर श्री जगच्चन्द्रसूरि को ४३वा पट्टधर लिखा है, इन नामो मे भी खासी गडबडी हुई है ।

इस पट्टावली मे विजयसेनसूरि के समय मे विक्रम स० १२०१ मे चामुण्डिक गच्छ, स० १२१४ मे आचलिक गच्छ, ११५९ मे पूर्णिमा पक्ष और स० १२५० मे आगमिक गच्छ प्रकट होना लिखा है ।

हमारी एक लिखित पट्टावली मे इन्द्रदिन्न के बाद सिंहगिरि का नाम दिया है । इसी तरह विक्रमसूरि के बाद नरसिंहसूरि का नाम नही

परिशिष्ट (१)

तपागच्छ की लघु-अपूर्ण पट्टावलियाँ

हमारे पास की एक हस्तलिखित लघु तपागच्छीय पट्टावली, जो सुमतिसाधुसूरि के समय की लिखी हुई है, उसमे लिखी हुई कतिपय बातें उल्लेखनीय होने से टिप्पन के रूप मे यहा दी जाती हैं।

इस लघु पट्टावली मे ३१वे पट्टधर श्री यशोदेवसूरि के बाद श्री प्रद्युम्नसूरि और मानदेवसूरि को नही लिया, सीधा विमलचन्द्र, उद्योतन और सर्वदेवसूरि का नाम लिखा है और सर्वदेव के बाद अजितदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, सोमप्रभसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, अजितसिंहसूरि, विजयसेनसूरि और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर जगच्चन्द्रसूरि का नाम लिखा है। मणिरत्नसूरि के पहले के ६ नामो मे कुछ गड़बड़ हुआ प्रतीत होता है।

उद्योतनसूरि के नाम के बाद दिये हुए टिप्पन में विक्रम स० १००८ मे पौषधशालाओ मे ठहरने का कारण हुआ, ऐसा उल्लेख किया है।

श्री सुमतिसाधुसूरि का नाम लिखने के बाद टिप्पन मे लिखा है

"तेषां शिष्या श्री हेमविमलसूरय सम्प्रति विजयन्ते"।

हमारी एक अन्य हस्तलिखित पट्टावली मे श्री यशोभद्रसूरि के बाद ४०वा मुनिचन्द्रसूरि का नाम लिखा है, नेमिचन्द्र का नाम नही लिखा। आगे अजितदेव नामक ४१वें पट्टधर से ६६वें पट्टधर श्री विजयजिनेन्द्रसूरि तक के नाम लिखे मिले हैं।

स० १८५६ के भाद्रवा सुदि ३ की लिखी हुई एक लघु पट्टावली में पट्टक्रम निम्न प्रकार का है

यशोभद्र के बाद सभूतविजयजी का नाम लिख कर उनके पट्टधर स्थूलभद्रजी को लिखा है, भद्रबाहु का नाम नहीं दिया ।

उद्योतन और सर्वदेवसूरि के नाम लिख कर देवसूरि का ३८वा नम्बर खाली रक्खा है और दूसरे सर्वदेवसूरि का नाम न लिख कर ३९वें पट्ट पर यशोभद्रसूरि को लिखा है । विजयसिंहसूरि के बाद सोमप्रभ का नाम न लिख कर मणिरत्न को ४४वा पट्टधर लिखा है । ५३वें पट्टधर मुनिसुन्दरसूरि के नाम के बाद सीधा लक्ष्मीसागरसूरि का ५४वा नाम लिखा है, रत्नशेखर का नाम छूट गया है ।

विजयरत्नसूरि के बाद विजयतिलकसूरि की पट्टावली दी है ।

एक चौथी हमारी हस्तलिखित लघु पट्टावली, जिसमें २० आचार्यों का पट्टक्रम नहीं है और बाद में विजयदेवेन्द्रसूरि तक की पट्टावली व्यवस्थित है, आगे का पाट क्रम का भाग नहीं मिला ।

यशोदेवसूरि के बाद प्रद्युम्नसूरि तथा उपधान ग्रन्थकार मानदेवसूरि के नाम लिख कर इस पट्टावली में सीधा विमलचन्द्रसूरि का नाम लिखा गया है ।

उद्योतनसूरि के पट्टधर श्री सर्वदेवसूरि का नाम लिख कर सीधा अजितदेव, विजयसिंह सोमप्रभ, मुनिचन्द्र, अजितसिंह, विजयसेन और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर श्री जगच्चन्द्रसूरि को ६३वा पट्टधर लिखा है, इन नामों मे भी खासी गड़बड़ी हुई है ।

इस पट्टावली मे विजयसेनसूरि के समय मे विक्रम स० १२०१ मे चामुण्डिक गच्छ, स० १२१४ मे आचलिक गच्छ, ११५९ मे पूर्णिमा पक्ष और स० १२५० म आगमिक गच्छ प्रकट होना लिखा है ।

हमारी एक लिखित पट्टावली मे इन्द्रदिन्न के बाद सिंहगिरि का नाम दिया है । इसी तरह विक्रमसूरि के बाद नरसिंहसूरि का नाम नहीं

परिशिष्ट (१)

तपागच्छ की लघु-अपूर्ण पट्टावलियाँ

हमारे पास की एक हस्तलिखित लघु तपागच्छीय पट्टावली, जो सुमतिसाधुसूरि के समय की लिखी हुई है, उसमे लिखी हुई कतिपय बातें उल्लेखनीय होने से टिप्पन के रूप म यहाँ दी जाती है।

इस लघु पट्टावली मे ३१वे पट्टधर श्री यशोदेवसूरि के बाद श्री प्रद्युम्नसूरि और मानदेवसूरि को नही लिया, सीधा विमलचद्र, उद्योतन और सवदेवसूरि का नाम लिखा है और सवदेव के बाद अजितदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, सोमप्रभसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, अजितसिंहसूरि, विजयसेनसूरि और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर जगच्चन्द्रसूरि का नाम लिखा है। मणिरत्नसूरि के पहले के ६ नामो मे कुछ गडबड हुआ प्रतीत होता है।

उद्योतनसूरि के नाम के बाद दिये हुए टिप्पन मे विक्रम स० १००८ मे पौषधशालाओ मे ठहरने का कारण हुआ, ऐसा उल्लेख किया है।

श्री सुमतिसाधुसूरि का नाम लिखने के बाद टिप्पन मे लिखा है

"तेषां शिष्या श्री हेमविमलसूरय सम्प्रति विजयन्ते"।

हमारी एक अन्य हस्तलिखित पट्टावली मे श्री यशोभद्रसूरि के बाद ४०वां मुनिचन्द्रसूरि का नाम लिखा है, नेमिचन्द्र का नाम नही लिखा। आगे अजितदेव नामक ४१वें पट्टपर से ६६वें पट्टपर श्री विजयजिनेन्द्रसूरि तक के नाम लिखे मिले हैं।

सं० १८५६ के भाद्रवा सुदि २ को लिखी हुई एक लघु पट्टावली में पट्टक्रम निम्न प्रकार का है

यशोभद्र के बाद सम्भूतविजयजी का नाम लिख कर उनके पट्टधर स्थूलभद्रजी को लिखा है, भद्रबाहु का नाम नहीं दिया।

उद्योतन और सर्वदेवसूरि के नाम लिख कर देवसूरि का ३८वां नम्बर खाली रक्खा है और दूसरे सर्वदेवसूरि का नाम न लिख कर ३९वें पट्ट पर यशोभद्रसूरि को लिखा है। विजयसिंहसूरि के बाद सोमप्रभ का नाम न लिख कर मणिरत्न को ४०वां पट्टधर लिखा है। ५३वें पट्टधर मुनिसुन्दरसूरि के नाम के बाद सीधा लक्ष्मीसागरसूरि का ५४वां नाम लिखा है, रत्नशेखर का नाम छूट गया है।

विजयानन्दसूरि के बाद विजयतिलकसूरि की पट्टावली दी है।

एक चौथी हमारी हस्तलिखित लघु पट्टावली, जिसमें २० आचार्यों का पट्टक्रम नहीं है और बाद में विजयदेवेन्द्रसूरि तक की पट्टावली व्यवस्थित है, आगे का पाट क्रम का भाग नहीं मिला।

यशोदेवसूरि के बाद प्रद्युम्नसूरि तथा उपधान प्रकाशक मानदेवसूरि के नाम लिख कर इस पट्टावली में सीधा विमलचन्द्रसूरि का नाम लिखा गया है।

उद्योतनसूरि के पट्टधर श्री सर्वदेवसूरि का नाम लिख कर सीधा अजितदेव, विजयसिंह सोमप्रभ, मुनिचन्द्र, अजितसिंह, विजयसेन और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर श्री जगच्चन्द्रसूरि को ४०वां पट्टधर लिखा है, इन नामों में भी खासी गड़बड़ी हुई है।

दिया। मालूम होता है कि दिन का नरसिंह नाम नेखक के प्रमाद से छूट गया है।

इसी प्रकार सवदेव के पट्टधर देवसूरि के बाद द्वितीय सवदेवसूरि का नाम न लिख कर यशोभद्रसूरि का नाम लिखा है, यह भी लेखक का प्रमाद है।

आ० मणिरत्नप्रभ के बाद फिर सोमप्रभ का नाम लिख कर फिर जगच्चन्द्रसूरि का नाम लिखना तथा देवसुन्दरसूरि के बाद सोमसुन्दरसूरि का नाम न लिख कर मुनिसुन्दरसूरि का नाम लिखना, यह भी लेखक की प्रमाददशा का परिणाम है। यह पट्टावली किसी सागर की लिखी हुई है, क्योकि विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री राजसागर, वृद्धिसागर, लक्ष्मीसागर, कल्याणसागर और पुण्यसागर को पट्ट परम्परा मे माना है।

तपगच्छ पाट-परम्परा-स्वाध्याय

ले० : हर्षसागरोपाध्यायशिष्य

हर्षसाग० शिष्य लिखते है – रविप्रभसूरि भीसमइ पाटित्र-विमण जिनरजइ वरसइ ग्यारसइसतिरइ कुमति मदभजइ ॥

ऊपर के उल्लेख से स्वाध्यायलेखक रविप्रभसूरि का समय ११९७ सूचित करते हैं जा विचारणीय है। स्वाध्याय लेखक ने विजयदानसूरि के बाद श्री राजविजयसूरि का नाम लिखा है और उनको विजयदानसूरि का भावी पट्टधर लिखा है। लेखक ने अन्त मे सवत् भी दिया है, पर वह स्पष्ट रूप से जाना नही जाता। अन्तिम अक ६६ का होने से ज्ञात होता है कि यह स्वाध्याय १६६६ के वर्ष की कृति होनी चाहिए।

श्री तपगच्छीय-पट्टावली सज्झाय :

– कर्ता : मेघमुनि

इस स्वाध्याय का प्रारम्भ नीचे के पद्य से होता है

गुरु परिपाटी सुरलता, मूल पवहुण मीर।
शतसाखइ प्रसरइ घणु, जय जगगुरु महावीर ॥१॥

स्वाध्याय मे विजयसेनसूरि तक पट्ट क्रम व्यवस्थित रूप से दिया है। स्वाध्याय के अन्त की निम्नोद्धृत गाथा में लेखक ने अपना परिचय दिया –

जय तप गच्छ मडण, कुमत खडण सहजकुशल पडितवरो।
तस सीस पडित माणिक कुशलो सकल साधु शोभा करो ॥

श्री पडित मेहमुनीससीसि रची पाटपरपरा ।
जे भविभावि भणस्यइ अनइ सुणस्यइ वरस्यइ सिद्धि स्वयवरी ॥३६॥

इति श्री पट्टावली सज्झाय समाप्त ।

हमारी एक लघु पट्टावली मे विजयदानसूरि को ५६वे पट्ट पर लिख कर ५७वें पट्ट पर श्री देवचन्द्रसूरि का नाम लिखा है, फिर हीरविजयसूरि और विजयसेनसूरि के बाद विजयदेवसूरि का नाम न होने से ज्ञात होता है कि लेखक ने विजयदेवसूरि के बदले मे ही देवचन्द्रसूरि का नाम लिख दिया है। विजयसेन के बाद विजयसिंह, विजयप्रभ, विजयरत्न, विजयक्षमा, विजयदया, विजयधम और विजयजितेन्द्रसूरि के नाम क्रम लिखे गये हैं।

इसी पट्टावली मे उद्योतनसूरि के बाद सवदेवसूरि, देवसूरि और यशोभद्रसूरि के नाम लिखे हैं, द्वितीय सवदेवसूरि का नाम नही लिखा। यह पट्टावली भी किन्ही यतिजी के हाथ की लिखी हुई है।

हमारी एक तपागच्छीय पट्टावली है जो कल्पसूत्र के टबाथ के अन्त मे लिखी हुई है। लेखक का नाम श्री खुशालचन्द्रजी, श्री भुवनचन्द्रगणि के शिष्य थे और सवत् १७८४ के चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को जोधपुर मे लिखी गई थी। पट्टावली का पट्टक्रम व्यवस्थित है।

तपा-पट्टावली — ५ पत्र की अपूर्ण है, श्री जगच्चन्द्रसूरि तक की पाट-परम्परा इसमे दी हुई है।

इसी पट्टावली के आय स्थूलभद्र के दीक्षा आदि का हिसाब निम्न ढग से दिया गया है —

३० वर्षान्ते दीक्षा, २० वप श्रामण्य पर्याय, ५० वर्षे सूरिपद, ४६ वर्ष तक युग प्रधान पद भोगा।

देवसूरि के पट्टधर द्वितीय सवदेवसूरि को न लिखकर सीधा यशोभद्र-सूरि को बताया है।

विक्रमात् १२५० मे पूर्णमीया मे प्राचलीया बनकर देवभद्र और शीलभद्रसूरि ने प्रागमिक मत प्रकट किया।

स० ११८० वर्ष नवागी वृत्तिकर्ता श्री प्रभयदेवसूरि और उनके पट्टधर जिनवल्लभसूरि कूचपुर गच्छीय जिनेश्वरसूरि के शिष्य हुए और चित्रकूट ऊपर छ कल्याणकों की प्ररूपणा की।

"पत्तने स्त्रीजिनपूजा उत्थापिता, सघभयेन उष्ट्रिकायहनेन जाबालिपुरे गत तेन लोक औष्ट्रिक नाम दत्त ॥"

हमारी एक सवत् १८५० मे लिखी हुई भाषा पट्टावली जो विजयजिनेन्द्रसूरि के समय की लिखी हुई है, इस पट्टावली मे अनेक अज्ञानपूर्ण स्खलनाए दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे सुधर्मा स्वामी की छद्मस्थावस्था ४२ वर्ष और केवली पर्याय १८ वर्ष का मानना।

प्रभव स्थविर के युगप्रधान पर्याय के १४ वर्ष लिखना।

यशोभद्रसूरिजी का आयुष्य ६० वर्ष का लिखना।

स्थूलभद्रजी का आयुष्य ८० वर्ष का लिखना और उनका स्वर्गवास महावीरनिर्वाण से २५० मे मानना।

वज्रसेनसूरि का आयुष्य ६० वर्ष का लिखना।

जयानन्दसूरि के पट्टधर श्री रविप्रभसूरि को जिननिर्वाण मे ११६० मे मानना।

श्री हेमविमलसूरि के समय मे तपागच्छ के तीन फांटे पडे। कमम-कलशा, कतकपुरा, वडगच्छा ॥

स० १५६२ मे कडुआमत गच्छ
स० १५७२ मे बीजामत गच्छ
स० १५८२ मे पाश्वचन्द्र गच्छ

श्री दानसूरि के समय मे सागरमति गच्छ निकला और स० १६६२ मे विजयदानसूरि का स्वर्गवास।

स० १६२६ में मेघजी ऋषि आदि ठाणा २७ ने आचार्य हीरसूरिजी के हाथ से दीक्षा ली।

स० १६६२ वर्षे आषाढ सुदि ११ को उनानगर मे विजयदेवसूरि का स्वर्ग० ॥

स० १६६५ वर्षे विजयआनन्दसरि गच्छ निकला ।

स० १८५० वप म कार्तिक सुदि ५ को यह पट्टावली प० कल्याण सागर पठनाथ लिखी गई है ।

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली में आचाय वज्रसेनसूरि का आयुष्य १२० वष का लिखा ।

आचाय सवदेवसूरि के पट्टधर देवेन्द्रसूरि लिखा है ।

आचाय विजयदेवसूरि के समय मे राजनगर में सेठ शान्तिदास ने प्रत्येक मनुष्य को प्रभावना मे एक एक अ गुठी सोने की दी थी । सागरगच्छ की खुशी में ।

हमारी एक पट्टावली जो विजयदयासूरि पयन्त की पाट-परम्परा वाली है, उसमें आयवज्र का ज म नि० ४९६ और स्वर्गवास जिननिर्वाण से ५०४ में लिखा है ।

आचार्य रविप्रभ के समय में वीरनिर्वाण से ११९० में श्री उमास्वाति वाचक हुए । आचाय रत्नशेखरसूरि के समय में स० १५३५ वर्षे लु कामत प्रकट हुआ । उस समय में भाणा नामक व्यक्ति साधुवेश धारण करने वाला हुआ ।

इसी पट्टावली में आचाय विजयसिंहसूरि की दीक्षा का वष १६५१ और उपाध्याय पद का १६७३ का वष लिखा है ।

विजयप्रभसूरि का स्वगवास स० १७४९ लिखा है, दीव बन्दर मध्ये उचा गाव में ।

विजयरत्नसूरि का पूर्व नाम जीतविजय था । माता पिता भाई के साथ इनकी दीक्षा विजयप्रभसूरि के हाथ से हुई थी ।

विजयरत्नसूरि के चातुर्मास्यों के गावों की सूची :

स० १७४९ में भट्टारक-पद ।

१७३३ मे मेड़ता मे गुरु के साथ   १७४९ पु जपुर

१७३४	स्वतत्र मेडता मे	१७५०	पाटण
१७३५	सोजत	१७५१	सोहीगाम
१७३६	कुक्कुडेश्वर (मालवा)	१७५२	(द) माडा
१७३७	सीदरसी	१७५३–१७६३	ग्रहमदाबाद मे बराबर ११ वष रहे ।
१७३८	दयालीए		
१७३९	रतलाम	१७६४	उदयपुर
१७४०	मा वगढ	१७६५	मे कोठारीया
१७४१	,,	१७६६	सादडी
१७४२	रतलाम	१७६७	बासवाडा
१७४३	उदयपुर	१७६८	उदयपुर
१७४४	खमणोर	१७६९	,,
१७४५	कोठारिया	१७७०	जोधपुर
१७४६	ग्रासपुर	१७७१	बीजोवा
१७४७	बासवाडे	१७७२	सादडी
१७४८	डूगरपुर	१७७३	उदयपुर

ग्राचार्य जिनयक्षमासूरि के चातुर्मास्यों की सूची

१७७४	कोठारीया	१७७९	पाटण
१७७५	कीशनगढ	१७८०	पालिताणा
१७७६	,,	१७८१	घोघाबन्दर
१७७७	उदयपुर	१७८२	दीवब दर
१७७८	पालनपुर	१७८३	,,

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली मे जो १७९० मे लिखी हुई है, ग्राय स्थूलभद्र का गृहस्थ-पर्याय ३० वर्ष, व्रत पर्याय २० वष, ग्रौर ४९ वष युगप्रधान पर्याय के माने हैं ।

"वि० ११३५ वर्षे केचित् ११३९ वर्षे नवागवृत्तिकारक श्री मदभय-देवसूरिः स्वगभाक् तथा कूचपक्षीय चत्यवासि जिनेश्वरसूरिशिष्यो जिन-वल्लभनामा चित्रकूटे षट्कल्याणकप्ररूपणया विधिसघो विधिधम इति

स० १६९२ वर्षे आषाढ सुदि ११ को उनानगर मे विजयदेवसूरि का स्वर्ग० ॥

स० १६६५ वर्षे विजयआनन्दसूरि गच्छ निकला।

स० १८५० वष म कार्तिक सुदि ५ को यह पट्टावली प० कल्याण सागर पठनाथ लिखी गई है।

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली में आचाय वज्रसेनसूरि का आयुष्य १२० वष का लिखा।

आचाय सवदेवसूरि के पट्टधर देवेन्द्रसूरि लिखा है।

आचार्य विजयदेवसूरि के समय मे राजनगर में सेठ शान्तिदास ने प्रत्येक मनुष्य को प्रभावना मे एक एक अगुठी सोने की दी थी। सागरगच्छ की खुशी मे।

हमारी एक पट्टावली जो विजयदयासूरि पयन्त की पाट-परम्परा वाली है, उसमे आयवज्र का जन्म नि० ४९६ और स्वगवास जिननिर्वाण से ५०४ में लिखा है।

आचार्य रविप्रभ के समय मे वीरनिर्वाण से ११९० में श्री उमास्वाति वाचक हुए। आचाय रत्नशेखरसूरि के समय मे स० १५३५ वर्षे लुकामत प्रकट हुआ। उस समय में भाणा नामक व्यक्ति साधुवेश धारण करने वाला हुआ।

इसी पट्टावली म आचाय विजयसिंहसूरि की दीक्षा का वष १६५१ और उपाध्याय पद का १६७३ का वर्ष लिखा है।

विजयप्रभसूरि का स्वगवास स० १७४९ लिखा है, दीव बन्दर मध्ये उचा गाव में।

विजयरत्नसूरि का पूव नाम जीतविजय था। माता-पिता भाई के साथ इनकी दीक्षा विजयप्रभसूरि के हाथ से हुई थी।

विजयरत्नसूरि के चातुर्मास्यों के गावों की सूची :

स० १७४९ में भट्टारक-पद।

१७३३ मे मेड़ता मे गुरु के साथ १७४९ पुजपुर

१७३४	स्वतन्त्र मेड़ता में	१७५०	पाटण
१७३५	सोजत	१७५१	सोहीगाम
१७३६	कुक्कुडेश्वर (मालवा)	१७५२	(द) साडा
१७३७	सीदरसी	१७५३–१७६३	ग्रहमदाबाद मे बराबर ११ वष रहे ।
१७३८	दधालीए		
१७३९	रतलाम	१७६४	उदयपुर
१७४०	माण्डवगढ	१७६५	मे कोठारीया
१७४१	,,	१७६६	सादडी
१७४२	रतलाम	१७६७	बासवाडा
१७४३	उदयपुर	१७६८	उदयपुर
१७४४	खमणोर	१७६९	,,
१७४५	कोठारिया	१७७०	जोधपुर
१७४६	ग्रासपुर	१७७१	बीजोवा
१७४७	बासवाडे	१७७२	सादडी
१७४८	डूगरपुर	१७७३	उदयपुर

आचार्य विजयक्षमासूरि के चातुर्मास्यों की सूची ·

१७७४	कोठारीया	१७७९	पाटण
१७७५	कीशनगढ	१७८०	पालिताणा
१७७६	,,	१७८१	घोघाबन्दर
१७७७	उदयपुर	१७८२	दीवबन्दर
१७७८	पालनपुर	१७८३	,,

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली मे जो १७९० मे लिखी हुई है, भाय स्थूलभद्र का गृहस्थ-पर्याय ३० वष, व्रत पर्याय २० वष, और ४९ वष युगप्रधान पर्याय के माने हैं ।

"वि० ११३५ वर्षे केचित् ११३९ वर्षे नवागवृत्तिकारक श्री मदभयदेवसूरिः स्वगभाक् तथा कूर्चपक्षीय चत्यवासि जिनेश्वरसूरिशिष्यो जिनवल्लभनामा चित्रकूटे षट्कल्याणकप्ररूपणया विधिसघो विधिधम इति

स० १६९२ वर्षे आषाढ सुदि ११ को उनानगर में विजयदेवसूरि का स्वर्ग० ॥

स० १६६५ वर्षे विजयआनन्दसूरि गच्छ निकला।

स० १८५० वष म कार्तिक सुदि ५ को यह पट्टावली प० कल्याण सागर पठनाथ लिखी गई है।

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली में आचाय वज्रसेनसूरि का आयुष्य १२० वष का लिखा।

आचाय सवदेवसूरि के पट्टधर देवेन्द्रसूरि लिखा है।

आचार्य विजयदेवसूरि के समय मे राजनगर में सेठ शान्तिदास ने प्रत्येक मनुष्य को प्रभावना मे एक एक अ गुठी सोने की दी थी। सागरगच्छ की खुशी में।

हमारी एक पट्टावली जो विजयदयासूरि पय त की पाट-परम्परा वाली है, उसमें आयवज्र का जन्म नि० ४९६ और स्वगवास जिननिर्वाण से ५०४ में लिखा है।

आचाय रविप्रभ के समय मे वीरनिर्वाण से ११९० में श्री उमास्वाति वाचक हुए। आचाय रत्नशेखरसूरि के समय मे स० १५३५ वर्षे लु कामत प्रकट हुआ। उस समय में भाणा नामक व्यक्ति साधुवेश धारण करने वाला हुआ।

इसी पट्टावली में आचाय विजयसिंहसूरि की दीक्षा का वष १६५१ और उपाध्याय पद का १६७३ का वष लिखा है।

विजयप्रभसूरि का स्वर्गवास स० १७४९ लिखा है, दीव ब दर मध्ये उचा गाव में।

विजयरत्नसूरि का पूव नाम जीतविजय था। माता पिता भाई के साथ इनकी दीक्षा विजयप्रभसूरि के हाथ से हुई थी।

विजयरत्नसूरि के चातुर्मास्यों के गावों की सूची :

स० १७४९ में भट्टारक-पद।

१७३३ मे मेडता में गुरु के साथ १७४९ पु जपुर

१७३४	स्वतन्त्र मेडता मे	१७५०	पाटण
१७३५	सोजत	१७५१	सोहीगाम
१७३६	कुक्कडेश्वर (मालवा)	१७५२	(द) साडा
१७३७	सीदरशी	१७५३–१७६३	ग्रहमदावाद मे वरावर ११ वप रहे ।
१७३८	दधालीए		
१७३९	रतलाम	१७६४	उदयपुर
१७४०	माण्डवगढ	१७६५	मे कोठारीया
१७४१	,,	१७६६	सादडी
१७४२	रतलाम	१७६७	बासवाडा
१७४३	उदयपुर	१७६८	उदयपुर
१७४४	खमणोर	१७६९	,,
१७४५	कोठारिया	१७७०	जोधपुर
१७४६	आसपुर	१७७१	वीजोवा
१७४७	वासवाडे	१७७२	सादडी
१७४८	डूगरपुर	१७७३	उदयपुर

आचार्य विजयक्षमासूरि के चातुर्मास्यों की सूची ·

१७७४	कोठारीया	१७७९	पाटण
१७७५	कीशनगढ़	१७८०	पालिताणा
१७७६	,,	१७८१	घोघाबन्दर
१७७७	उदयपुर	१७८२	दीवबन्दर
१७७८	पालनपुर	१७८३	,,

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली मे जो १७९० मे लिखी हुई है, भाय स्थूलभद्र का गृहस्थ-पर्याय ३० वप, व्रत पर्याय २० वप, और ४९ वप युगप्रधान पर्याय के माने हैं ।

"वि० ११३५ वर्षे केचित् ११३९ वर्षे नवाङ्गवृत्तिकारक श्री मदभय-देवसूरिः स्वर्गभाक् तथा कूर्चपक्षीय चत्यवासि जिनेश्वरसूरिशिष्यो जिन-वल्लभनामा चित्रकूटे षट्कल्याणकप्ररूपणया विधिसघो विधिधर्म इति

नाम्ना स्वमत प्रकाशितवान् तेन प्रवचनात् बहिभूत । वि० ११४५ तथा ११५० सा प्ररूपणा सभाव्यते ॥"

इसी पट्टावली मे –

'वादिदेवसूरीणा वि० ११४३ जन्म, ११५२ व्रत, ११७४ सूरिपद, १२२६ स्वर्गोऽभूत् ॥"

"स० १२५० वर्षे पौर्णमियकाचलिकमतोत्थिताभ्या देवभद्र शील गुणाख्याभ्या श्रीशत्रुञ्जयपरिसरे आगमिकमत प्रादुभू त ।"

"तथा च भीमपल्यां गुरुभिश्चतुर्मासिक कृत, ज्ञानातिशयेन तद्भ ग ज्ञात्वाऽयपक्षीयैकादशाचार्यैर्निवारिता अपि चतुर्मासी प्रतिक्रम्य प्रथमकार्तिक पक्षातेऽन्यत्र विहृता ॥"

एक अन्य हस्तलिखित पट्टावली मे विजयक्षमासूरि का जन्म पाली मे स० १७३२ मे, दीक्षा १७३६ मे, १७५६ मे पन्यास-पद, १७७३ भाद्रपद सुदि ८ को आचाय पद, माह सुदि ६ पदोत्सव उदयपुर मे ॥

एक हस्तलिखित पट्टावली मे आचार्य विजयरत्नसूरि का स्वग समय वि० स० १७७३ के भाद्रपद शुक्ला ३ को लिखा ह ।

आचाय विजयक्षमासूरि का जन्म मेवाड प्रात मे, 'धावल नगर' मे हुआ ।

आ० विजयदयासूरि का सूरिपद मागलार मे और १८०९ मे स्वर्गवास हुआ ।

आ० धमसूरि को आचाय पद १८०३ मे उदयपुर मे और १८४१ मे स्वर्गवास ।

विजयजिनेन्द्रसूरि को सूरि-पद १८४१ मे ॥

एक पट्टावली मे विजयरत्नसूरि का स्वग १७७३ मे "भाद्रपद शु० २ मागलोर मे, स० १७८४ मे विजयदानसूरि को सूरि-पद और स्वगवास सुरत में ।

विजयदेवेन्द्रसूरि का जन्म चिञाधा नगर मे, सिरोही म सूरि पद और स्वगवास राधनपुर म हुआ ।

१. विजय-संविग्न शाखा की गुरु-परम्परा

६१	आचार्य श्री विजयसिंहसूरि — स्वर्ग० १७०६ मे ।	
६२	प०	सत्यविजयजी गणि —
६३	प०	कपूरविजयजी गणि — स्वर्गवास स० १७७५ मे ।
६४	प०	क्षमाविजयजी गणि — स्व० स० १७८७ मे ।
६५	प०	जिनविजयजी गणि — स्व० स० १८१६ मे ।
६६	प०	उत्तमविजयजी गणि — स्व० स० १८२७, (स० १८१८ मे भीखमजी ने १३ पथ चलाया)
६७	प०	पद्मविजयजी गणि — स्व० १८६२ ।
६८	प०	रूपविजयजी गणि — स्व० स० १६१० ।
६९	प०	कीर्तिविजयजी गणि ।
७०	प०	कस्तूरविजयजी गणि ।
७१	प०	मणिविजयजी गणि । (दादा) स्व० स० १९३५ ।
७२	प०	सिद्धिविजयजी गणि (सूरि) स्व० स० २०१६ ।
७३	मुनि श्री केसरविजयजी —	जन्म स० १९१९ मे शेरगढ (मारवाड) मे दीक्षा स १९३८ चारित्रोपसम्पद् स० १९६४ मे प० सिद्धविजयजी गणि के पास। स्वर्गवास स० १९७१ फाल्गुण सुदि २ (तखतगढ़ मे)

सागर-संविग्न शाखा की गुरु-परम्परा

(५८) आचार्य श्री हीरविजयसूरि ।
(५९) उपाध्याय सहजसागर ।
(६०) ,, जयसागर ।
(६१) ,, जितसागर ।
(६२) प० मानसागर ।
(६३) मयगलसागर ।
(६४) पद्मसागर । (स्व० स० १८२५ मे)
(६५) सुज्ञानसागर । (स्व० स० १८३८)
(६६) स्वरूपसागर । (स्व० स० १८६६)
(६७) निधानसागर । (स्व० स० १८८७)
(६८) मयगलसागर ।

(६९) गौतमसागर ।
(७०) झवेरसागर
(७१) आचार्य आनन्दसागरसूरि ।
(७२) ,, माणिक्यसागरसूरि ।

(६९) नेमिसागरजी ।
(७०) रविसागरजी
(७१) सुखसागरजी
(७२) आचार्य बुद्धिसागरसूरि ।
(स० १९८१ स्वर्ग)
(७३) आ० अजितसागरसूरि ।
(७४) आ० ऋद्धिसागरसूरि ।
(७५) ,, कीर्तिसागरसूरि ।

विमल संविग्न शाखा की गुरु-परम्परा

(५६) आनन्दविमलसूरि
(५७) ऋद्धिविमलजी
(५८) कीर्तिविमलजी
(५९) वीरविमलजी
(६०) महोदयविमलजी
(६१) प्रमोदविमलजी
(६२) मणिविमलजी
(६३) उद्योतविमलजी
(६४) दानविमलजी
(६५) पं० दयालविमलजी
(६६) ,, सौभाग्यविमलजी
(६७) ,, मुक्तिविमलजी (स्व० १९७४ मे)
(६८) आ० रंगविमलसूरि (सं० २००९ मे आचार्य-पद)

श्री पार्श्वचन्द्र गच्छ की पट्टावली (१)

श्री पार्श्वचन्द्र गच्छ के अनुयायी अपने गच्छ का अनुसन्धान श्री वादिदेवसूरि के साथ करते है। इनका कहना है कि वादिदेवसूरिजी ने चौबीस साधुओ का आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। उनमे श्री "पद्मप्रभ" नामक आचार्य भी एक थे, जिनसे हमारी "नागपुरीयतपागच्छ" की परम्परा चली है। पार्श्वचन्द्र के अनुयायियो का उक्त कथन कहा तक ठीक है, इस पर हम टीकाटिप्पणी करना नही चाहते, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि इनके गच्छ के साथ लगा हुआ "तपागच्छ" यह विशेषण सूचित करता है कि यह अनुसन्धान बाद मे किया गया है। क्योकि "तपागच्छ" नाम के प्रवर्तक आचार्यश्री जगच्चन्द्रसूरि थे, और इनको यह पद स० १२८५ मे प्राप्त हुआ था। इससे इतना तो निश्चित है कि पद्मप्रभसूरि से "नागपुरीय तपागच्छ" शब्द का प्रचलन नही हुआ था। मालूम होता है, उपाध्याय पार्श्वचन्द्र का अपने गुरु के साथ वैमनस्य होने के बाद "पद्मप्रभसूरि" से अपना सम्बन्ध जोडकर वे स्वय उनकी परम्परा मे प्रविष्ट हो गये है।

वादिदेवसूरि के बाद पार्श्वचन्द्रीय अपनी पट्टपरम्परा निम्नलिखित बताते हैं –

४५	श्री पद्मप्रभसूरि	५१	श्री रत्नशेखरसूरि
४६	,, प्रसन्नचन्द्रसूरि	५२	,, हेमचन्द्रसूरि
४७	,, गुणसमुद्रसूरि	५३	,, पूर्णचन्द्रसूरि
४८	,, जयशेखरसूरि	५४	,, हेमहंससूरि
४९	,, वज्रसेनसूरि	५५	,, लक्ष्मीनिवाससूरि
५०	,, हेमतिलकसूरि	५६	,, पुण्यरत्नसूरि
		५७	,, साधुरत्नसूरि (पार्श्वचन्द्र के गुरु)

श्री पार्श्वचन्द्रगच्छ नाम पड़ने के बाद –

५८ श्री पार्श्वचन्द्रसूरि १ – पार्श्वचन्द्र के प्रथम शिष्य आचार्य विजयदेव ने अपने गुरु उपाध्याय पार्श्वचन्द्र को आचार्य-पद दिया था।

पार्श्वचन्द्रसूरि का जन्म सं० १५३७, हमीरपुर मे, दीक्षा १५४६, उपाध्याय पद सं० १५५४ मे, क्रियोद्धार सं० १५६४ मे, आचार्य पद सं० १५६५ मे, स्वर्गवास सं० १६१२ मे।

५९ श्री समरसूरि – सं० १६२६ मे स्वर्गवास,

६० ,, राजचन्द्रसूरि ६५ श्री नेमिचन्द्र ७० श्री लब्धिचन्द्रसूरि
६१ ,, विमलचन्द्रसूरि ६६ ,, कनकचन्द्रसूरि ७१ ,, रूपचन्द्रसूरि
६२ ,, जयचन्द्रसूरि ६७ ,, शिवचन्द्रसूरि ७२ ,, मुक्तिचन्द्रसूरि
६३ ,, पद्मचन्द्रसूरि ६८ ,, भानुचन्द्रसूरि
६४ ,, मुनिचन्द्रसूरि ६९ ,, विवेकचन्द्रसूरि

७३ श्री भ्रातृचन्द्रसूरि २ – का जन्म सं० १९२० में *बड़गांव (मारवाड़)*, दीक्षा सं० १९३५ मे वीरमगाव, क्रियोद्धार सं० १९३७ मे, माडल मे, आचार्य पद १९६७ शिवगज (मारवाड) स्वर्गवास १९७२ मे अहमदाबाद मे।

७४ श्री सागरचन्द्रसूरि का जन्म सं० १९४३, दीक्षा १९५८ मे, आचार्य १९९३ मे, १९९५ में स्वर्गवास।

७५ ,, मुनिवृद्धिचन्द्र

पार्श्वचन्द्र-गच्छ की लघु-पट्टावली (२)

१	श्री पार्श्वचन्द्रसूरि –	सं० १५७२ वर्षे नागपुरीय तपागच्छ से निकल कर सं० १५७५ मे अपना मत प्रकट किया।
२	समरचन्द्रसूरि	
३	राजचन्द्रसूरि	
४	विमलचन्द्रसूरि	
५	जयचन्द्रसूरि –	सं० १६६६ में स्वर्गवास।
६	श्री पद्मचन्द्रसूरि –	सं० १७४४ मे स्वर्ग।
७	श्री मुनिचन्द्रसूरि –	१७५० में स्वर्ग।
८	श्री नेमिचन्द्रसूरि –	१७९७ में स्वर्ग।
९	श्री कनकचन्द्रसूरि –	
१०	श्री शिवचन्द्रसूरि –	सं० १८२३ मे स्वर्ग।
११	श्री भानुचन्द्रसूरि –	
१२	विवेकचन्द्रसूरि	
१३	श्री लब्धिचन्द्रसूरि –	
१४	श्री हर्षचन्द्रसूरि	सं० १९१३ मे स्वर्ग।
१५	श्री हेमचन्द्रसूरि	सं० १९४० मे स्वर्ग।
१६	श्री भ्रातृचन्द्रसूरि	सं० १९७२ मे स्वर्ग।
१७	श्री सागरचन्द्रसूरि	सं० १९९३ मे स्वर्ग।

बृहद्-गच्छ गुर्वावली

१५ चन्द्रसूरि
१६ समन्तभद्र (अरण्यवासी)
१७ वृद्धदेवसूरि (उपसम्पदा समन्तभद्र द्वारा)
१८ प्रद्योतनसूरि
१९ मानदेवसूरि
२० मानतुंगसूरि
२१ वीरसूरि
२२ जयदेवसूरि
२३ देवानन्दसूरि
२४ विक्रमसूरि
२५ नरसिंहसूरि
२६ समुद्रसूरि
२७ मानदेव
२८ विबुधप्रभसूरि
२९ जयानन्दसूरि
३० रविप्रभसूरि (जिन्होंने वि० संवत् ७१० में नाडोल नगर में चैत्यप्रतिष्ठा की)
३१ यशोदेवसूरि
३२ प्रद्युम्नसूरि
३३ मानदेवसूरि (योग और उपधान विधिकारक)
३४ विमलचन्द्र (वि० ८२२ मे)

३५ उद्योतनसूरि (लोकडीया वट के नीचे वि० ६६४ में ३०० शिष्य परिवार के साथ अनेकों को आचार्य पद दिया ।)
३६ सर्वदेवसूरि
३७ रूपदेवसूरि
३८ सर्वदेवसूरि
३६ यशोभद्र और नेमिचन्द्रसूरि
४० मुनिचन्द्रसूरि (११७४ मे पट्टधर बनाया)
४१ वादी देवसूरि
४२ मानदेवसूरि
४३ हरिभद्रसूरि
४४ पूर्णचन्द्रसूरि
४५ नेमिचन्द्रसूरि
४६ श्री जयचन्द्रसूरि
४७ मुनिशेखरसूरि
४८ तिलकसूरि
४६ भद्रेश्वरसूरि
५० मुनीश्वरसुमरिण-भट्टारक
५१ रत्नप्रभसूरि
५२ महेन्द्रसूरि
५३ रत्नाकरसूरि
५४ मेरुप्रभसूरि
५५ राजरत्नसूरि
५६ मुनिदेवसूरि
५७ रत्नशेखरसूरि
५८ पुण्यप्रभसूरि
५६ जयराजसूरि
६० भावसूरि
६१ उदयराजसूरि

६२ भ० शीलदेवसूरि
६३ सुरेन्द्रसूरि
६४ प्रभाकरसूरि
६५ माणिक्यदेवसूरि
६६ दामोदरसूरि
६७ देवसूरि
६८ नरेन्द्रदेव

श्री ऊकेश गच्छीया पट्टावली

पार्श्वनाथ शिष्य –

१ गणधर श्री शुभदत्त

२ त० हरिदत्त

३ आर्य समुद्र

४ श्री केशी गणधर

५ स्वयम्प्रभसूरि

६ रत्नप्रभसूरि – वी० नि० ५२ मे आचार्य-पद, पार्श्वनाथ की प्रतिमा साथ में लेकर दीक्षित हुए, वी० नि० ८४ में स्वर्गवास।

७

८ यक्षदेवाचार्य – मणिभद्र यक्षप्रतिबोधकर्ता

९ कक्कसूरि

१० देवगुप्तसूरि

११ सिद्धसूरि

१२ रत्नप्रभसूरि

१३ यक्षदेव

१४ कक्कसूरि

१५ देवगुप्तसूरि

१६ सिद्धसूरि

१७ रत्नप्रभसूरि

१८ यक्षदेव वी० नि० से ५८५

१६ कक्कसूरि
२० देवगुप्तसूरि
२१ सिद्धसूरि
२२ रत्नप्रभसूरि
२३ यक्षदेव
२४ कक्कसूरि
२५ देवगुप्तसूरि
२६ सिद्धसूरि
२७ रत्नप्रभसूरि
२८ यक्षदेव
२६ कक्कदेवसूरि
३० देवगुप्त
३१ सिद्धसूरि
३२ रत्नप्रभ
३३ यक्षदेव
३४ ककुददेव
३५ देवगुप्त — ५ उपाध्याय स्थापित किये, उनमे से जयतिलक उपाध्याय ने 'शान्तिनाथचरित्र" बनाया।
३६ सिद्धसरि
३७ कक्कदेव
३८ देवगुप्त
३६ श्री सिद्धसूरि
४० कक्क
४१ देवगुप्त — स० ६६५ के वर्ष मे हुए। वीणा बजाने मे होशियार थे, जाति के क्षत्रिय होने से शिथिल हो गए, सो सघ ने पदभ्रष्ट किया और सिद्धसूरि को बिठाया।
४२ सिद्धसूरि
४३ कक्कसूरि — पचप्रमाणग्रन्थकर्त्ता।

४४ श्री देवगुप्तसूरि – स० १०७२ वर्ष मे ।
४५ सिद्धसूरि – नवपदप्रकरण स्वोपज्ञ टीका कर्त्ता ।
४६ कक्कसूरि
४७ देवगुप्तसूरि
४८ सिद्धसूरि
४९ कक्कसूरि
५० देवगुप्तसूरि – स० ११०८ में भीनमाल नगर मे पद उत्सव शाह भैसाशाह ने किया ।
५१ सिद्धसूरि
५२ कक्कसूरि – स० ११५४ मे हुए । जिन्होने हेमसूरि और कुमारपाल के वचन से अपने पास से दयाहीन साधुओ को निकाल दिया ।
५३ देवगुप्तसूरि – जिन्होने एक लाख का त्याग किया ।
५४ सिद्धसूरि
५५ कक्कसूरि – जिन्होंने स० १२५२ मे मरोट कोट प्रकट किया ।
५६ देवगुप्तसूरि
५७ सिद्धसूरि
५८ कक्कसूरि
५९ देवगुप्तसूरि
६० सिद्धसूरि
६१ कक्कसूरि
६२ देवगुप्तसूरि
६३ सिद्धसूरि
६४ कक्कसूरि
६५ देवगुप्त – देसलपुत्र सहजा, समरा ने विमलवसतिका उद्धार कराया स० १३७१ मे । समरा के आग्रह से सिद्धसूरि ने शत्रुञ्जय के षष्ठ उद्धार में आदिनाथ की प्रतिष्ठा की ।

६६ सिद्धसूरि – सं० १३३० मे वर्धा नगर मे शाह देसल ने यात्रा की १४ बार, सिद्धसूरि प्रमुख सुविहित आचार्य साधुओं द्वारा तिलक कराया गया।

६७ ककसूरि – सं० १३७१ मे सहजा ने पदमहोत्सव किया। इन ककसूरि ने "गच्छ प्रबन्ध" बनाया जिसमे देसल के पुत्र समरा सहजा का चरित्र है।

६८ देवगुप्तसूरि – श्री शाङ्गधर राघवी ने सं० १४०६ मे दिल्ली मे इनका पदमहोत्सव किया।

६९ श्री सिद्धसूरि–सं० १४७५ मे पाटन मे शाह भाया नौवागर ने इनका पदमहोत्सव किया।

७० ककसूरि – सं० १४९८ मे चित्तौड मे शा० सारग सोनागर राजा ने पदमहोत्सव किया।

७१ देवगुप्तसूरि – सं० १५२८ मे जोधपुर मे मन्त्री जैतागर ने पदमहोत्सव किया, इन्होने ५ उपाध्याय स्थापित किये, उनके नाम – धनसार उपा०, उपा० देवकल्लोल, उ० पद्मतिलक, उ० हसराज, उ० मतिसागर।

७२ सिद्धसूरि – मन्त्री लोलागर ने सं० १५६५ मे, मेडता मे पदमहोत्सव किया।

७३ ककसूरि – जोधपुर मे सं० १५९९ मे गच्छाधिप हुए, मन्त्री धर्मसिह ने पदमहोत्सव किया।

७४ देवगुप्तसूरि – सं० १६३१ मे सहसवीरपुत्र मन्त्री देदागर ने पदमहोत्सव किया।

७५ सिद्धसूरि – सं० १६५५ मे चैत्र सुदि १३ को विक्रमपुर मे पदमहोत्सव हुआ।

७६ ककसूरि – सं० १६८९ फाल्गुण सुदि ३ को पदमहोत्सव मन्त्री सावलक ने किया।

७७ देवगुप्तसूरि – सं० १७२७ मे ईश्वरदास ने पदमहोत्सव किया।

७८ श्री सिद्धसूरि सं० १७६७ के मिगसर सुदि १० को मन्त्री सगतसिंह ने पदमहोत्सव किया।

७९ कक्कसूरि – सं० १७८३ मे आषाढ़ वदि १३ को मन्त्री दौलतराम ने पदमहोत्सव किया ।

८० देवगुप्तसूरि – सं० १८०७ मे मुहता दौलतरामजी ने पदमहोत्सव किया ।

८१ सिद्धसूरि – सं० १८४७ में माह सुदि १० के दिन मुहता श्री खुशालचन्द्र ने पदमहोत्सव किया ।

८२ श्री कक्कसूरि–सं० १८९१ वर्ष चैत्र सुदि ८ को पद हुआ, बीकानेर मे ।

८३ श्री देवगुप्तसूरि–सं० १९०५ में भाद्रवा सुदि १३ को पद हुआ, फलोदी मे समस्त मुहतो ने पदोत्सव करवाया ।

८४ श्री सिद्धसूरि-सं० १९३५ के माघ कृष्ण ११ को पट्टाभिषेक हुआ, विक्रमपुर मे ।

पौर्णमिक-गच्छ की गुर्वावली

— प० उदयसमुद्र विरचित

१ चन्द्रगच्छ मे चन्द्रप्रभसूरि
२ धर्मघोषसूरि
३ श्री देवभद्रसूरि
४ ,, जिनदत्तसूरि
५ शान्तिभद्रसूरि
६ श्री भुवनतिलकसूरि
७ ,, रत्नप्रभसूरि
८ ,, हेमतिलकसूरि
९ ,, हेमरत्नसूरि
१० ,, हेमप्रभसूरि
११ ,, रत्नशेखरसूरि
१२ ,, रत्नसागरसूरि
१३ ,, गुणसागरसूरि
१४ ,, गुणसमुद्रसूरि
१५ ,, सुमतिप्रभसूरि
१६ ,, पुण्यरत्नसूरि
१७ ,, सुमतिरत्नसूरि — सं० १५४३ के वैशाख सुदि ५ गुरुवार को आचार्य पद ।

अंचल-गच्छ की पट्टावली

३५ उद्योतनसूरि — इनसे बड-गच्छ हुआ।

२६ सर्वदेवसूरि

३७ पद्मदेवसूरि

३८ उदयप्रभसूरि

३९ प्रभानन्दसूरि

४० धर्मचन्द्रसूरि

४१ विनयचन्द्रसूरि

४२ गुणसागरसूरि

४३ विजयप्रभसूरि

४४ नरचन्द्रसूरि

४५ वीरचन्द्रसूरि

४६ जयसिंहसूरि

४७ आर्यरक्षितसूरि — इनका जन्म स० ११३६ मे आबु से नैऋत्य दिग्वर्ती १० माईल पर आये हुए आधुनिक "दत्ताणी" और प्राचीन "दन्ताणी" मे हुआ था। स० ११४६ मे दीक्षा, ११५९ मे सूरि-पद, स० ११६९ मे भालेज गाव मे फिर सूरि-पद और स० १२२५ मे पावागढ मे स्वर्गवास। इन्होने २१ उपवास करके काली देवी का आराधन किया था और ११६९ मे ७० बोलो की ७० बातो का प्रतिपादन कर अपने समुदाय

	का "विधिपक्ष" यह नाम रखा और स० १२१३ मे इसका 'अचलगच्छ" यह दूसरा नाम पडा।
४८ जयसिंहसूरि	
४९ धर्मघोषसूरि –	स० १२६८ मे स्वर्गवास, इन्होने "शतपदी" ग्रंथ रचा।
५० महेन्द्रसूरि –	इन्होने प्राकृत मे "तीर्थमाला", "शतपदी विवरण" और 'गुरगुणपट्त्रिंशिका" बनाई।
५१ सिंहप्रभसूरि –	इनका स० १२८३ मे जन्म, १२९१ मे दीक्षा, स० १३०९ में खम्भात मे आचार्य-पद, स० १३१३ मे स्वर्गवास।
५२ अजितसिंहसूरि –	जन्म १२८३ मे, १३१६ में आचार्य पद जालोर मे, स० १३३९ मे स्वर्गवास।
५३ देवेन्द्रसिंहसूरि –	इनका जन्म स० १२९९ मे, दीक्षा स० १३१६, स० १३२३ मे आचार्य-पद, १३७१ में स्वर्गवास।
५४ धर्मप्रभसूरि –	जन्म १३३१ मे, स० १३५१ मे जालोर मे दीक्षा, १३६९ मे आचार्य-पद, १३९३ मे आनोटी गाव मे स्वर्गवास।
५५ सिंहतिलकसूरि –	स० १३४५ मे जन्म, १३६१ मे दीक्षा, १३७१ मे आचार्य पद, स० १३९३ मे गच्छानुज्ञा और १४९५ मे स्वर्गवास।
५६ महेन्द्रप्रभसूरि –	स० १३६३ मे जन्म, १३७५ मे दीक्षा, १३९३ मे आचार्य पद और १३९५ मे गच्छनायक, १४४४ मे स्वर्गवास शत्रुञ्जय पर।
५७ मेरुतुंगसूरि –	जन्म वि० स० १४०३ मे, १४१८ मे दीक्षा, १४२६ सूरिपद, १४७३ मे स्वर्गवास।
५८ जयकीर्तिसूरि –	जन्म स० १४२३ मे, १४४४ मे दीक्षा, १४६७ मे सूरिपद, १४७३ मे गच्छनायक १५०० मे चापानेर नगर मे स्वर्गवास हुआ। उन्होंने उत्तराध्ययन

टीका, क्षेत्रसमासटीका, सग्रहणीटीका आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की।

५६ जयकेसरीसूरि – जन्म स० १४६१ में, दीक्षा १४७५ में, सूरिपद १४६४ में, १५४२ में राजनगर मे स्वर्गवासी हुए।

६० सिद्धातसागरसूरि – जन्म १५०६ में, १५२२ में दीक्षा, स० १५४१ में आचार्य पद, स० १५४२ मे गच्छनायक पद, १५६० में माडलगढ़ में स्वगवास।

६१ भावसागरसूरि – जन्म १५१० में, स० १५२४ में दीक्षा, १५६० में गच्छनायक-पद, वि० १५८३ मे खभात में स्वगवास।

६२ गुणनिधानसूरि – वि० १५४८ में जन्म, १५६० में दीक्षा, १५८४ में सूरिपद और गच्छनायक पद स० १६०२ में राजनगर में स्वगवास।

६३ धममूर्तिसूरि – वि० स० १५८५ में जन्म, १५९९ में दीक्षा, १६०२ में राजनगर में सूरिपद और गच्छनायक-पद, १६७० में स्वर्गवासी हुए।

६४ कल्याणसागरसूरि– स० १६३३ मे जन्म, १६४२ में दीक्षा, वि० १६४९ में आचाय-पद, १७१८ में स्वगवास।

६५ अमरसागरसूरि – स० १६६४ मे जन्म, १६७५ में दीक्षा, १६८४ में आचार्य-पद, स० १७६२ में स्वगवास।

६६ विद्यासागरसूरि – १७३७ में जन्म, १७५६ में दीक्षा, १७६२ में आचाय पद और गच्छनायक-पद, १७९७ में स्वगवास।

६७ उदयसागरसूरि – जन्म १७६३ मे, दीक्षा १७७७ मे, उपाध्याय पद स० १७८३ मे स० १८२८ मे उदयसागरसूरिजी की आज्ञा से अचलगच्छ की पट्टावली का यह अनुसन्धान बनाया।

६८ श्री कीर्तिसागरसूरि-स० १७९६ में जन्म, स० १८९० मे दीक्षा,

१८२३ म मूरिपद, १८३६ में गच्छेश, १८८३ म स्वगवास ।

६९ पुण्यसागरसूरि -- सा० १८१७ में जन्म, १८३३ मे दीक्षा, १८४३ में आचाय पद सा० १८७० मे स्वगवास ।

७० श्री राजेन्द्रसागरसूरि–सा० १८९२ मे स्वगवास माडवी व दर ।

७१ श्री मुक्तिसागरसूरि–सा० १८५७ में जन्म, १८६७ मे दीक्षा, १८९२ मे आचाय-गच्छनायक पद, सा० १८९३ मे सेठ मीमचन्द मोतीचन्द ने शत्रुञ्जय पर टूक वधा कर ७०० जिनबिम्ब भरवाये थे, उन सब की अजनशलाका कर प्रतिष्ठा करवाई । सा० १९१४ में स्वगवास ॥ अचल म्होटी पट्टा पृ ३७४

७२ श्री रत्नसागरसूरि– १८८९ में जन्म, दीक्षा १९०५ में, १९१४ म आचाय पद, १९२८ में स्वगवास ।

७३ श्री विवेकसागरसूरि–जन्म सा० १९११ में, १९२८ मे आचाय पद १९८८ में स्वगवास ।

७४ भ० जिनेन्द्रसागरसूरि ।

पल्लिवालगच्छीय पट्टावली

श्री महावीर

१ सुधर्मस्वामी
२ जबू
३ प्रभव
४ शय्यम्भव
५ यशोभद्र
६ सभूतविजय और भद्रबाहु ।
७ स्थूलभद्र
८ आयमहागिरि और सुहस्ती, आय सुहस्ती वीर से २६१ वष मे, और महागिरि २६३ वर्ष स्वग ।
६ बहुलसहक् (बलिस्सह) वीर से ३२५ मे स्वर्ग ।
१० स्वाति, वीर से ३६१ मे स्वग । तत्वाथकर्ता ।
११ श्यामाचार्य प्रज्ञापनाकार, वी० ३७६ मे स्वग ।
१२ साण्डिल्य — वीर से ३६६ मे स्वग ।
१३ आयगुप्त
१४ वृद्धवादी
१५ सोमदेवसूरि — वीर से ५०७ वर्षे स्वग ।
१६ नागदिन्नसूरि — वि० स० ८७ वर्षे स्वग ।
१७ नरदेवसूरि — वि० स० १२५ में स्वग ।
१८ सूरसेनसूरि — वि० स० १८७ मे चित्रकूट में स्वर्ग ।
१६ धमकीर्ति — वि० २१० में स्वर्गवास
२० सुरप्रियसूरि

२१ धमघोपसूरि
२२ निवृतिसूरि
२३ उदितसूरि
२४ चन्द्रशेखरसूरि
२५ सुघोपसूरि – वि० स० ३९७ मे स्वगवास ।
२६ महीधरसूरि – वि० ४२५ मे स्वगवास ।
२७ दानप्रियसूरि
२८ मुनिचन्द्रसूरि
२९ दयानन्दसूरि – वि० ४७० में स्वगवास ।
३० धनमिश्रसूरि – वि० ५१२ में स्वगवास ।
३१ सोमदेवसूरि – एक समय विचरते हुए मथुरा गये, वही पर अन्य ५०० साधुओ का समुदाय सम्मिलित हुआ है। उसमे देवर्द्धि गणि भी सम्मिलित हैं, देवर्धि ने सघ सभा मे कहा – इस समय भी साधु अल्प-विद्यावान् अबहुश्रुत होगए हैं, तो भविष्य मे तो क्या होगा, इस वास्ते आप सब की सम्मति हो तो सूत्र पुस्तको पर लिखवा ल, देवर्द्धि का प्रस्ताव सबने स्वीकार किया। सब सूत्र पुस्तको पर लिख लिये गए आज से विद्या पुस्तक पर हो यह सोचकर सब सूत्र पुस्तक भण्डार मे रखे। उसके बाद सोमदेवसूरि विक्रम सवत् ५२५ मे स्वगवासी हुए, पूवश्रुत का तब से विच्छेद हो गया।
३२ गुणन्धरसूरि –
३३ महानन्दसूरि – महानन्दसूरि ने विद्यानन्द दिगम्बराचाय को वाद मे जीता, महानन्द ने दक्षिणा पथ मे भी विहार किया तथा "तकमजरी" की रचना भी की, विक्रम स० ६०५ मे स्वगवासी हुए।

३४ सन्मतिसूरि – उस समय अनेक मतभेदो का उद्भव हुआ, सामाचारिया भी भिन्न भिन्न बनी और अनेक ग्रथो का निर्माण हुआ। आर्य सुहस्ती की परम्परा मे साधु शिथिलाचारी और चैत्यवासी हो गए थे और उनका प्राबल्य बहुत बढ गया था। सुधर्मा गणधर की खरी परम्परा का पालने वाले बहुत ही कम रह गये थे। उस समय सन्मतिसूरि विचरते हुए भीनमाल नगर गए, वहा पर सोमदेव के पुत्र इन्द्रदेव को प्रतिबोध देकर सयम दिया। वह विद्या का पारगत हुआ, सन्मतिसूरि विक्रम स० ६७० के वर्ष देवलोक प्राप्त हुए।

३५ इन्द्रदेवसूरि

३६ भट्टस्वामी

३७ जिनप्रभाचार्य – इन्होने कोरण्टक गाव मे महावीर चैत्य मे प्रतिष्ठा की, वहां से देवापुर मे भी जिनप्रतिष्ठा की और वि० ७५० मे स्वर्गवासी हुए।

३८ मानदेवाचार्य – उग्रविहार से विचरते हुए नाडोलनगर आए। मानदेव बहुधा निवृत्ति मार्ग की प्ररूपणा किया करते थे। इसलिये लोगो मे वे निवृत्ति आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। वे जहा विचरते वहा रोगादि उपद्रव नही होते थे। इसलिये लोग उनका युगप्रधान भी मानते थे। उन्होने उपदेश देकर अनेक श्रीमाल ब्राह्मणो को जिनधर्म के अनुयायी बनाये थे। एक पल्लिवाल ब्राह्मण सरखणा गाव का रहने वाला, जो वेदपाठी था, आचार्य की महिमा सुनकर प्रव्रजित हुआ। उसने "सन्मतितर्क" शास्त्र का निर्माण किया। निवृत्ति आचार्य वि० स० ७८० के वर्ष मे देवलोक प्राप्त हुए।

३९ सरवणाचार्य – जा निवृ ति आच य के शिष्य थे, निवृ तिकुल के थोडे से साधुओ के साथ विहार क ते थे । एक दिन रात्रि क समय शूलरोग से कालधम प्राप्त हुए । उनमे शिष्य अब आच य की इच्छा करते हैं, पर तु पाट क योग्य कौन है ? इसका निर्णय न होने से वे निराश रहते, अ यथा वहा कोटिक गण के जयान दसूरि आये, उ होने उनको आश्वासन दिया और कहा—तुम्हारे मे सूर योग्य है, साधुओ ने कहा – "आप इ ह आचार्य पद पर स्थापन करिये," उ होने सूर का आचाय-पद देकर 'सूराचाय" बनाया, सब स धुओ ने उनको मा ना । गच्छ की वृद्धि हुई, जय नन्दसूरि और सूराचाय दोनो साथ-साथ मे विचरते थे, परस्पर बडी प्रीति थी ।

४० सूराचाय – एक समय इस देश मे दुष्काल पडा, तब दोनो आचार्य मालव देश गए और व ा पर जुदे-जुदे समुद यो के साथ विचरने लगे । सूराचाय ने महेन्द्रनगर मे च तुर्मास्य किया । जयान दसूरि ने उज्जैनी मे चातुर्मास्य किया। वहा पर जयान दसूरि का स्वगव स हो गया । सूराच य जयान -सूरि के स्वगवास के समाचार सुनकर शोकाकुल हुए उनके शिष्य देलमहत्तर ने कहा – गृहस्थ की तरह शोक करना साधु के लिये उचित नही, सूराचाय ने भी अपने पट्ट पर देलमहत्तर को स्थापन कर आप तपस्या करने लगे, तीन-तीन उपवास के पारणे मे आयम्बिल करते हुए, सब पद थ अनित्य मानते हुए उज्जनी मे ही अनशन करके देवलोक पधारे।

३४ सम्मतिसूरि – उस समय अनेक मतभेदो का उद्भव हुआ, मामाचारिया भी भिन्न भिन्न बनी और अनेक ग्रथो का निर्माण हुआ। आर्य सुहस्ती की परम्परा मे साधु शिथिलाचारी और चैत्यवासी हो गए थे और उनका प्राबल्य बहुत बढ गया था। सुधर्मा गणधर की खरी परम्परा को पालने वाले बहुत ही कम रह गये थे। उस समय सम्मतिसूरि विचरते हुए भीनमाल नगर गए, वहा पर सोमदेव के पुत्र इन्द्रदेव को प्रतिबोध देकर सयम दिया। वह विद्या का पारगत हुआ, सम्मतिसूरि विक्रम स० ६७० के वर्ष देवलोक प्राप्त हुए।

३५ इन्द्रदेवसूरि

३६ भट्टस्वामी

३७ जिनप्रभाचार्य – इन्होने कोरण्टक गांव मे महावीर चैत्य मे प्रतिष्ठा की, वहा से देवापुर मे भी जिनप्रतिष्ठा की और वि० ७५० मे स्वर्गवासी हुए।

३८ मानदेवाचार्य – उग्रविहार से विचरते हुए नाडोलनगर आए। मानदेव बहुधा निवृत्ति मार्ग की प्ररूपणा किया करते थे। इसलिये लोगो मे वे निवृत्ति आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। वे जहा विचरते वहा रोगादि उपद्रव नही होते थे। इसलिये लोग *उनको युगप्रधान भी मानते थे। उन्होने उपदेश* देकर अनेक श्रीमाल ब्राह्मणो को जिनधर्म के अनुयायी बनाये थे। एक पल्लिवाल ब्राह्मण सरवण गाव का रहने वाला, जो वेदपाठी था, आचार्य की महिमा सुनकर प्रव्रजित हुआ। उसने "सम्मतितर्क" शास्त्र का निर्माण किया। निवृत्ति आचार्य वि० स० ७८० के वर्ष मे देवलोक प्राप्त हुए।

३९ सरवणाचार्य — जा निवृ ति ग्राच य के शिष्य थे, निवृ तिकुल के थोडे से साधुओ के साथ विहार करते थे । एक दिन रात्रि क समय शूलरोग से कालधम प्राप्त हुए । उनमे शिष्य अब ग्राच य की इच्छा करते हैं, पर तु पाट के योग्य कौन है ? इसका निणय न होन से वे निराश रहते, ग्र यथा नहा कोटिक गण के जयान दसूरि ग्राये, उ होने उनको ग्राश्वासन दिया ग्रौर कहा—तुम्हारे मे सूर योग्य है, साधुग्रा ने कहा — "ग्राप इ ह् ग्राचाय पद पर स्थापन करिये," उ होने सूर का ग्राचाय-पद देकर 'सूराचाय" बनाया, सब स धुग्रो ने उनको मा ना । गच्छ की वृद्धि हुई, जय न दसूरि ग्रौर सूराचाय दोनो साथ साथ मे विचरते थे, परस्पर बडी प्रीति थी ।

४० सूराचाय — एक समय इस देश मे दुष्काल पडा, तब दोनो ग्राचाय मालव देश गए ग्रौर वहा पर जुदे जुदे समुद यो के साथ विचरने लगे । सूराचाय ने मह द्रनगर मे च तुमास्य किया । जयान दसूरि ने उज्जैनी मे चातुर्मास्य किया। वहा पर जयान दसूरि का स्वगवास हो गया । सूराचाय जयान दसूरि के स्वगवास के समाचार सुनकर शोकाकुल हुए, उनके शिष्य देल्लमहत्तर न कहा — गृहस्थ की तरह शोक करना साधु के लिये उचित नही, सूराचाय ने भी ग्रपने पट्ट पर देल्लमहत्तर को स्थापन कर ग्राप तपस्या करने लगे, तीन तीन उपवास के पारणे मे ग्रायम्बिल करते हुए, सब पद थ ग्रनित्य मानते हुए उज्जनी मे ही ग्रनशन करके देवलोक पधारे।

४१ देल्लमहत्तर – देल्लमहत्तराचाय मालवा से विचरते हुए भीनमाल आए, उस समय भीनमाल मे सुप्रभ नामक एक वेदपारग ब्राह्मण रहता था। उसका दुग नामक पुत्र नास्तिक था, जो परलोकादि कुछ नही मानता था। आचाय देल्लमहत्तर ने उसको प्रतिबोध दिया और दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया, वह निमल चारित्र पालता हुआ विचरने लगा। उस समय शानपुर नामक गाव मे एक सुखपति नामक क्षत्रिय रहता था। उसके एक पागल पुत्र था, क्षत्रिय ने आचाय को कहा – मेरे पुत्र का पागलपन मिटाइये, जो मेरे पुत्र का पागलपन मिटाएगा, उसको शासन दू गा। आचाय ने कहा – पागलपन तो मिटाऊँगा, परन्तु उसको दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाऊँगा, मजूर हो तो कहो, क्षत्रिय ने स्वीकार किया। आचाय ने विद्या-प्रयोग से उसका ग्रथिलपन मिटाया, वह बिल्कुल अच्छा हो गया। बाद मे उसको प्रतिबोध देकर दीक्षित किया, क्रमश शास्त्राध्ययन करके वह विद्वान् हुआ। आचाय देल्लमहत्तर न अपने दोनो शिष्यो को आचाय पद पर प्रतिष्ठित किया, बाद मे वे स्वगवासी हो गये।

४२ दुगस्वामी, गर्गाचाय– दुगस्वामी और गर्गाचाय विचरते हुए श्रीमाल नगर गए, वहा पर एक धना नामक सेठ जन श्रावक रहता था। उसके घर पर सिद्ध नामक राजपुत्र था। उसको गर्गाचाय ने दीक्षा दी, वह अतिशय बुद्धिमान तकशील था। एक बार उसने अपने गुरु से पूछा, – इससे अधिक या इसके

आने तर्क शास्त्र है या नहीं ? दुर्गाचार्य ने कहा— बौद्ध मत में इससे भी अधिक तर्क शास्त्र है। सिद्ध वहां जाने को तैयार हुआ, गर्गर्षि ने कहा बौद्धों के विद्यापीठ में जाने से श्रद्धाभ्रष्ट हो जायगा। उसने कहा—कुछ भी हो मैं आपके पास वापिस आ जाऊँगा। वह गया और श्रद्धाहीन बनकर लौटा। दुर्गाचार्य ने बोध देकर फिर श्रद्धालु बनाया, फिर वह वहां गया, फिर आया, दुर्गाचार्य उसको प्रतिबोध देकर ठिकाने लाये, तो फिर बौद्ध विद्यापीठ में गया, इस प्रकार बार-बार गमनागमन से तंग आकर गर्गाचार्य ने जयानन्दसूरि के परम्परा शिष्य श्री हरिभद्राचार्य जो उस समय सबसे श्रेष्ठ श्रुतधर थे, बौद्धमत के ज्ञाता और बुद्धिमान थे उन्हें विज्ञप्ति की कि सिद्ध ठहरता नहीं है। हरिभद्र ने कहा — कुछ भी उपाय करूँगा। सिद्ध आया, समझाया, पर ठहरता नहीं है, कहता है मैं अध्यापक आचार्य को वचन देकर आया हूं। सो एक बार तो उनके पास जाऊँगा, तब आचार्य हरिभद्र ने 'ललित-*विस्तरा" वृत्ति की रचना कर गर्गाचार्य को दी* और वे स्वयं अनशन कर परलोक प्राप्त हुए। कालान्तर से सिद्ध वापस आया, गर्गाचार्य ने "ललितविस्तरा' उसको पढ़ने के लिये दी। सिद्ध भी उसे पढ़कर आर्हत मत का रहस्य समझा, बोला 'अइपडिओ हरिभद्दगुरू" हरिभद्र गुरु सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं, जैन धर्म में वह दृढ़ हो गया और आत्मा को धर्म-भावना से वासित करता हुआ, कठोर तप करता हुआ विचरने लगा।

४३ श्रीषेण, सिद्धाचार्य— आचार्य दुर्गस्वामी वि० सं० ९०२ में परलोक

वासी हुए, उनका शिष्य श्रीषेण आचार्य-पद पर था। गर्गाचार्य भी वि० सं० ९१२ में कालगत हुए। गर्गाचार्य के पट्ट पर सिद्धाचार्य और श्रीषेणाचार्य दोनों आचार्य इस प्रदेश में विचरते थे, कालान्तर में श्रीषेणाचार्य मालव देश गए, वहां पर नोलाई में धर्मदास श्रेष्ठी के पुत्र को दीक्षा दी, नगरश्रेष्ठकारित जिनचैत्य में प्रतिष्ठा की, सिद्धर्षि आचार्य वि० सं० ९६८ में देवलोक प्राप्त हुए।

४४ धर्ममति – श्री सिद्धर्षि के पट्ट पर धर्ममति आचार्य हुए,

४५ नेमिसूरि – धर्ममति के पट्ट पर श्री नेमिसूरि हुए और उनके पट्ट पर सुव्रतसूरि हुए।

४६ सुव्रतसूरि – आचार्य सुव्रत के समय बहुतेरे गणभेद हुए, आचार्यों के आपस में विवाद खड़े हुए, अपने-अपने श्रावक-श्राविकाएं भी संगृहीत हुए, सुव्रतसूरि के शिष्य भी शिथिलविहारी हो गए। उनमें एक दिनेश्वर नामक साधु था, वह बड़ा पण्डित था, सुव्रतसूरि विक्रम सं० ११०१ में देवलोक प्राप्त हुए।

४७ दिनेश्वरसूरि – उनके पट्ट पर दिनेश्वर उग्रविहारी हुए – महात्मा दिनेश्वरसूरि विहार करते पाटण गए और वहां महेश्वर जाति के वणिकों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया। दिनेश्वरसूरि के पट्ट पर महेश्वरसूरि हुए।

४८ महेश्वरसूरि – महेश्वरसूरि एक बार नाडलाई गए, वहां पल्लिवाल ब्राह्मण रहते थे। उनको प्रतिबोध देकर श्रद्धावान् श्रावक किया, लोगों ने महेश्वरसूरि के श्रमण समुदाय का "पल्लिवाल गच्छ" यह नाम

किया, महेश्वरसूरि वि० सं० ११५० में परलोक वासी हुए, महेश्वरसूरि के पट्ट पर देवसूरि हुए।

४६ देवसूरि — देवसूरि ने सुवर्णगढ़ पर पार्श्वनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की, फिर महावीर के चैत्य पर सुवर्ण-कलश स्थापन करवाया। उस समय में पौर्णमिक गच्छ आदि प्रकट हुए, देवसूरि भी १२२५ में स्वर्गवासी हुए। उनके पट्ट पर न(र)देवसूरि हुए।

५० न(र?)देवसूरि — आचार्य नरदेवसूरि ने ज्योतिष शास्त्रों का निर्माण किया, और सोनगिरा को प्रतिबोध देकर जैन बनाया, जालन्धर तालाब के पास जिन-चैत्य की प्रतिष्ठा की, वि० सं० १२७२ के वर्ष में स्वर्गवासी हुए। इनके पट्ट पर कृष्णसूरि हुए। इनके पट्ट पर विष्णुसूरि और इनके पट्ट पर आम्रदेवसूरि

५१ कृष्णसूरि —

५२ विष्णुसूरि —

५३ आम्रदेवसूरि — आम्रदेवसूरि ने कथाकोशादि ग्रन्थों की रचना की, इनके पट्ट पर सोमतिलकसूरि, इनके पट्ट पर भीमदेवसूरि।

५४ सोमतिलकसूरि —

५५ भीमदेवसूरि — भीमदेव ने कोरटा गाव में चैत्य की प्रतिष्ठा की, वि० सं० १४०२ में कालगत हुए। इनके पट्ट पर विमलसूरि हुए।

५६ विमलसूरि — विमलसूरि ने मेवाड देश में उदयसागर की पाल पर चैत्य में जिनबिम्ब की स्थापना करवाई।

५७ नरोत्तमसूरि — उनके पट्ट पर नरोत्तमसूरि वि० सं० १४६१ में स्वर्गवासी हुए।

५८	स्वातिसूरि –	नरोत्तम के पट्ट पर स्वातिसूरि, इनके पट्ट पर हेमसूरि का १५१५ मे स्वर्गवास। इनके पट्ट पर हर्षसूरि।
५६	हेमसूरि –	
६०	हर्षसूरि –	हर्षसूरि पोषधशाला मे रहने लगे, इनके पट्ट पर
६१	कमलचन्द्र –	भट्टारक कमलचन्द्र, कमलचन्द्र के पट्ट पर गुणमाणिक्य।
६२	गुणमाणिक्य –	गुणमाणिक्य के पट्ट पर सुन्दरचन्द्र, इनका स्वर्ग-
६३	सुन्दरचन्द्र –	वास सं० १६७५ मे हुआ इनके पट्ट पर भ०
६४	प्रभुचन्द्र –	प्रभुचन्द्र विद्यमान है।

।। इति द्वितीय परिच्छेद ।।

तृतीय परिच्छेद

[खरतरगच्छ की पट्टावलियाँ]

खरतरगच्छ पट्टावली-संग्रह

(१) इस "पट्टावली सग्रह" मे कुल ४ पट्टावलिया हैं, जिनमे प्रथम एक प्रशस्ति के रूप मे है। इसमे कुल सस्कृत पद्य ११० हैं और आचार्य जिनहसूरि के समय मे बनी हुई है, किन्तु कर्ता का नाम नही दिया। जिनहस का समय १५८२ विक्रमीय है तथा उसी वर्ष इसका निर्माण हुआ है। सामान्य मान्यता अर्वाचीन खरतरगच्छ की मान्यता के अनुसार है। जिन जिन आचार्यों का समय दिया है, वह व्यवस्थित मालूम होता है।

(२) दूसरी पट्टावली गद्य सस्कृत मे है। इसका लेखक इतिहास से कोई सम्बन्ध नही रखता, केवल दन्तकथाओ को अव्यवस्थित रूप से लिखकर पट्टावली मान ली है। गदभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य को जिन-निर्वाण से ५०० वर्ष में और जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण को ९८० मे लिख कर लेखक ने अपने अज्ञान का नमूना बता दिया है। इसी प्रकार अन्यान्य आचार्यो के सम्बन्ध मे भी क्रम-उत्क्रम लिख कर पट्टावली को निकम्मा बना दिया है। यह पट्टावली वि० स० १६७४ मे बनाई गई है।

(३) इसमे आर्यवज्र स्वामी का जन्म जिननिर्वाण से ४९६ मे, दीक्षा ५०४ मे, ५८४ मे स्वर्गवास लिखा है।

इसमे निर्वाण से ५२५ मे शत्रुञ्जय का उच्छेद लिखा है और ५७० मे जावडशाह द्वारा इसका उद्धार होना लिखा है।

प्रज्ञापनाकार कालकाचार्य ३७६ मे और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य ४५३ मे होना लिखकर – 'पुनस्तदैव श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणो जात" ऐसा लिखकर शीलाङ्काचार्य को इनका शिष्य लिखा है और शीलाङ्क के

समय मे ही हरिभद्रसूरि को बताया है। इस प्रकार समय की दृष्टि मे ठीक व्यवस्थित नही है।

आर्यवज्र के बाद इस पट्टावलीकार ने पट्टानुक्रम से १७ वज्रसेन, १८ चन्द्रसूरि, १९ समन्तभद्र, २० वृद्धदेवसूरि, २१ प्रद्योतनसूरि, २२ मानदेव, २३ मानतुङ्ग, २४ वीरसूरि, २५ जयदेव, २६ देवानन्द, २७ विक्रम, २८ नरसिंह, २९ समुद्र, ३० मानदेव, ३१ विबुधप्रभ, ३२, जयानन्द, ३३ रविप्रभ, ३४ यशोभद्र, ३५ विमलचन्द्र, ३६ देवसरि, ३७ नेमिचन्द्र, ३८ उद्योतन और ३९ वधमान। इस प्रकार इसमे दी हुई पट्ट परम्परा पहली तथा दूसरी पट्टावली से जुदा पडती है।

पहली, दूसरी और तीसरी पट्टावली आर्यसुहस्ती तक एक क्रम बताती है, इसके बाद पहली मे सिंहगिरि, वज्र आर्यरक्षित, दुबलिका पुष्यमित्र, आर्यनन्दि, रेवतिसूरि, ब्रह्मद्वीपिकसिंह, आर्यसमित, सण्डिल्ल, हिमवान्, नागार्जुनवाचक, गोविन्दवाचक, सम्भूति, दिन्न, लौहित्यसूरि, (पू)ष्यगणी, उमास्वाति-वाचक, जिनभद्र, वृद्धवादी सूरीन्द्र, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, देवसूरि, नेमिचन्द्र, उद्योतन, वधमान ये नाम क्रमश आए हैं।

तथा दूसरी मे आर्यसुहस्ती के बाद वज्र, कालिकाचाय, गदभिल्ल० कालिकाचाय, शान्तिसूरि, हरिभद्र सण्डिल्लसूरि, आर्यसमुद्र, आर्यमगु, आर्य धम, आर्यभद्र, आर्यवयर, दुबलिका पुष्यमित्र, देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण, गोविन्दवाचक, उमास्वाति, देवेन्द्रवाचक, जिनभद्र गणी, शीलाङ्काचाय, देवसूरि, नेमिचन्द्रसूरि, उद्योतन, वधमान। इस प्रकार प्रथम की तीन पट्टावलियो मे आर्य सुहस्ती तक पट्टक्रम मे ऐकमत्य है और बाद मे तीनो के तीन पन्थ जुदे पडते है, जो देवसूरि तक आकर तीनो मिल जाते हैं।

(४) चौथी पट्टावली उपाध्याय क्षमाकल्याणकजी ने विक्रम सं० १८३० मे बनायी है। इस पट्टावली का प्रारम्भ उद्योतनसूरि से किया है। उद्योतन, वधमान, जिनेश्वर, जिनचन्द्र, अभयदेव, जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनचन्द्र, जिनपति, जिनेश्वर, जिनसिंह, जिनप्रबोध, जिनचन्द्र और जिन

कुशलसूरि तक की नामावलि पट्टक्रम से दी है और पहली, दूसरी, तीसरी पट्टावलियो मे भी उद्योतन के बाद इसी पट्टक्रम से आचार्यों की नामावलि मिलती है, परन्तु क्षमाकल्याणकजी की तरह जिनसिंह का नाम जिनेश्वरसूरि के बाद मूलक्रम मे नही लिखा । इसके बाद के पट्टक्रम करीब मिलते-जुलते है, परन्तु देवसूरि के पहले के पट्टक्रम सभी भिन्न-भिन्न प्रकार से लिख गए हैं। इससे ज्ञात होता है कि इन लेखकों के सामने कोई एक प्रामाणिक पट्टावली विद्यमान नही थी ।

इस पट्टावली सग्रह के सम्पादक ने पट्टावलियो मे आने वाले पारस्परिक विरोधो की तरफ कुछ भी लक्ष्य नही दिया । इस प्रकार के ऐतिहासिक साहित्य के सम्पादन मे सम्पादक को बडी सतर्कता रखनी चाहिए ।

खरतरगच्छ-बृहद्-गुर्वावली

— श्रीजिनपालोपाध्यायादिसंकलिता

"खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह' के बाद हम "खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली' का अवलोकन लिख रहे हैं। यह गुर्वावली पूर्वोक्त प्रत्येक पट्टावली से बहुत बड़ी है। इसमें श्री वर्धमानसूरिजी से लेकर श्री जिन पद्मसूरि तक के खरतरगच्छीय १३ आचार्यों के वृत्तान्त दिए गए हैं। लेखक की प्रारम्भिक सहमंगल प्रतिज्ञा नीचे लिखे मुजब है —

"वर्धमान जिनं नत्वा, वर्धमान जिनेश्वरा ।
मुनीन्द्र - जिनचन्द्राख्याभयदेवमुनीश्वरा ॥ १ ॥
श्रीजिनवल्लभसूरि, श्रीजिनदत्तसूरय ।
यतीन्द्रजिनचन्द्राख्य, श्रीजिनपतिसूरय ॥ २ ॥
एतेषा चरित किञ्चि मन्दमत्या यदुच्यते ।
वृद्धेभ्य श्रुत (वेत्तृभ्य) स्तन्मे कथयत श्रृणु ॥३॥"

लेखक कहते है — श्री वर्धमान जिन को नमस्कार कर श्री वर्धमान १, जिनेश्वर २, जिनचन्द्र ३, अभयदेव ४, जिनवल्लभ ५, जिनदत्त ६, जिनचन्द्र ७ और जिनपति ८, इन आचार्यों के चरित्र जो वृद्धों के मुख से सुने है, उन्हे मन्दमति के अनुसार कहता हू, हे शिष्य! मेरे कथन को तू सुन।

उपर्युक्त मंगलाचरण और प्रतिज्ञावचन किसी सामान्य लेखक के हैं। जिनपालोपाध्याय जैसे विद्वान् के ये वचन नही हो सकते। दो आचार्यों के लिए बहुवचनान्त प्रयोग केवल भद्दा ही नही, भ्रान्तिजनक भी है, ऐसा

शब्द प्रयोग आपने दो जगह किया है। ऊपर की प्रतिज्ञा में आठ आचार्यों के चरित्र लिखने की बात कही है, तब गुर्वावली के ५०वें पृष्ठ में —

"इति श्रीजिनचन्द्रसूरि – श्री जिनपतिसूरि – श्री जिनेश्वरसूरि सत्कसज्जनमनश्चमत्कारिप्रभावनावार्तानामपरिमितत्वेऽपि त मध्यवर्तिन्य कतिचित् स्थूला स्थूला वार्ता श्रीचतुर्विधसंघप्रमोदायम् ।

"दिल्लीवास्तव्यसाधु - साहुलिसुत सा हेमाभ्यर्थनया ।
जिनपालोपध्यायैरित्य ग्रथिता स्वगुरुवार्ता ॥"

इसके बाद लेखक ने अपनी कृति के सम्बन्ध मे विद्वानो के सामने तीन श्लोको मे अपना आशय व्यक्त किया है और अन्त मे "उद्देशतोग्रथ (?) १२८॥" इस प्रकार अपनी कृति का श्लोक परिमाण भी लिख दिया है। लिखे हुए श्लोक-परिमाण मे एक दूआ (२) रह गया है, वास्तव में श्लोक-परिमाण १२२४ लिखना चाहिए था। मणिधारी जिनचन्द्र, जिनपति और स० १३०५ तक जिनेश्वरसूरि का चरित्र सम्मिलित करने से उक्त तीन चरित्रो का श्लोक परिमाण १२२४ ही बैठता है। ये ढाई चरित्र जिनपालोपाध्याय की कृति मान ली जाय तो भी आचार्य वर्धमान सूरि से जिनदत्त तक के छ गुरुओ के चरित्रो का लेखक तो जिनपाल से भिन्न ही ठहरेगा, यह निर्विवाद है।

अब यहा प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भ मे लेखक ने आठ आचार्यो के चरित्र लिखने की प्रतिज्ञा की थी, अब छ आचार्यो के ही वृत्तान्त लिख कर शेष जिनपाल उपाध्याय के लिए क्यो छोड दिये ? प्रश्न वास्तविक है और इसका उत्तर निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

प्रारम्भ के छ आचार्यो का वृत्तान्त सुमतिगणि कृत गणधर सार्द्धशतक की बृहद्वृत्ति मे उपलब्ध होता है, उसको सामने रखकर प्रारम्भिक छ आचार्यो के वृत्तान्त किसी साधारण विद्वान् ने लिखे थे। उन वृत्तान्तो मे भी पिछले समय मे अनेक प्रक्षेप करके उन्हे विस्तृत बना लिया। जिस पुस्तक के ऊपर से प्रस्तुत बृहद् गुर्वावली छपी है, वह अनेक

प्रक्षिप्त पाठों से गर्भित आदर्श था। कम प्रक्षेपों वाला आदर्श भी थोड़ा सा सम्पादक के हाथ लगा था, परन्तु वह प्रारम्भिक पांच पत्रों में ही समाप्त हो गया था। उसके बाद की सारी गुर्वावली प्रक्षिप्त पाठों से सर्गभित है, प्रक्षेप भी शब्दों, वाक्यों के नहीं किन्तु पांच पांच सात सात पंक्तियों से भी अधिक बड़े हैं। यहां पर दो-चार उदाहरण देंगे।

वर्धमान और जिनेश्वरसूरि के वृत्तान्त में पाली में सोमध्वज नामक जटाधर मिलने सम्बन्धी जो प्रकरण है वह सारा का सारा प्रक्षिप्त है, दूसरी किन्हीं प्रतियों में वह प्रकरण नहीं मिलता।

जिनवल्लभ गणि के वृत्तान्त में उनके धारा नगरी में जाने की बात प्रक्षिप्त है, क्योंकि गुर्वावली के प्रत्यन्तरों में यह वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक दो और तीन-तीन पंक्तियों के प्रक्षेपों की संख्या भी कम नहीं है, पदों तथा वाक्यों के प्रक्षेप तो बीसियों के ऊपर है। इन सब प्रक्षेपों का अर्थ यही होता है कि प्रारम्भिक छः आचार्यों की गुर्वावली के पूर्वभाग में पिछले लेखकों ने अनेक नयी बातें जोड़ दी हैं। अब देखना यह है कि यह परिवर्तन किस समय में हुआ होगा? इस सम्बन्ध में भी हमने ऊहापोह किया तो यही ज्ञात हुआ कि अन्तिम आदर्श तैयार करने वाला विद्वान् विक्रम की पन्द्रहवीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता, क्योंकि इसने कई शब्द तो मनस्वितापूर्वक बिगाड़ कर अपने सांकेतिक शब्द बना दिये हैं, जैसे—'पुरोहित" शब्द का सर्वत्र "उपरोहित" "अनहिल" को सर्वत्र "अनघिल" बना दिया है। यह भी एक सूचक बात है, क्योंकि अणहिल पाटन में खरतरगच्छ के आचार्यों का विहार लगभग १०० वर्ष तक बन्द रहा था। व्यवहारी अभयकुमार की कोशिश से तेरहवीं शताब्दी के लगभग मध्यभाग में खरतर आचार्यों का पाटन में जाना-आना फिर शुरु हुआ था। विक्रम संवत् १३६० में पाटन में मुसलमानों का अधिकार हुआ और नया पाटन बसा। उसके बाद खरतर-गच्छ का पाटन में कायम के लिये स्थान नियत हुआ, जिसको वे "कोटडी" कहते थे। आज भी वह स्थान पाटन में "खराखोटडो" के नाम से विख्यात है।

प्रारम्भिक गुर्वावली का लेखक नये पाटन में गया है और पाटन के अपने श्रावकों की भक्ति को देखकर अणहिल पाटण को "अनघिल पाटन" अर्थात् "निष्पाप पाटन" नाम देने को प्रेरित हुआ है। यदि वह विहार-प्रतिबन्ध के समय दर्मियान पाटण में गया होता तो उसे पाटन को "अघिल पाटन" कहने का ही मन होता।

प्रारम्भिक बृहद् गुर्वावली दूसरे भी अनेक कारणों से साधारण व्यक्ति की कृति सिद्ध होती है। इसमे प्रयुक्त अनेक अशुद्ध शब्दप्रयोग स्वयं इसको सामान्य कृति सिद्ध कर रहे हैं। अभोहर, स्थावलक, दुलभ-राज शुद्धा, छुपत्तु, गण्डलक, छोटिन, निरोप, आडती, उम्बरिका, पश्चाट्कुरा, त्रिन्दावनी, आदि अलाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करने वाला लेखक अच्छा विद्वान् नही माना जा सकता। गुर्वावली के प्राकृत भाग मे 'पारुत्थ", 'पारत्थ", "द्रम्भ" ये तीन सिक्कों के नाम आए हैं, जिनमे प्रथम के दो नाम रजवाडी सिक्कों के हैं और उत्तर तथा मध्यभारतीय रजवाडो के ये सिक्के थे। इनकी प्राचीनता प्रतिपादक कोई प्रमाण नही मिलता, इससे अनुमान किया जा सकता है कि उक्त "सिक्के' विक्रम की १६वी शती के बाद के होने चाहिए।

गुर्वावली की आदर्श प्रति के प्रस्तुत पुस्तक मे जो दो पानो के ब्लोक दिए हैं, उनको देखने से ज्ञात होता है कि इसकी लिपि विक्रम की सोलहवी शती के पहले की नही हो सकती। क्या आश्चर्य है कि गुर्वावली के निर्मापक के हाथ का ही यह आदर्श हो, क्योकि इस लिपि मे पडी मात्राओ के अतिरिक्त लिपि की प्राचीनता का कोई प्रमाण नही है।

अब रही मणिधारी जिनचन्द्र, जिनपति और जिनेश्वरसूरि के वृत्तान्त-लेखक की बात, सो गुर्वावली के पञ्चानवे पृष्ठ मे किसी ने लिखा है कि 'इस प्रकार जिनचन्द्र, जिनपति और जिनेश्वरसूरि के जीवनवृत्तान्त दिल्ली वास्तव्य साहुलिसुत साह हेमा की प्रार्थना से श्री जिनपालोपाध्यायजी ने ग्रथित किये' इसके आगे कहा गया है कि "लोकभाषा का अनुसरण करने वाली बात सुबोध होती हैं। इसलिए कहीं-कही एक वचन के स्थान बहुवचन भी लिखा

है और इसी सुगमता के लिए क्वचित् सध्यभाव भी रखा गया है ग्रन्थ की शुद्धि करने वाले सज्जनो को मेरी इन बातो को समझ लेना चाहिए।"

लेखक ने जो कुछ ऊपर लिखा है, उससे उनकी यह कृति विरुद्ध जाती है। बहुवचन का अनुसरण करने तथा क्वचित् संधि न करने मे तो बालाव बोध का ध्यान रखा पर पत्तियां की पंक्तियां गद्य काव्य की तरह लिखी उस समय बालावबोध का ध्यान छोड दिया, इसका कारण क्या है ? जहा तक हमारा अनुमान है श्री जिनपालोपाध्याय ने अपने गुरुओ का वृत्तान्त संक्षेप मे अवश्य लिखा होगा। परन्तु उनके देहान्त के बाद किसी डेढ पण्डित ने उसमे परिवर्तन करके बडा लम्बा चौडा प्रस्तुत वृत्तान्त गढ दिया है। इसमे आने वाले प्रद्युम्नाचार्य तथा ऊकेशगच्छीय पद्मप्रभाचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने की जो बात लिखी हैं, वे एक कल्पित नाटक है, जिसके पढने से पाठक का सिर लज्जा से नीचा हो जाता है। जिनपालोपाध्याय जैसे विद्वान् इस प्रकार का लज्जास्पद नाटक लिखें यह असभव है। चर्चा शास्त्रार्थ होना असम्भव नही और उसका वृत्तान्त लिखना भी अनुचित नही, परन्तु लिखने मे भी मर्यादा होती है, अपने मान्य पुरुष को आकाश मे चढाकर विरोधी व्यक्ति को पाताल मे पहुचा देना, सभ्य लेखक का कर्तव्य नही होता।

उपाध्याय जिनपाल की लेखपद्धति का मैंने अध्ययन किया है। "चर्चरी" "उपदेश रसायन रास" तथा "कालस्वरूप कुलक" की टीकाओ मे जिनपाल ने बडी खूबी के साथ जिनदत्तसूरि की बातो का प्रतिपादन किया है। उनके विरोधियों के सम्बन्ध मे लिखते हुए उन्होने एक भी कटु वाक्य का तो क्या कटु शब्द का भी प्रयोग नही किया, ऐसे वाक्सयमी जिनपालोपाध्याय के नाम पर गुर्वावली का यह भाग चढाकर उनके किसी अयोग्य भक्त ने उनकी कुसेवा की है।

व० सा० शब्द का "वश्याय" अथवा "वस्याय" संस्कृत रूप बनाने वाला लेखक विक्रम की पन्द्रहवी शती के बाद का है, क्योंकि उनके टाइम मे "व" तथा "सा" अक्षरो के आगे के अपूर्णता सूचक शून्य हट चुके थे

और केवल 'वसा'' लिखने का प्रचार हो चुका था। इसी कारण से लेखक ने दोनो अक्षरो का "खरा तात्पर्य" न समझ कर "वस्याय" अथवा 'वस्याय' रूप बना लिए जो बिल्कुल अशुद्ध हैं, इसमे लेखक सोलहवी शती तक की अर्वाचीन कोटि मे पहुँच जाता है, यह निस्सन्देह बात है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि का अन्तिम, जिनप्रबोधसूरि तथा जिनचन्द्रसूरि का सम्पूर्ण जीवन लिखने वाला लेखक नया प्रतीत होता है। इसके लेख मे संस्कृत भाषा सम्बन्धी अशुद्धिया तो विशेष दृष्टिगोचर नही होती, परन्तु लिपिगत और विशेष नामो के अज्ञान की अशुद्धिया जरूर देखी जाती हैं। इस भाग के लेखक को सोलहवी शती की लिपि को पढने का ठीक बोध नही था, इसी से "अगुलैकत्रिंशत्प्रमाण" इस शुद्ध सख्या को बिगाड कर "अगुलिकत्रिंशत्प्रमाण" ऐसा "अशुद्ध रूप" बना दिया है। लेखक ने जिस मूल पुस्तक के आधार से गुर्वावली का यह भाग लिखा है, उस आधारभूत पुस्तक की लिपि पडी मात्रा वाली थी। एक मात्रा "ल" के पीछे और एक उसके उपर लगी हुई थी, परन्तु लेखक ने उसे ह्रस्व "लि" समझ कर "अगुलिक" बना लिया, छोटी बडी सभी मूर्तिया विषमागुल परिमित होती हैं, परन्तु लेखक को न शिल्प का ज्ञान था न प्राचीन लिपि पढने का बोध। परिणामस्वरूप यह भूल हो गई। इसी प्रकार विशेष नामो का परिचय न होने के कारण "काकन्दी को" 'काङ्गन्दी'' "नालन्दा'' को "नारिन्दा' आदि नाम दिए। इनके लेख मे द्रम्म के अतिरिक्त "जैथल" नामक सिक्के का चार बार उल्लेख आया है ये उल्लेख हस्तिनापुर तथा मथुरा के स्तूप की यात्रा के प्रसग पर हुए है, इससे जाना जाता है कि यह कोई उत्तर भारतीय देशी राज्य का सिक्का होना चाहिए।

प्राचीन सिक्को की नामावली मे 'जथल'' का नाम न होने से यह भी कोई अर्वाचीन सिक्का ही मालूम होता है।

जिनचन्द्रसूरि का वृत्तान्त पूरा होने के बाद गुर्वावली का लेखक बदल जाने की झाकी होती है। लेखक की लेखन-पद्धति बदलने के साथ ही उसकी प्रकृति भी बदली हुई प्रतीत होती है, इस भाग का लेखक गृहस्थो

की प्रशंसा की भरमार से मर्यादा को लांघना है, विरोधी गच्छवाला के ऊपर हृदय की जलन निकाली जाती है – "निग्वधिविधिमार्गदुष्टलोकमुखमालिन्यनिर्मापणमषीकूर्चकानुकारिणा, × × × सकलविपक्षहृदयकीलकानुकारिणो" इत्यादि वाक्यों से लेखक ने अपने हृदय का जोश प्रकट किया है, चित्रका, रलिकचित्ता, प्रपाटी शिलामय, पित्तलामय, भुवन, आदि अलाक्षणिक शब्दों का बार बार प्रयोग करके अपने संस्कृतज्ञान का थाह बता दिया है। गृहस्थ भक्तों की लेखक ने किस प्रकार बिरुदावलियां लिखी हैं, उनका हम एक नमूना उद्धृत करके पाठकों की जिज्ञासापूर्ति करेंगे –

"तत्र सं० १३७९ वर्षे मार्गशीर्षवदि पंचम्यां नाना नगर ग्रामवास्तव्याऽसंख्यमहर्द्धिकसुश्रावकलोकमहामेलापकेन श्रीसार्धर्मिकवत्सलेन श्रीजिनशासनप्रोत्सर्पणाप्रवीणेनोदारचरित्रेण दक्षदाक्षिण्यौदार्यधैर्यगाम्भीर्यादिगुणगणमालालंकृतसारेण युगप्रवरागमश्रीजिनप्रबोधसूरिसुगुर्वनुजसाधुराज जाल्हण पुत्ररत्नेन स्वभ्रातृ – सा० रुदपालकलितेन साधुराजतेजपालसुश्रावकेण, × × × श्री भीमपल्लीसमुदायमुकुटकल्पेन सा० श्यामलपुत्ररत्नेनोदारचरित्रेन साधुवीरदेवेन।" इत्यादि।

यों तो सारी गुर्वावली अतिशयोक्तियों से भरी पड़ी है, फिर भी इसका अन्तिम भाग तो मानो एक उपन्यास सा बन गया है। ऐतिहासिक कहे जाने वाले पट्टावली गुर्वावली आदि साहित्य में इस प्रकार की अतिशयोक्तियां और विस्तृत वर्णन कहां तक उचित माने जा सकते हैं, इसका पाठकगण स्वयं विचार कर लेंगे।

आचार्य जिनकुशलसूरि के वृत्तान्त में सं० १३८० में दिल्ली का राजा गयासुद्दीन होने की बात लिखी है। आचार्य जिनपद्मसूरि के समय में सं० १३९३ में बूझरी के शासक को राजा के नाम से उल्लिखित किया है, इसी प्रकार हर एक आचार्य के विहार के प्रसंग में जहां इनके प्रवेश की धामधूम हुई है और ग्रामाधिपति उनके प्रवेश में सन्मुख गया है, वहां प्रायः सर्वत्र जागीरदार को राजा अथवा महाराजा के नाम से ऊंचे दर्जे चढ़ाया है। पट्टावली के इस भाग में बीसों स्थानों पर एक नये सिक्के का

उल्लेख किया गया है, जिसका नाम है "द्विवल्लकद्रम्म" अर्थात् "दो वाल भर का चादी का सिक्का," तीथयात्राओ के प्रसगो मे जहा-जहा 'इन्द्र' आदि बनने के चढावे बोले गए हैं, वे सभी इन्ही द्रम्मो के नाम से बोले गये हैं, एक रुपये के वाल ३२ होते है, इस हिसाब से दो वाल रुपया का सोलहवा भाग अर्थात् १ आना हुआ, इसका अर्थ यह होता है कि विक्रमीय चौदहवी शती मे दक्षिण भारत मे दो वाल का चादी का सिक्का चलता था – जो "द्रम्म" नाम से व्यवहृत होता था। "द्रम्म" शब्द का मूल फारसी "दिहम" अथवा उर्दु "दिरम" शब्द प्रतीत होता है, पुराने "द्रम्म" शब्द की मूल प्रकृति "दिरम" साढे तीन वाल का होता था। जिसका प्रचार गुजरात तथा सौराष्ट्र मे विक्रम की १२वी शती मे सर्वत्र हो चुका था। दो वाल का द्रम्म उसके बाद सौ डेढ सौ वर्षों मे प्रचलित हुआ मालूम होता है।

खरतरगच्छीय बृहद् गुर्वावली के अन्त मे "वृद्धाचार्य प्रबन्धावलि" इस शीर्षक के नीचे कतिपय प्राकृत भाषा के प्रबन्ध दिए गए हैं, जिनकी कुल सख्या १० है। इनमे से अन्तिम दो प्रबन्ध जो "जिनसिंह" और "जिनप्रभसूरि" सम्बन्धी है, जिनकी यहा चर्चा अवसर प्राप्त नही है, क्योकि ये दोनो आचार्य खरतरगच्छ की मूल परम्परा मे नही हैं। शेष आठ प्रबन्ध क्रमश श्री वर्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनचन्द्रसूरि और जिनेश्वरसूरि का लक्ष्य करके लिखे गए हैं। अत गुर्वावली के अवलोकन मे इन पर ऊहापोह करना अवसर-प्राप्त है।

प्रबन्धो मे जो कुछ विशेष बातें उपलब्ध होती हैं, उन पर ऊहापोह करने के पहले इनके भाषाविषयक निरूपण और निर्माण समय के सम्बन्ध मे विचार करेंगे।

प्रबन्धो का लेखक प्राकृतभाषा का योग्य ज्ञाता नही था। आगम-सूत्रो मे आने वाले वाक्यो, शब्दो और क्रियापदो को ले लेकर प्रबन्धो का निर्माण किया है – "गामाणुगाम, दूइज्जमाणा", "समोसड्ढो", "वयासी", "भो धम्मिदा ! आढत्ता' इत्यादि शब्द तथा क्रियापद सूत्रो मे से लेकर

घर दिये हैं। न व्याकरण का नियम है, न विभक्तिवचन का। जहां वहुवचन का प्रसग है वहा एक वचन ही लिख दिया और एक वचन के स्थान वहुवचन। विपयनिरूपण का भी कोई ढग घडा नही है, कतिपय विशेप नाम जिस प्रकार उनके समय मे प्रचलित थे वैसे ही लिख दिए हैं, जैसे – "पोरवाडो" आदि।

(१) श्री वर्धमानसूरिजी को प्रव ध मे "अरण्यचारी-गच्छनायक" और उद्योतनसूरि के पट्टधारी लिखा है। उनके कासहृद गाव मे, जो आवु पहाडी की पूर्वीय तलहटी मे आया हुआ है और आजकल "काय द्रा" के नाम से प्रसिद्ध है, आने की बात कही गयी है – उसी कासहृद गाव मे दण्डनायक विमल देश का राज्य-ग्राह्य भाग उगाहने के लिए आता है और आवु के ऊपर की रोनक देखकर वहा जिनमन्दिर वनाने की इच्छा करता है, पर तु अचलेश्वर दुगवासी जोगी, जगम, तापस, स यासी, ब्राह्मण प्रमुख विमल की इच्छा को जान कर सव मिल कर विमल के पास आते हैं और कहते है – 'हे विमल ! यहा पर तुम्हारा तीथस्थान नही है। यह कुलपरम्परा से आया हुआ हमारा तीर्थ है, तुमको यहा म दिर बनाने नही देंगे। विमल यह सुनकर निराश होता है और वधमानसूरि के पास जाकर पूछता है, भगवन् ! आवु पर अपना कोई तीथ-प्राचीनजिनप्रतिमा नही है ? सूरिजी ने कहा – छद्मस्थ मनुष्य इसका निर्णय कैसे दे सकते हैं। विमल ने देवताराधना करके इस बात का निणय करने के लिए प्राथना की। वर्धमानसूरि ने छ मासी तप कर ध्यान किया, तव धरणे द्र वहा आया। आचाय ने उसे कहा – हे धरणे द्र ! सूरिमन्त्र के चौसठ देवता अधिष्ठायक हैं, उनमे से एक भी नही आया, न मेरे प्रश्न का समाधान किया। इस पर धरणेद्र ने कहा – भगवन् ! सूरिम त्र का एक अक्षर आप भूल गये हैं, इसलिए अधिष्ठायक देव नही आते। मैं तो तुम्हारे तपोवल से आया हू। इस पर आचाय ने कहा – हे महाभाग ! पहले तुम मेरे सूरिम त्र को शुद्ध कर दो फिर दूसरा काय कहूगा, इस पर धरणे द्र ने कहा – भगवन् ! सूरिम त्र को शुद्ध करने की मेरी शक्ति नही, यह कार्य तीथङ्कर के सिवाय नही हो सकता। इस पर वधमानसूरि ने अपने सूरि-

मन्त्र का गोलक धरणेन्द्र को दिया। उसे लेकर वह महाविदेह मे गया और श्रीसीमन्धर स्वामी के पास सूरिमन्त्र को शुद्ध करवाया। उसके बाद केवल तीन बार स्मरण करने से सब अधिष्ठायक देव प्रत्यक्ष हो गए। गुरु ने पूछा – विमल दण्डनायक हमे पूछता है कि आबु पवत पर कोई प्राचीन जैनप्रतिमा है या नही ? अधिष्ठायक देवो ने कहा – अर्बुदादेवी के प्रासाद से वामभाग मे "अद्बुद" आदिनाथ की प्रतिमा है। अखण्ड अक्षतो के स्वस्तिक पर चउसर पुष्पमाला जहा दीखे – वहा खुदवाना चाहिए। गुरु ने यह देवादेश विमल को कहा, उसने वसा ही किया और प्रतिमा निकाली। योगी, जगम आदि को बुल कर विमल ने जिनप्रतिमा दिखाई, उनके मुख निस्तेज हो गए। विमल ने प्रासाद का काम प्रारम्भ किया, तब ब्राह्मण आदि ने कहा – भले हो तुम्हारी यहा मूर्तिया निकलने से तुम यहा मन्दिर बना सकते हो, परन्तु जमीन हमारी है। इसको रुपयो से ढाक कर हमको इसका मूल्य दो और इस पर मन्दिर बनवाओ। विमल ने वैसा ही किया। जिनप्रासाद तैयार हो गया, ५२ जिनालय और सुवर्णदण्ड, ध्वज कलश-सहित विमल ने प्रासाद तैयार करवाया। इसके निर्माण मे १८ करोड ५३ लाख द्रव्य लगा। आज भी प्रासाद अखण्ड दीख रहा है। इस प्रकार वधमानसूरिजी ने तीथ प्रकट किया।

ऊपर लिखे वृत्तान्त में सूरिमन्त्र सम्बन्धी कहानी हमारी राय मे कल्पना मात्र है, क्योकि वधमानसूरिजी के समय मे सविग्नविहारी सुविहित आचाय न सूरिमन्त्र की आराधना करते थे, न पूजा के लिए इसके पट्ट रखने के लिये गोलक (गोल भूङ्गले) रखते थे। यह प्रवृत्ति शिथिलाचारी पाश्वस्थ आचार्यो की थी। प्रबन्ध लेखक कोई खरतरगच्छीय अर्वाचीन भट्टारक मालूम होते हैं। खरतरगच्छ के लेखक आबु के मन्दिर – विमल वसहि की प्रतिष्ठा वधमानसूरिजी के हाथ से हुई बताते है, परन्तु प्रबन्ध मे प्रतिष्ठा का सूचन नही है। वैसे आबु के विमलवसहिमन्दिर की प्रतिष्ठाएँ बहुधा अनेक आचार्यो के हाथो से हुई है। मूल मन्दिर की प्रतिष्ठा का वहा कोई लेख नही मिलता, परन्तु देहरियो की प्रतिष्ठा सम्बन्धी तथा जीर्णोद्धारो की प्रतिष्ठा सम्बन्धी सैकडो लेख मन्दिर मे

मिलते हैं। श्री वर्धमानसूरिसन्तानीयचक्रेश्वरसूरि आदि ने प्रतिष्ठा की, उसके लेख मिलते हैं। पट्टावलि, आरासण, कासह्लदीय गच्छ के अनुयायियों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां इस मन्दिर में मिलती हैं, परन्तु वर्धमानसूरि का नाम तक नहीं मिलता, यह विचारणीय हकीकत है।

(२) जिनेश्वरसूरिजी सम्बन्धी दूसरे प्रबन्ध में लिखा है कि वर्धमान सूरि पृथ्वी पर विचरते हुए सिद्धपुर१ गए। वहां सरस्वती नदी में अनेक ब्राह्मण नहाते हैं, वर्धमानसूरि बाहिरभूमि गए थे। सरस्वती में स्नान कर वापिस लौटता हुआ "जग्गा" नामक एक "पुष्करणागोत्रीय" ब्राह्मण उनको सामने मिला। वर्धमानसूरि को देखकर वह जिनमत की निन्दा करता हुआ बोला – ये श्वेताम्बर साधु शूद्र, वेदबाह्य और अपवित्र होते है, यह सुनकर आचार्य ने कहा – हे ब्राह्मण! बाह्य स्नान से शरीर की शुद्धि नहीं होती, क्योंकि तेरे सिर पर मृत कलेवर है। इनके आपस में विवाद छिड़ गया। जग्गा ने कहा – "यदि मेरे सिर में से मृतक निकल जाय तो मैं तुम्हारा शिष्य बन जाऊंगा अन्यथा तुम्हें मेरा शिष्य बनना पड़ेगा"। गुरु ने इस बात को मंजूर किया। तब जग्गा ने क्रोध से सिर पर के वस्त्र को दूर फेंका तब क्या देखता है कि भीतर से मरा हुआ एक मत्स्य गिरा। जग्गा शर्त में हार गया और उनका शिष्य बन गया। दीक्षा लेकर सिद्धान्त का अध्ययन कर तैयार हुआ। गुरु ने योग्य जान कर अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया, "जिनेश्वरसूरि" ऐसा नाम दिया। वर्धमानसूरि अनशन करके परलोकवासी हुए, तब जिनेश्वरसूरि गच्छनायक बनकर विचरते हुए अणहिल पट्टन पहुँचे। वहां उन्होंने चौरासी गच्छों के भट्टारकों को देखा। सब द्रव्यलिंगी चैत्यवासी मठपति थे। जिनेश्वरसूरि ने शासन की उन्नति के लिए श्रीदुर्लभराज की सभा में उनसे वाद किया। सं० १०२४ में वे सब आचार्य हारे और जिनेश्वरसूरि जीते। राजा ने खुश होकर उनको "खरतर" ऐसा बिरुद दिया, तब से "खरतर-गच्छ" हुआ। इस प्रबन्ध में कितनी सत्यता है, यह कहना कठिन है, क्योंकि पहले तो पुष्करणा नामक कोई गोत्र ही नहीं होता था, तब ब्राह्मण जग्गा

१ मूल में "सीधपुर" है।

का पुष्करण गोत्र कहा से आया ? होगा, "पुष्कर नामक झील खोदने के कारण पुष्करण नाम पड़ा है', इसलिये उसको जाति कह सकते है, गोत्र नही। आज तक सिद्धपुर मे औदीच्य, सारस्वत, नागर जाति के ब्राह्मण छात्र मिलते है, परन्तु पुष्करणो का वहा कोई नाम तक नही जानता। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त जिनेश्वरसूरि की दीक्षा की कहानी प्रबन्ध लेखक ने कल्पनाजल से गढ ली है।

अन्य खरतरगच्छीय पट्टावलियो मे जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरसूरि को बनारस निवासी श्रोत्रिय ब्राह्मण लिखा है, इससे भी ऊपर की कहानी कल्पना मात्र ही ठहरती है।

पाटन मे दुलभ राजा की सभा मे चैत्यवासियो को हराकर "खरतर" पद प्राप्त करने की बात भी प्रमाणिकता नही रखती, क्योकि एक तो १०२४ मे वहा दुलभराज का राज्य ही नही था। तब राजा ने खुश होकर "खरतर" विरुद दिया यह बात निराधार ठहरती है। "खरतर" यह शब्द सवप्रथम जिनदत्तसूरि के नाम के साथ प्रयुक्त हुआ था जो धीरे-धीरे लग-भग २०० वर्षों के बाद गच्छ के साथ मिल गया है, जिनेश्वरसूरि के समय मे इस नाम को कोई जानता तक नही था, खरतरगच्छ की गुर्वावली आदि मे वधमानसूरिजी का आबु पर स्वगवासी होना लिखा है, तब प्रबन्धलेखक ने स्वगवास स्थान के रूप मे, अबु का नाम-निर्देश नही किया, इससे भी स्पष्ट होता है कि प्रबन्धलेखक भट्टारक ने केवल दन्त कथाओ के आधार से ही प्रस्तुत प्रबन्ध लिख डाला है।

(३) तीसरे प्रबन्ध मे जिनेश्वरसूरि के पट्टधर षटविकृति त्यागी जिनचन्द्रसूरि को बताया है और उनके पट्टधर अभयदेवसूरि को। लेखक का यह मन भी ठीक प्रतीत नही होता, क्योकि जिनचन्द्रसूरि को षडविकृतियो का त्यागी कही नही बताया और न अभयदेवसूरि के सम्बन्ध मे शासनदेवी से कहलाया है कि खभात नगर के बाहर सेढी नामक नदी है उसके निकट खरपलाश के नीचे पार्श्वनाथ की प्रतिमा है, वहा जाकर स्तुति करो' इस लेख से तो यही मालूम होता है कि विचारे प्रबन्धलेखक को 'खभात'

तथा "स्तम्भनक" इन दो नामो के वीच का भेद तक मालूम नही, उन्हे पहले यह समझ लेना चाहिए था कि सेढो नदी "खभात" के वाहर नही, किन्तु "स्तम्भनक ग्राम" के वाहर है, जिसे आजकल "थाभणा" के नाम से पहिचानते हैं। "खभाइति' इस नाम के उल्लेख से तो मालूम होता है कि लेखक सत्रहवी शती के परवर्ती होने चाहिए। लेखक ने "पलाश" के साथ "खर" शब्द विशेपण के रूप से लगाया है, यह भी निरथक है, क्योकि "पलाश" अपने नाम से ही पहिचाना जाता है, 'खरपलाश" कोई वृक्ष ही नही होता। वतमान काल मे लोग इसको 'खाखरा" इस नाम से ही पहिचानते हैं। प्रवन्धलेखक ने "खाखर" शब्द को पूछपलाश से जोडकर अपना निकटवर्ती समय ही सूचित किया है। प्रव ध लेखकजी "जयतिहुअण०" स्तव के सम्बन्ध मे लिखते हैं – "जयतिहुणस्स दो वित्त भडारिय, सपई तिस विरा वट्टइ" इस वाक्य से प्रव घ लेखक ने अपने प्राकृत भापा सम्ब धी ज्ञान का भी परिचय दे दिया है। "दो वित्त भडारिय" के स्थान मे ("दुण्णि वित्ताण्णि भडारियाणि") ऐसा चाहिए। तिस (तीस) वित्त (वित्ताणि) वट्टइ (वट्ट ति) ऐसा लिखना चाहिए था। अन्त मे प्रव घ लेखक कहते है – "आजकल खरतरगच्छ मे "जयतिहुअण०" नमस्कार बिना प्रतिक्रमण करने नही पाते। इस प्रकार की गच्छ सामाचारी गुरु सम्प्रदाय है। इस अंतिम कथन से प्रबन्ध कितना अर्वाचीन है, इस वात को पाठक स्वय समझ सकते हैं।

(४) चौथे प्रबन्ध मे लेखक ने जिनवल्लभसूरि का वृत्तान्त लिखा है। लेखक कहते हैं – मालव देश की उज्जयनी नगरी मे कच्चोलाचार्य चैत्यवासी रहता था। उसके जिनवल्लभ नामक शिष्य था। वह ससार से विरक्तचित्त और सवेगभावी था। एक समय उसने एकान्त मे एक पुस्तक खोला, उसमे से गाथा निकली–"असणे देवदव्वस्स परत्थीगमणे तहा०" इत्यादि। इस गाथा का अर्थ विचारता हुआ जिनवल्लभ वहा से निकल कर अणहिलपुर पाटन गया। वहा चौरासी पौषधशालाओ मे चौरासी गच्छो के भट्टारक रहते थे। जिनवल्लभ प्रत्येक पौषधशाला मे गया। पूछा, देखा, परन्तु कही भी उसे सन्तोष नही हुआ। अन्त मे अभयदेवसूरिजी

की पौषधशाला मे गया, सुविहित आचार्य को देखा और उनके पास दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने उसे योगोद्वहन करवा के गीतार्थ बनाया। सर्वसंघ की प्रार्थना के वश ११६७ के वर्ष मे अभयदेवसूरि ने उसे सूरिमन्त्र दिया और "जिनवल्लभसूरि" यह नाम दिया। विधिपक्ष का स्थापन करते हुए, सुविहित जिनवल्लभसूरि मेवाड के चित्रकूट दुर्ग मे पहुँचे। वहा मिथ्यात्वी लोग बहुत बसते थे। कोई जैनधर्म को स्वीकार नही करता, तब जिनवल्लभसूरि चामुण्डादेवी के मन्दिर मे ठहरे। रात्रि के समय चामुण्डा आई, मन्दिर कापने लगा। जिनवल्लभ ने सूरिमन्त्र के बल से देवी को कीलित कर वश किया। देवी ने आचार्य से कहा – मेरे नाम से अपना गच्छ चलाओ, मैं तुम्हे सहायता करूगी। गुरु ने वैसा ही किया, सब लोगो को प्रतिबोध देकर सम्यक्त्व प्रदान किया।

जिनवल्लभसूरि ने एक साधारण श्रावक को दस करोड द्रव्य का परिग्रह करवा के उसे करोडपति बनाया। उसने चित्रकूट नगर मे जैन प्रासाद बनाया, शत्रुञ्जय का सघ निकाला। जिनवल्लभसूरि ने वागड प्रदेश मे श्रीमालो को प्रतिबोध देकर दस हजार घर जैन बनाए और "पिण्ड विशुद्धि-प्रकरण" की रचना की।

जिनवल्लभसूरि के प्रबन्ध मे लेखक ने अनेक ऐसी बाते लिखी है, जो खरतरगच्छ की मान्यता से ही नही, इतिहास से भी विरुद्ध हैं जिनको इन्होने कच्चोलाचार्य लिखा है उनका खरा नाम "कूचपुरीय जिनेश्वरसूरि" था और वे आशिका नगरी मे भी रहते थे। आशिका और 'कूचपुर' जो आजकल 'कुचेरा" इस नाम से प्रसिद्ध है, ये दोनो मारवाड के अन्तर्गत हैं, न कि मालवा मे।

जिनवल्लभ ने जिस पुस्तक को खोला था और उसमे से "असणे देवदव्वस्स" इत्यादि गाथा निकलने का लिखा है प्रथम तो यह गाथा ही अशुद्ध है, दूसरा खरतरगच्छ की पट्टावलियो मे "दशवैकालिक सूत्र" का पुस्तक खोला ऐसा लिखा है, परन्तु ऊपर उल्लिखित गाथा न दशवैकालिक की है, न किसी अन्य सूत्र की, यह गाथा मनघडन्त है, जो कही से उठाकर इसमे रख दी है।

प्रबन्धकार के कथनानुसार जिनवल्लभ स्वय निकल कर पाटन पहुँचे थे, तब अन्य सभी लेखकों ने जिनवल्लभ को गुरु ने जैनसूत्र पढने के लिए 'अणहिलपुर भेजा था ऐसा लिखा है।" जिनवल्लभ पाटन मे सभी पौषधशालाओ मे फिर-फिराकर अन्त मे अभयदेवसूरि की पौषधशाला मे गये, ऐसा प्रबन्धकार कहते हैं, जो कल्पना मात्र है। क्योंकि न तो अभय देवसूरि की कोई पौषधशाला थी और न वे किसी पौषधशाला मे उतरते थे। अभयदेव, इनके गुरु और शिष्य परिवार सभी वसतिवासी थे और गृहस्थो के खाली मकानो मे ठहरते थे।

अभयदेवसूरि के समीप जिनवल्लभ के दीक्षा लेने तथा अभयदेव द्वारा उन्हे सूरिमन्त्र देने आदि की बाते कल्पित है। जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि के पास ज्ञानार्थ उपसम्पदा लेकर उनसे सिद्धान्त पढा था, ऐसा जिनवल्लभ स्वय कहते हैं। आचार्य अभयदेवसूरि सवत् ११३५ मे स्वर्गवासी हो चुके थे, तब ११६७ मे जिनवल्लभ को सूरिमन्त्र देने कहा से आये, इस बात का प्रबन्ध लेखक को विचार करना चाहिए था।

जिनवल्लभ चित्रकूट गये थे, उस समय वहा के लोग बहुधा मिथ्यात्वी थे, प्रबन्धकार का यह लिखना भी असत्य है। उस समय भी चित्तौड मे जैन धर्म का प्राचुर्य था। जैनमन्दिर, पौषधशालाएँ आदि सब-कुछ था। जिनवल्लभ को कही भी ठहरने के लिए स्थान नही मिला, इसका कारण था उनके पाटण मे सघबहिष्कृत होने की बात। पाटन मे जिनवल्लभ गणि सघ बहिष्कृत होकर चित्तौड गए थे, तब उनके वहा पहुँचने के पहले ही पाटन के समाचार वहा पहुच चुके थे, जिससे उनको चण्डिका के मन्दिर मे उतरना पडा था। चामुण्डा देवी के यह कहने पर कि "तुम मेरे नाम से अपना गच्छ चलाओ" इत्यादि बात मे सत्यांश क्या है, यह कहना तो कठिन है, परन्तु अचलगच्छ के "शतपदी' आदि ग्रन्थो मे जिनवल्लभ के अनुयायियो की परम्परा को "चामुण्डिक गच्छ" के नाम से उल्लिखित किया है, इससे इतना तो कह सकते हैं कि गच्छान्तरीय लोग जिनवल्लभ गणि को "चामुण्डिक" कहा करते होगे।

प्रबन्ध मे साधारण श्रावक को जिनवल्लभसूरि ने "दस करोड" द्रव्य परिमाण परिग्रह कराने का लिखा है, तब खरतर पट्टावलियो मे उसी साधारण श्रावक को "एक लाख" का परिग्रह परिमाण करने की बात कही है। खरतरगच्छ के लेखक अपनी मान्यता मे एक दूसरे से कितने दूर पहुँच जाते है, इस बात मे ऊपर का कथन एक उदाहरण माना जा सकता है।

(५) पाचवा प्रबन्ध श्री जिनदत्तसूरि के सम्बन्ध मे लिखा गया है। प्रबन्धकार लिखते हैं – जिनदत्तसूरिजी अणहिलपुर मे विचरे। वहा के श्री नागदेव श्रावक को युगप्रधान के सम्बन्ध मे सशय था, क्योकि सभी साधु अपने-अपने गच्छ के आचार्य को युगप्रधान कहते थे। नागदेव ने गिरनार पर्वत के अम्बिका-शिखर पर जाकर अट्ठम का तप किया, अम्बिका प्रत्यक्ष हुई और उसके हाथ मे अक्षर लिखे और कहा – तेरे मन मे युग-प्रधान विषयक सशय है, तू अणहिलपुर जाकर सभी पौषधशाला स्थित आचार्यो को अपना हाथ दिखाना। जो तुम्हारे हाथ मे लिखे अक्षरो को पढे उसे युगप्रधान जान लेना। नागदेव ने जाकर सभी पौषधशाला-स्थित आचार्यो को अपना हाथ दिखाया। किसी ने उसके हाथ के अक्षर नही पढे, तब वह खरतरगच्छाधिपति जिनदत्तसूरि की पौषधशाला मे गया। आचार्य को वन्दन किया, सूरि ने उसका हाथ देख कर मौन किया और हाथ पर वासक्षेप किया और अपने शिष्यो को अक्षर पढने का आदेश दिया। शिष्य ने निम्न प्रकार से अक्षर पढे –

'दासानुदासा इव सव्वदेवा, यदीयपादाब्जतले लुठन्ति।
मरुस्थलीकल्पतरु स जीयाद्, युगप्रधानो जिनदत्तसूरि ॥१॥'

उपर्युक्त श्लोक सुनकर नागदेव नि सशय हो गया, तीन प्रदक्षिणा पूर्वक उसने आचार्य को वन्दन किया।

एक बार जिनदत्तसूरि अजमेर की तरफ विचरे। वहा चौसठ योगिनियो का पीठ था। योगिनियो ने सोचा – जिनदत्तसूरि यहा रहेगे तो हमारा पूजा-सत्कार न होगा। इसलिए वे श्राविकाओ के रूप बनाकर आचार्य के व्याख्यान मे आयी। देवियो का अभिप्राय आचार्य को छलने

का था, परन्तु आचार्य ने सूरिमन्त्र के अधिष्ठायक द्वारा उन्हे कीलित करवा दिया। वे उठ न सकी, तब दयावश होकर आचाय ने उन्हें छोडा और आचाय तथा देवियो के आपस मे पणबन्ध हुआ, देवियो ने कहा – "जहा हम है वहा तुम न आओ, हमारे साढे तीन पीठ हैं, एक उज्जनी में, दूसरा दिल्ली मे, तीसरा अजमेर मे और आधा भरोच मे। हे भट्टारक ! तुम अथवा जो भी तुम्हारा शिष्य तुम्हारे पट्ट पर बैठे, वह हमारे उक्त पीठो मे विहार न करे। अगर विहार करेगा तो वधबन्धादिक के कष्ट पाएगा, जैसे जिनहससूरि ने पाए। जिनदत्तसूरि ने योगिनियो का कथन स्वीकार किया।

योगिनियो की शर्ते स्वीकार करने के बाद सिन्ध प्रदेश मे विहार किया। वहा एक लाख अस्मी हजार ओसवालो के घर जैनधर्मी बनाए। उस नगर मे परकायप्रवेश विद्या से जिनमन्दिर मे से मरे हुए ब्राह्मण को सजीव कर नारायण के मन्दिर मे रखा। ब्राह्मणो की प्राथना और हाथा जोडी से फिर उसे सजीव कर श्मशानभूमि मे छोडा।

सिन्ध से विहार करते हुए पचनद के सगमस्थान पर पहुचे और वहां सोमर नामक यक्ष को प्रतिबोध दिहा।

जिनवल्लभसूरि के स्वर्गगमन के समय गच्छ के आठ आचाय थे, जिन मे से एक पूवदिशा मे रुदोली नगर मे जिनशेखर नामक भट्टारक थे, जो रुद्रपल्लीय गच्छ के अधिपति हुए। शेष सात आचार्यो ने जालोर नगर मे मिलकर सलाह की कि समग्र सघ तथा गच्छ की अनुमति लेकर जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर दूसरा आचार्य प्रतिष्ठत करेगे। उस समय दक्षिण देश मे देवगिरि नगर मे जिनदत्तगणि चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, उनको प्रभावशाली गीतार्थ जानकर सघ ने बुलाया, सघ की प्राथना से जिनदत्तगणि आने के लिए रवाना हो गये, जब वे उज्जैनी मे आये, उस समय जिनवल्लभ के पूवगुरु कच्चोलाचार्य की मृत्यु का समय निकट आ चुका था, कच्चोलाचाय ने जिनदत्तगणि के पास आराधना की और शुभध्यान से मरकर कच्चोलाचार्य सौधमकल्प मे देव हुए। जिनदत्तगणि आगे चले। जिहरणी नामक

नगर के उद्यान मे एक शून्य देवालय मे ठहरे। प्रतिक्रमण के समय कच्चोलाचाय देव उनके समीप आया और अपना परिचय देकर जिनदत्तगणि को उसने सात वर दिए, जैसे-तुम्हारे साघ मे एक श्रावक महर्द्धिक होगा ? तुम्हारे गच्छ मे साध्वो को ऋतुपुष्प न होगा २, तुम्हारे नाम से बिजली न गिरेगी ३, तुम्हारे नाम से आधी और धूल के ववण्डर टल जायेंगे ४, अग्निस्तम्भ होगा ५, स य तथा जलस्तम्भ होगा ६, साप का जहर हानि करने को समथ न होगा ६, इसके अतिरिक्त देव ने कहा – पट्टस्थापना के जो दो मुहूत निर्धारित हुए है, उनमे से प्रथम मुहूर्त मे पट्ट पर मत बैठना, क्योकि वह अल्पायु कारक है। दूसरे मूहूत मे बैठने से युगप्रधान जिनशासन का प्रभावक होगा। तेरे गच्छ मे एक हजार साधु और ७०० साध्वियो का परिवार होगा, इतनी बात कहकर देव अदृष्ट हो गया, जालोर नगर मे जिनदत्तगणि ११६६ के वष मे पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए, अजमेर मे प्रतिक्रमण मे उद्योत करती हुई बिजली को स्तभन कर दिया।

प्रबन्धलेखक ने जिनदत्तसूरि के सम्बन्ध मे जो कुछ विशिष्ट चमत्कार पूर्ण बातें लिखी हैं वे सब लेखक के फलद्रूप भेजे मे से निकली हुई है। न अम्बिका ने नागदेव के हाथ पर अक्षर लिखे न जिनदत्तसूरि के शिष्य ने "दासानुदासा" इत्यादि श्लोक पढा। चौसठ योगिनियो की बात तो इससे भी भद्दी हैं, जिनदत्त जैसे शुद्ध धम की लगन वाले विद्वान् आचाय के पवित्र जीवन मे ये बातें कलक रूप है, भले ही अन्धश्रद्धालु अज्ञानी भक्त इन बातो को पढकर खुश हो और जिनदत्त के नाम की माला फेरते रहे, इससे जिनदत्तसूरि का अथवा उनकी माला फेरने वाले भक्तो का भला होने की आशा नही रखना चाहिए।

प्रबन्धलेखक जिनदत्तसूरि के मुह से योगिनियो का वचन "तहत्ति" कराता है, अभयदेवसूरि और जिनदत्तसूरि को पाटन की पौषधशाला मे रहने वाला कहने वाला वचन, जिनवल्लभसूरि का स्वगवास होने के वर्ष मे गच्छ मे आठ आचाय बताता है। जिनदत्त का आचाय होने के पहले का नाम 'सोमचन्द्र' था परन्तु लेखक प्रारभ से ही इनका "जिनदत्तगणि"

के नाम से उल्लख करता है, जिनदत्त के आचाय होने के पहले ही जिनशेखर का आचार्य के नाम से उल्लेख करता है। जिनदत्त को आचाय का पद प्रदान करने का स्थ न जालोर वताता है और जिनवल्लभ के पूर्वगुरु कूवपुरीय श्री जिनेश्वरसूरि के जीव को सौधम का देव बनाकर उससे जिनदत्तसूरि को सात वरदान दिलाता है और जिनदत्तसूरि के साधु साध्वी समुदाय की सख्या क्रमश एक हजार तथा ७०० सौ की वताता है, इन सब बातो पर विचार करने से तो यही ज्ञात होता है कि लेखक, इतिहास किस चिडिया का नाम है ? यह भी जानता नही था। सुनी सुनायी और मन कल्पित बातें लिखकर भले ही लेखक ने अपने मन से जिनदत्तसूरि की सेवा मान ली हो, परन्तु वास्तव मे उसने उनकी कुसेवा की है। उनके वास्तविक चरित्र को ढाककर जनता के सामने प्रवन्ध के नाम से एक अपवित्र गन्दे कचरे का ढेर उपस्थित किया है।

(६) पष्ठ प्रबन्ध जिनदत्तसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि के सम्बन्ध मे सक्षेप मे लिखा है। लेखक ने जिनचन्द्र के ललाट मे नरमणि बताया है, वे जैसलमेर की तरफ विचरते थे, दिल्ली नगर के सघ ने उन्हे दिल्ली की तरफ बुलाया, जिनचन्द्र ने लेख द्वारा सूचित किया कि श्री जिनदत्तसूरिजी ने योगिनी पीठोमें हमारा विहार निषद्ध किया है, फिर भी वे दिल्लीपुर के सघ की अभ्यथना के वश होकर योगिनी पीठ मे विचरे, प्रवेश महोत्सव मे ही योगिनियो ने उन्हे छला और मर गए, आज भी पुरानी दिल्ली मे उनका स्तूप विद्यमान है, जिनचन्द्रसूरि के प्रबन्ध का सार उपयुक्त है।

जिनचन्द्रसूरि के ललाट मे दीप्यमान मणि बताया है, इस मणि का तात्पर्य क्या है ? यह वात समझना कठिन है, मनुष्य का शरीर चम से ढका हुआ होता है, उसके नीचे रहे हुए मणि का प्रकाश बाहर कैसे आता है, इसका लेखक ने कोई खुलासा नही किया।

(७) सातवा प्रबन्ध जिनपतिसूरि का है। जिनपति १२ वर्ष की अवस्था मे पट्ट-प्रतिष्ठित हुए थे, आसीनगर मे प्रतिष्ठा का प्रसग था, वडी धूमधाम के साथ जिनपतिसूरि वहा पहुचे, प्रतिष्ठा का काय प्रारभ हुआ,

परन्तु उसी मौके पर एक विद्यासिद्ध योगी भिक्षार्थ आया, सघ प्रतिष्ठा के काय मे व्यग्रचित्त था, किसी ने भिक्षा नही दी योगी रूठ गया। मूल नायक बिम्ब को कीलित कर दिया, प्रतिष्ठा की लग्नवेला मे सब सघ उठने लगा पर बिम्ब नही उठा, सघ चिन्तातुर हो योगी की तलाश करने लगा, पर वह कही भी नही मिला, उस समय एक महत्तरा साध्वी आचार्य को वन्दन कर बोली – भगवन् ! सघ हँसता है। वह कहता है हमारे भट्टारक बालक हैं ऐसी कोई विद्या नही जानते क्या किया जाय, यह सुनकर जिनपतिसूरि सिहासन से उठे और सूरिमन्त्र से अभिमन्त्रित वास बिम्ब के मस्तक पर डाला, तत्काल एक श्रावक ने बिम्ब को उठा लिया बिम्बप्रतिष्ठा महोत्सव समाप्त हुआ। खरतर गच्छ मे जय-जय शब्द उछल गया।

जिनपतिसूरि ने राजसभा मे ३६ वाद जीते। खरतरगच्छ सामाचारी का उद्धार किया, जिनवल्लभ कृत सघपट्टक प्रकरण की टीका बनाई। इस प्रकार महाप्रभावक हुए।

जिनपति-प्रबन्ध मे बारह वर्ष की अवस्था मे जिनपति को पट्ट-प्रतिष्ठित करने का लिखा है, तब गुर्वावली मे १३ वर्ष की अवस्था मे। यह तो एक सामान्य मतभेद है, परन्तु योगी द्वारा मूर्ति का स्थगित करना और जिनपति द्वारा वासक्षेप डाल कर एक श्रावक के उठवाने की बात एक चमत्कारी टुचका है। मालूम होता है, लेखक को चमत्कारी की बात लिखने मे बडा आनन्द आता होगा। जिनपतिसूरि का वृत्तान्त लिखने मे बृहद्-गुर्वावलीकार ने लगभग २० पृष्ठ भर दिये है, परन्तु यह चमत्कार नही लिखा कि इनके वासक्षेप डालने से योगी-कीलित जिनमूर्ति को एक श्रावक ने उठा लिया। इस पर से पाठकगण प्रबन्ध लेखक की बातो के सत्यासत्य का निर्णय स्वय कर लेंगे।

(८) आठवा प्रबन्ध जिनेश्वरसूरि के सम्बन्ध मे है। जिनपतिसूरि के पट्ट पर नेमिचन्द्र भण्डारी के पुत्र जिनेश्वरसूरि हुए। जिनेश्वर के दो शिष्य थे, एक श्रीमाल जिनसिंहसूरि, दूसरा ओसवाल जिनप्रबोधसूरि। एक समय जिनेश्वरसूरि का दण्ड अकस्मात् टूट कर दो टुकडे हो गये, इससे

प्राचार्य ने भविष्य सोचा कि मेरे गच्छ मे दो टुकडे होने वाले हैं, तब क्यो मैं स्वय अपने हाथ से दूसरा गच्छ कायम न कर दू ! इसी समय के दर्मियान श्रीमालो के सघ ने मिल कर विचार किया। अपने देश मे कोई गुरु आतें नही, चलो गुरु के पास गुरु को ले आयें। श्रीमाल सघ गुरु के पास गया और वन्दनपूवक विज्ञप्ति की कि स्वामी ! हमारे देश मे कोई गुरु नही आते, तब हम क्या करें – गुरु के बिना ? धमसामग्री कसे जुडे ? सघ की बात सुनकर आचार्य ने श्रीमालवशज जिर्नसिह गणि को अपने पद पर प्रतिष्ठित किया। "जिनसिंहसूरि" यह नाम देकर आचाय ने कहा – लो श्रावको ये मैंने तुम्हे अपरण कर दिये। सूरि से कहा – इनके साथ विहार कर इनके देश मे जाओ। जिर्नसिहसूरि ने श्रावको के साथ विहार किया। *श्रीमाली सघ ने कहा – आज से लेकर हमेशा के लिए ये हमारे धर्मा* चाय रहेगे। इस प्रकार जिनेश्वरसूरि के शिष्यो से दो गच्छ हुए। १२८० के वप मे जिनेश्वरसूरि ने जिनसिह को आचाय बनाया और पद्मावती के मन्त्र का उपदेश दिया। कुछ वर्षो के बाद जिनेश्वरसूरि स्वगवासी हुए।

प्रबन्धकार ने प्रारम्भ मे ही "जिनपतिसूरि पट्ट नेमिच द्र भण्डारी जिरणेसरसूरीणो पिया सजाओ" इस प्रकार का अपपाठ लिखा है। लिखना तो यह चाहिए था कि "नेमिच दभण्डारी पुत्तो जिरणेसरसूरी सजाओ" परन्तु जिस प्रवन्ध-लेखक को लिंग वचन विभक्ति का भी भान नही है उसको इस प्रकार का अपपाठ लिखना आश्चय क्या है। वह जो लिखे, भक्तो को सच्चा मान लेना चाहिए।

(१) वद्धमानसूरि –

वद्धमानसूरिजी का वास्तविक इतिहास गुर्वावली मे नही मिलता उनके सम्बन्ध मे केवल इतना ही लिखा है कि वे अम्भोहर देश के जिन-चन्द्राचार्य के शिष्य थे। जिनचन्द्र चैत्यवासी थे, परन्तु वर्धमान को चैत्यवास पसन्द नही आया। गुरु की आज्ञा से कुछ साधुओ के साथ वे दिल्ली की तरफ गए। उस समय वहा उद्योतनाचार्य नामक आचार्य विचर रहे थे। वर्धमान ने उनके पास आगम का अध्ययन किया और उन्ही से चारित्रोपसम्पदा लेकर सविग्न विहारी के रूप मे विचरने लगे।

एक समय वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वर गणि ने अपने गुरु को गुजरात की तरफ विहार करने की सलाह दी और भामह आदि व्यापारियो के बडे काफले के साथ वर्धमानसूरि आदि अट्ठारह साधुओ ने विहार किया। क्रमश वे सब गुजरात की राजधानी अणहिल पत्तन पहुँचे और शुल्क-मण्डपिका मे ठहरे। उनके लिए पाटन एक विदेश था। न कोई उनका भक्त, न कोई परिचित। कुछ विश्रान्ति लेने के बाद, पण्डित जिनेश्वर गुरु की आज्ञा लेकर नगर मे गए और एक बडा मकान देख कर वहा पहुचे। मकान राजपुरोहित का था। जिनेश्वर ने पुरोहित से वार्तालाप करके अपना परिचय दिया, पुरोहित ने अपनी चतुश्शाल मकान मे किनायत वधवा के सब साधुओ को वहा ठहराया। नगर मे बात फैल गई कि पाटन मे वसतिपालक साधु आये है। चैत्यवासी आचार्यो ने सोचा, अपरिचित वहरिक साधुओ का यहा रहना हानिकर होगा। उन्होने उनको वहा से निकालने के अनेक प्रपच किये, पर सफलता नही मिली। अन्त मे दुर्लभ-राज की सभा मे आगन्तुक तथा स्थानीय साधुओ के बीच चैत्य मे रहने न रहने के सम्बन्ध मे चर्चा हुई। जिनेश्वर गणि ने शास्त्रो के आधार से

साधुओ को वसति मे ही ठहरना चाहिए, चैत्य मे नही, इस बात को प्रमाणित किया।

श्री वर्द्धमानसूरि वसतिवास की स्थापना होने के बाद देश मे सर्वत्र विचरने लगे। शुभ लग्न देखकर उन्होने जिनेश्वर गणि को अपना पट्टधर आचार्य बनाया। उनके भाई बुद्धिसागर को भी आचार्य-पद दिया। इनकी बहन कल्याणमती साध्वी को महत्तरा-पद दिया, बाद जिनेश्वरसूरि विहार-क्रम से देश मे घूमे और जिनचन्द्र, अभयदेव, धनेश्वर, हरिभद्र, धर्मदेव, सहदेव, सुमति आदि अनेको को दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया।

वर्द्धमानसूरिजी ने शास्त्रीय विधिपूर्वक आबु ऊपर अनशन करके देवत्व प्राप्त किया।

(२) जिनेश्वरसूरि –

जिनेश्वरसूरिजी ने जिनचन्द्र और अभयदेव को योग्य जानकर आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया।

जिनेश्वरसूरि ने आशापल्ली की तरफ विहार किया, वहा "लीलावती" कथा की रचना की डीडवाणा गाव मे "कथानक कोष" बनाया।

भगवान् महावीर के शासन धर्म की प्रभावना कर श्री जिनेश्वरसूरि देवगति को प्राप्त हुए।

(३) जिनचन्द्रसूरि –

जिनचन्द्रसूरि भी श्रेष्ठ आचार्य थे, जिनको अनेक नाममालाए[१] कण्ठस्थ थी। सर्व शास्त्रज्ञ आचार्य जिनचन्द्र ने अठारह हजार श्लोक

---

१ गुर्वावली मे लिखा है कि जिनचन्द्रसूरि को १८ नाममालाए सूत्र तथा अर्थ से याद थी, यह अतिशयोक्ति मात्र है। नाममालाए अनेक हो सकती हैं, परन्तु एक व्यक्ति के लिये दो नाममालाए पर्याप्त हो जाती हैं। एक तो 'एकार्थ नाममाला' और दूसरी "अनेकार्था' जिस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र कृत "अभिधानचिन्तामणि' और "अनेकार्थ सग्रह' पढने के बाद तीसरे कोश की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार जिनचन्द्र के लिए भी दो कोशो से अधिक की आवश्यकता नही थी। '१८ नाममालाएं' बताना केवल अतिशयोक्ति है।

परिमाण "सवेग रगशाला नामक१ ग्रन्थ बनाया, और जालोर मे श्रावको के आगे "चीइ वदणमावस्सय" इत्यादि गाथा का व्याख्यान करते हुए जो सिद्धान्त के पाठ दिये थे वे उनके शिष्यो ने लिख दिये, जिससे ३०० श्लोक परिमाण का "दिनचर्या" ग्रन्थ बन गया। जिनचन्द्र भी वीरधर्म को यथार्थ रूप मे प्रकाशित कर देवगति को प्राप्त हुए।

(४) अभयदेवसूरि –

अभयदेवसूरि के प्रबध मे लेखक ने शम्भानक (सम्भाण) गाव मे उनके शरीर मे रोग उत्पन्न होने और अभयदेव के अनशन करने तक की परिस्थिति लिखी है परन्तु किसी देवता ने आदेश दिया कि 'स्तम्भनक के पास सेढी नदी के तट पर पलाशवृक्ष के नीचे स्वयम्भू२ प्रतिमा है, तुम उसको वन्दन करो, शरीर स्वस्थ हो जायगा'। आचार्य श्रावको के साथ स्तम्भनक जाने के लिए रवाना हुए, प्रथम प्रयाण मे ही उनको सरस आहार की इच्छा हुई, क्रमश धवलक गाव तक पहुचे और उनका शरीर स्वस्थ हो गया, फिर पदल चलकर स्तम्भनक पहुँचे। श्रावको ने मूर्ति की तपास की पर कही दृष्टिगोचर नही हुई, तब गुरु ने कहा – खाखरा पलाश३ के नीचे देखो,

१ गुर्वावली म "सवेगरगशाला" का श्लोक परिमाण अठारह हजार बताया है, यह भी लेखक की अतिशयोक्ति समझना चाहिए। ग्रन्थ भण्डारो की प्राचीन सूचियो में 'सवेग रगशाला' का श्लोक परिमाण १००७५ लिखा मिलता है। गुर्वावलीकार के लिखे परिमाण म लगभग आठ हजार श्लोक अतिशयोक्ति के हैं। गुर्वावली न प्रत्येक बात मे आठ आने का रुपया बताकर अपने आचार्यों की महिमा बढायी है, जो इतिहास क्षेत्र मे अधकार को ही फैलाता है।

२ लेखक की स्वयम्भू प्रतिमा होने की कल्पना अज्ञानपूर्ण है। शिवलिंग स्वयम्भू हो सकता है परन्तु किसी भी देव की प्रतिमा स्वयम्भू नही होती। प्रतिमा तो घडने मे ही तयार होती है।

३ लेखक न पलाश शब्द के पूर्व मे "खखरा शब्द लिख कर अपना अर्वाचीनत्व सूचित किया है। "पलाश शब्द इतना कठिन नही है कि उसके साथ "खखरा' शब्द लिखने की आवश्यकता हो, इससे तो सूचित होता है कि लेखक की दृष्टि म पलाश दुर्ज्ञेय प्रतिभासित हुआ है, जिसमे उसे सुगम बनाने के लिए साथ मे खखरा' अर्थात् "खाखरा' नाम भी लिख दिया है।

श्रावको ने वैसा ही किया, मूर्ति दृष्टिगोचर हुई। अभयदेवसूरि ने जाकर भक्तिपूर्वक वन्दन किया और खडे खडे "जय तिहुयण०" इत्यादि नमस्कार-द्वात्रिंशिका की रचना की, देवताओ ने कहा - इसमे से दो नमस्कार पद्य हटा लो क्योंकि उनके स्मरण से प्रत्यक्ष होना पडेगा, जो कष्टदायक होगा। आचार्य ने दो पद्य हटा लिये। समुदाय ने प्रतिमा को वहा स्थापन किया, देवालय वहा बन गया। श्री अभयदेवसूरि स्थापित[१] पार्श्वनाथ तीर्थ प्रसिद्ध हो गया।

स्तम्भनक से अभयदेवसूरि पाटन गए और "करडीहट्टी वसति" मे ठहर कर स्थानाग प्रमुख नव आगमो की वृत्तिया निर्मित की, वृत्ति निर्माण मे जहा कही सन्देह उत्पन्न होता वहा जया, विजया जयन्ती अपराजिता देवताओ को याद करते जिससे वे महाविदेह मे तीर्थंकर के पास जाकर शकित स्थल का पूछ कर सशय दूर कर देती[२]।

अभयदेवसूरि के आने पर द्रोणाचार्य खडे होते[३] थे और चैत्यवासी

---

१ गुर्वावली लेखक ने 'स्तम्भतीर्थ' को स्थम्भनकपुर समझ लिया है। उनको यह समझ लेना चाहिये था कि अभयदेवसूरि ने स्तम्भनपुर के परिसर मे पार्श्वनाथ की स्थापना की थी। परन्तु मुसलमानो के गुजरात मे फलने के समय मे स्तम्भनपुर से हटाकर पार्श्वनाथ को स्तम्भतीर्थ मे ले जाया गया था और लेखक के समय मे तो क्या आज तक वे स्तम्भतीर्थ मे ही विराजमान हैं 'स्तम्भनक मे नही।

२ अभयदेवसूरि निर्मित वृत्तियो के सन्देहस्थल देवियो द्वारा तीर्थंकर को पुछवाकर निःसदेह किये जाते थे तब आचार्य अभयदेवसूरिजी ने द्रोणाचार्य प्रमुख पाटन के विद्वान् श्रमणों की समिति द्वारा अपनी सूत्र-वृत्तिया क्यो सुधरवाई इसका गुर्वावली लेखक ने कुछ भी खुलासा नही किया अभयदेवसूरिजी स्वय तो स्थानागवृत्ति मे अपनी सूत्र वृत्तियो का सशोधन करने वाली श्रमणसमिति की स्तुति करते है। तब गुर्वावली लेखक अभयदेव की वृत्तियो को तीर्थंकर के पास सुधरवाते हैं यह कैसा गडबडझाला है।

३ अभयदेवसूरिजी के आने पर द्रोणाचार्य के खडे होने और अभयदेवसूरिजी की प्रशसा मे पद्य लिखकर सब मठपतियो के पास भेजने सम्बन्धी लेखक की बात उसकी अन्ध श्रद्धा का नमूना मात्र है यदि लेखक ने स्थानागवृत्ति का उपोद्घात पढ लिया होता तो वे इस प्रकार की हास्यजनक बातें कभी नही लिखते।

साधुओं के विरोध करने पर उन्होंने अभयदेवसूरिजी की प्रशंसा में एक पद्य बनाकर सब मठपतियों के पास पहुंचाया जिसे पढ़कर वे सब ठण्डे हो गये।

पालडदा ग्राम के भक्त श्रावकों के यानपात्र डूबने की बात सुनकर अभयदेवसूरिजी ने यानपात्रों के मालिक-भक्तों को आश्वासन देते हुए कहा, चिन्ता न करियेगा तुम्हारे जलयान कुशलतापूर्वक समुद्र पार उतर गए[१] हैं। इस खुशी की बात को सुनकर यानों के मालिक बोले – किरानों से जितना लाभ होगा उसके आधे धन से हम सिद्धान्त लिखवायेंगे। आचार्य ने कहा – अच्छी बात है, आपका यह कार्य मोक्ष का कारण है। ऐसा परिणाम करना ही चाहिए। कालान्तर में अभयदेवसूरिजी वापस पाटन आए। इस समय तक उनकी सब दिशाओं में सिद्धान्तपारगत के रूप में प्रसिद्धि हो चुकी थी।

उस समय आशी दुर्ग में श्री कूर्चपुरीय जिनेश्वरसूरि रहते थे। उस गांव में जितने श्रावकपुत्र थे वे सब जिनेश्वरसूरि की पौषधशाला में पढ़ते थे। वहां जिनवल्लभ नामक श्रावकपुत्र था, वह भी उसी पौषधशाला में पढ़ता था। जिनवल्लभ बुद्धिशाली लड़का था। उसकी मां को प्रलोभन देकर आचार्य ने उसे शिष्य बना दिया। व्याकरण, साहित्य आदि पढ़ाकर विद्वान् बना दिया।

एक समय जिनेश्वरसूरि की गैरहाजिरी के समय में जिनवल्लभ ने एक धार्मिक सूत्र पढ़ा उसमें साधु को माधुकरी वृत्ति से निर्दोष आहार लेने का लिखा था। उसका चैत्यवास की तरफ से मन भग हो गया, परन्तु अपने गुरु से इस विषय में कुछ भी चर्चा नहीं की। जिनवल्लभ

१ पालडदा ग्राम के भक्तों के यानपात्र पार उतरने की बात भी लेखक के दिमाग की उपजमात्र है अभयदेवसूरि सुविहित साधु थे लेखक के जैसे शिथिल यति नहीं जो व्यापार के लाभ का आधा भाग सिद्धान्त लिखने को देने की बात सुनकर उनका बार-बार समर्थन करते। अभयदेवसूरिजी की आगम वृत्तियां लिखवाने वाले अनेक गृहस्थ पाटन में थे उनको उसके लिये – निमित्त भाषण द्वारा पालडदा के भक्तों को अनुकूल करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

साहित्य मे अच्छा तैयार हो गया था, फिर भी उसको धार्मिक सिद्धात पढना शेष था। आचार्य ने अपने शिष्य जिनवल्लभ और जिनशेखर[१] को अभयदेवसूरिजी के पास धार्मिक सिद्धान्त पढने के लिए भेजा। मरुकोट होकर अनहिल पत्तन जाते हुए जिनवल्लभ ने वहा एक गृहदेवालय की प्रतिष्ठा की, फिर वहा से पाटन पहुँचे, गुरु को वन्दन किया। गुरु ने भी जिनवल्लभ को देखते ही चूडामणि ज्ञान से उसकी योग्यता परख ली और आने का कारण पूछा। उसने कहा--हमको गुरु ने आपके पास जैन सिद्धान्त की वाचना लेने भेजा है। आचाय ने सोचा -- चैत्यवासी का शिष्य है फिर भी योग्य है यह विचार कर उनका स्वागत किया। अच्छा दिन देखकर वाचना देना प्रारम्भ किया। गुरु के मुख से निकलते हुए सूत्रवाक्यो को वह अमृत समान मान कर सतुष्ट होने लगा। गुरु ने भी सच्चे प्रतीच्छक को पाकर आनन्द का अनुभव किया। रात-दिन पढने तथा चिन्तन करने से सिद्धान्त वाचना थोडे ही काल मे पूर्ण हो गई। आचाय का एक स्वीकृत ज्योतिषी विद्वान् था, उसने कहा -- यदि आपके कोई योग्य शिष्य हो तो मुझे सौप देना, मैं उसे ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान करा दूगा। जिनवल्लभ उसको सौप दिया गया। ज्योतिर्विद ने अपने पास जितना ज्योतिष का ज्ञान था, जिनवल्लभ को पढा दिया। बाद मे जिनवल्लभ ने अपने मूल गुरु के पास जाने की आज्ञा मागी, गुरु ने कहा -- जो कुछ सिद्धान्त का ज्ञान था, मैंने तुझे बता दिया है। अब ऐसा बतना जैसा कि सिद्धान्त मे

१ गुर्वावली लेखक ने जिनशेखर को जिनवल्लभ का वैयावत्यकार (सेवा करने वाला) लिखा है, वास्तव मे जिनशेखर जिनवल्लभ के गुरु भाई थे साथ ही पढकर अच्छे विद्वान् बने थे, इसीलिए तो जिनवल्लभ के पट्ट पर सोमचन्द्र को प्रतिष्ठित करने का अधिक साधुओ ने विरोध किया था, क्योकि जिनशेखर जिनवल्लभ के गुरु भाई होने के उपरान्त विद्वान् भी थे। परन्तु आचाय देवभद्र की जिनशेखर पर अवकृपा थी, इसलिए उन्होंने गच्छ के विरोध का विचार न करके जिनवल्लभ के पट्ट पर मुनिसोमचन्द्र को 'जिनदत्तसूरि" बनाकर बठा दिया, इसी के परिणाम स्वरूप अन्य गीतार्थ श्रमणो ने जिनशेखर को भी आचार्य बनाकर जिनवल्लभ का उत्तराधिकारी नियत कर दिया। जिनशेखर जिनवल्लभ का केवल वयावृत्यकार होता तो यह बखेडा कभी नहीं होता।

लिखा है। जिनवल्लभ ने कहा– यथाशक्ति आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। जिस रास्ते से वे आये थे उसी रास्ते से चले गये। आशी दुर्ग से तीन कोश पर रहे हुए "माईयड" गाव मे ठहरे और अपने आने की गुरु को खबर पहुँचाई। दूसरे दिन आशिका से आचार्य वहा आये। आशिका न आकर बीच मे ठहरने का आचार्य ने कारण पूछा। जिनवल्लभ ने कहा – मैं चैत्यवास करना नही चाहता। आचार्य ने अनेक प्रकार से समझाया, पर जिनवल्लभ ने अपना निर्णय नही बदला। गुरु को वन्दन कर जिनवल्लभ फिर पत्तन की तरफ विहार कर गये। श्री अभयदेवसूरि के चरणो मे जिनवल्लभ के आने से अभयदेवसूरि के मन का समाधान हो गया। वे मन मे जानते थे कि जिनवल्लभ आचार्य पद के योग्य है, पर तु देवगृह निवासी का शिष्य होने से गच्छ को यह बात मजूर न होगी, यह विचार कर उन्होने अपने पट्ट पर वर्द्धमानसूरि को बैठाया। जिनवल्लभ गणि को अपनी उपसम्पदा[1] देकर कहा – सर्वत्र हमारी आज्ञा से विचरना। एकान्त मे प्रसन्नचन्द्राचार्य को कहा – अच्छे लग्न मे जिनवल्लभ गणि को मेरे पट्ट पर

---

१ उपसम्पदा का तात्पर्य क्या होता है इसको गुर्वावली लेखक समझा नही है, जिनवल्लभ ने चित्रकूट की प्रशस्ति मे अपने लिये स्वय लिखा है कि उसने अभयदेवसूरि के पास ज्ञानोपसम्पदा लेकर श्रुतज्ञान की प्राप्ति की थी। जिनवल्लभ अन्त तक अपने मूल गुरु कूर्चपुरीय श्री जिनेश्वरसूरि को अपना गुरु मानते थे, स० ११३८ मे लिखे गए विशेषावश्यक भाष्य की कोट्याचार्य कृत टीका के अन्त मे लिखा है कि 'यह पुस्तक प्रख्यात आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ गणि की है "प्रश्नोत्तर एकषष्टिशतक" मे एक प्रश्नोत्तर मे जिनवल्लभ गणि लिखते है – 'मद्गुरवो जिनेश्वरसूरय' अर्थात् मेरे गुरुजी जिनेश्वरसूरि है। जिनवल्लभ गणि के इस प्रकार के स्पष्ट लेख मिलने पर भी गुर्वावली लेखक अभयदेवसूरि की उपसम्पदा को प्रव्रज्या मानकर जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि का दीक्षित शिष्य मानते है यह उनका अज्ञान है। यदि जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि के समीप चरित्रोपसम्पदा ली होती तो उनको अपने पूर्वगुरु जिनेश्वरसूरि और उनके गच्छ का त्याग करना पडता और अभयदेवसूरि के गच्छ को अपना गच्छ और आचार्य उपाध्यायो को अपने आचार्य उपाध्याय मानने की प्रतिज्ञा करनी पडती परन्तु ऐसा कुछ भी नही हुआ इससे सिद्ध है कि जिनवल्लभ गणि अभयदेवसूरि के प्रतीच्छक मात्र थे शिष्य नही।

प्रतिष्ठित कर देना, परन्तु प्रसन्नचन्द्राचार्य को भी जिनवल्लभ को गुरु-पद पर बैठाने का प्रस्ताव न मिला। उन्होने भी अपने आयुष्य की समाप्ति के समय कपडवज मे अभयदेवसूरिजी की भावना की देवभद्राचाय को सूचना दी। देवभद्राचाय ने उसको स्वीकार किया। आचाय अभयदेवसूरिजी कपडवञ्ज मे आयुष्य पूरण कर स्वर्गवासी हुए।

(५) जिनवल्लभ गणि –

जिनवल्लभ गणि कुछ दिनो तक पाटन की परिसर-भूमि मे विचरे, परन्तु वहा किसी को प्रतिबोध नही होता था, इसलिए उनका मन नही लगा, अत दो साधुओ[१] के साथ विधिधम के प्रचाराथ चित्रकूट की तरफ विहार किया। वे देश भी बहुधा चैत्यवासी आचार्यों से व्याप्त थे। वहा के निवासी भी उन्ही के भक्त थे, फिर भी अनेक गावो मे फिरते हुए चित्तौड पहुँचे। वहा ठहरने के लिये श्रावको से स्थान पूछा, उन्होने कहा– "चण्डिका का मठ है, यदि वहा ठहरो तो", जिनवल्लभ ने कहा – "तुम्हारी अनुमति हो तो वही ठहरें'। श्रावको ने अनुमति दी। जिन वल्लभ गणि सभी विद्याओ मे प्रवीण थे। धीरे-धीरे चित्तौड मे उनकी प्रसिद्धि हो गई, ब्राह्मण आदि विद्वान् तथा इतर जिज्ञासु मनुष्य और कोई श्रावक भी उनके पास जाने लगे।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी महावीर के गर्भापहार कल्याणक का दिन है, यदि देवालय मे जाकर विस्तार से देववन्दन किया जाय तो अच्छा है। उस समय वहां विधि चैत्य तो था नही – वे चैत्यवासियो के देवालयो मे जाने लगे, तब एक साध्वी देवगृह के द्वार पर खडी होकर कहने लगी –

१ गुर्वावली में जिनवल्लभ ने पाटन छोडा तब उन्हे 'आत्मतृतीय" लिखा है, परन्तु हमारी राय में जिनवल्लभ गणि अकले ही पाटन से चित्तौड गये हैं, क्योकि वाद के उनके जीवनवृत्त में उनके साथ में साधु होने की कोई सूचना तक नही मिलती देवभद्र चित्तौड के लिए रवाने होते हैं जब उन्हे नागौर लिखते हैं – 'अपने परिवार के साथ चित्तौड चले आना परन्तु उनके साथ परिवार था इसका काई प्रमाण नहीं मिलता। जिनवल्लभ के केवल एक "रामदेव नामक शिष्य होने का उनके एक ग्रन्थ की अवचूर्णी से पता लगता है।

नयी रीतिया करने के लिये यहा स्थान नही है। इस पर जिनवल्लभ तथा उनके अनुयायी श्रावक वहा से लौट गये। अपने स्थान पर जाकर श्रावको ने कहा – बडे मकान हैं उनमें से एक के ऊपर "चतुर्विशति जिनपट्ट" स्थापित कर देववन्दनादिक धार्मिक क्रियाए की जाए तो कैसा ? गुरु ने कहा – बहुत ठीक है। श्रावको ने वैसा ही किया, गुरु का मन सतुष्ट हुआ। बाद मे श्रावको ने "चित्तौडदुग" मे तथा "नगर" मे एक एक जिनालय बनाने का विचार किया और गणिजी की सम्मति मागने पर जिनवल्लभ ने उनके विचार का अनुमोदन किया। दोनो मदिर तयार हो गये१। दुग मे पाश्वनाथ और नीचे महावीर के बिम्ब। जिनवल्लभ गणि द्वारा प्रतिष्ठित किये गये।

एक समय मुनिचन्द्राचाय ने अपने दो शिष्यो को सिद्धात वाचना के निमित्त जिनवल्लभ गणि के पास भेजा। गणिजी ने उनको वाचना देना प्रारम्भ किया, पर बाद मे उन्हे एक पत्र से मालूम हुआ कि दोनो साधु मेरे श्रावको को बहकाकर अपने गुरु का भक्त बना रहे है, उन्होने साधुओ को फटकारा और वे वहा से चले गए२।

जिनवल्लभ गणि ने अपने श्रावक गणदेव को धार्मिक शिक्षा देकर उपदेशक बनाया, क्योकि उसको वक्तृत्वशक्ति अच्छी थी। अपने नये तैयार

---

१ अष्टसप्ततिका के अनुसार मन्दिर एक ही बना था।

२ मुनिचन्द्रसूरि स्वय आगम शास्त्र और न्याय शास्त्र के प्रौढ विद्वान् थे और जिन वल्लभ के स्वगवास के बाद बे वर्षो तक जीवित रहे थे, इस परिस्थिति में उनके शिष्यो का जिनवल्लभ के पास वाचना लेने जाने की बात निर्मूल प्रतीत होती है और जिनवल्लभ के श्रावको को बहकाकर अपने गुरु के रागी बनाने का कथन इससे भी विशेष असभव प्रतीत होता है क्योकि मुनिचन्द्रसूरि उस समय के सुविहित साधुओ में पहले नम्बर के त्यागी और उग्र विहारी थे वे हमेशा सौवीर जल पीते थे और मास-कल्प के क्रम से विहार करते थे वृद्धावस्था में भी पाटन में मास कल्प की मर्यादा का पालन करने के लिए प्रतिमास मुहल्ला और मकान बदलते थे। सारा पाटन उनका भक्त और प्रशंसक था। ऐसे त्यागी पुरुष के लिए भक्त बनाने के प्रपच की बात केवल कल्पित कहानी ही हो सकती है।

लिये हुए पुस्तक लेना के साथ जिनवल्लभ गणि ने गणदेव को वागड देश मे धर्मप्रचार के लिए भेजा । वहा गणदेव ने सबलोकों को जिनवल्लभ गणि दर्शित विधि धर्म की तरफ आकृष्ट किया था ।

एक समय धारा नगरी मे नरवर्मा राजा की सभा मे दो दक्षिणी पडित आए, उन्होने "कण्ठे कुठार कमठे ठकार" यह पद सभा के पडितों को दिया और अनेक पण्डितो ने समस्यापूर्तिया की, परन्तु आगतुक पण्डितो को एक भी समस्यापूर्ति सन्तुष्ट न कर सकी । इससे राजा ने जिनवल्लभ गणि की प्रशसा सुनकर उनमे समस्यापूर्ति कराने के लिए शीघ्रगतिक ऊटो के साथ लेख लिख कर पुरुषो को चित्तौड भेजा । प्रतिक्रमण के समय नरवर्मा का आदमी जिनवल्लभ से मिला, पत्र दिया और जिनवल्लभ ने तुरन्त समस्यापूर्ति करके नरवर्मा के पुरुषो को दे दी । दाक्षिणात्य पण्डित समस्यापूर्ति सुनकर सन्तुष्ट हुए और राजा की तरफ से पारितोषिक पाकर चले गए ।

जिनवल्लभ गणि कुछ दिनो के बाद धारा नगर पहुँचे[१] । राजा नरवर्मा ने जिनवल्लभ गणि को अपने पास बुलाया और "समस्यापूर्ति के पारितोषिक के रूप मे तीन लाख पारुत्थ अथवा तीन गाव लेने के लिए कहा, उत्तर मे गणिजी ने कहा – महाराज ! हम साधु लोग धन-सग्रह नहीं करते । चित्तौड मे श्रावको ने दो जिनमन्दिर बनवाए हैं, उनकी पूजा के लिए आपकी शुल्कशाला की आमदनी मे से दो पारुत्थ प्रतिदिन दिलाइयेगा । राजा ने चित्रकूट की शुल्कमण्डपिका से प्रतिदिन दो पारुत्थ चित्तौड के जैन-मन्दिरो मे देने के लिए आज्ञा दी ।

---

१ जिनवल्लभ गणि के धारा नगर जाने और चित्तौड के दोनो मन्दिरो के लिए प्रतिदिन दो पारुत्थ नियत करवाने की हकीकत वाला सारा प्रकरण प्रक्षिप्त है । गुर्वावली की अन्य प्रतियो मे यह प्रकरण उपलब्ध नही होता, इस गुर्वावली की प्राचीन प्रति मिल गई होती तो इस प्रकार के तमाम कूटप्रकरणो का पता लग जाता, परन्तु अफसोस है कि प्राचीन प्रति के आदि के ५ पत्र ही उपलब्ध हुए, इसलिए लग भग सम्पूर्ण प्रक्षिप्त पाठ गुर्वावली मे रह गए हैं ।

नागौर मे श्रावको ने नेमिनाथ का देवालय और नेमिनाथ का बिम्ब तयार करवाया था। उनकी इच्छा हुई कि हम जिनवल्लभ गणि को गुरु के रूप में स्वीकार कर उनके हाथ से दोनो की प्रतिष्ठाए करवायेंगे। सवसम्मति से उन्होने जिनवल्लभ गणि को बुलाया। अच्छे लग्न मे देवगृह तथा नेमिनाथ-विम्ब को प्रतिष्ठित करवाया। उसके प्रभाव से वे श्रावक लक्षपति बन गए। नेमिनाथ के विम्ब के लिए उन्होने रत्नमय आभूषण बनवाये। इसी प्रकार 'नरवर' के श्रावको की इच्छा हुई और जिनवल्लभ गणि का गुरुत्व स्वीकार कर उनसे जिनालय तथा जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करवाई। दोनो स्थानो के मन्दिरो मे रात्रि मे बलिप्रदान, स्त्रीप्रवेश, लकुटादिदान का निषेध कर विधि चैत्य के नियम लिखवाए।

मरुकोट के श्रावको की विज्ञप्ति से जिनवल्लभ गणि विक्रमपुर होते हुए मरुकोट पहुचे। वहा के श्रावको ने एक अच्छा स्थल ठहरने के लिए दिया और उनके मुख से धर्मोपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की। गणिजी ने उपदेशमाला सुनाना प्रारम्भ किया। यद्यपि यह ग्रन्थ श्रावको का सुना हुआ था तथापि जिनवल्लभ गणि की उपदेशधारा इतनी मधुर थी कि श्रोताओ को सुनकर तृप्ति नही होती थी। उस समय आचाय देवभद्र विहार करते हुए अणहिल पत्तन आए। पत्तन आकर उन्होने जिनवल्लभ गणि को चित्तौड जल्दी आ जाने के लिए लिखा। जिनवल्लभ नागौर से विहार करते हुए चित्तौड पहुँचे और स० ११६७ के आषाढ सुदि ६ के दिन वीरविधिचैत्य मे अभयदेवसूरि के पट्ट पर जिनवल्लभ गणि को प्रतिष्ठित किया। देवभद्रादिक अपने-अपने स्थान पहुँचे, परन्तु उसी वर्ष मे कार्तिक वदि १२ को रात्रि के समय जिनवल्लभसूरि समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हो गये।

जिनवल्लभ का मरण-समाचार सुनकर देवभद्रसूरि को बडा दुःख हुआ और जिनवल्लभ के पद पर किसी योग्य साधु को प्रतिष्ठित कर उनकी परम्परा चालू करने की चिंता मे लगे।

साधुओ की योग्यता पर विचार करते करते उ० धर्मदेव के शिष्य सोमचन्द्र मुनि पर आचाय देवभद्र की दृष्टि पहुँची। वह चपल

प्रकृति का होते हुए भी विद्वान् साधु था। आचाय हरिसिंह के पास सिद्धान्त पढ़ा हुआ था। गृहस्थवर्ग तथा श्रमणसमुदाय भी सोमचन्द्र की योग्यता से परिचित था। देवभद्रसूरि ने सर्वसम्मति से चित्तौड आने के लिए पत्र लिखा। चित्तौड जाने के बाद प० सोमचन्द्र को देवभद्रसूरि ने एकान्त मे कहा – अमुक दिन मे आचार्य-पद प्रदान करने के योग्य लग्न निश्चित किया है। सोमचन्द्र ने कहा – ठीक है, पर इस लग्न मे मुझे पद पर प्रतिष्ठित करोगे, तो मेरा जीवित लम्बा नही होगा। छ दिन के बाद शनिवार को जो लग्न आयगा, उसमे पट्टप्रतिष्ठित होने पर चारो दिशाओ मे श्री जिनवल्लभसूरिजी के वचन का प्रचार होगा और चतुर्विध श्रमणसघ की वृद्धि होगी। श्री देवभद्रसूरि ने कहा – वह लग्न भी दूर नही है, उसी दिन पद प्रदान करेंगे। बाद मे सोमचन्द्र के बताए दिन ११६६ के वैशाख सुदि १ को चित्रकूट के जिनचैत्य मे श्रीजिनवल्लभसूरि के पट्ट पर प० सोमचन्द्र को आचाय पद देकर "श्री जिनदत्तसूरि" यह नाम रक्खा। जिनदत्तसूरि की पदप्रदान के बाद की देशना सुनकर सब ने आचाय देवभद्र की पसन्दगी की प्रशसा की। देवभद्र ने कहा – जिन-वल्लभसूरिजी ने मुझे कहा था कि मेरे पट्ट पर आप सोमचन्द्र गणि को विठायें, इसलिए मैंने उनकी इच्छा के अनुकूल कार्य किया है। अन्त मे देवभद्राचार्य ने नये आचार्य को कहा – कुछ दिन तक पाटन को छोड कर अन्य प्रदेश मे विहार करना[1], जिनदत्तसूरि ने कहा – ऐसा ही करेंगे।

---

१ गुर्वावलीकार जिनदत्त को पाटन से अन्य स्थानो में विहार करने की सूचना देवभद्र के मुख से करवाता है और जिनदत्तसूरि उसको स्वीकार करते हैं। इस पर भी जिनदत्त अट्ठम तप करके देव को बुलाते हैं और देव से अपने विहार का चेत्र पूछते हैं देव उनको मरुस्थली का प्रदेश विहार के लिए सूचित करता है।

जिनशेखर को समुदाय मे लेने के बाद गच्छ के आचाय जिनदत्तसूरि को कहते हैं– जिनशेखर को शामिल लेना तुम्हारे लिए सुखकर न होगा यह कहने के बाद वे आचार्य अपने अपने स्थान जाते हैं, गुर्वावलीकार ने इस विषय में यथाथ बात को छिपाया है। जिनशेखर को शामिल लेने का परिणाम जिनदत्त को भयकर मिला हैं, इस सम्बन्ध में उपाध्याय श्री समयसुन्दरजी नीचे का वृत्तान्त लिखते है – जो ध्यान में लेने योग्य है – "श्री जिनवल्लभसूरिनिष्कापितसाधुमध्यग्रहणेन १३

एक दिन जिनशेखर ने व्रत के विषय मे कुछ अनुचित कार्य किया, फलस्वरूप देवभद्राचाय ने जिनशेखर को समुदाय से निकाल दिया, जहा होकर स्थण्डिल भूमि जाते है, वहा जाकर जिनशेखर खडा रहा। जिस समय वहिर्भूमि मे जाते हुए जिनदत्तसूरि वहा पहुचे और जिनशेखर उनके पैरो मे गिरकर बोला – "मेरा यह अपराध क्षमा करियेगा" फिर ऐसी भूल न करूगा। दयासागर श्री जिनदत्तसूरिजी ने उनको फिर समुदाय मे मिला दिया, पता लगने पर आचाय ने कहा – जिनशेखर को समुदाय मे

आचार्यो श्री जिनदत्तसूरि गच्छाद्वहिष्कृत. तत पदस्थापनाकारक श्रावक पृष्ट्वा वपत्रयावधि कृत्वा निगत ॥" अर्थात् = जिनवल्लभसूरि द्वारा निकाले हुए साधु को फिर समुदाय में लेने के अपराध में गच्छ के १३ आचार्यो ने श्री जिनदत्तसूरि को गच्छ से वहिष्कृत किया, तब पदस्थापनाकारक श्रावक को पूछकर तीन वप के लिए जिनदत्तसूरि निकल गए।

खरतरगच्छ की एक अन्य पट्टावली में जो जिनराजसूरि तक के आचार्यो की परम्परा बताने वाली है और सत्रहवी शदी में लिखी हुई है, जिनदत्तसूरि के उक्त प्रसग में –

"वीरणाई दीनि बाहरि गया छई, श्री जिनदत्तसूरि, तिवारइ, जिनशेखर आवी पगे लागऊ, कह्यऊ मारु × × × × × × × ×

माहि घातओ, गुरु साथइ लेई आव्या अनेरे आचार्ये कह्यऊ एकाढयऊ हुतओ तम्हे अणपूछिइ किममाहि आण्यो, तिवारइ जिनदत्तसूरि कह्यओ म्हारइ दाइ आणइ मइ घाल्यो, श्री जिनवल्लभसूरि न ओ एगुराहि जिनपेखर, समस्त सघ १४ आचाय मिली कह्यओ एवारउ काढओ नहितर थेई विहार करओ, जिनदत्तसूरि विहार किधओ, उपवास ३ करी स्मरयो हरिसिहाचाय देवलोक हूती आव्यओ, मूनइ किसइ अर्थि स्मरओ तू हे, कह्यओ मुहूत ३ बीजई मुहूर्ति मूनई पाट हूओ, गच्छसू विरोध हुयओ किसी किसी दिसि विहार करओ, मारुवाडि मरुस्थलि दिशि विहार करि जेति तुम्हे स्मरस्यो तेथी हू जुदउ।"

हमारे पास एक २६ पत्रात्मक बडी गुर्वावली है, उसमें जिनदत्तसूरि का वत्तात क्षमाकल्याणकमुनि का लिखा हुआ है, उसमें जिनदत्तसूरि को गच्छ के आचार्यो द्वारा गच्छ बाहर निकालने की सूचना तक नही है, उपयुक्त खरतर-

लेना तुम्हारे लिए सुखकर न होगा, बाद मे दूसरे श्राचार्य श्रादि वहा से विहार कर गए, इसके बाद जिनदत्तसूरिजी ने श्रपने विहार का निश्चय करने के लिए तीन उपवास कर देवलोक स्थित हरिसिंहाचार्य के जीवदेव का स्मरण किया, देव उनकेसमीप श्राया श्रौर बोला – मेरा स्मरण क्यो किया है ? जिनदत्तसूरि ने पूछा, "विहार किधर करूँ" देव ने कहा – "मरुस्थली श्रादि देशो मे विहार करो ।"

देवादेश के श्रनुसार जिनदत्तसूरि मारवाड मे विहार करते हुए नागौर पहुँचे, वहा का रहने वाला धनदेव श्रावक उनका बडा श्रादर करता है श्रौर कहता है – यदि श्राप मेरा कथन माने तो मैं श्रापको सब का पूज्य बनालू, इस पर जिनदत्तसूरि ने कहा – हे धनदेव ! शास्त्र मे श्रावक को गुरु का वचन मानने का विधान है । गुरु को श्रावक का वचन मानने का नही, मेरे पास परिवार न होने से लोगो मे मेरी पूजा न होगी, यह नही मान लेना चाहिए, श्रधिक परिवार वाला मनुष्य ही जगत् मे पूज्यता को पाता है यह एकान्त नही मान लेना चाहिये क्योकि श्रनेक पुत्रो मे परिवृत भी गर्ताशूकरी विष्ठा खाती है । धनदेव को जिनदत्तसूरि का उपर्युक्त कठोर उत्तर भाया नही ।

वहा से जिनदत्तसूरि विचरते हुए श्रजमेर पहुचे, वाहडदेव श्रावक के गृहदेवालय मे जिनदत्तसूरि देववन्दनार्थ गए श्रन्यदा वहा एक श्रन्य श्राचार्य

गच्छ की पट्टावलियो में से प्रथम दो १७ वी सदी की हैं तब तीन गुर्वावलियाँ १९ वी सदी की हैं, इस प्रकार ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है त्यो त्यो खरतरगच्छ की पट्टावलियो गुर्वावलियो में श्रनुकूल पाठ प्रक्षिप्त किये जाते हैं श्रौर प्रतिकूल पाठ उनमें से निकाल दिये जाते है, प्रस्तुत "खरतर बृहद् गुर्वावली" में से जिनदत्तसूरि वाला प्रसग सर्वथा तो निकाला नही गया । परन्तु उसमें ऐसा गोलमाल किया है कि उस प्रसग को खरे रूप में कोई समझ न सके । देवभद्रसूरि के मुख से इतना ही कहलाया कि "तुम श्रभी पाटन से श्रन्यत्र विहार करना," श्रन्य श्राचार्यो के मुख से इतना ही कहलाया – जिनशेखर को शामिल लेना तुम्हारे लिए सुखावह नही है, इन गोलमाल लेखो से इतना तो निश्चित होता है कि "बृहद् गुर्वावली' समयसुन्दर, जिनराजसूरि के समय से श्रर्वाचीन १८ वी सदी की है, श्रौर उ० क्षमाकल्याण के पहले की । *

आया, जो पर्याय मे छोटा था, जिनदत्तसूरि वहा जाते तब वह आचार्य उनके साथ उचित व्यवहार नहीं करता था। आशधर प्रमुख जिनदत्तसूरि के श्रावकोंने अर्णोराज को विज्ञप्ति की कि हे देव ! हमारे गुरु जिनदत्तसूरिजी महाराज पधारे हुए हैं। राजा ने कहा – अच्छी बात है, कार्य हो तो कहो, श्रावकों ने कहा – एक जमीन का टुकडा चाहिए, जहा देवालय धर्मस्थान, श्रावक कुटुम्बों के रहने के लिए मकान बनाये जासकें। राजा ने कहा – दक्षिण दिशा में जो पर्वत दीख रहा है, उसकी तलभूमि मे जो करना चाहो करो। राजा ने कहा – आपके गुरु महाराज के दर्शन तो हमे भी करना ! राजा के साथ जो कुछ बातचीत हुई थी, वह सब श्रावकों ने अपने गुरु को सुनायी। आचार्य ने कहा – ऐसे राजा को अपने पास बुलाना चाहिए। अच्छा दिन देखकर राजा को बुलाया, राजा ने आचार्य को नमस्कार किया। आचार्य ने राजा को निम्नलिखित आशीर्वाद का श्लोक अर्थ के साथ सुनाया –

"श्रिये कृतनतानन्दा, विशेषवृषसंगता।
भवतु भवता भूप, ब्रह्मा श्रीधरशंकरा ॥"

आशीर्वाद सुनकर राजा प्रसन्न हुआ, बाद मे श्रावकों ने स्तम्भनक, शत्रुञ्जय, उज्जयन्त, की कल्पना से पार्श्वनाथ ऋषभदेव और नेमिनाथ के बिम्बो की स्थापना की, भावना की। ऊपर के भाग मे अम्बिका की देव-कुलिका और नीचे गणधर आदि के स्थान रखने का विचार किया।

अजमेर से वागड की तरफ विहार किया। वहा के लोग पहले से ही जिनवल्लभसूरि के भक्त थे और उन्होंने जब सुना कि जिनवल्लभ के पट्टधर भी बडे विद्वान् है तो वे बहुत सतुष्ट हुए कइयो ने दीक्षा ली, सुना जाता है कि वहा सब मिलकर ५२ साधु साध्वियों की दीक्षाए हुई।

उस प्रसग पर जिनशेखर को उपाध्याय बनाकर कतिपय साधुओ के साथ रुद्रपल्ली की तरफ भेजा। वहा उसके ससारी स्वजन रहते थे, उनके चित्तसमाधान के लिए जिनशेखर तपस्या करता था। कालांतर मे जिनदत्त-सूरि भी रुद्रपल्ली की तरफ विचरे। जिनशेखरोपाध्याय श्रावको के साथ

आचाय के सामने गए। ठाट के साथ जिनदत्तसूरि का नगरप्रवेश हुआ। वहा पर पाश्वनाथ तथा ऋषभदेव के दो जिनालयो की प्रतिष्ठा की। अनेक श्रावको ने सम्यक्त्व तथा देशविरति का व्रत स्वीकार किया, फिर वहा से पश्चिम मे विहार करते हुए वागड मे व्याघ्रपुर गये। वहा से जयदेवाचाय को रुद्रपल्ली भेजा और आपने वहा रहते हुए 'चचरी" की रचना की। पहले आपने वागड मे रहते हुए जिन साधुओ को पठनाथ धारा भेजा था, उन सब को अपने पास बुलाया और उनको सिद्धान्त सुनाया। जीवदेव को आचार्य-पद प्रदान किया। जिनचन्द्रगणि, शीलभद्रगणि, स्थिरचन्द्रगणि, ब्रह्मचन्द्रगणि, बिमलचन्द्रगणि, वरदत्तगणि, भुवनचन्द्रगणि, वरणागगणि, रामचन्द्रगणि और मणिभद्रगणि इन दस को वाचनाचाय-पद प्रदान किया।

श्रीमति, जिनमति, पूर्णश्री, जिनश्री और ज्ञानश्री इन पाच साध्वियो को महत्तरा का पद दिया। हरिसिंहाचार्य के शिष्य मुनिचन्द्र उपाध्याय के शिष्य जयसिंह को चित्तौड मे आचाय पद दिया। उनके शिष्य जयचन्द्र को पाटन मे आचाय पद पर स्थापित किया। इन दोनो को कहा — आगे रीति से चलना। सब पदस्थो को शिक्षा देकर विहारादि स्थानो का निर्देश करके आपने अजमेर की तरफ विहार किया।

विक्रमपुर के देवधर नामक श्रावक ने अपने नगर की तरफ जिनदत्तसूरिजी को विहार कराने का निश्चय किया। उसके सामने किसी ने इन्कार नही किया, वह श्रावक-समुदाय के साथ नागौर गया और वहा के प्रसिद्ध आचाय देवचन्द्रसूरि के *साथ आयतन अनायतन के विषय मे* वार्तालाप करने के उपरान्त देवधर श्रावक अपने समुदाय और कुटुम्ब के साथ विधि-माग का अनुयायी बन गया।

वहा से देवधर सपरिकर अजमेर गया और जिनदत्तसूरि को वन्दन कर विक्रमपुर की तरफ विहार करने की प्राथना की। अजमेर का काय निपटा कर देवधर के साथ जिनदत्तसूरिजी विक्रमपुर गए। वहा के अनेक मनुष्यो को प्रतिबोध दिया और भगवान् महावीर की प्रतिमा की स्थापना की।

विक्रमपुर से उच्चानगर जाने के रास्ते मे अनेक भूतो का भय था, उसे हटाया। उच्चा के लोगो को प्रतिबोध देकर नवहर गए और वहा से त्रिभुवनगिरि। त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल को प्रतिबोध किया, शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा करवाई।

स० १२०३ के फाल्गुन सुदि नवमी के दिन अजमेर मे आपके हाथ से श्री जिनचन्द्रसूरि की दीक्षा हुई।

स० १२०५ के वैशाख शुक्ल षष्ठी के दिन विक्रमपुर में श्री जिनदत्त-सूरिजी ने अपने पद पर जिनचन्द्रसूरि को प्रतिष्ठित किया और स० १२११ के आषाढ़ वदि ११ को जिनदत्तसूरिजी अजमेर मे स्वर्गवासी हुए।

(७) श्री जिनचन्द्रसूरि –

स० १२१४ मे जिनचन्द्रसूरि ने त्रिभुवनगिरि मे श्री शान्तिनाथ के प्रासाद पर कलश दण्ड ध्वजारोहण किया। हेमदेवी गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, फिर आपने मथुरा की यात्रा की।

स० १२१७ के फाल्गुन शुक्ल दशमी के दिन पूर्णदेवगणि जिनरथ, वीरभद्र, वीरजय, जगहित, जयशील, जिनभद्र और जिनपति आपके हाथ से दीक्षित हुए। इसी वर्ष मे मरुकोट मे चन्द्रप्रभ स्वामी के चैत्य पर वैशाख शुक्ल दशमी के दिन दण्डध्वज, कलशारोपण किया। ५०० पारत्थ द्रम्म बोल कर सा० क्षेमकर ने माला पहनी।

स० १२१८ के वर्ष मे उच्चा नगरी मे ऋषभदत्त, विनयचन्द्र, विनयशील, गुणवर्धन, वर्धमानचन्द्र नामक ५ साधु और जगश्री, सरस्वती और गुणश्री नामक तीन साध्वियो की दीक्षा हुई।

स० १२२१ के वर्ष मे सागरपट्ट मे पार्श्वनाथचैत्य मे देवकुलिका की प्रतिष्ठा की। अजमेर मे जिनदत्तसूरि का स्तूप प्रतिष्ठित किया। बब्बेरक मे गुणभद्रगणि, अभयचन्द्र, यशश्चन्द्र, यशोभद्र और देवभद्र को दीक्षा दी। देवभद्र की भार्या भी दीक्षित हुई। आशिका मे नागदत्त को

वाचनाचार्य पद दिया, महावन मे अजितनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की, इन्द्रपुर मे शान्तिनाथ के चैत्य पर कलश, दण्डध्वज का रोपण किया। नगला गांव मे अजितनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की।

स० १२२२ मे बादली नगर मे पार्श्वनाथ चैत्य पर दण्डध्वज-कलश की प्रतिष्ठा की और अम्बिका शिखर पर कलश की प्रतिष्ठा कराके रुद्रपल्ली की तरफ विहार किया। उसके आगे नरपालपुर मे किसी ज्योतिष शास्त्र के जानकार प० से ज्योतिष सम्बन्धी चर्चा हुई, फिर रुद्रपल्ली विचरे। वहा पद्मचन्द्राचार्य ने उनसे कुछ बातें पूछी, जिनका इन्होने उत्तर दिया। रुद्रपल्ली से विहार करते हुए चौरसिन्दानक ग्राम के समीप उनका साथ उतरा। वहा म्लेच्छो के भय से आकुल हुए साथ के लोगो को पूछा – आकुल क्यो हो? साथ वालो ने कहा – म्लेच्छो का लश्कर आ रहा है, आचार्य ने कहा– तुम सब वस्तु वृषभादि एकत्र करलो। आचार्य श्री जिनदत्तसूरि रक्षा करेंगे। यह कह कर उन्होने पड़ाव के चारो ओर अपने दण्ड से गोलाकार लकीर खीच ली। साथ लोग सब बोरियो पर बैठे हुए घोडो पर चढे हुए हजारो म्लेच्छो को देखते हैं, परन्तु म्लेच्छ लोग किसी को नही देखते, वे केवल कोट को ही देखते हैं। निर्भयता होने के बाद वहा से चलकर सार्थ के साथ आचार्य अगले गाव गये। दिल्ली व स्तव्य श्रावको ने आचार्य का आगमन सुना, वे उनके सामने गये। अपने महल पर बैठे हुए राजा मदनपाल ने वस्त्रालकारो से सज्ज श्रावको को जाते देखकर अपने आदमियो से पूछा – आज क्या मामला है, सब लोग बाहर क्यो जा रहे हैं? राजपुरुषो ने कहा – देव, इनके गुरु आ रहे हैं। ये लोग भक्तिवश उनके सामने जाते हैं। कुतूहल से राजा ने कहा – महासाधनिक पट्टघोडे को तैयार कर और काहलिकहस्त द्वारा काहला को बजवा, जिससे लोग जल्दी तैयार होकर यहा आ जाय। आदेश होने के बाद हजार घोडे सवारो से परिवृत राजा श्रावको के पहले आचार्य के पास पहुँच गया। आचार्य के साथ आए हुए लोगो ने उपहार आदि द्वारा राजा का सत्कार किया। आचार्य ने मधुर वाणी से राजा को धर्म सुनाया, राजा ने आचार्य को अपने नगर मे आने के लिए प्रार्थना की,

परन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, क्योंकि जिनदत्तसूरिजी ने अपने पट्टधरों की परम्परा के आचार्य को योगिनीपुर में न जाने का आदेश दिया था। राजा के उपरोध से जिनचन्द्रसूरि योगिनीपुर में जाने के लिए तैयार हुए और ठाट के साथ नगरप्रवेश किया।

एक समय वहां रहने वाले अपने भक्त कुलचन्द्र श्रावक को पूज्य ने अतिगरीब देखकर उसे एक मन्त्रपट दिया और कहा – कुलचन्द्र ! अपनी मुट्ठीभर वास से पट को प्रतिदिन पूजना, इस पट पर चढ़ाये हुए, निर्माल्य रूप वास पारद आदि के सयोग से सुवर्ण बन जायेंगे१, गुरु की बताई हुई रीति से पट्ट को पूजता हुआ कुलचन्द्र कोटिध्वज हो गया।

---

१ वास को सोना बनाकर कुलचन्द्र श्रावक को करोड़पति बनाने वाला गुर्वावलीलेखक किसी नई दुनिया का मनुष्य प्रतीत होता है। खनिज-पदार्थों के सम्पर्क से पारद का सोना बनाने का तो भारतीय रसायन और तन्त्र-शास्त्र में लिखा है, परन्तु केसर, कस्तूरी चन्दन आदि सुगन्ध काष्ठिक पदार्थों से सोना बनाने का गुर्वावलीकार को छोड़ कर अन्य किसी ने नहीं लिखा। लेखक को इस प्रकार के कल्पित किस्से लिखने के पहले सोचना था कि इन बातों को सत्य मानने वाले परिमित भोले भक्त मिलेंगे, तब इन बातों को पढ़कर लेखक की खिल्ली उड़ाने वाले बहुत मिलेंगे। परिणामस्वरूप इस जरिये से हमारे गुरु का महत्त्व बढ़ाने के बदले घट जायगा।

उक्त हकीकत वाले फिकरे के नीचे एक प्रक्षिप्त आठ पंक्ति का पाठ है, उसमें एक देवता को देव बनाने की कहानी लिखी है, वह कहानी इस प्रकार है – "एक दिन जिनचन्द्रसूरि दिल्ली के उत्तर दरवाजे से होकर स्थण्डिल भूमि की तरफ जा रहे थे। महानवमी का दिन था, श्री पूज्य ने मास के निमित्त आपस में लड़ती हुई दो देवताओं को देखा। बड़े जोरों का युद्ध हो रहा था, उसे देख कर श्री पूज्य ने दया लाकर 'अधिगालि' नामक देवता को प्रतिबोध दिया। शान्तचित्त होकर उसने आचार्य को कहा – भगवन् ! मैंने मास बलि का त्याग कर दिया, परन्तु आप मुझे कोई स्थानक बताए जहां रहकर आपकी आज्ञा का पालन करती रहूं। आचार्य ने उसे कहा – महानुभाव ! श्रीपार्श्वनाथविधिचैत्य में प्रवेश करते दाहिनी तरफ जो स्तम्भ है, उसमे तू अपना स्थान बना ले। श्री पूज्य बहिर्भूमि से पौषधशाला में आये और सा० लोहड, सा० कुलचन्द्र सा० पाल्हण आदि प्रधान श्रावकों को कहा – श्री पार्श्वनाथ प्रासाद में प्रवेश करते दाहिनी तरफ के स्तम्भ

सं० १२२३ के द्वितीय भाद्रपद वदि १४ को समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर जिनचन्द्रसूरि स्वर्गवासी हो गए।

(८) श्री जिनपतिसूरि –

जिनपतिसूरि का जन्म १२१० विक्रमपुर में हुआ था और इनकी दीक्षा सं० १२१७ के फाल्गुन सुदि १० को और सं १२२३ में १४ वर्ष की उम्र में इन्हें क्षुल्लक नरपति से जिनपतिसूरि बनाकर जिनचन्द्रसूरि के पट्टपर प्रतिष्ठित किया था।

जिनचन्द्रसूरि के पाठक श्री जिनभक्त मुनि को आचार्य पद देकर "श्री जिनभक्ताचार्य" बनाया, वहां के समुदाय के साथ सा० मानदेव ने हजार द्रव्य खर्च कर यह महोत्सव किया था। उसी स्थान पर जिनपतिसूरिजी ने पद्मचन्द्र और पूर्णचन्द्र को श्रमणव्रत दिये।

सं० १२२४ में विक्रमपुर में प्रथमनन्दी में गुणधर, गुणशील, दूसरी में पूर्णरथ, पूर्णसागर और तीसरी नन्दी में वीरचन्द्र तथा वीरदेव को दीक्षा दी और जिनप्रिय को उपाध्याय-पद, १२२५ में भी जिनसागर, जिनाकरादि की वहां दीक्षाएं हुई, फिर विक्रमपुर में जिनदेवगणि की दीक्षा हुई।

में अधिष्ठायक की मूर्ति खुदवालो। श्री पूज्य का आदेश होते ही श्रावकों ने वैसा ही किया। बड़े ठाट के साथ श्री पूज्य ने वहां प्रतिष्ठा की और 'अतिबल' ऐसा अधिष्ठायक का नाम दिया, श्रावकों ने उसको बड़े बड़े भोग चढ़ाना शुरु किया। "अतिबल" भी श्रावकों का मनोवांछित पूरने लगा।

पाठकगण ऊपर पढ़ आये हैं कि जिनचन्द्रसूरि ने जिस देवता को मांसबलि न लेने का प्रतिबोध दिया था, उसका नाम 'अधिगालि' था और जात की वह देवी थी, परन्तु पार्श्वनाथ के मन्दिर में स्तम्भ पर प्रतिष्ठित कर आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि के भक्तों ने उसको 'अतिबल' नामक देव बना लिया और जिनचन्द्र सूरिजी से उसकी प्रतिष्ठा भी करवा ली। पाठक महोदय इस प्रकार के चमत्कारों की बातें आपने किसी अन्य गच्छ की गुर्वावलियों में नहीं पढ़ी होंगी। कभी आपको दिल बहलाने के लिए नवल कथा पढ़ने की इच्छा हो जाय तो एक बार खरतर-गच्छ की गुर्वावली पढ़ लेना सो आपकी इच्छा पूरी हो जायगी। ★

स० १२२७ में उच्चानगर मे धमसागर धर्मचन्द्रादि को ६ दीक्षाए हुई, एक श्राविका को दीक्षा हुई और जिनहित को वाचनाचार्य-पद दिया, उसी वष मे मरुकोट मे शीलसागर, विनयसागर और उसकी बहन अजित-श्री को गणिनी का व्रत दिया।

स० १२२८ मे सागरपाट मे अजितनाथ और शान्तिनाथ चैत्यो की प्रतिष्ठायें की, उसी वष विहार करके वव्वेरक गए। आशिका के निकट श्री पूज्य का आगमन सुनकर आशिका का समुदाय, वहा के राजा भीमसिह के साथ उनके सामने गया और नगर में प्रवेश कराया। आशिका मे वहिर्भूमि जाते एक दिगम्बर विद्वान् मिला, उससे युद्ध वार्तालाप हुआ। नगर मे बात फली कि श्वेताम्बर आचाय ने वाद मे दिगम्बर को जीता; राजा भीमसिह ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की। फाल्गुन शुक्ल ३ को वहा देवालय मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापन कर वहा से सागरपाट जाकर देवकुलिका की प्रतिष्ठा की।

स० १२२९ मे धानपाली मे सम्भवनाथ की प्रतिष्ठा और शिखर की प्रतिष्ठा की, सागरपाट मे प० मणिभद्र के पद पर विनयभद्र को वाचना-चाय-पद दिया।

स० १२३० विक्रमपुर मे स्थिरदेव, यशोधर, श्रीचन्द्र तथा अभयमति, जयमति, आसमति और श्रीदेवी को दीक्षा दी।

स० १२३२ फाल्गुन सुदि १० को विक्रमपुर मे गुणचन्द्र गणि के स्तूप की प्रतिष्ठा की, उसी वष मे विक्रमपुर के समुदाय के साथ आशिका की तरफ विहार किया और ज्येष्ठ शुक्ल ३ को प्रवेश किया। धूमधामपूर्वक पार्श्वनाथ प्रासाद पर दण्डकलश का आरोपण हुआ। साहु श्राविका ने ५०० पारुत्थ द्रम्मो से माला ग्रहण की, धमसागर गणि और धमरुचि की दीक्षा हुई। आषाढ मास मे कन्यानन के विधिचैत्य मे श्री महावीरदेव की प्रतिमा स्थापित की, व्याघ्रपुर मे पार्श्वदेव गणि को दीक्षा दी।

स० १२३४ फलोदी के विधिचैत्य मे पार्श्वनाथ को स्थापित किया और जिनमत को उपाध्याय-पद और गुणश्री को महत्तरा पद दिया गया। सवदेवाचार्य और जयदेवी साध्वी को दीक्षा दी।

स० १२३५ अजमेर मे चातुर्मास्य किया। श्री जिनदत्तसूरि का स्तूप फिर से विस्तार के साथ प्रतिष्ठित किया, देवप्रभ तथा उनकी मा चरणमति गणिनी को दीक्षा दी।

स० १२३६, अजमेर मे महावीर प्रतिमा की और अम्बिका के शिखर की प्रतिष्ठा की। सागरपाट मे भी अम्बिका के शिखर की प्रतिष्ठा की।

सं० १२३७, बब्बेरक मे जिनरथ को वाचनाचार्य बनाया।

स० १२३८, आशिका मे दो बडी मूर्तिया स्थापित की।

स० १२३९, फलोदी मे अनेक भक्तिमान् श्रावकों के साथ बहिर्भूमि जाते हुए श्री जिनभक्ताचार्य को देखकर ऊकेश-गच्छीय पद्मप्रभ नामक आचार्य जिनपतिसूरि को जीतने की भट्टी से प्रशस्ति पढ़ाने लगा, इससे श्रीपूज्य के भक्त श्रावको ने पद्मप्रभ को बडे कठोर शब्दो से फटकारा। बात बढ गई, एक दूसरे के सामने एक दूसरे के भक्त गृहस्थ बडे बीभत्स शब्दो का प्रयोग करने लगे। बृहद् गुर्वावलीलेखक ने यह प्रकरण गुर्वावली मे न लिखा होता तो अपने आचार्यों की बडी सेवा की मानी जाती।

आचार्य पद्मप्रभ के साथ जिनपति के शास्त्रार्थ मे उनके भक्त सेठ रामदेव ने अपने घर से १६ हजार पारुत्थ द्रव्य खर्च किये थे।

स० १२४० मे विक्रमपुर मे श्रीपूज्य जिनपतिसूरि ने १४ साधुओ के साथ गणियोग का तप किया।

स० १२४१ मे फलोदी मे जिननाग, अजित, पद्मदेव, गणदेव, यमचन्द्र तथा धर्मश्री और धर्मदेवी को दीक्षा दी।

स० १२४३ मे खेटनगर मे चातुर्मास्य किया।

स० १२४४ मे श्री प्रणहिलपाटक१ मे इष्ट गोष्ठी चल रही थी, तव व० सा० प्रभयकुमार को भाण्डशालिक ने कहा – प्रभयकुमार! तुम हमारे स्वजन हो, कोटियन के मालिक हो, ग्रौर राजमान्य हो इससे हमको क्या फायदा हुग्रा ? जो तुम हमारे गुरुग्रों को श्री उज्जयन्त, शत्रुञ्जय ग्रादि तीर्थों की यात्रा नहीं कराते। भाण्डशालिक की इस प्रेरणा को सुनकर प्रभयकुमार बोला – भाण्डशालिक! किसी प्रकार से निराश मत हो, सब ठीक करू गा, यह यह कर वह महाराज भीमदेव के पास गया।

वृहद् गुर्वावली में सामचन्द्र मुनि के साथ ग्रणहिल पाटन का नाम ग्राया था। जिनवल्लभ गणि ने पाटन मे वर्षो तक विधिपमका प्रचार किया, परन्तु पाटन के साथ द्वारा गुजरात भूमि की सीमा छाडकर, वे मारवाड, मवाड की तरफ गये थे गो जावन पयन्त गुजरात की सीमा म पग नहीं रखा, जिनदत्तसूरि ने भी ग्राचाय बनने के बाद मवाड, मारवाड, सिन्ध की तरफ ही विहार किया। ग्राचाय देवभद्र न उनको कुछ समय तक पाटन में न ग्रान की सलाह दी थी तब जिनदत्त न तीन वप तक गुजरात की तरफ न ग्राने की प्रतिज्ञा करके चित्तौड से विहार किया था। परन्तु जहा तक हमने इनके जीवन का ग्रध्ययन किया है, जिनदत्तसूरि ने ग्राचाय होने के बाद गुजरात ग्रौर पाटन की तरफ प्रयाण नहीं किया।

ग्रचलगच्छ की शतपदी नामक सामाचारी के कथनानुसार जिनदत्त एक वार पाटन ग्राये थे, परन्तु उनका रात्रि के समय वाहन द्वारा मारवाड की तरफ भाग जाना पडा था। जिनदत्त के पट्टधर मणिधारी जिनचन्द्रसूरि मारवाड तथा उत्तर भारत में ही विचरे थे, गुजरात की तरफ कभी विहार नहीं किया था। जिनचन्द्र के पट्टधर जिनपतिसूरि स० १२२३ में पट्टप्रतिष्ठित हुए थे, परन्तु स० १२४३ तक उन्होंने पाटन में पग नहीं रक्खा था। यद्यपि विधि धम के ग्रनुयायी ग्रन्य साधु वहा ग्राते जाते ग्रौर रहते थे परन्तु गच्छ का मुख्य ग्राचार्य पाटन में नहा ग्राता था। जिनवल्लभगणि पाटन में ग्रपमानित हाकर गए थे इसलिए उनका वहा न ग्राना सकारण था, परन्तु जिनदत्तसूरि जिनदत्त के शिष्य जिनचन्द्र ग्रौर उनके पट्टधर जिनपतिसूरि का पाटन में न ग्राना एक रहस्यमयी समस्या है, जिसका ग्राजकाल के खरतरगच्छीय विद्वानो का पता तक नहीं है प्रस्तुत गुर्वावली ग्रौर वारहवा शती के ग्रन्यान्य ग्रन्थो से हमको पता लगा है कि जिनदत्तसूरि के उत्तेजक ग्रौर लडाके उपदेशो को शान्तिभग करने वाले बताकर जिनदत्तसूरि का पाटन

राजा और उसके प्रधान जगद्व प्रतिहार को प्रार्थना करके अजमेर वास्तव्य खरतरगच्छ योग्य राजादेश लिखवा कर, वह अपने घर गया और अभयकुमार ने भाण्डशालिक को अपने पास बुलाकर उसके समक्ष राजाज्ञा का लेख तथा खरतरसंघ योग्य और जिनपतिसूरि योग्य अपने दो विज्ञप्ति-पत्र प्रधान लेखवाहक को देकर अजमेर संघ के पास भेजा।

में आना उनके विरोधी आचार्यों ने राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध करवाया था। जिनेश्वरसूरि की परम्परा के अन्य साधु पाटन में उनकी कोटडी में आते जाते और रहते हुए अपना सामान्य व्यवहार चलाते रहते थे। "विधिधर्म" का प्रचार और "आयतन अनायतन" की सभी चर्चाएं ठण्डी पड चुकी थीं, इतना ही नहीं, जिनवल्लभ के समय से विधि धर्मानुयायियों द्वारा पाटन तथा आसपास में आठ दस विधिचैत्य बनाए गए थे, उनको भी उनके अनुयायियों से छिनवा कर "कुमारपाल के राज्यकाल में पाटन संघ को सुपुर्द कर दिया था, इन बातों से उत्तेजित होकर जिनदत्त दूर बैठे हुए भी अपने भक्तों को विधि धर्म के लिए मरने मारने के लिए उत्तेजित किया करते थे, परन्तु निर्नायक सैन्य की तरह विधि धर्म के अनुयायियों पर उनका कोई असर नहीं होता था। आचार्य जिनदत्त अपने "उपदेश रसायन रास" में लिखते हैं –

"जो गीयत्थ सु करइ न मच्छरु, सुवि जीवतु न भिल्लई मच्छरु,।
सुद्धइ धम्मि जु लग्गइ विरलउ, संघि सु बज्झु कहिज्जइ जवलउ ॥२१॥"
(अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ३९)

ऊपर के पद्य में जिनदत्तसूरि ने शुद्ध धर्म में लगने वाले विरल मनुष्य को संघ द्वारा बहिष्कृत कहे जाने की बात कही है।

'विहि चेईहरि अविहि करेवइ, करहि उवाय बहुत्ति तिलेवइ।
जइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ, तो घिउ सत्तुय मज्झि पलुट्टई ॥२३॥"
"जइ किर नरवरइ किविइ समवास, ताहिवि अघहि विहि चेइय दस।
तह वि न धम्मिय विहि विणु भगडहि, जइ ते सव्वि वि उट्ठहि लगुडिहि।२४।"
(अपभ्रंश का० त्र० पृ० ४१)

उपर के २३ वे पद्य में विधि चैत्य में अविधि करने के लिए बहुतेरे उपाय किये जाने तथा विधि जिनघर में अविधि प्रवर्तने की भक्त श्रावकों की फरियाद पर आचार्य उन्हें आश्वासन देते हुए कहते हैं, भाइयो जो कुछ भी हो, होने दो!

श्रीपूज्य जिनपतिसूरि भी गुजरात के राजा का आदेश-पत्र और अभयकुमार की दो विज्ञप्तिया पढकर सघ की प्रार्थना से श्रीअजमेर के सघ के साथ तीर्थवन्दनाथ चले ।

विधिजिन घर म अविधि की प्रवृत्ति सत्तू म घी टलन जैसी बात है । २४ वें पद्य मे विधिधर्मियों की इस फरियाद पर कि 'राजा न दसही विधि-चत्य अविधि करने वालों के हवाले द दिए हैं ।" आचाय कहते हैं -- यद्यपि राजा ने दुष्षम काल के वश हो दश विधि चत्य तुमसे ले लिए हैं, तथापि धार्मिकों को उनम जाकर विधि-चत्य का ही व्यवहार करना चाहिए, भले ही व सब लाठियो के साथ सामना करने को खडे हो ।

"धम्मिउ धम्मुकज्जु साहतउ, परू मारइ कीवइ जुज्भन्तउ ।
तुवि तसु धम्मु अत्थि नहु नासइ, परम पइ निवसइ सो सासइ ॥२६॥

(अपभ्र श का० त्र० पृ० ४२)

ऊपर के पद्य मे आचाय ने धार्मिको को उत्साहित करते हुए कहा ह -- धर्मकाय को साधन करते हुए धार्मिको का कोई क्रोध के वश हो मार डाले तब भी उसका धम नही जाता और वह मर कर शाश्वत पद अर्थात् 'मोक्ष स्थान मे निवास करता है ।"

जिनदत्तसूरि के उपयुक्त प्रकार के उपदेशो से ही उनके पाटन के विहार पर प्रतिबन्ध लगाया गया था और कुमारपाल के राजत्वकाल में तो केवल जिनदत्त तथा इनके अनुयायियो का ही नही पौर्णमिक, आचलिक, विविधम प्रवनक आदि सभी नये गच्छ वालो का पाटन में आना बन्द हो गया था । कुमारपाल के स्वग वास के बाद १२३६ में एक पौर्णमिक साधु पाटन में आया और पता लगने पर राजकर्मचारियो ने पूछा -- कि "तुम पौर्णमिक गच्छ के हो' उसने कहा -- "मैं पौर्णमिक नहीं हूँ, मैं तो साधु-पौर्णमिक हू " इस प्रकार पौर्णमिक से अपने को जुदा बताने पर ही उसे पाटन में ठहरने दिया कुमारपाल के राज्य तक ही नही उसके बाद द्वितीय भीमदेव के राज्य तक उक्त पौर्णमिक खरतर आदि गच्छो का पाटन में आना जाना बन्द था ।

अजमेर से जिनपतिसूरि के भक्तो ने शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा के लिए सघ की तैयारी कर रखी थी और गुजरात के राजा पर अर्जी लिखने पर गुजरात में होकर सघ के जाने की आज्ञा भी मिल सकती थी, परन्तु सवाल यह था कि पाटन में सघ के जाने पर खरतर आचाय को नगर में आने का मनाई हुक्म हो जाय तो मुश्किली खडी हो सकती है इस भविष्य की चिंता को लक्ष्य में

अजमेर के सघ की बात चारो ओर फैली और विक्रमपुर, उच्चा, मरुकोट, जैसलमेर, फलोधी, दिल्ली, वागड, मण्डोवर आदि नगरो के रहने वाले यात्रियो के समूह आ मिले। श्रीपूज्य भी अपने विद्या तपो आदि गुणो से स्थान-स्थान मे जैन प्रवचन की शोभा बढ़ाते हुए, सघ के साथ चन्द्रावती पहुचे। वहा पर पूर्णिमा-पक्ष के आचाय "अकलकदेवसूरि" ने भी ज्ञानगोष्ठी करते हुए जिनपतिसूरि को पूछा कि "क्या साधु को तीर्थ-यात्रा के लिए घूमना शास्त्रोक्त है?" श्रीपूज्य ने कहा – "कारणवश

रखकर पाटन निवासी विधि धम का अनुयायी एक भणशाली गृहस्थ किसी बडे आदमी को कहकर खरतराचार्यो का पाटन में आना जाना शुरु करवाना चाहता था। एक दिन वह भाडशालिक गृहस्थ व्यवहारी साधु अभयकुमार सेठ के साथ बैठा हुआ था, सेठ को प्रसन्नचित्त देखकर उसने अभयकुमार को सम्बोधित किया -- "अभयकुमार! तव सौजन्येन, तव कोटिसख्यद्रव्याधिपत्येन, तव राज्यमान्यतया किमस्माक फल! यत्त्वमस्मद्गुरुन् श्री उज्जयन्त-शत्रुञ्जयादितीर्थेषु यात्रा न कारयसि?" भणशाली के उपयुक्त शब्द जो अपने सम्बन्धी अभयकुमार को उपालम्भ पूवक कहे गए है, इससे यही सूचित होता है कि अभयकुमार सेठ जसे राजमान्य और धनाढ्य गृहस्थो के बिना पाटन में आने जाने का माग खुलना कठिन था, अपने सासारिक सम्बन्धी की इस प्राथना पर अभयकुमार ने तुरत ध्यान दिया और सघ को गुजरात आने की आज्ञा के अतिरिक्त उनके साथ जो आचाय आदि हो उनको भी किसी प्रकार की रोक टोक न होने की वाचिक मन्जूरी ले ली और उसकी सूचना अजमेर के सघ और जिनपतिसूरिजी को अपने पत्रो द्वारा दे दी, यह कार्य अभयकुमार ने अच्छा ही किया, राजकीय आज्ञा, निषेध, परिस्थितियो के वश होते हैं तो परिस्थिति के बदलने पर, उनको बदलना ही चाहिए, परन्तु पाटन नगर अनेक गच्छो का केन्द्रस्थान था। खरतर, पौर्णमिक आदि सुधारक गच्छो से पुराने गच्छ नाराज तो थे ही फिर वे पुरानी राजाज्ञाओ को क्या शिथिल होने देते? खरतरगच्छ वालो के लिए तो १३ वी शती के मध्यभाग में ही माग खुल गया था, परन्तु पौर्णमिक, आंचलिक, गच्छ वाले तो जब तक पाटन में राजपूतो का राज्य रहा तब तक पाटन से दूर-दूर ही फिरते थे। जब पुराने पाटन का मुसलमानो के आक्रमण से भग हुआ और मुसलमानो ने वहां अपना राज्य जमा कर नया पाटन बसाया तब से पौर्णमिक आदि पाटन में प्रवश कर पाए थे।

★

मुझे आचार्य-पद पर बैठा दिया है, इसलिए सघ के साथ विचरता हुआ अज्ञात देशो की भाषा से भी परिचित हो जाऊगा और साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी हो जायगी। इसके अतिरिक्त सघ ने अत्यन्त प्रार्थना की कि प्रभो! अनेक चार्वाक लोको से भरी हुई गुर्जर भूमि मे तीर्थ आए हुए हैं, हम वहा तीर्थ-यात्रार्थ जाते हैं। कोई नास्तिक हमारे सामने तीर्थ-यात्रा का निषेध प्रमाणित करेगा तो हम अज्ञानी उसको क्या उत्तर देंगे, इसलिए आप सघ के साथ अवश्य पधारें ताकि जिनशासन का लाघव न हो, इसलिए हम सघ के साथ जा रहे हैं।" श्री अकलकदेवसूरिजी ने जिनपति-सूरिजी के इस उत्तर को योग्य माना। दोनो आचार्यो के बीच देर तक ज्ञान गोष्ठी होती रही। भिक्षा का समय हो जाने पर अकलकसूरि अपने स्थान पर गए।

दूसरे दिन जिनपतिसूरि सघ के साथ कासहृद गए। वहा पौर्णमिक आचार्य श्रीतिलकप्रभ अनेक साधुओ के साथ सघ के स्थान पर आए। परस्पर सुखवार्तादि शिष्टाचार हुआ और तिलकप्रभ के साथ श्रीपूज्य ने ज्ञानगोष्ठी की। अन्त मे तिलकप्रभसूरि ने भी श्रीपूज्य की प्रशसा की।

वहा से सघ आशापल्ली पहुचा, वहा श्रावक क्षेमकर अपने ससारी पुत्र प्रद्युम्नाचार्य को वन्दनार्थ वादिदेवाचार्य सम्बन्धी पौषधशाला मे गया। वन्दन के बाद प्रद्युम्नाचार्य ने क्षेमकर को कहा – जिनपतिसूरि को गुरु के रूप मे स्वीकार कर अच्छा नही किया। क्षेमंकर ने कहा – मेरी समझ से तो मैंने अच्छा ही किया है। प्रद्युम्नसूरि ने कहा – मरुस्थली के जड लोगो को पाकर आपके गुरु ने अपने को सर्वज्ञ मान लिया है सो ठीक है, क्योकि "निर्वृक्षे देशे एरण्डोऽपि कल्पवृक्षायते" परन्तु तुम्हारे जैसे देवसूरि के वचनामृत का पान करने वाले समझदारो का मनोभाव बदल गया, इससे हमारा दिल दुखता है।

वहा से आगे बढकर सघ ने स्तम्भनक, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा की। मार्ग की तकलीफ के कारण सघ शत्रुञ्जय नही गया।

यात्रा से लौट कर सघ वापस आशापल्ली आया। इस समय क्षेमंकर ने जिनपति के साथ प्रद्युम्नाचार्य का शास्त्रार्थ होने की बात

फैलाई[1] और दोनो को आमने-सामने भिडाया । शास्त्रार्थ का नाटक हुआ और जिनपति ने कहा– दूसरे सिद्धान्त-ग्रन्थ तो दूर रहो, हम "ओघनिर्युक्ति" के प्रमाणो से देवगृह तथा जिनप्रतिमा को अनायतन प्रमाणित कर दें तो हमारी जीत मानी जायगी ? प्रद्युम्नसूरि ने कहा – प्रमाण, परन्तु अभी टाइम बहुत हो गया है, आगे बात कल प्रभात को होगी ।

प्रद्युम्नाचाय ने रात्रि के समय अपने पक्ष के आचार्य और पण्डितो के साथ प्रदीप के प्रकाश मे "ओघ-निर्युक्ति" सूत्रवृत्ति के पुस्तक पढे, परन्तु

१ क्षेमंकर यद्यपि प्रद्युम्नाचार्य का पिता लगता था, तथापि वह स्वय खरतरगच्छ का अनुयायी बन चुका था और अपने पुत्र प्रद्युम्नाचार्य को किसी प्रकार खरतरगच्छ में खींचना चाहता था । प्रद्युम्नाचार्य एक विद्वान् आचाय थे, आशापल्ली के लोग उन पर मुग्ध थे । क्षेमंकर ने उन्हें शास्त्रार्थ के नाम पर प्रपच में फसा दिया । कसा भी विद्वान् क्यों न हो वह झूठे जाल में फसकर अपमानित हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । जिनपतिसूरि के भक्त "जिनहितोपाध्याय" और "रामदेव' जसे गृहस्थ जाल बिछाने में सिद्धहस्त थे । अजमेर में ऊकेशगच्छीय आचाय पद्मप्रभ को इसी प्रकार के जाल में फांसकर अपमानित किया था, अजमेर के राजा पृथ्वीराज के परिकर को जिनमें से अनेक पद्मप्रभाचाय के पुराने भक्त थे, धन की थैलिया पाकर पद्मप्रभाचार्य के विरुद्ध हो चुके थे, जिस बात की पद्मप्रभाचाय ने पृथ्वीराज के सामने सभा मे खुल्ली शिकायत की थी, आचाय ने कहा – "महाराज ! मण्डलेश्वरो लञ्चाग्रहरण एव प्रवीणो न गुणिनां गुणग्रहणे" अर्थात् हे राजा साहब ! आपका मण्डलेश्वर कई मास लाच लेने में ही प्रवीण है गुणी के गुण ग्रहण करने में नहीं, इस प्रकार राजा के सामने शिकायत होने पर भी राजा ने उस तरफ कुछ ध्यान नही दिया । शास्त्रार्थ करने के लिए इस प्रकार की सभाएं नही होती, उसमे प्रमुख होता है, मध्यस्थ सभ्य होते हैं, वादी प्रतिवादी के वक्तव्यों को लेखबद्ध कर उनके ऊपर से फैसला देने वाले निर्णायक होते हैं, अजमेर की शास्त्रार्थसभा क्या थी, तमाशा करने वालों का थियेटर था । तमाशाबीन लोग इकट्ठे हो जाते, शास्त्रार्थ करने वाले मुख से असभ्य वचन निकालकर विरोधी को अपमानित करते थे, राजा साहब सभा में आते और पूछते – कसे कौन जीता ? कौन हारा ? उनके गुर्गे जिनकी तरफ से पेट भर जाता, उनकी तरफ अंगुली कर कहते – ये जीते और उनकी जय

"अनायतन" प्रतिपादक स्थान नहीं मिला। श्रीपूज्य के पास उन्होंने मनुष्य भेजा और पूज्य ने उनकी पृच्छा के अनुसार "ओघनिर्युक्ति" का उद्देश कहा, प्रद्युम्नसूरि आदि ने पूज्य के कथनानुसार उद्देश की गवेपणा करते हुए वह स्थल पाया। अनायतन प्रतिपादक गाथा-सम्बद्ध-वृत्ति के अक्षर अन्य गाथाक्षरों के साथ मिला कर उन पर विचार किया। प्रात समय प्रद्युम्नाचार्य अभयड दण्डनायक के साथ जिनपतिसूरि के स्थान पर

जयकार पुकारते, क्या वादसमामा का यही पोजिशन होता है? अजमेर में इसी प्रकार की धाधागर्दी से पद्मप्रभाचार्य को अपमानित किया था।

सभा शास्त्राथ का मनचाहा वर्णन करने के बाद गुर्वावलीकार लिखता है—
"दिनद्वयानन्तर प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहक सवलवाहनो महाराजाधिराजश्री-पृथ्वीराज श्री अजयमेरौ निजधवलगृहे समागत्य तत स्थानाद्धस्तिस्कन्धाधिरुढेन जयपत्रेण सह पौषधशालायामागतो ददौ च जयपत्र श्रीपूज्याना हस्ते। पठितश्चाशीर्वाद श्रीपूज्यै श्रावकैश्च कारित महावर्धापनक, तस्मिश्च वर्धापनके श्रे० रामदेवेनात्मगृहात् पारुत्थद्रम्मा पोडश सहस्राणि व्ययीकृता।"

अजमेर के राजा साहव हाथी पर आरुढ होकर जिनपतिसूरिजी को उनके स्थान पर "जयपत्र" देने जाते हैं, सूरिजी राजा साहव को आशीवाद देते हैं और सूरिजी के भक्त वधाई बाटते हैं, सूरिजी के भक्त सेठ रामदव अपने घर से सोलह हजार रुपया खच करते हैं।

यहा कोई गुर्वावलीकार को पूछे कि आपके आचाय की विजय पर नगर मे वर्धापन तो श्रावको ने ही किया था। तब सेठ रामदेव के घर से खच होने वाले १६०००) सोल२ हजार रुपया किस माग से गया इसका कोई उत्तर दे सकता है? जिस प्रकार से अजमेर में धाधागर्दी से पद्मप्रभाचाय का अपमान किया गया, उसी प्रकार से आशापाल्ली में प्रद्युम्नाचाय का कृत्रिम प्रमाण उपस्थित करके अपनी जीत दिखाई गई, दो पत्र छिपाने का जो हो हल्ला मचाया था, वास्तव में वे दो पत्र "ओघनियुक्ति' की वत्ति में घुसेडे हुए थे, उनका तथा मूल वत्ति का सम्बन्ध ठीक ढग से न बठने के कारण प्रद्युम्नसूरि दो पत्रों को एक तरफ रखकर अगले पत्र के साथ पूवपत्र का सम्बन्ध मिलता है या नहीं इसकी जाच कर रहे थे, इतने में जिनहितोपाध्याय ने पाने छिपाने का जो हल्ला मचाया, वीरनाग जसे ने चोरी करने के दण्ड की बात चलाई और हण्टर चलने लगे। क्या शास्त्राथ समाए इसी

आए और निचली भूमिका पर बैठे। जिनपति भी ऊपर से सपरिवार नीचे आए, संस्कृत भाषा मे चर्चा का प्रारम्भ हुआ।

श्री जिनपतिसूरिजी ने प्रद्युम्नाचार्य की प्रत्येक युक्ति का खण्डन कर खरतर मार्ग का स्थापन किया। चर्चा के आखिरी भाग मे "ओघ-निर्युक्ति" मे से "आयतन अनायतन" सम्बन्धी अधिकार पढने का काय प्रद्युम्नाचाय को सौंपा गया। अधिकार पढते पढ़ते प्रद्युम्नाचाय ने वृत्ति के दो पत्र छोडकर अगला पत्र पढना शुरु कर दिया उस समय पूज्य के पास बैठे हुए जिनहितोपाध्याय ने हाथ पकड कर कहा – आचार्य पहले के दो पत्र पढने के बाद यह पत्र पढने का है। प्रद्युम्नाचाय व्याकुल हो गये थे, इधर-उधर के पत्र उलटने लगे, तब "श्रीमाल वशीय वीरनाग ने

प्रकार की होती हैं ? जिनपतिसूरि के भक्त अपने आचार्य को 'राजसभा में छत्तीस वाद जीतने वाला' इस विशेषण से उल्लिखित करते हैं, दो सभाओ के वाद का वर्णन तो हम पढ चुके है, यदि इसी प्रकार की शेष चौतीस सभाओ में जिनपति सूरिजी ने विजय पायी हो तो हमें कुछ कहने की जरूरत नही है।

ग्यारहवी शती के उत्तराध से जब से जिनेश्वरसूरि तथा इनके शिष्यो ने चैत्य-वासियों के विरुद्ध प्रचार शुरू किया था, तब से आज तक कई कृत्रिम गाथाओ कृत्रिम कुलको और कृत्रिम ग्रन्थो का निर्माण हुआ, जिनमें न कर्त्ता का नाम है, न ग्रन्थ का नाम, कृत्रिम नामो से गाथा श्लोक, कुलक, बनते ही जाते हैं, यह दु ख का विषय है, इस प्रकार अप्रामाणिकता को धारण कर विरोधी को नीचा दिखाना किसी प्रकार से उचित नही कहा जा सकता।

"ओघनियु क्त वृत्ति" के नाम पर गुर्वावलीकार ने ४९ से ५७ के अक वाली जिन ८ गाथाओं को उद्धत किया है, उनमें से अधिक गाथाए कृत्रिम है, 'ओघनिर्युक्ति" में अथवा उसकी वृत्ति में उक्त गाथाए दृष्टिगोचर नही होती, जिनेश्वरसूरि की परम्परा के विद्वानो द्वारा निर्मित ग्रन्थो में अथवा उनकी वृत्तियो में ये गाथाए बहुधा देखी जाती हैं, जैसे "धर्मरत्न प्रकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति में, इन गाथाओं द्वारा प्रद्युम्नाचार्य का जीतने की बात एक प्रकार का षडयन्त्र ही प्रतीत होता है, विधिधर्मियो के द्वारा सगठित इस प्रकार के प्रपचों से जैन साहित्य पर्याप्त दूषित हुआ है, हम आशा करते हैं कि खरतरगच्छ के विद्वान् साधु तथा भक्त श्रावक मेरी इस चुनौती को ध्यान में लेंगे तो भविष्य में इस विषय पर अधिक लिखने का प्रसग नही आयेगा।

✱

अभय दण्डनायक को कहा — क्या तुम्हारे नगर मे उसी को दण्ड दिया जाता है जो रात को चोरी करता है, दिन मे चोरी करने वाले को अपराधी नही माना जाता ? अभय दण्डनायक ने कहा — हे हेठाबाहम ! तुमने क्या कहा ? वीरनाग ने कहा — देखो देखो, आचार्य ने दो पत्र छिपा दिये। यह सुनते ही दण्डनायक ने उसके पीठ पर चमड़े से मढ़ा बत जमा दिया। जिनपतिसूरि ने "ओघनिर्युक्ति वृत्ति" मे से "नाणस्स दसणस्स य" इत्यादि आठ गाथाओ का व्याख्यान करते हुए "जिनचैत्य" तथा "जिनप्रतिमा' को "अनायतन प्रमाणित किया" और प्रद्युम्नाचार्य ने मौन धारण किया। थोडी देर के बाद जिनपतिसूरिजी के आगे उन्होने कहा — आचार्य ! हमारे नाम वाले पराजयसूचक रास, काव्य, चौपाई न बनवानी चाहिये, न पढ़वानी चाहिये। श्री पूज्य ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया, सघ मे महान् आनन्द उमड पडा। श्री पूज्य, साधु और श्रावक समुदाय के साथ अपने उपरितन स्थान पहुँचे। प्रद्युम्नाचार्य भी लज्जावश नीचे देखते हुए अपनी पौषधशाला मे गए।

सघ के अन्दर और बाहर बडा आनन्द फैला। भा० शालिक, वैद्य सहदेव, ठ० हरिपाल, सा० क्षेमकर, सा० सोमदेवादि समुदाय ने बडे ठाट के साथ वर्द्धापन कराया। इस समय दण्डनायक अभय ने सोचा — ये यहां से आगे जाकर मेरे गुरु के पराजय की बात तो अवश्य करेंगे, इसलिए इन्हे यहीं कुछ शिक्षा करलूँ। मालव देश की तरफ गुजरात का लश्कर गया हुआ था, अपनी तरफ से एक विज्ञप्ति पत्र देकर एक मनुष्य को जगद्देव प्रतीहार के पास भेजा। इधर दूसरे ही दिन सघ मे राजाज्ञा जाहिर की "महाराजाधिराज भीमदेव की आज्ञा है कि इस स्थान से हमारी आज्ञा से ही तुम जा सकते हो" उक्त आज्ञा जारी करने के साथ ही, सघ की निगरानी के लिए अभय ने गुप्त रूप से १०० राजपूतो को नियत कर दिया। सघ मे से भण्डशालिक, वैद्य सहदेव, व्य० लक्ष्मीधर, ठ० हरिपाल, सा० क्षेमधर आदि श्री पूज्य के पास गए और अभयड दण्डनायक के दुष्ट अभिप्राय की सूचना की। श्री पूज्य ने कहा — कुछ भी चिन्ता न करो, श्री जिनदत्तसूरिजी की कृपा से सब अच्छा होगा। परन्तु सब सघ

के मनुष्य भगवान् श्री पार्श्वनाथ की आराधना, स्नात्र पूजा आदि धम-कृत्यो मे तत्पर हो जाओ। श्रीपूज्य के उपदेशानुसार सघ धम मे उद्यत हो गया। सुखपूवक १४ दिन बीत गये, पर वहा से कोई निकल नही सका, उधर अभयड का भेजा हुआ मनुष्य लश्कर मे जा पहुँचा और अपने स्वामी अभयड की विज्ञप्ति जगद्देव के चरणो मे रक्खी। पारि-ग्रहिक ने लेख पढा और तुरन्त जगदेव ने अपने पारिग्राहक के हाथ से राजादेश लिखवाया और उसके साथ मनुष्य को वापिस भेज दिया। राजादेश दण्डनायक के हाथ पहुचा और पढकर तुरन्त सघ को हिरासत से मुक्त किया।

वहा से सघ अणहिल पाटण पहुँचा। पाटन मे श्रीपूज्य ने अपने गोत्रीय ४० आचार्यो को अपनी भोजन-मण्डली मे भोजन करवाया और वस्त्रदान पूवक सन्मान किया।

वहा से सघ के साथ श्री पूज्य चलते हुए लवणखेट पहुचे। वहा पूर्णदेव गणि, मानचन्द्र गणि, गुणभद्र गणि को वाचनाचाय पद दिया।

स० १२४५ के फाल्गुन मे पुष्करिणी मे धर्मदेव, कुलचन्द्र, सहदेव, सोमप्रभ, सूरप्रभ, कीर्तिचन्द्र, श्रीप्रभ, सिद्धसेन, रामदेव और चन्द्रप्रभ को तथा सयमश्री, शान्तमति और रत्नमति को दीक्षा दी।

स० १२४६ मे पाटन मे श्री महावीर की प्रतिमा स्थापन की।

स० १२४८ मे जिनहित को लवणखेट मे उपाध्याय-पद दिया।

स० १२४९ मे पुष्करिणी मे मलयचन्द्र को दीक्षा दी।

स० १२५० मे विक्रमपुर मे पद्मप्रभ साधु को आचार्य पद दिया और 'श्री सवदेवसूरि' यह नाम रक्खा।

स० १२५१ मडोवर मे लक्ष्मीधर आदि अनेक श्रावको को माला-रोपादि किया। वहां से अजमेर गए। अजमेर मे उन दिनो म्लेच्छो का उपद्रव था, दो मास बडे कष्ट से निकाले। वहां से वतन आकर भीमपल्ली

मे चातुर्मास्य किया। फूईप गाव मे जिनपाल गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, "लवणखेडा मे राणा श्री केल्हण के समझौते और उपरोध से दक्षिणावर्त आरती उतारना, मान्य किया।"

स० १२५ मे पाटन मे विनयानन्द गणि को दीक्षा दी।

स० १२५३ मे भाण्डारिक नेमिचन्द्र श्रावक को प्रतिबोध दिया, और पतन भग के बाद घाटी गांव मे चातुर्मास्य किया।

स० १२५४ मे धारानगरी के शान्तिनाथ देवालय मे विधि का प्रवतन किया और तर्कोपन्यासो द्वारा महावीर नामक दिगम्बर को खुश किया, रत्नश्री प्रवर्तिनी को दीक्षा दी। नागह्रद मे चातुर्मास्य किया।

स० १२५६ मे लवणखेट मे नेमिचन्द्र, देवचन्द्र धर्मकीर्ति और देवेन्द्र नामक साधुओ को दीक्षा हुई।

स० १२५७ मे श्री शान्तिनाथ देवालय मे प्रतिष्ठा का आरम्भ अच्छे शकुन न होने के कारण आगे रक्खा।

स० १२५८ चैत्र वदि ५ शान्तिनाथ विधिचैत्य मे, शान्तिनाथ प्रतिमा और शिखर प्रतिष्ठित किया, चैत्र वदि २ को वीरप्रभ और देवकीर्ति गणी को दीक्षित किया।

स० १२६० आषाढ वदि ६ वीरप्रभ और देवकीर्ति गणी की उपस्थापना की और सुमतिगणि, पूर्णभद्रगणि को दीक्षा दो आनन्दश्री को महत्तरापद दिया, जयसलमेर के देवालय मे फाल्गुन शु० २ को पार्श्वनाथ प्रतिमा स्थापित की।

स० १२६३ फाल्गुन वदि ४ को लवणखेड मे महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, नरचन्द्र, रामचन्द्र, पूर्णचन्द, तथा विवेकश्री, मगलमति, कल्याणश्री, जिनश्री की दीक्षा हुई और धमदेवो को प्रवर्तिनी पद दिया।

स० १२६५ मे मुनिचन्द्र, मानभद्र गणि तथा सुन्दरमति, रासमति की दीक्षा हुई।

स० १२६६ मे विक्रमपुर मे भावदेव, जिनभद्र, विजयचन्द्र को दीक्षित किया, गुणशील को वाचनाचाय पद दिया और ज्ञानश्री को दीक्षा दी।

स० १२६९ मे जालोर के विधिचत्य मे महावीर प्रतिमा की स्थापना की, जिनपाल गणि को उपाध्याय पद दिया, धमदेवी प्रवर्तिनी को महत्तरा-पद दिया और प्रभावती नाम रक्खा। महेन्द्र, गुणकीर्ति, मानदेव तथा चन्द्रश्री केवलश्री को दीक्षा दी, वहा से विक्रमपुर की तरफ विहार किया।

स० १२७० बागड को तरफ विहार किया, दारिद्रेरक मे सैकडी श्रावक श्राविकाओ ने सम्यक्त्व तथा मालारोपण किया तथा उपाध्याय आदि धमकृत्य किये।

स० १२७१ मे बृहद्द्वार मे धूमधाम के साथ प्रवेश किया, दारिद्रेरक की तरह यहा भी नन्द्यादिक हुए। स० १२७३ मे बृहद्द्वार में लौकिक दशाहिक पर्व, गगा की यात्रा के लिए जाते हुए अनेक राणा, नगरकोटीय राजाधिराज पृथ्वीचन्द्र के साथ आये हुए काश्मीरी पण्डित मनोदानन्द के साथ श्री जिनपालोपाध्याय का शास्त्राथ हुआ और पृथ्वीचन्द्र से जयपत्र प्राप्त किया।

स० १२७३ के ज्येष्ठ वदि १३ को जिनपालोपाध्याय को जयपत्र मिलने के उपलक्ष्य मे वर्द्धापनक किया गया। बृहद्द्वार से आते हुए रास्ते मे भावदेव मुनि को दीक्षा दी और दारिद्रेरक मे चातुर्मास्य किया।

स० १२७५ मे ज्येष्ठ सुदि १२ को जालोर मे भुवनश्री गणिनी, जगमति, मगलश्री तथा विमलचन्द्र गणि पद्मदेव गणि की दीक्षा हुई।

स० १२७७ मे पालनपुर मे प्रभावना हुई, कालान्तर मे नाभि के निचले भाग मे गाठ उत्पन्न होने की वेदना से मूत्रसग्रहादि रोग आदि से अपना आयुष्य निकट समझकर अपने अनुयायियो को सान्त्वन और प्रोत्साहन देकर स० १२७७ के आषाढ सुदि १० के दिन श्री जिनपति-सूरि स्वगवासी हुए।

(६) श्री जिनेश्वरसूरि –

सं० १२७८ के माघ सुदि ६ को जालोर मे जिनपतिसूरि के पट्टपर आचार्य सर्वदेवसूरि ने वीरप्रभ गणि की पदस्थापना की और "जिनेश्वर-सूरि" यह नाम रक्खा, माघ सुदि ९ के दिन यशकलश, विनयरुचि, बुद्धिसागर, रत्नकीर्ति, तिलकप्रभ, रत्नप्रभ और अमरकीर्ति गणि को जालोर मे दीक्षा दी।

बाद मे वहा के यशोधवल के साथ विहार कर श्रीमाल जाति के श्री विजयहेमप्रभ, श्री तिलकप्रभ, विवेकप्रभ तथा चारित्रमाला गणिनी, सत्यमाला गणिनी इन सब को ज्येष्ठ सुदि १२ के दिन दीक्षा दी। आगे आषाढ़ सुदि १० को श्रीमाल मे समवसरण प्रतिष्ठा तथा शान्ति-नाथ स्थापना की, जालोर मे देवगृह का प्रारभ हुआ। सं० १२७९ के माघ सुदि ५ को अहद्दत्त गणि, विवेकश्री गणिनी, शीलमाला गणिनी, चन्द्रमाला गणिनी और विनयमाला गणिनी की जालोर मे दीक्षा हुई।

सं० १२८० के माघ सुदि १२ को श्रीमाल मे शान्तिनाथ-भवन पर ध्वजारोप और ऋषभनाथ, गौतमस्वामी, जिनपतिसूरि, मेघनाद क्षेत्र-पाल और पद्मावती देवी की प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा की। फाल्गुन वदि १ को कुमुदचन्द्र, कनकचन्द्र, तथा पूर्णश्री गणिनी, हेमश्री गणिनी की दीक्षा हुई।

सं० १२८० के वैशाख सुदि १४ के दिन पालनपुर के स्तूप मे जिनहितोपाध्याय ने जिनपतिसूरि की प्रतिमाप्रतिष्ठा की।

सं० १२८१ के वैशाख सुदि ६ को जालोर मे विजयकीर्ति, उदय-कीर्ति, गुणसागर, परमानन्द और कमलश्री गणिनी की दीक्षा हुई, वही पर ज्येष्ठ सुदि ९ को महावीर भवन पर ध्वजारोप हुआ।

सं० १२८३ के माघ वदि २ को बाडमेर के ऋषभदेव भवन पर ध्वजारोप हुआ, माघ वदि ६ को सूरप्रभ को उपाध्याय पद और मगल-

मति गणिनी को प्रवर्तिनी पद दिया, वीर कलशगणि, नन्दिवर्द्धन और विजयवर्द्धन की दीक्षा हुई।

स० १२८४ मे बीजापुर मे वासुपूज्य की स्थापना हुई और आषाढ सुदि २ को अमृतकीर्ति गणि, सिद्धकीर्ति गणि और चरित्रसुन्दरी तथा धर्मसुन्दरी गणिनी की दीक्षा हुई।

स० १२८५ ज्येष्ठ सुदि २ को कीर्तिकलश गणि, पूर्णकलश और उदयश्री गणिनी की दीक्षा, ज्येष्ठ सुदि ९ को वासुपूज्य भवन पर ध्वजारोप और स० १२८६ के फाल्गुन वदि ५ को बीजापुर मे विद्याचन्द्र, न्यायचन्द्र, अभयचन्द्र गणि की दीक्षा।

स० १२८७ के फाल्गुन सुदि ५ को पालनपुर मे जयसेन, देवसेन, प्रबोधचन्द्र, अशोकचन्द्र गणि और कुलश्री गणिनी तथा प्रमोदश्री गणिनी की दीक्षा।

स० १२८८, भाद्रपद सुदि १० को जालोर मे स्तूपध्वज प्रतिष्ठा और आश्विन सुदि १० को स्तूपध्वजारोप पालनपुर मे और पौष सुदि ११ जालोर मे शरच्चन्द्र, कुशलचन्द्र, कल्याणकलश, प्रसन्नचन्द्र, लक्ष्मीतिलक गणि, वीरतिलक, रत्नतिलक और धर्ममति, विनयमति गणिनी, विद्यामति गणिनी और चारित्रमति गणिनी की दीक्षा।

स० १२८८ (९) को चित्तौड मे ज्येष्ठ सुदि १२ को अजितसेन, गुणसेन, अमृतमूर्ति, धर्ममूर्ति तथा राजीमति, हेमावलि, कनकावलि, रत्नावलि गणिनी, मुक्तावलि गणिनी की दीक्षा। आषाढ वदि २ ऋषभदेव, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा।

स० १२८९ उज्जयन्त, शत्रुञ्जय, स्तम्भनक तीर्थों की यात्रा की। स्तम्भतीर्थ मे वादियमदण्ड नामक दिगम्बर के साथ गोष्ठी, नगर प्रवेश मे सपरिवार महामात्य श्री वस्तुपाल श्रीपूज्य के सामने गया।

स० १२९१ वैशाख सुदि १० को जालोर मे यतिकलश, क्षमाचन्द्र, शीलरत्न, धर्मरत्न, चारित्ररत्न, मेघकुमार गणि, अभयतिलक गणि,

श्रीकुमार तथा शीलसुन्दरी गणिनी और चन्दनसुन्दरी की दीक्षा। ज्येष्ठ वदि २ मूलाक मे श्री विजयदेवसूरि को आचार्य-पद प्रदान।

स० १२९४, श्री सघहितोपाध्याय को पद प्रदान।

स० १२९६ फाल्गुन वदि ५ पालनपुर मे प्रमोदमूर्ति, प्रबोधमूर्ति और देवमूर्ति गणि को दीक्षा। ज्येष्ठ सुदि १० को श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा। स० १२९७ मे चैत्र सुदि १४ को देवतिलक, धर्मतिलक की दीक्षा।

स० १२९८ वैशाख वदी ११ को जालोर मे ध्वजदण्डारोप कराया। स० १२९९ प्रथम आश्विन वदि २ को मन्त्री कुलधर की दीक्षा, नाम कुलतिलक मुनि।

स० १३०४ वैशाख सुदि १४ को विजयवर्द्धन गणि को आचार्य पद, जिनरत्नाचार्य नाम दिया। त्रिलोकहित, जीवहित, धर्माकर, हर्षदत्त, सघप्रमोद, विवेकसमुद्र, देवगुरुभक्त, चारित्रगिरि, सर्वज्ञभक्त और त्रिलोकानन्द की दीक्षा हुई।

स० १३०५ आषाढ सुदि १० को पालनपुर मे महावीर, ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ के बिम्बो की और नन्दीश्वर की प्रतिष्ठा की।

स० १३०६ मे ज्येष्ठ सुदि १३ को श्रीमाल मे कुथुनाथ, अरनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठा और दूसरी वार ध्वजारोपण करवाया।

स० १३०९ मार्गशीर्ष सुदि १२ को पालनपुर मे समाधिशेखर, गुणशेखर, देवशेखर, साधुभक्त और वीरवल्लभ मुनि तथा मुक्तिसुन्दरी साध्वी की दीक्षा और उसी वर्ष मे माघ सुदि १० को शान्तिनाथ, अजितनाथ, धर्मनाथ, वासुपूज्य, मुनिसुव्रत, सीमधर स्वामी और पद्मनाभ की प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराई। उसी वर्ष वाडमेर मे आदिनाथशिखर पर दण्डकलश प्रतिष्ठित किए।

स० १३१० वैशाख सुदि ११ जालोर मे चारित्रवल्लभ, हेमपर्वत, अचलचित्त, लाभनिधि, मोदमन्दिर, गजकीर्ति, रत्नाकर, गतमोह, देवप्रमोद,

वीराणन्द, विगतदोष, राजललित, बहुचरित्र, विमलप्रज्ञ और रत्ननिधान इन १५ साधुओ को दीक्षित किया। वहीं पर वैशाखी १३ स्वाति शनिवार के दिन श्री महावीर विधिचैत्य मे २४ जिनालय, सप्ततिशत, सम्मेत, नन्दीश्वर, तीथकरमातृ, श्री नेमिनाथ, महावीर, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, सुधर्म स्वामी, जिनदत्तसूरि, सीमन्धर स्वामी, युगम धर स्वामी प्रभृति की प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा हुई। प्रमोदश्री गणिनी को महत्तरा पद और लक्ष्मीनिधि नाम रक्खा और ज्ञानमाला को प्रवर्तिनी-पद दिया।

स० १३११ के वैशाख सुदि ६ को पालनपुर मे चन्द्रप्रभ चैत्य मे भीमपल्लीय प्रासाद स्थित श्री महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई और पालनपुर मे उपाध्याय जिनपाल का अनशन पूर्वक स्वर्गगमन।

स० १३१२ के वैशाख सुदि १५ को चन्द्रकीर्ति को उपाध्याय पद देकर चन्द्रतिलकोपाध्याय नाम रक्खा और प्रबोधचन्द्र गणि को तथा लक्ष्मीतिलक गणि को वाचनाचार्य-पद दिये। ज्येष्ठ वदि १ को उपशम-चित्त, पवित्रचित्त, आचारनिधि और त्रिलोकनिधि की दीक्षा हुई।

स० १३१३ फाल्गुन सुदि ४ जालोर मे किले पर के वडे मन्दिर मे शान्तिनाथ की स्थापना की, चैत्र सुदि १४ को कनककीर्ति, विबुधराज, राजशेखर, गुणशेखर तथा जयलक्ष्मी, कल्याणनिधि, प्रमोदलक्ष्मी, गच्छ-वृद्धि की दीक्षा, वैशाख वदि १ को अजितनाथ-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, बाद मे पालनपुर में आषाढ़ सुदि १० को भावनातिलक, भरतकीर्ति की दीक्षा और भीमपल्ली मे उसी दिन महावीर की स्थापना।

स० १३१४ माघ सुदि १३ को सुवर्णगिरि ऊपर बने हुए प्रधान मन्दिर मे ध्वजारोप, महाराज उदयसिंहजी के प्रसाद से कार्य निर्विघ्न हुआ। आषाढ़ सुदि १० को पालनपुर मे सकलहित, राजदर्शन साधु और बुद्धिसमृद्धि, ऋद्धिसुन्दरी, रत्नवृष्टि साध्वियो की दीक्षा हुई।

स० १३१६ माघ सुदि १ जालोर मे धर्मसुन्दरी गणिनी को प्रवर्तिनी-पद, माघ सुदि ३ को पूर्णशेखर, कनककलश को प्रव्रज्या और

माघ सुदि ६ को सुवर्णगिरि के शान्तिनाथ के प्रासाद पर कलशदण्ड का आरोपण श्री चाचिगदेव के राज्य मे करवाया। आषाढ सुदि ११ को बीजापुर मे वासुपूज्य जिनमन्दिर पर कलशध्वज-दण्डारोपण करवाया।

स० १३१७ माघ सुदि १२ को लक्ष्मीतिलक गणि को उपाध्याय-पद और पद्माकर की दीक्षा हुई। माघ सुदि १४ को जालोर के महावीर प्रासाद पर स्थित २४ देहरियो पर कलश दण्ड ध्वजारोपण हुआ। फाल्गुन सुदि १२ को शान्तनपुर मे अजितनाथ प्रासाद पर ध्वजारोप पूर्णकलश गणि द्वारा हुआ। भीमपल्ली मे मण्डलिक राज्य मे वैशाख सुदि १० सोमवार को महावीर के प्रासाद पर दण्ड कलश की प्रतिष्ठा और ध्वजारोप हुआ और ५१ अगुल परिमाण सरस्वती की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। ३१ अगुल परिमाण शान्तिनाथ प्रतिमा, ऋषभनाथ प्रतिमा, महावीर-प्रतिमा, पार्श्वनाथ-प्रतिमा २ और भीमभुजबल पराक्रम क्षेत्रपालविम्ब, ऋषभनाथ महावीर की प्रतिमाए, चतुर्विशति पट्टक, अजित-प्रतिमा, ऋषभनाथ प्रतिमा २, शान्तिनाथ प्रतिमा २। महावीर की तीन प्रतिमाए, जिनदत्तसूरि मूर्ति, चन्द्रप्रभ प्रतिमा, नेमिनाथ-विम्ब और अम्बिका की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई और सौम्यमूर्ति, न्यायलक्ष्मी की दीक्षा हुई।

स० १३१८ पौष सुदि ३ को सघभक्त की दीक्षा और धर्ममूर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया।

स० १३१९ मार्गशीर्ष सुदि ७ को अभयतिलक गणि को उपाध्याय-पद हुआ और उसी वर्ष मे अभयतिलक उपाध्याय का उज्जैनी की तरफ विहार। वहा तपोमतीय प० विद्यानन्द के साथ यतिकल्प्य प्रासुक शीतल जल की चर्चा, फिर पालनपुर आदि की तरफ विहार और उसी वर्ष मे माघ वदि ५ को विजयसिद्धि साध्वी की पालनपुर मे दीक्षा, माघ वदि ६ चन्द्रप्रभ, अजितनाथ, सुमतिनाथ की प्रतिष्ठा। ऋषभनाथ, धर्मनाथ, सुपार्श्वनाथ-प्रतिमा, जिनवल्लभसूरि मूर्ति और सिद्धान्त यक्ष की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। पाटन के शान्तिनाथ प्रासाद मे अक्षयतृतीया के दिन दण्ड कलश का आरोपण किया।

स० १३२१ फाल्गुन सुदि २ गुरु के दिन चित्तसमाधि, क्षान्तिनिधि साध्वियो की दीक्षा, फाल्गुन वदि ११ को पालनपुर मे एक आले मे तीन प्रतिमाएं और ध्वजादण्ड चढाया, ज्येष्ठ सुदि १५ को विक्रमपुर मे चारित्रशेखर, लक्ष्मीनिवास और रत्नावतार साधुओ की दीक्षा।

स० १३२२ माघ सुदि १४ को त्रिदशानन्द, शान्तमूर्ति, त्रिभुवनानन्द, कीर्तिमण्डन, सुबुद्धिराज, सवराज, वीरप्रिय, जयवल्लभ, लक्ष्मीराज, हेमसेन आदि नामक दस साधु। मुक्तिवल्लभ, नेमिभक्ति, मगलनिधि और प्रियदर्शना नामक चार साध्वियो को दीक्षा दी और वशाख ६ को वीरसुन्दरी को विक्रमपुर मे दीक्षा।

स० १३२३ मार्ग० वदि ५ को नेमिध्वज साधु तथा विनयसिद्धि और आगमरिद्धि की दीक्षा जालोर मे। वैशाख सुदि १३ देवमूर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद पर द्वितीय ज्येष्ठ सुदि को जयसलमेरु पार्श्वनाथ चैत्य पर दण्डकलश प्रतिष्ठा और विवेकसमुद्र गणि को वाचनाचार्य-पद की स्थापना की गई। आषाढ वदि १ को हीराकर साधु किया।

स० १३२४ मार्ग वदि २ शनि को कुलभूषण, हेमभूषण की दीक्षा, अनन्तलक्ष्मी, व्रतलक्ष्मी, एकलक्ष्मी और प्रधानलक्ष्मी की जालोर मे दीक्षा हुई।

स० १३२५ वैशाख सुदि १० को जालोर में महावीर चैत्य मे गजेन्द्रबल साधु और पद्मावती साध्वी की दीक्षा। वैशाख सुदि १४ को उसी महावीर-चैत्य मे २४ जिनबिम्बो की, २४ ध्वजदण्डो की, सीमंधर, युगमधर, बाहु, सुबाहु के बिम्बो की तथा अन्य अनेक बिम्बो की प्रतिष्ठा हुई। ज्येष्ठ वदि ४ को सुवर्णगिरि के शान्तिनाथ चैत्य में बनी हुई २४ देहरियो मे उन्हीं २४ जिनबिम्बो तथा सीमन्धर, युगमधर, बाहु, सुबाहु के बिम्बो की स्थापना हुई और उसी दिन धर्मतिलक गणि को वाचनाचार्य-पद दिया गया। उसी वर्ष वैशाख सुदि १४ को जैसलमेरु मे पार्श्वनाथ-चैत्य पर दण्डकलशारोपण का उत्सव हुआ।

स० १३२६ के चैत्र वदि १३ को पाल्हनपुर से अभयचन्द्र की व्यवस्था मे विधि धर्म का सघ शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा के लिए निकला। श्री जिनेश्वरसूरि, जिनरत्नाचार्य, चन्द्रतिलकोपाध्याय, कुमुदचन्द्र प्रमुख २३ साधु और लक्ष्मीनिधि महत्तरा प्रमुख १३ साध्वियो के साथ चलता हुआ सघ तारगा तीर्थ पहुँचा। वहा इन्द्रादि पदो के चढावे हुए, इन्द्रपद-द्र० १५००, मन्त्री प० द्र० ८००, सारथि प० द्र० १००, भाण्डागारी प० द्र० ११०, आद्य-चामर-धारी के २ पद ३०० द्रम, पिछले चमरधारी २ पद द्र०, छत्रधर पद द्र० ६६, वहा से सघ बीजापुर गया, वहा भी वासुपूज्य मन्दिर मे चढावे हुए। तीन हजार द्रम्म की आमदनी हुई, इसी प्रकार स्तम्भनक महातीर्थ मे चढावे हुए। कुल द्रम्म ५००० आये। वहा से सघ शत्रुञ्जय महातीर्थ पहुँचा और पूर्वोक्त प्रकार के चढावे बोले गये और ५३२ द्रम्म इन्द्रादिक के चढावो मे प्राप्त हुए। द्रम्म १७ हजार की प्राप्ति हुई। वहा से सघ गिरनार महातीर्थ पहुचा, वहा पर भी इन्द्रमाला आदि के तमाम चढावे हुए और ७०६ द्रम्म की आमदनी हुई। एकन्दर इस सघ की तरफ से शत्रुञ्जय के देवभण्डागार मे अनुमानत २० हजार द्रम्म की प्राप्ति हुई और गिरनार के देवभण्डागार मे १७ हजार द्रम्म आए। गिरनार पर नेमिनाथ चैत्य मे जिनेश्वरसूरि द्वारा प्रबोधसमुद्र (हर) विनयसमुद्र की दीक्षा हुई वहा से सघ प्रभास पाटण गया और चतुर्विध सघ के साथ उधर के सब चैत्यो की यात्रा की। इस प्रकार विधिमार्ग सघ तथा सा० अभयचन्द्र के साथ आषाढ सुदि ६ को देवालय का जिनेश्वरसूरि प्रमुख चतुर्विध सघ सहित पालनपुर मे प्रवेश हुआ।

स० १३२८ के वैशाख सुदि १४ को जालोर मे चन्द्रप्रभ, ऋषभदेव और महावीर के बिम्बो की प्रतिष्ठा करवाई, ज्येष्ठ वदि ४ को हेमप्रभा को दीक्षा दी।

स० १३३० मे वैशाख वदि ६ को प्रबोधमूर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया और कल्याणऋद्धि गणिनी को प्रवर्तिनी पद हुआ, जालोर मे वैशाख वदि ८ को स्वर्णगिरि के जिनचैत्य के शिखर मे चन्द्रप्रभ की प्रतिमा स्थापित हुई।

जालोर मे रहते हुए जिनेश्वरसूरिजी ने अपने आयुष्य की समाप्ति निकट जानकर स० १३३१ के आश्विन कृष्ण ५ को प्रात काल अपने पद पर प्रबोधमूर्ति गणि को बैठाया और "जिनप्रबोधसूरि" यह नाम दिया।

पालनपुर मे रहे हुए जिनरत्नाचार्य को आदेश दिया कि चातुर्मास्य के बाद सवगच्छ तथा विधि सम्प्रदायो को इकट्ठा कर अच्छे लग्न मे फिर सूरि-पद स्थापन कर देना, बाद मे श्रीपूज्य ने अनशन किया और पचपरमेष्ठि-मन्त्र का ध्यान करते हुए आश्विन कृष्ण ६ को दो घडी रात बीतने पर श्री जिनेश्वरसूरिजी स्वगवासी हुए। प्रभात समय मे समुदाय ने श्रीपूज्य का सस्कार महोत्सव किया और सा० क्षेमसिंह ने अग्निसस्कार के स्थान पर स्तूप बनवाया।

चातुर्मास्य उतरने पर जिनरत्नाचाय जालोर आए और जिनेश्वरसूरि के उपदेशानुसार जिनप्रबोधसूरि का फिर बडे ठाट के साथ पद स्थापना-उत्सव कराया और स० १३३१ के फाल्गुन वदि ८ रवि को श्री जिनरत्नाचाय द्वारा जिनप्रबोधसूरि की महोत्सव पूवक पट्ट स्थापना हुई।

१०) जिनप्रबोधसूरि –

स० १३३१ के फाल्गुन सुदि ५ को स्थिरकीर्ति भवनकीर्ति और केवलप्रभा, हषप्रभा, जयप्रभा, यश प्रभा साध्वियो की दीक्षा जालोर मे हुई।

स० १३३२ ज्येष्ठ वदि १ शुक्र को शा० क्षेमसिंह श्रावक ने नमि-विनमि परिवृत युगादिदेव, श्री महावीर, अवलोकनशिखरस्थ नेमिनाथबिम्ब, साम्बप्रद्युम्न की मूर्तिया, जिनेश्वरसूरि की मूर्ति, धनदयक्ष की मूर्ति और सुवर्णगिरि पर के चन्द्रप्रभ स्वामिचैत्य की ध्वजा की प्रतिष्ठा करवाई, ज्येष्ठ वदि ६ को चन्द्रप्रभ स्वामी के शिखर पर ध्वजारोप हुआ, ज्येष्ठ वदि ९ को स्तूप मे जिनेश्वरसूरि की मूर्ति की प्रतिष्ठा की और उसी दिन विमलप्रज्ञ को उपाध्याय पद और राजतिलक को वाचनाचाय-पद प्रदान किया, ज्येष्ठ सुदि ३ को गच्छकीर्ति, चारित्रकीर्ति, क्षेमकीर्ति मुनियो को तथा लब्धिमाला, पुण्यमाला साध्वियो को दीक्षा दी।

सं० १३३३ के माघ वदि १३ को जालोर मे कुशलश्री गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, इसी वर्ष मे सा० क्षेमसिंह और चाहडकी तरफ से संघ प्रयाण की तैयारी हुई, अनेक गावो से विधि संघ का समुदाय इकट्ठा हुआ और उसके उपरोध से श्री शत्रुञ्जयादि महातीर्थों की यात्रा के लिए श्री जिनप्रबोधसूरि, श्री जिनरत्नसूरि, लक्ष्मीतिलकोपाध्याय, विमलप्रज्ञोपाध्याय, वा० पद्मदेव, वा० राजगणि प्रमुख २७ साधु और प्रवर्तिनी ज्ञानमाला गणिनी प्र० कुशलश्री, प्र० कल्याणऋद्धि प्रमुख २१ साध्वियो के परिवार सहित जालोर से चैत्र वदि ५ को संघ रवाना हुआ, वहा से श्रीमाल मे शान्तिनाथ विधिचैत्य मे द्रम्म १४७६ विधिसंघ ने सफल किये, वहा से पालनपुर आदि नगरो की यात्रा करता हुआ संघ तारगातीर्थ पहुचा, वहा इन्द्रमाला आदि के चढावे हुए, अनुमानत द्रम्म ४ हजार मालादि लेकर कृतार्थ किये, वहा से स्तम्भनक तीर्थ मे अनुमानत ७००० द्रम्म के चढावे दिये, वहा से भरुच जाकर संघ ने ४७०० द्रम्म खर्चे, वहा से संघ शत्रुञ्जय पर पहुँचा, शत्रुञ्जय पर इन्द्रमालादि के चढावे हुए और अनुमानत सब मिलकर २५००० द्रम्म संघ ने खर्च किये।

ज्येष्ठ वदि ७ को युगादिदेव के सामने आपने जीवानन्द साधु और पुण्यमाला, यशोमाला, धर्ममाला, लक्ष्मीमाला को दीक्षा दी। मालारोपणादि का उत्सव हुआ, श्री श्रेयास-विधिचैत्य मे ७०८ द्रम्म, उज्जयन्त मे ७५० द्रम्म, इन्द्रादि के परिवार की तरफ से २१५० और नेमिनाथ की माला के द्रम्म २०००, एकन्दर गिरनार पर २३००० द्रम्म की आमदनी हुई।

इस प्रकार स्थान-स्थान जिनशासन की उन्नति करता हुआ, सा० क्षेमसिंह विधिसंघ के साथ महातीर्थों की यात्रा करके आषाढ सुदि १४ को वापस जालोर आया।

सं० १३३४ माग सुदि १३ को रत्नवृष्टि गणिनी को प्रवर्तिनी पद दिया, वैशाख वदि ५ को भीमपल्ली मे श्री नमिनाथ तथा श्री पार्श्वनाथ के बिम्बो की, जिनदत्तसूरि की मूर्ति की, शान्तिनाथ के देवालय के ध्वजदण्ड की और गौतमस्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा का महोत्सव कराया, वैशाख

वदि ६ को मगलकलश साधु की दीक्षा और ज्येष्ठ सुदि २ को वाडमेर की तरफ विहार किया ।

सं० १३३५ के माग वदि ४ को पद्मकीर्ति, सुधाकलश, तिलककीर्ति, लक्ष्मीकलश, नेमिप्रभ, हेमतिलक और नेमितिलक नामक साधुओ की दीक्षा हुई, पौपसुदि ६ को चित्तौड मे धूमधाम के साथ प्रवेश किया, फाल्गुण वदि ५ को श्री समरसिंह महाराज के राज्य मे चौरासी मे मुनिसुव्रत, युगादिदेव, अजितनाथ और वासुपूज्य के बिम्बो की, श्री महावीर के समवसरण की, स्वर्णगिरि के शान्तिनाथ विधिचैत्यस्थित पित्तलमय समवसरण की और दूसरी अनेक प्रतिमाओ की, साम्बमूर्ति की, आठ दण्डो की महोत्सव पूवक प्रतिष्ठा हुई और उसी दिन चौरासी में युगादिदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, शाम्ब, प्रद्युम्न और अम्बिका के मन्दिरो पर ध्वजारोप हुए, वद्रद्राह नामक गाव मे जिनदत्तसूरि की प्रतिमा प्रतिष्ठा, श्री पार्श्वनाथ चैत्य पर चित्रकूट मे अभिषिक्त दण्ड फाल्गुन सुदि १४ को चढाया, जाहेडा गाव मे चैत्र सुदि १३ को सम्यक्त्वारोपादि न दी महोत्सव हुआ, वरडिया मे वैशाख वदि ६ को पुण्डरीक, गौतमस्वामी, प्रद्युम्न मुनि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनेश्वरसूरि की मूर्तियो तथा सरस्वती की मूर्ति का प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ, वैशाख वदि ७ को मोहविजय, मुनिवल्लभ की दीक्षा और हेमप्रभगणि का वाचनाचाय-पद हुआ ।

सं० १३३६ मे ज्येष्ठ सुदि ६ को अपने पिता का अ त्य समय जान-कर चित्तौड से जल्दी विहार करते हुए पालनपुर आए और अपने पिता श्रीचन्द्र श्रावक को दीक्षा दी और चन्द्र ने १७ दिन तक सास्तारक दीक्षा पालकर समाधि पूवक स्वग को प्राप्त किया ।

सं० १३३७ के वैशाख वदि ६ को गुजर भूमि के बोजापुर नामक गाव को अपने चरणों से पवित्र किया, श्रावको ने बडी धूमधाम के साथ नगर प्रवेश कराया, ज्येष्ठ वदि ४ शुक्रवार को सारगदेव महाराज के राज्य मे वासुपूज्य चैत्य मे २४ जिनालयो के बिम्बो तथा ध्वजदण्डो की, जोइला गाव के लिए पार्श्वनाथ की और अनेक जिनप्रतिमाओ की शानदार प्रतिष्ठा

हुई, इस उत्सव मे वासुपूज्य चैत्य मे द्र० ३०००० उत्पन्न हुए, द्वादशी के दिन आनन्दमूर्ति, पुण्यमूर्ति की दीक्षा हुई।

स० १३३९ के फाल्गुन सुदि ५ को सवविधिमार्ग सघ के साथ प्रस्थान करके जिनरत्नाचार्य, देवाचार्य, वाचनाचार्य विवेकसमुद्र गणि प्रमुख अनेक मनुष्यो के साथ श्री जिनप्रबोधसूरि जी फाल्गुन चातुर्मास्य के दिन श्री अर्बुदगिरि ऊपर पहुँचे और युगादिदेव और नेमिनाथ की यात्रा की। आठ दिन तक वहा ठहर कर इन्द्रपदादि के उत्सवो द्वारा अपने साथ ने हजार द्रम्म सफल किये, बाद मे श्रीपूज्य के प्रसाद से कुशलतापूर्वक सवसघ वापस जालोर आया। उसी वर्ष मे ज्येष्ठ वदि ४ को जगच्चन्द्रमुनि और कुमुदलक्ष्मी तथा भुवनलक्ष्मी साध्वियो को दीक्षा दी, पचमी को चन्दनसुन्दरी गणिनी को महत्तरा-पद दिया और चन्दनश्री नाम रक्खा।

वहा से सोम महाराज की अभ्यर्थना से शम्यानयन मे चातुर्मास्य कर स० १३४० मे जिनप्रबोधसूरिजी ने फाल्गुन चातुर्मास्य के दिन जैसलमेर मे प्रवेश किया। वहा पर अक्षयतृतीया के दिन २४ जिनालय तथा अष्टापदादि के बिम्बो-ध्वजो का प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ, जिसमे देवद्रव्य की आमदनी ६ हजार द्रम्म की हुई। ज्येष्ठ वदि ४ को मेरुकलश, धर्मकलश और लब्धिकलश मुनि को तथा पुण्यसुन्दरी, रत्नसुन्दरी, भुवनसुन्दरी और हर्षसुन्दरी साध्वियो की दीक्षा हुई, श्री कर्णदेव महाराज के आग्रह से चातुर्मास्य वहा किया।

चातुर्मास्य के बाद जिनप्रबोधसूरि ने विक्रमपुर को विहार किया। वहा स० १३४१ के फाल्गुन वदि ११ के दिन महावीर चैत्य मे सम्यक्त्वारोप, मालारोप, दीक्षादान आदि निमित्तक उत्सव हुए, जिनमे विनयसुन्दर, सोमसुन्दर, लब्धिसुन्दर, मेघसुन्दर और चन्द्रमूर्ति क्षुल्लको की और धर्मप्रभा, देवप्रभा नामक दो क्षुल्लिकाओ की दीक्षाये हुई। वहा पर शासनप्रभावक जिनप्रबोधसूरि को दाहज्वर उत्पन्न हुआ, अपना आयुष्य स्वल्प समझ कर निरन्तर प्रयाणो से श्रीपूज्य जालोर पधारे।

सं० १३४१ की अक्षय तृतीया के दिन अपने पद पर श्री जिनचन्द्र-सूरि को प्रतिष्ठित किया और उसी दिन राजशेखर गणि को वाचनाचाय पद दिया, बाद मे अष्टमी का सकल सघ से मिथ्यादुष्कृत देकर आप अन्तिम आराधना मे लगे और वैशाख शुक्ल एकादशी को स्वर्गवासी हुए ।

(११) जिनचन्द्रसूरि – (३)

सं० १३४२ के वैशाख शुक्ल १० के दिन श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने जालोर के श्री महावीर चैत्य मे प्रीतिचन्द्र, सुखकीर्ति, को और जयमञ्जरी, रत्नमञ्जरी तथा शीलमञ्जरी नामक क्षुल्लिकाओ को दीक्षित किया, उसी दिन वाचनाचाय विवेकसमुद्र गणि का अभिषेक पद सर्वराज गणि को वाचनाचाय-पद और बुद्धि समृद्धि गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया और वदि ७ को सम्यक्त्वारोपादि नन्दिमहोत्सव हुआ, ज्येष्ठ कृष्ण ६ को रत्नमय अजितनाथ बिम्बो की और युगादिदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ बिम्बो की तथा शान्तिनाथबिम्ब की, अष्टापदध्वजा दण्ड की और अन्य अनेक जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा का महोत्सव श्री सामन्तसिंह के राज्य मे श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने करवाया, ज्येष्ठ वदि ११ को वाचनाचाय देवमूर्ति गणि को अभिषेक-पद दिया और मालारोपणादि कार्य हुए ।

सं० १३४४ के माग सुदि १० को महावीर चैत्य मे स्थिरकीर्ति गणि को श्री जिनचन्द्रसूरि ने आचार्य पद दिया और दिवाकराचाय नाम दिया ।

सं० १३४५ के आषाढ सुदि ३ को मतिचन्द्र, धर्मकीर्ति को दीक्षा, वैशाख वदि १ को पुण्यतिलक, भुवनतिलक और चारित्रलक्ष्मी साध्वी को दीक्षा दी और राजदर्शनगणि को वाचनाचाय पद दिया ।

सं० १३४६ मे माघ वदि १ को बाडड कारित स्वर्णगिरिस्थ श्री चन्द्रप्रभस्वामिदेवगृह के पास मे रहे हुए युगादिदेव और नेमिनाथ के बिम्बो की मंडप के गोखलो मे और सम्मेतशिखर के २० बिम्बों का स्थापना-महोत्सव हुआ, फाल्गुन सुदि ८ को शम्यानयन के प्रासाद मे शान्तिनाथ की स्थापना हुई, देववल्लभ, चारित्रतिलक, कुशलकीर्ति, साधुओ की और रत्नश्री साध्वी की दीक्षा हुई, चैत्र वदि १ को पालनपुर से विहार किया,

वशाख वदि १४ को भीमपल्ली गए और वैशाख सुदि ७ को शैलमय युगादिदेव बिम्ब, चतुर्विंशतिजिनालययोग्य १(२)४ बिम्ब, इन्द्रध्वज, श्री अनन्तनाथदण्ड ध्वज, जिनप्रबोधसूरि स्तूपमूर्ति दण्डध्वजो के अतिरिक्त अनेक पाषाण तथा पित्तलमय जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा का महोत्सव हुआ। ज्येष्ठ वदि ७ को नरचन्द्र, राजचन्द्र, मुनिचन्द्र, पुण्यचन्द्र साधुओ की और मुक्तिलक्ष्मी, मुक्तिश्री साध्वियो का दीक्षा हुई।

स० १३४७ माग० सुदि ६ पालनपुर मे सुमतिकीर्ति की दीक्षा और नरचन्द्रादि साधु साध्वियो की उपस्थापना, मालारोपण आदि महोत्सव हुआ, वहा से सघ मेलापक के साथ श्री तारणगढ मे अजितनाथ की यात्रा की, पोषवदि ५ को बीजापुर श्रावक समुदाय के साथ गए, श्री जालोर मे जिनप्रबोधसूरि के स्तूप मे मूर्ति स्थापनोत्सव तथा दण्डध्वजारोपण उत्सव माघ सुदि ११ को सा० अभयचन्द्र ने करवाया और चत्र वदि ६ को बीजापुर मे अमररत्न, पद्मरत्न, विजयरत्न साधुओ को दीक्षा हुई।

स० १३४८ के वैशाख सुदि ३ को पालनपुर मे वीरशेखर, अमतश्री की दीक्षा हुई, त्रिदशकीर्ति गणि को वाचनाचाय पद दिया गया, उसी वप मे श्रीपूज्य ने सुधाकलश, मुनिवल्लभ साधुओ के साथ गणियोग का तप किया।

स० १३४६ भाद्रपद वदि ८ को अभयचन्द्र श्रावक को सस्तारक दीक्षा, अभयशेखर नाम दिया, मागशीप वदि २ को यश कीर्ति की दीक्षा।

स० १३५० वैशाख सुदि ६ को भाण्डा० झाजन श्रावक को सस्तारक दीक्षा दी और नरतिलक राजर्षि नाम रखा।

स० १३५१, माघ वदि १ पालनपुर मे युगादिदेव चैत्य मे महावीर प्रमुख ६४० जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा की और ५ को मालारोपणादि महोत्सव हुआ, विश्वकीर्ति साधु की और हेमलक्ष्मी साध्वी की दीक्षा हुई।

स० १३५२ मे राजशेखर गणि ने बडगाव मे विहार किया और वहा से कौशाम्बी, वाराणसी, काकन्दी, राजगृह, पावपुरी नालन्दा, क्षत्रिय-

कुण्डग्राम, रत्नपुरादि गावो मे तीर्थयात्रा की और राजगृह समीप उद्दण्ड-विहार मे चातुर्मास्य किया और उसी वर्ष मे भीमपल्ली से विहार कर अनेक नगरो के समुदायो के साथ श्री विवेकसमुद्र उपाध्याय प्रमुख साधु मण्डली सहित श्रीपूज्य ने शखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा की। वहा से जिनचन्द्रसूरि पाटन पहुँचे, वहा के सब चैत्यो की यात्रा कर श्रीपूज्य वापस भीमपल्ली आए और बीजापुर के समुदाय की प्रार्थना से चातुर्मास्य बीजापुर मे किया, वहा स० १३५३ माग० कृ० ५ को वासुपूज्य विधि चैत्य मे मुनिसिंह, तप-सिंह और नयसिंह साधुओ की दीक्षा हुई।

वहा से जालोर की तरफ विहार किया और उसी वर्ष मे सा० सीहा सा० माण्डव्यपुरीय मोहन श्रावको ने सघ की व्यवस्था की, अनेक गावो मे विधि-समुदाय के साथ जालोर से वैशाख कृष्ण ५ को प्रस्थान कर अनेक मुनिसमुदाय परिवृत श्रीपूज्य ने सघ के साथ अबु दाचल पहुँच कर श्री युगा-दिदेव और नेमिनाथ की यात्रा की, वहा पर इन्द्र पद आदि के चढ़ावो द्वारा सघ ने बारह हजार द्रम्म खर्च किये और सकुशल सघ वापस जालोर पहुँचा।

स १३५४ ज्येष्ठ वदि १० को जालोर महावीर विधिचैत्य मे नन्दि-महोत्सव हुआ, जिसमे वीरचन्द्र, उदयचन्द्र, अमृतचन्द्र साधुओ की और जयसुन्दरी साध्वी की दीक्षा हुई। उसी वर्ष मे आषाढ शुक्ल २ को सिराणा गाव मे महावीर-प्रासाद का जीर्णोद्धार होकर महावीरबिम्ब की स्थापना हुई।

स० १३५६ मे राजा श्री जैत्रसिह की विज्ञप्ति से मार्गशीर्ष वदि ४ को जैसलमेर पहुँचे, वहा पर ही सवत् १३५७ मे मार्गशीर्ष शुक्ल ९ को जयहस, पद्महस की दीक्षा हुई। स० १३५८ के माघ सुदि १० को पार्श्वनाथ-विधिचैत्य मे सम्मेत-शिखर आदि जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा का उत्सव हुआ।

स० १३५९ फाल्गुन वदि ११ को श्रीपूज्य ने बाडमेर जाकर युगादि-देव को नमस्कार किया और वही पर स० १३६० के माघ वदि १० को

मालारोपणादि नन्दिमहोत्सव हुआ, बाद मे श्री शीतलदेव महाराज की विनप्ति से और श्रावकों की प्रार्थना से श्रीपूज्य शम्यानयन श्री शान्तिनाथ की यात्रार्थ गए।

स० १३६१ मे शान्तिनाथ विधिचैत्य मे द्वितीय वैशाख सुदि ६ को शम्यानयन मे प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ और १० को मालारोपणादि-नन्दि-महोत्सव हुआ, जिसमे प० लक्ष्मीनिवास गणि को तथा प० हेमभूषण गणि को वाचनाचार्य पद दिया गया।

जालोर के सघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य जालोर पधारे। वहा सवत् १३६४ वैशाख कृष्ण १३ को राजशेखर गणि को आचार्य-पद प्रदान किया, बाद मे श्रीपूज्य भीमपल्ली पधारे।

भीमपल्ली से पाटन के समुदाय की प्रार्थना से आप पाटन पहुचे, बाद मे स्तम्भतीय कोटडी के श्रावकों की प्रार्थना से शेरीषक पार्श्वनाथ देव की यात्रा करके श्रीपूज्य स्तम्भतीर्थ पहुँचे।

वहा से सवत् १३६६ मे ज्येष्ठ वदि १२ को सा० जैसल द्वारा सयोजित सघ के साथ श्रीपूज्य, जयवल्लभ गणि, हेमतिलक गणि आदि ग्यारह साधु और प्र० रत्नवृष्टि गणिनी आदि १५ साध्वियो के परिवार सहित स्तम्भतीय से महातीर्थों की यात्रा के लिए निकले, क्रमश सघ पीपलाउली गाव पहुँचा। वहा शत्रुञ्जय महातीर्थ पर्वत के दर्शन कर सघ ने उत्सव मनाया। वहा से श्रीपूज्य ने श्री युगादिदेव की यात्रा की, इन्द्रपदादिमहोत्सव हुआ। वहा ज्येष्ठ शुक्ला १२ को मालारोपणादि महोत्सव सघ की तरफ से हुआ। वहा से सघ गिरनार की तरफ रवाना हुआ और गिरनार की तलहटी मे जाकर सघ ने अपना पडाव डाला। श्रीपूज्य समुदाय के साथ पवत ऊपर चढे और नेमिनाथ की यात्रा की, श्रावको ने इन्द्रपदादि के चढावे बोले। वहा से वापस लौटकर श्रीपूज्य सघ के साथ स्तम्भतीथ आए और चातुर्मास्य वहा पर ही कर भरहपाल श्रावक की सहायता से पूज्य ने स्तम्भतीथ की यात्रा की, वहा से बीजापुर जाकर श्री वासुपूज्य की यात्रा की।

वीजापुर मे स० १३६७ के माघ वदि ९ को महावीर प्रमुख बिम्बो की श्रीपूज्य ने ठाट पूवक प्रतिष्ठा की, वहा से भीमपल्ली के समुदाय की प्रार्थना से भीमपल्ली पधारे और वहा फाल्गुन शुक्ल १ को तीन क्षुल्लक और २ क्षुल्लिकाओ को दीक्षा दी, उनके नाम परमकीर्ति, वरकीर्ति, रामकीर्ति, पद्मश्री तथा व्रतश्री थे। उसी दिन प० सोमसुदर गणि को वाचनाचाय पद दिया गया।

प्रस्तुत वष मे ही कुकुमपत्रिकाए भेज कर श्री पाटन, पालनपुर, जालोर, सिवाना, जयसलमेर, राणुकोट, नागौर, रिणी, वीजापुर, साचौर, भीनमाल, रत्नपुरादि अनेक स्थानो के वास्तव्य-श्रावक-समुदाय के साथ सा० सामल ने तीथ-यात्रा का प्रारम्भ किया। सामल तथा सघ समुदाय की प्राथना से चैत्र शुक्ल १३ के दिन चतुर्विध सघ और देवालय के साथ पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने भीमपल्ली से प्रयाण किया और श्री शखेश्वर मे जाकर पार्श्वनाथ की यात्रा की, सघ ने आठ दिन तक वहा ठहर कर उत्सव किया, वहा से पाटडी मे नेमिनाथ को वन्दन किया और राजशेखराचाय, जयवल्लभ गणि आदि १६ साधु और प्र० बुद्धिसमृद्धि गणिनी आदि १५ साध्वियो के साथ विधिसघ ने क्रमश शत्रुञ्जय पहुँच कर आदिनाथ की यात्रा की। वहा से गिरनार जाकर श्री नेमिनाथ को वन्दन किया, दोनो तीर्थो पर इन्द्रपदादि के चढावो द्वारा प्रचुर द्रव्य खर्च किया सर्व तीर्थो की यात्रा करके सा० सामल के सघ के साथ पूज्य जिनचन्द्रसूरि आषाढ चातुर्मास्य के दिन वायड गाव आए और महावीर की यात्रा कर श्रावण वदि मे विधि समुदाय के साथ जिनचन्द्रसूरि ने भीमपल्ली मे प्रवेश किया।

सघ के साथ आए हुए भणशाली लूणा श्रावक ने पूज्यपाद आचार्य के समक्ष अपनी तरफ से सघ के पाश्चात्य पद की व्यवस्था का भार निभा कर जो पुण्य उपार्जित किया था, वह सब अपनी माता भा० धनी सुश्राविका को दिया[१] और धनी ने श्रद्धापूर्वक उसका अनुमोदन किया।

१ भणशाली लूणा श्रावक द्वारा सघ के पाश्चात्य भार वहन करने से उत्पन्न पुण्य को अपनी मा को गुरु की साक्षी से अपण करने की बात कही गई है परन्तु जन

भीमपल्ली के समुदाय द्वारा किये गये उत्सव में प्रतापकीर्ति आदि २ क्षुल्लकों की उपस्थापनाएं हुई और दो क्षुल्लक नये किये जिनके नाम — तरुणकीर्ति और तेजकीर्ति हैं, दो क्षुल्लिकाओं को दीक्षा दी और नाम व्रतधर्मा, दृढधर्मा दिये।

उसी दिन रत्नमंजरी गणिनी को महत्तरा-पद देकर "जयर्द्धिमहत्तरा" यह नाम रक्खा और प्रियदर्शना गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया। वहां से श्रीपूज्य पाटन नगर आए।

सं० १३६६ के माघ वदि ६ को श्रीपूज्य ने चन्दनमूर्ति, भुवनमूर्ति, सारमूर्ति, हीरमूर्ति नामक चार क्षुल्लक बनाए और देवप्रभा गणिनी को प्रवर्तिनी पद दिया।

सं० १३७० के माघ शुक्ल ११ श्रीपूज्य ने निधानमुनि कोयात यशोनिधि, महानिधि को पाटन में दीक्षा दी। वहां से भीमपल्ली गए।

सं० १३७१ में फाल्गुन शुक्ल ११ को त्रिभुवन कीर्तिमुनि तथा प्रियधर्मा, यशालक्ष्मी धर्मलक्ष्मी नामक साध्वियों को भीमपल्ली में दीक्षा दी।

बाद में श्रीपूज्यपाद जालोर विचरे, वहां पर संवत् १३७१ के ज्येष्ठ वदि १० को श्रीपूज्य ने देवेन्द्रदत्त, पुण्यदत्त, ज्ञानदत्त, चारदत्त मुनियों को तथा पुण्यलक्ष्मी ज्ञानलक्ष्मी कमललक्ष्मी और मतिलक्ष्मी को दीक्षित किया, बाद में जालोर का भंग म्लेच्छों द्वारा (मुसलमानों से) हुआ, बाद में आचार्य सिवाना, खीणी, बब्बेरक आदि स्थानों में होते हुए फलोदी पार्श्वनाथ की यात्रा को गए। वहां से नागोर की तरफ विहार किया, वहां से उच्चापुरीय विधि समुदाय की प्रार्थना से श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने सिन्ध की तरफ विहार किया और उच्चापुरीय के निकटवर्ती देवराजपुर में कुछ समय तक ठहरे।

सिद्धान्त के अनुसार यह घटित नहीं होती। जैन सिद्धान्त ने पुण्य अथवा पाप की प्रवृत्ति करने वाले को स्वयं उसका भोक्ता बनाया है। पुण्य के फल की तरह कोई पाप करने वाले का पाप फल अपने ऊपर ले ले और करने वाला अपना दुष्कृत दे दे तो क्या पापकर्त्ता पाप से मुक्त हो सकेगा? कभी नहीं। इसी प्रकार पुण्य के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। ★

सा० १३७३ के मार्गशीष वदि ४ को आचार्य ने पद स्थापनादि उत्सव शुरु करवाने और चौमासे मे भी देवराजपुर से विशल, महणसिंह श्रावको को पाटन भेजकर अपने शिष्य रामचन्द्र को बुलाया, उपाध्यायजी ने भी गुरु की आज्ञा के अनुसार पुण्यकीर्ति गणि को साथ में देकर रामचन्द्र मुनि को उनको साथ भेज दिया, कार्तिक मास की चतुर्मासी के दिन रामचन्द्र मुनि श्री जिनचन्द्रसूरिजी के पास पहुँचे और अनेक नगरो के सघ-समवायो के समक्ष आचार्य ने अपने शिष्य रामचन्द्र को आचार्य पद देकर राजेन्द्रचन्द्राचाय बनाया, उसी उत्सव मे ललितप्रभ, नरेन्द्रप्रभ, धर्मप्रभ, पुण्यप्रभ, अमरप्रभ साधुओ को दीक्षा दी ।

सा० १३७४ फाल्गुन वदि ६ के दिन उच्चापुरीय आदि अनेक सिन्ध-देश के समुदायो ने नन्दिमहोत्सव किया, जिसमे दर्शनहित, भुवनहित, त्रिभुवनहित, मुनियो को दीक्षा प्रदान की, १०० श्राविकाओ ने माला-ग्रहण की, इस प्रकार देवराजपुर मे दो चातुर्मास्य रहकर श्रीपूज्य ने नागौर की तरफ बिहार किया, वहा से पूज्य ने कन्यानयन के निवासी सा० काला सुश्रावक की सहायता से श्रीपूज्य ने फलोदी पार्श्वनाथ की दूसरी बार यात्रा की ।

सा० १३७५ के माघ शुल्क १२ को नागपुर मे महोत्सव कराया और उसमे सोमचन्द्र साधु को तथा शीलसमृद्धि, दुलभसमृद्धि, भुवनसमृद्धि साध्वियो को दीक्षा दी, और प० जगच्चन्द्र गणि तथा राजकुशल गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, धर्ममाला गणिनी, पुण्यसुन्दरी गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, बाद मे अनेक श्रावक समुदाय के साथ फलौदी जाकर श्री पार्श्वनाथ की तीसरी बार यात्रा की, श्री पाश्वनाथ के भाण्डागार मे ३० हजार जैथल उत्पन्न हुए, फिर श्रीपूज्य सघ के साथ नागोर गए ।

सा० १३७५ के वैशाख वदि ८ को ठक्कुर अचल सुश्रावक ने श्री कुतुबुद्दीन सुरत्राण से आज्ञा निकलवा कर कुकुमपत्रिकादानपूर्वक अनेक नगरो के समुदायो को एकत्र कर हस्तिनापुर, मथुरा महातीर्थो की यात्रा के लिए सघ निकलवाया, श्रीपूज्य जिनचन्द्रसूरि, जयवल्लभ गणि, पद्मकीर्ति

गणि, अमृतचन्द्र गणि आदि ८ साधु और जयर्द्धिमहत्तरा प्रमुख साध्वियो के परिवार से युक्त सघ नागोर से रवाना हुआ, क्रमश श्री नरभट मे पार्श्वनाथ की तीर्थयात्रा कर सघ कन्यानयन गया, वहा श्री वर्द्धमान स्वामी को नमन किया और आठ दिन तक उत्सव किया, वहा के यमुना पार तथा वागड के श्रावको के समुदाय सहित ४०० घोडे, ५०० शकट, ७०० बैल आदि विस्तार के साथ सघ नावो से यमुना महानदी को पार कर क्रमश हस्तिनापुर पहुचा ।

पूज्य ने सघ के साथ शान्तिनाथ, अरनाथ, कुन्थुनाथ देवो की यात्रा की । सघ ने इन्द्रपदादि के चढावे बोलकर अपना द्रव्य सफल किया । ठक्कुर देवसिंह श्रावक ने बीस हजार जैथल बोलकर इन्द्रपद ग्रहण किया, अन्य चढावे मिलकर देवभण्डार मे १ लाख ५० हजार जैथल की उपज हुई । वहा पाच दिन ठहर कर सघ मथुरा तीर्थ के लिए रवाना हुआ, दिल्ली के निकट आने पर वर्षा चातुर्मास्य लग गया, इसलिए श्रीपूज्य सघ को विसर्जन कर ठ० अचलादि सुश्रावको के साथ खण्डसराय मे चातुर्मास्य ठहरे । यहा पर सुरत्राण के कहने से और सघ के आग्रह से "रायाभिओगेण, गणाभिओगेण" इत्यादि सिद्धान्त वचन का अनुसरण करते हुए आप चौमासे मे भी वागड देश के श्रावक समुदाय के साथ मथुरा गए[१] और सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ तथा

---

१ आचार्य जिनचन्द्रसूरि के द्वारा दूसरी बार जिनाज्ञा भग करने का यह प्रसग है । पहले आपने शत्रुञ्जय गिरनार के सघ के साथ वापस भीमपल्ली आते हुए, वायड महास्थान मे आषाढी १४ की और बाद मे वहा से श्रावण वदि मे भीमपल्ली आकर चातुर्मास्य पूरा किया था । इस प्रसग पर तो लगभग तीर्थों म जाने आने मे ही खासा चातुर्मास्य व्यतीत किया । पट्टावली लेखक कहता है – सुरत्राण के उपरोध से और सघ के अत्याग्रह से आप मथुरा के लिए निकले थे, जो सरासर झूठा बचाव है । सुरत्राण को तो कोई मतलब ही नही था और सघ का भी इन्होने विसर्जन कर दिया था, कतिपय वागड के श्रावको के साथ आप खण्डसराय मे चातुर्मास्य व्यतीत करने के लिए ठहरे थे, फिर मथुरा जाने का तात्कालिक क्या कारण उपस्थित हुआ कि जिससे बाध्य होकर आपको मथुरा जाना आना पडा । हमारी राय म दोनो स्थानो पर जिनचन्द्रसूरि ने गफलत की है । प्रथम तो

महावीर तीर्थङ्करो की यात्रा की, फिर दिल्ली आकर खण्डसराय मे शेष चातुर्मास्य पूरा किया। दर्मियान श्री जिनचन्द्रसूरि के स्तूप की दो बार यात्रा की।

चातुर्मास्य के बाद श्रीपूज्य के शरीर मे कम्परोग की पीडा उत्पन्न हुई जिससे अपना आयुष्य अल्प समझ कर अपने शिष्य वा० कुशलकीर्ति गणि को अपने पट्ट पर स्थापन करने का निश्चय करके सब हकीकत एक चिट्ठी मे लिख कर राजेन्द्रचन्द्राचार्य को देने के लिए अपने विश्वासपात्र ठ० विजयसिंह के हाथ मे चिट्ठी का गोलक दिया, बाद मे चौहान श्री मालदेव के अत्याग्रह से दिल्ली से विहार कर मेडता की तरफ प्रयाण किया। कन्यानयन आते-आते आपको ताप श्वास आदि की विशेष बाधा बढ गई। परिणामस्वरूप आपने सब संघ से मिथ्या दुष्कृत किया और कहा – "यह लेख राजेन्द्रचन्द्राचार्य को देना"। कोई मास भर कन्यानयन मे ठहर कर बाद मे नरभटादि स्थानो मे होते हुए मेडता पहुचे, वहा पर राणक श्रीमालदेव के आग्रह से २४ दिन ठहर कर अपने स्वर्गवास के योग्य स्थान समझ कर वहा से कोसवाणा गए और वहा स० १३७६ के

इस प्रकार साधुओं को तीर्थयात्रा के निमित्त भ्रमण करना निष्कारण भ्रमण बताया है और निष्कारण भ्रमण करने पर शास्त्रकार ने प्रायश्चित्त विधान किया है, तब चातुर्मास्य मे दिल्ली से मथुरा जाकर चौमासे मे ही वापस दिल्ली आना कितना बुरा दृष्टान्त है इसका जिनसूरिजी ने कतई विचार नही किया। साधुओं के लिए संयम यात्रा ही मुख्य यात्रा है। तीर्थयात्रा दर्शनशुद्धि का कारण होने से श्रावकों के लिए खास उपयोगी है, साधुओं के लिए नही। चारित्र मे विराधना लगाकर तीर्थयात्रा के लिए अपने भक्तों का समुदाय इकट्ठा करके इधर उधर घूमते रहना यह खरतरगच्छ के आचार्यों का प्रचार मात्र है। जिनेश्वरसूरि अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि आदि को तीर्थयात्रा निकाल कर तीर्थों मे ले जाने वाला कोई नही मिला था क्या? खरी बात तो यह है कि व साधु का कर्त्तव्य अकर्त्तव्य समझते थे। चन्द्रावती म जिनपतिसूरि के साथ वार्तालाप करते हुए पौर्णमिक गच्छीय आचार्य श्री अकलंकदेवसूरि ने संघ के साथ साधु को जाने के लिए जो आपत्तिया उठायी हैं और जिनपतिसूरिजी ने उनका जो समाधान किया है उसके पढने से पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते है कि जिनचन्द्रसूरि की उक्त गफलत ही नही किन्तु निष्कारण अपवाद का सेवन है।

*

आषाढ शुक्ल ६ की रात्रि मे डेढ़ पहर रात्रि व्यतीत होने पर चतुर्विध सघ को मिथ्यादुष्कृत कर समाधिपूर्वक देह छोडकर स्वर्गवासी हुए ।

श्रावक-समुदाय ने नारियल आदि फल उछालते हुए ले जाकर आपका अन्तिम देहसंस्कार किया ।

चातुर्मास्य के अनन्तर जयवल्लभ गणि जिनचन्द्र का दिया हुआ लेख-पत्र लेकर भीमपल्ली राजेन्द्राचार्य के पास गए, वहा से आचार्य साधु समुदाय के साथ पाटन पहुचे, उस प्रदेश मे दुर्भिक्ष चल रहा था तो भी श्रीपूज्य के आदेश का पालन करने के निमित्त राजेन्द्राचार्य ने स० १३७७ के ज्येष्ठ वदि ११ को कुम्भलमेर मे मूलपद स्थापना का निश्चित किया ।

बाद में सा० तेजपाल श्रावक ने मूलपद स्थापना का महोत्सव करने का भार स्वीकार कर विधिमार्ग श्रावको वाले सर्व गाव नगरो मे कुकुम-पत्रिकायें भेजी, सब स्थानो के विधिसमुदाय नियत दिन पर पाटन आ पहुचे, ठक्कुर विजयसिह भी श्रीपूज्यदत्त चिट्ठी का गोलक लेकर दिल्ली से पाटन आया, श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य, विवेकसमुद्र महोपाध्याय, प्रवर्तक जयवल्लभ गणि, हेमसेन गणि, वाचनाचार्य हेमभूषण गणि प्रमुख साधु ३३ और जयर्द्धि महत्तरा, प्रवर्तिनी बुद्धिसमृद्धि, प्रियदर्शना प्रमुख २३ साध्विया सर्व-स्थानीय श्रावकसमुदाय के सामने जयवल्लभ गणि के हस्तक का लेख और ठा० विजयसिह वाला चिट्ठी का गोलक राजेन्द्रचन्द्राचार्य को दिया, पत्र तथा चिट्ठी सभा मे पढी गई, सुनकर चतुर्विध विधि सघ आनन्दित हुआ और ४० वर्ष की उम्र वाले वाचनाचार्य कुशलकीर्ति को शान्तिनाथ देव के सामने आचार्य पद प्रदान किया गया और "जिनकुशलसूरि" यह नाम रक्खा ।

(१२) जिनकुशलसूरि --

उसके बाद श्री जिनकुशलसूरिजी भीमपल्ली गए, और प्रथम चातु-र्मास्य वही किया, स० १३७८ के माघ शुक्ल ३ को भीमपल्ली मे नन्दी-महोत्सव हुआ । श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य ने माला ग्रहण की और देवप्रभ मुनि को दीक्षा दी, तथा वाचनाचार्य हेमभूषण गणि को अभिषेक पद

और प० मुनिचन्द्र गणि को वाचनाचार्य-पद प्रदान किया, उसी वर्ष में विवेकसमुद्रोपाध्याय का आयुष्य समाप्त होता जानकर भीमपल्ली से श्रीपूज्य पाटन गए और ज्येष्ठ वदि १४ के दिन विवेकसमुद्रोपाध्याय को चतुर्विध संघ के साथ मिथ्यादुष्कृत कराके अनशन दिया, उपाध्यायजी पंचपरमेष्ठी नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए समाधि पूर्वक ज्येष्ठ शुदि २ को स्वर्गवासी हुए ।

उसके बाद श्रीपूज्य ने विधि-समुदाय को उपदेश देकर श्री विवेक-समुद्र उपाध्याय के शरीर संस्कार भूमि में स्तूप करवाया और आषाढ शुक्ल १३ को उस पर वासक्षेप किया, बाद में पाटन के समुदाय की प्रार्थना से पाटन में द्वितीय चातुर्मास्य किया ।

सं० १३७६ के मार्गशीर्ष वदि ५ को पाटन में विधिचैत्य में प्रतिष्ठा-महोत्सव कराया और उसी दिन सा० खीमड श्रावक के उद्यम से और सा० तेजपालादि विधि-समुदाय की तरफ से शत्रुञ्जय तीर्थ पर श्री युगादिदेव के विधिचैत्य का प्रारम्भ किया गया, पाटन के इस महोत्सव में श्री शान्तिनाथ प्रमुख के शैलमय, रत्नमय, पित्तलमय १५० जिनबिम्बों की, दो समवसरणों की, श्री जिनचन्द्रसूरि, जिनरत्नसूरि और अधिष्ठायकों की मूर्तियों की श्रीपूज्य ने प्रतिष्ठा की ।

बाद में श्री वीजापुर के संघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य वीजापुर पधारे और वीजापुर से वहां के समुदाय के साथ त्रिशृंगम पधारे, त्रिशृंगम से वीजापुर के तथा वहां के समुदाय के साथ आरासण तथा तारंगातीर्थ की यात्रा कर श्री जिनकुशलसूरिजी पाटन पहुंचे और तीसरा चातुर्मास्य वहां किया ।

सं० १३८० कार्तिक शुक्ल १४ को सा० तेजपाल श्रावक ने शत्रुञ्जय तीर्थ पर तैयार होने वाले विधि चैत्य योग्य श्री युगादिदेव का २७ अंगुल परिमाण जिनबिम्ब जो तैयार करवाया था, उसकी प्रतिष्ठा की, अन्य भी अनेक शैलमय, पित्तलमय बिम्बों तथा जिनप्रबोधसूरि,

जिनचन्द्रसूरि की दो मूर्तियो कपर्दियक्ष, क्षेत्रपाल, अम्बिका आदि की मूर्तिया उसमे प्रतिष्ठित हुई ।

शत्रुञ्जय पर विधीयमान प्रासाद योग्य दण्ड ध्वज की प्रतिष्ठा भी इसी प्रतिष्ठा महोत्सव मे की ।

उसके बाद उसी वर्ष मे दिल्ली निवासी सा० रयपति श्रावक ने बादशाह श्री गयासुद्दीन का फरमान हासिल कर पाटन श्रीपूज्य को अपनी तरफ से विज्ञप्ति करने के लिए मनुष्य भेजे और श्री जिनकुशलसूरिजी ने भी तीर्थयात्रा का आदेश दिया । गुरु आदेश प्राप्त कर हृष्ट चित्त श्रीरयपति ने अपने कुटुम्ब के अतिरिक्त योगिनीपुर का तथा योगिनीपुर निकटवर्ती अनेक गावो का विधि-समुदाय बुला कर वैशाख वदि प्रथम ७ को योगिनीपुर से प्रस्थान किया । प्रथम सघ कन्यानयन गया और श्री महावीर देव की यात्रा करके ग्राम, नगर आदि मे होता हुआ सघ नरभट पहुँचा और पार्श्वनाथ की यात्रा की, वहा से सघ फलोदी पार्श्वनाथ की यात्रार्थ गया । वहा से सघ जालोर पहुँचा और बडे ठाट से वहा की यात्रा की, वहा से सघ भीनमाल पहुँचा और शान्तिनाथ की यात्रा की, वहा से प्रयाण कर सघ भीमपल्ली वायड महास्थान मे महावीर की यात्रा करता हुआ ज्येष्ठ वदि १४ को श्री पाटन पहुँचा ।

पाटन के देवालयो की यात्रा की और श्री जिनकुशलसूरिजी को सघ मे पधारने की प्रार्थना की । वर्षाकाल निकट जानते हुए भी श्रीपूज्य सघ का अपमान नही करना चाहिए, इस भावना से वर्षा चातुर्मास्य की भी अवगणना कर १७ साधु और जयर्द्धि महत्तरा प्रमुख १९ साध्वियो के परिवार सहित सा० रयपति के सघ मे सम्मिलित हुए और बडे आडम्बर के साथ ज्येष्ठ शुक्ल ६ के दिन सघ आगे रवाना हुआ ।

क्रमश दण्डकारण्य[1] जसे वालाक देश को उल्लघन कर सघ श्री शत्रुञ्जय की तलहटी मे पहुँचा, वहा पार्श्वनाथ की यात्रा की और

---

१ गुर्वावली लेखक ने सौराष्ट्र के 'भाल' प्रदेश का दण्डकारण्य की उपमा दी है यह उनका साहित्य विषयक अज्ञान सूचन करता है क्योकि उपमा वही दी जाती है जो

आषाढ वदि ६ के दिन तीर्थाधिराज शत्रुञ्जय पर चढे और युगादिदेव की यात्रा की। सघपति श्री रयपति ने सुवर्णटको से नवाग पूजा की और करवाई, अन्य महर्द्धिक श्रावको ने भी रूप्य टकादि से पूजा की। उसी दिन श्री युगादिदेव के आगे देवभद्र और यशोभद्र क्षुल्लको की दीक्षा सम्पन्न हुई और आषाढ वदि ७ को जल-यात्रा करके श्री युगादिदेव के मूलचैत्य मे स्वकारित नेमिनाथ बिम्ब प्रमुख अनेक जिनबिम्बो, भण्डागार योग्य समवसरण, जिनपतिसूरि, जिनेश्वरसूरि प्रमुख अनेक गुरु मूर्तियो की श्री जिनकुशलसूरिजी ने प्रतिष्ठा की और उसी दिन पाटन मे प्रतिष्ठापित युगादिदेव के मूल नायक बिम्ब की शत्रुञ्जय पर नवनिर्मित प्रासाद मे स्थापना की। आषाढ वदि ६ को मालारोपण आदि उत्सव युगादिदेव के मूलचैत्य मे किया, उसी दिन सुखकीर्ति गणि को वाचनाचार्य पद दिया और नूतन प्रासाद मे ध्वजारोप महोत्सव हुआ।

उक्त महोत्सव मे इन्द्रपद आदि के चढावे तथा अन्य तरीको से युगादिदेव के भण्डागार मे द्विवल्लक ५०००० द्रम्म उत्पन्न हुए।

बाद में श्रीपूज्य सघ के साथ तलहटी मे सघ के पडाव पर आए और वहा से गिरनार तीर्थ की यात्रा के लिए जूनागढ की तरफ चले और आषाढ शुक्ल १४ के दिन सघ ने गिरनार पर श्री नेमिनाथ की यात्रा की। यहा पर भी सा० रयपति प्रमुख श्रावको ने सुवर्णटकादि से पूजा की और सघ चार दिन ठहरा तथा महापूजा, ध्वजारोपादि महोत्सव किए। यहा नेमिनाथ के देवभण्डार मे द्विवल्लक ४० हजार द्रम्म उत्पन्न हुए, उसके बाद पर्वत से उतर कर आचार्य तलहटी मे सघ के स्थान पर आए और वहा से सघ वापस पाटन के लिए रवाना हुआ।

सघवी रयपति पूज्य आचार्य को वन्दन कर पाटन से रवाना हुआ, बीच मे कोशवाणा मे श्री जिनचन्द्रसूरि के स्तूप पर ध्वजारोप किया, फिर

उपमेय से मिलती जुलती हो। माल प्रदेश ऐसा स्थान है जहा घास तक नही उगता, तब दण्डकारण्य ऐसी घनी वनस्पति वाला प्रदेश है, जहा सामान्य मनुष्य चल भी नही सकता। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध स्वभाव के दो पदार्थो को आपस मे उपमेय उपमान बनाना अज्ञान का परिणाम है।

卐

वहा से फलोदी की यात्रा कर देशान्तरीय यात्रिको को अपने-अपने स्थान पहुँचा कर सघपति ने अपने निवास स्थान योगिनीपुर में कार्तिक वदि ४ का प्रवेश किया ।

स० १३८१ वैशाख सुदि ५ को सा० तेजपाल, सा० रुदपाल ने जनयात्रा पूर्वक प्रतिष्ठा महोत्सव कराया । इस उत्सव मे श्री जिनकुशलसूरिजी ने जालोर योग्य महावीर देव का बिम्ब, देवराजपुर युगादिदेव का बिम्ब, शत्रुञ्जय स्थित वृल्हा वस्ति प्रासाद जीर्णोद्धारार्थ श्रीश्रेयास प्रमुख अनेक बिम्ब, शत्रुञ्जय स्थित स्वप्रासादमध्यस्थ अष्टापद योग्य चौवीस जिनबिम्ब इत्यादि शैलमय १५० जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की । उच्चापुरीय योग्य श्रीजिनदत्तसूरि, जालोर तथा पाटन योग्य जिनप्रबोधसूरि और देवराजपुर योग्य जिनचन्द्रसूरि की मूर्तियो की और अम्बिका आदि अधिष्ठायको की प्रतिष्ठा की और अपने भण्डार योग्य श्रेष्ठ समवसरण भी प्रतिष्ठित किया । देवभद्र, यशोभद्र क्षुल्लको की उपस्थापना की, सुमतिसार उदयसार, जयसार, क्षुल्लको और धर्मसुन्दरी, चारित्रसुन्दरी, क्षुल्लिकाओ को दीक्षा दी । जयधर्म गणि को उपाध्याय-पद दिया, अनेक साध्वी श्राविकाओ ने माला ग्रहण की ।

पाटन से श्रीपूज्य भीमपल्ली पहुँचे और वैशाख वदि १३ को महावीर देव को नमस्कार किया । उसी वर्ष मे सा० वीरदेव श्रावक द्वारा रचित सघ के साथ जाने के लिए जिनकुशलसूरिजी ने स्वीकार किया । सा० वीरदेव ने बादशाह गयासूद्दीन से फर्मान निकलवा के नाना स्थानो के समुदायो को कुकुम पत्रिका देकर बुलाया, श्रीजिनकुशलसूरिजी भी सा० वीरदेव तथा सघ के आग्रह से चतुर्मास्य निकट होने पर भी ज्येष्ठ वदि ५ को भीमपल्ली से सघ के साथ रवाना हुए । श्री वायड, सेरीशक आदि स्थानो मे ठहर कर ध्वजारोप की रस्म करता हुआ सघ सरखेज नगर पहुँचा । निकटवर्ती आशापल्ली नगर के विधि-समुदाय की प्रार्थना से जिनकुशलसूरि कतिपय श्रावको के साथ आशापल्ली पधारे, आशापल्ली की यात्रा कर आप वापस सघ मे आए और वहा से सर्व सघ स्तम्भतीर्थ पहुँचा, नवाग वृत्तिकार अभयदेवसूरि प्रकटित श्री स्तम्भनक पार्श्वनाथ

विधिचैत्य मे अजितनाथ की यात्रा की। आठ दिन तक सघ वहा ठहरा और इन्द्रमाला द्विवल्लक १२००० द्रम्म मे पहनी गई, खम्भात से प्रस्थान कर सघ शून्य प्रदेशो मे चलता हुआ शत्रुञ्जय की तरफ आगे बढा, बीच मे आने वाले धन्धूका नगर मे ठ० उदयकरण श्रावक ने सघ वात्सल्य आदि किया। क्रमश सघ शत्रुञ्जय की तलहटी मे पहुँचा, वहा से श्रीपूज्य शत्रुञ्जय पर चढे और दूसरी वार श्री युगादिदेव की यात्रा की। दस दिन तक सघ वहा ठहरा और इन्द्रपदादि के चढावे किये। श्री युगादिदेव के भण्डार मे देकर विधि सघ ने १५ हजार द्विवल्लक द्रम्म सफल किये, अपने युगादिदेव के विधि चैत्य मे नई तैयारी हुई। २४ देवगृहिकाओ पर श्रीपूज्य ने कलश-ध्वजारोप किया, इसके अनन्तर श्रीपूज्य सघ के साथ तलहटी मे आए, बाद मे सर्व सघ आया उसी रास्ते गया। क्रमश सेरीशे होकर शखेश्वर पहुँचे। वहा चार दिन ठहर कर ध्वजारोप आदि करके सघ के साथ श्री जिनकुशलसूरि श्रावण शुक्ल ११ को भीमपल्ली पहुँचे[1]। देशान्तरीय यात्रिकगण अपने अपने स्थान पहुँचे।

---

१ जिनचन्द्रसूरिजी ने यात्रा निमित्त दो बार चातुर्मास्य मे भ्रमण करने के जो अपवाद सेवन किये थे उन पर टिप्पण करते हुए हम लिख आये हैं कि चातुमास्य में इधर उधर होने की अनागमिक रीति योग्य नही है हमारे उस कथन के अनुसार ही परिणाम आया जिनचन्द्रसूरिजी दो बार इधर उधर हुए थे तब उनके पट्टधर श्री जिनकुशलसूरिजी ने भी चातुर्मास्य में दो बार यात्रार्थ भ्रमण किया।

प्रथम योगिनीपुर निवासी सा० रयपति के सघ के साथ सौराष्ट्र तीर्थ की यात्रा के लिए जाकर वापस भाद्रपद वदि ११ को पाटन पहुचे थे और चातुर्मास्य वहा पर पूरा किया था।

दूसरी बार भीमपल्ली निवासी सा० वीरदेव के सघ के साथ उन्ही तीर्थो की यात्रा करने गये और श्रावण शुक्ल ११ को वापिस भीमपल्ली में प्रवेश किया था।

इसी प्रकार खरतरगच्छ के आचार्यो ने नाम मात्र का निमित्त पाकर चौमासे में इधर उधर जाने में पाप नही समझा और खूबी यह है कि इनके पिछले गुर्वावलीकार लेखक "रायाभिओगेण इस आगार को आगे कर इस अनुचित प्रवृत्ति का बचाव करते हैं उनको समझ लेना चाहिये कि इन वातो में "राजाभियोग गणाभियोग' लागू ही नही होता। राजा साधुओं को वर्षाकाल में इधर उधर

सं० १३८२ के वैशाख सुदि ५ को सा० वीरदेव ने वहा नन्दि-महोत्सव किया और श्रीपूज्यजी ने उसमे चार क्षुल्लक, २ क्षुल्लिकाओ को दीक्षा दी, जिनके नाम विनयप्रभ, हरिप्रभ, सोमप्रभ आदि और कमलश्री तथा ललितश्री, इसके बाद श्रीपूज्य साचोर पहुँचे ।

एक मास साचोर ठहर कर आगे लाटहृद (राडदरा) गए । वहा पर १५ दिन ठहर कर आगे बाडमेर गए और वर्षा चातुर्मास्य वही किया ।

सं० १३८३ के पौष शुक्ल पूर्णिमा को बाडमेर मे अट्ठाहिमहोत्सव हुआ और उसमे नव-दीक्षितो की उपस्थापना, मालारोपणादि उत्सव हुए । उसी वर्ष मे बाडमेर से विहार कर लवणखेट (पचपदरा) सिवाना होते हुए जालोर पहुँचे और वहा पर अट्ठाही महोत्सव शुरु हुआ, जिसमे १३८३ के फाल्गुन वदि ६ को श्री जिनकुशलसूरिजी ने प्रतिष्ठा, व्रतग्रहण, उपस्थापना, मालारोपणादि कार्य कराये और उस उत्सव मे वैभारगिरि

होने की आज्ञा क्या देंगे ? राजनीति तो साधु, नट, नर्तक आदि घुमक्कड जातियो को वर्षाकाल में एक स्थान में रहने की आज्ञा देती है, तब खरतरगच्छ के आचार्यों को वह वर्षाकाल में घूमने की आज्ञा क्या देगी । युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरिजी वर्षाकाल में बादशाह अकबर के पास जाने को रवाना हुए और जालोर तक पहुंचने के बाद उनको बादशाह की तरफ से समाचार पहुचे कि वर्षाकाल में चलते हुए आने की कोई आवश्यकता नही है, तब आपने शेष वर्षाकाल जालोर में बिताया, जहा तक हम समझ पाये हैं श्री जि[illegible] म ही खरतरगच्छ के अनुयायियो को गुरुपारतन्त्र्य का उपदेश मिलना प्रारम्भ हो गया था, उसके ही परिणाम स्वरूप खरतरगच्छ में यह बात एक सिद्धान्त बन गया है कि आगम में आचार्यपरम्परा अधिक बलवती है, किसी प्रसंग पर आचरणा के विपरीत आगम की बात होगी तो आगमिक नियम को छोडकर आचरणा की बात को प्रमाण माना जायगा, शास्त्र विरुद्ध यात्रार्थभ्रमण और वर्षाकाल तक की उपेक्षा करना उसका कारण एक ही है कि वे इस प्रकार की प्रवृत्तियो के विरुद्ध कुछ भी कह नही सकते थे ठीक है, गुरु पारतन्त्र्य में रहना चाहिए परन्तु पारतन्त्र्य का अर्थ यह तो नहीं होना चाहिए कि शास्त्रविरुद्ध अथवा लोकविरुद्ध प्रवृत्तियो के सम्बन्ध में भी गुरुओ को कुछ नहीं कहा जाय आखें मून्दकर गुरुओ की प्रवृत्तियो का निभाना का परिणाम यह होगा कि धीरे धीरे गुरु और गच्छ दुनिया मे विदा हो चलेंगे । ✱

पर के चतुर्विशति जिनालय के मूलनायक श्री महावीरदेव प्रमुख अनेक शैलमय बिम्बो, पित्तलमय-बिम्बो, गुरु-मूर्तियो तथा अधिष्ठायक-मूर्तियो की प्रतिष्ठा हुई। ६ क्षुल्लक किये जिनके नाम न्यायकीर्ति, ललितकीर्ति, सोमकीर्ति, अमरकीर्ति, नमिकीर्ति और देवकीर्ति दिये थे। उसके बाद देवराजपुर के श्रावको के अत्याग्रह से श्री जिनकुशलसूरिजी ने चैत्र वदि मे सिन्ध की तरफ विहार करने का मुहूत किया। सिवाना, खेडनगर आदि स्थानो मे होते हुए जसलमेरु पहुँचे। वहा १६ दिन ठहर कर उच्चा आदि स्थानो मे होते हुए श्रीपूज्य देवराजपुर पहुँचे और श्री युगादिदव को नमस्कार किया।

देवराजपुर मे एक मास की स्थिरता कर वहा से विहार कर उच्चा पहुँचे। एक मास तक वहा ठहर कर विधिसमुदाय को स्थिर कर चातुर्मास्य करने के लिए आप फिर देवराजपुर पहुँचे। चातुर्मास्य के बाद स० १३८४ मे माघ शुक्ला ५ को आपने वहा पर प्रतिष्ठामहोत्सव करवाया। इस महोत्सव मे राणुकोट, कियासपुर के चैत्यो के मूलनायक योग्य श्री युगादिदेव के २ बिम्ब तथा अन्य अनेक पाषाणमय तथा पित्तलमय बिम्बो की प्रतिष्ठा हुई, तथा नव क्षुल्लक बनाये और तीन क्षुल्लिकाए, इनके नाम – भावमूर्ति, मोदमूर्ति, उदयमूर्ति, विजयमूर्ति, हेममूर्ति, भद्रमूर्ति, मेघमूर्ति, पद्ममूर्ति और हषमूर्ति इनको दीक्षा दी और कुलधर्मा, विनयधर्मा, शीलधर्मा इन साध्वियो को भी।

स० १३८५ में फाल्गुन शुक्ल ४ के दिन श्री जिनकुशलसूरिजी ने उत्सव कराया। उसमे प० कमलाकर गणि को वाचनाचाय-पद दिया, नूतन दीक्षितो की उपस्थापना की और मालारोपणादि काय हुए।

स० १३८६ के वष मे बहिरामपुरीय सघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य बहरामपुर गए और ठाट से नगर प्रवेश कर पाश्वनाथ के दर्शन किये, कुछ दिन वहा ठहरे और वहा से विहार कर क्यासपुर गये और वहा से मारवाहन की तरफ विहार किया, छ दिन तक वहा ठहर कर वापस क्यासपुर की तरफ विचरे।

स० १३८७ के वर्ष मे उच्चकीय समुदाय के आग्रह से और १२ साधुओ के परिवार के साथ उच्चा गए और एक मास वहा ठहरे, बाद मे परसुरोरकोट के श्रावको के आग्रह से वहा पधारे, वहा से विहार करके बहिरामपुर पहुँचे, वहा से क्यासपुरादि होते हुए, वर्षा चातुर्मास्य करने देवराजपुर पहुचे ।

चातुर्मास्य के बाद १३८८ के वर्ष मे बिम्बप्रतिष्ठा सस्थापनादि के लिए उत्सव करवाया । उच्चापुरीय, बहिरामपुर, क्यासपुर, सिलारवाणादि अनेक गावो के रहने वाले सिन्धदेश के समुदायो की हाजरी मे मार्गशीर्ष शुक्ला १० के दिन तरुणकीर्ति गणि को आचार्यपद दिया और तरुणप्रभाचार्य नाम रक्खा । प० लब्धिनिधान गणि को अभिषेक पद देकर लब्धिनिधानोपाध्याय बनाया और जयप्रिय मुनि, पुण्यप्रिय मुनि को क्षुल्लक बनाया और राजश्री तथा धर्मश्री को क्षुल्लिका बनाया, उसके बाद देराउर मे चातुर्मास्य किया ।

श्रीपूज्य अपना अन्त समय देखकर चातुर्मास्य के बाद भी उसी क्षेत्र मे ठहरे, माघ महीने मे ज्वरश्वासादि के बढ जाने से अपना निर्वाण समय निकट समझकर तरुणप्रभाचार्य को और लब्धिनिधानोपाध्याय को अपने पट्ट के योग्य पद्ममूर्ति क्षुल्लक को बनाकर उसको पद प्रतिष्ठित करने की शिक्षा दे के स० १३८९ के फल्गुन कृष्ण ५ को चतुर्विध सघ के साथ मिथ्यादुष्कृत देने के बाद रात्रि के लगभग दो पहर बीतने पर आपने देह छोड देवगति को प्रयाण किया । आपके अग्निसस्कार स्थान पर देवराजपुर के विधि समुदाय ने स्तूप निर्माण करवाया ।

स० १३९० के ज्येष्ठ शु० ६ को मिथुन लग्न मे देवराजपुर के युगादि जिनचैत्य मे तरुणप्रभाचार्य ने जयधर्मोपाध्याय, लब्धिनिधानोपाध्याय प्रमुख ३० साधु अनेक साध्वी समुदाय की हाजरी मे भावना के अनुसार पद्ममूर्ति क्षुल्लक को श्री जिनकुशलसूरिजी के पट्टपर स्थापित किया, पूज्य के आदेशानुसार ही "श्री जिनपद्मसूरि" यह नाम दिया । इस पद स्थापना महोत्सव पर- जयचन्द्र, शुभचन्द्र, हर्षचन्द्र, महाश्री, कनकश्री, क्षुल्लिकाओ का जिनपद्मसूरिजी ने दीक्षा दी । प० अमृतचन्द्र गणि को वाचनाचार्य-पद हुआ ।

(१३) जिनपद्मसूरि –

स० १३९० के ज्येष्ठ शुक्ल ६ को युगादिदेव प्रमुख जिनबिम्बो और स्तूप योग्य, जैसलमेर योग्य, बयासपुर योग्य, जिनकुशलसूरिजी की तीन मूर्तियो की प्रतिष्ठा करने के लिए उत्सव किया और उसी दिन स्तूप मे जिनकुशलसूरि की मूर्ति स्थापित की, बाद मे श्रीपूज्य जिनपद्मसूरिजी ने दो उपाध्याय प्रमुख १२ साधुओ के साथ जैसलमेर की तरफ विहार किया और प्रथम चातुर्मास्य जैसलमेर मे किया।

स० १३९१ के पौष वदि १० को जैसलमेर मे लक्ष्मीमाला गणिनी को प्रवर्तिनी पद दिया, फिर बाडमेर की तरफ विचरे। दस दिन तक वहा ठहर कर साचोर की तरफ विहार किया, वहा पर माघ शुक्ला ६ के दिन समुदाय की तरफ से नन्दिउत्सव किया। उसमे नयसागर, अभयसागर क्षुल्लको को दीक्षा दी। वहा मास से कुछ कम ठहर कर वहा से आदित्य-पाटक गए और शान्तिनाथ की यात्रा की, उसके बाद माघ पूर्णिमा को समुदाय की तरफ से प्रतिष्ठा-महोत्सव किया। उसमे युगादिदेव आदि के ५०० बिम्बो की श्रीपूज्य ने प्रतिष्ठा की।

स० १३९२ मार्गशीर्ष वदि ६ के दिन २ क्षुल्लको की उप-स्थापना की।

स० १३९३ के कार्तिक मास मे पाटणस्थित श्रीपूज्य ने लघुवय के होते हुए भी प्रथमोपधान तप वहन किया, वहा से फाल्गुन वदि १० को पाटन से जीरावला की यात्रा के लिए प्रयाण किया। नारउद्र होते हुए श्रीपूज्य आशोटा (आसेडा) पहुचे। वहा भीमपल्लीय सा० वीरदेव श्रावक ने विधिसमुदाय के साथ श्रीराज० रुद्रनदन, राज० गोधा आदि को साथ मे लेकर प्रवेशोत्सव कराया। वहा से श्रीपूज्य विचरते हुए बूजद्री पधारे।

उसी वर्ष मे सा० मोकदेव ने आबू की यात्रा के लिए श्रीपूज्य से प्रार्थना की और उन्होने स्वीकृति दी। चैत्र शुक्ल ६ के दिन तीर्थयात्रा योग्य देवालय मे शान्तिनाथ को स्थापित कर वासक्षेप किया, फिर अट्ठाई

उत्सव कर चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को बूजडी से सघ का प्रस्थान हुआ, श्रीपूज्य भी लब्धिनिधान उपाध्याय, वा० अमृतचन्द्र गणि प्रमुख १५ साधु और जयद्धि महत्तरा प्रमुख ८ साध्वियो के परिवार सहित चले। क्रमश सघ आबू पहुँचा और विमलविहार मे श्री आदिनाथ और लूणिकविहार मे नेमिनाथ प्रमुख तीर्थङ्करो की यात्रा की। विधि सघ ने इन्द्रपद आदि चढावो मे तथा अन्य उत्सवो मे ५०० रूप्य टक सफल किये, वहा से सघ के साथ श्रीपूज्य मुडस्थला (मु गथला) गाव जाकर जिनपतिसूरि की मूर्ति को वन्दन किया। वहा से सघ जीरापल्ली पहुँचा, वहा भी युगादिदेव के प्रासाद मे २०० टक खर्च किये। वहा से प्रयाण कर सघ आरासण गया और नेमिनाथ प्रमुख पचतीर्थो की यात्रा की। इन्द्रपदादि के चढावो द्वारा १५० रूप्य टक खच किये, वहा से सघ तारगा पहुँचा और अजितनाथ की यात्रा की, वहा भी इन्द्रपदादि के चढावो मे २०० रूप्य टक खर्च किये। वहा से वापस लौट कर सघ त्रिशृङ्गमक पहुँचा। श्रीपूज्य ने वहा के सब चैत्यो की यात्रा की, सघ ने इन्द्रपदादि द्वारा पार्श्वनाथ के प्रासाद मे १५० रूप्य टक खच किये। वहा से लौट कर चन्द्रावती के माग से श्रीपूज्य बूजडी पधारे और वर्षा चातुर्मास्य वही किया।

राजाओं का मोह –

खरतरगच्छ की पट्टावलियो तथा गुर्वावलियो के लेखको को राजाओ तथा महाराजाओ का बडा मोह था, एक साधारण गाव के जागीरदार अथवा कोली ठाकुर को भी राजा कहकर अपने गुरुओ के नगरप्रवेशो का महत्त्व बढाया है, एक छोटे मे गावडे का गिरासिया ठाकुर भी उनकी दृष्टि मे बडा राजा तथा राजाधिराज था, इस प्रकार के बृहद् गुर्वावली मे आने वाले नामो की एक लम्बी नामावली देकर खरतरगच्छ के एक लेखक महोदय ने ‘खरतरगच्छ गुर्वावली का ऐतिहासिक महत्त्व” इस शीर्षक के नीचे नामावलि मे सूचित राजा, महाराजा, जागीरदारो के सबध मे चर्चा की है। प्रस्तुत लेख मे बृहद् गुर्वावली की प्रशसा करने मे लेखक ने सीमोल्लघन कर दिया है। कई स्थानो मे तो गुर्वावली के खरे अर्थ को छिपाकर

कल्पित अर्थ लगाकर अपने आचार्यों का महत्त्व बढाया है, इस सम्बन्ध मे एक दो दृष्टान्त देकर इस चर्चा को पूरा कर दिया जायगा ।

१ बृहद् गुर्वावली मे स० १२४४ की हकीकत मे पाटन के रहने वाले "व्यवहारी अभयकुमार सेठ" को खरतरगच्छ का एक अनुयायी भणशाली कहता है – 'अभयकुमार ! तुम हमारे स्वजन हो, करोडपति हो और राजमान्य हो, परन्तु इससे हमको क्या फायदा, जो हमारे गुरुओ को गिरनार, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा नहीं करवाते ।" भणशाली की इस बात से उत्साहित होकर अभयकुमार ने उसे आश्वासन दिया और महाराजा भीमदेव तथा उनके "प्रधान मन्त्री जगद्देव पडिहार" को मिलकर अजमेर से सघ निकलवाने की राजाज्ञा लिखवायी और अजमेर के खरतरगच्छ सघ तथा जिनपतिसूरि के नाम दो पत्र लिखकर अपने लेखवाहक द्वारा अजमेर के सघ के पास भेजे, अभयकुमार माफत आयी हुई राजाज्ञा तथा अभयकुमार के पत्रो को पढकर अजमेर के सघ के साथ जिनपतिसूरिजी ने यात्रा के लिए प्रयाण किया और वहा से सीधे आबु के निकटवर्ती चन्द्रावती होकर आशापल्ली आये और खभात होते हुए, सौराष्ट्र के तीर्थों मे गये, वहा की यात्रा करके सघ वापस आशापल्ली होता हुआ अन्त मे पाटन आया, और वहा से अपने स्थान अजमेर पहुँचा तब "ऐतिहासिक महत्त्व लेखक" "पाटन से ही अभयकुमार की तरफ से सघ निकलवाता है। यह झूठा प्रचार नही तो क्या है ? राजाज्ञा अजमेर पहुचाने के बाद अभयकुमार का सघ के प्रकरण मे कही नाम तक नही मिलता तब लेखक अभयकुमार द्वारा सघ निकलवाने की बात करते हैं, खरी बात तो यह है कि "खरतरगच्छ के पट्टधर आचार्यों के पाटन आने पर राजकीय प्रतिबन्ध लगा हुआ था," इसलिए सघ पाटन होकर ही नही पाटन राज्य की हद मे होकर भी जा नही सकता था, इसलिए अभयकुमार ने राजाज्ञा अजमेर भेजी थी। अभयकुमार स्वय पाटन से सघ निकालता तो राजाज्ञा अजमेर क्यो भेजता ? और अजमेर का सघ पाटन को छोडकर सीधा तीर्थों मे क्यो जाता ।

२ "स० १२८६ मे श्री जिनेश्वरसूरिजी के खम्भात जाने पर महामात्य वस्तुपाल द्वारा उनका समारोह से नगरप्रवेशोत्सव किया गया था,"

एसा लेखक लिखता है, यह भी गलत है – जिनेश्वरसूरि का नगरप्रवेशो-त्सव उनके भक्तों ने किया था और वस्तुपाल भी अपने मित्रों के साथ उसमें सम्मिलित हुए थे इतना ही गुर्वावली में लिखा है।

२ वृहद् गुर्वावली में संवत् १३५३ में मुसलमानों द्वारा पाटन का भंग होने की बात गुर्वावलीकार ने लिखी है, यह भी सुनी सुनायी झूठी अफवाह लिख दी है, पाटन का भंग १३५३ में नहीं किन्तु १३६० में हुआ था, पहले मुसलमान पाटन पर चढ़ाई कर गुजरात तरफ आये थे, सही परन्तु आबु के निकट से ही गुजराती सैन्य की मार खाकर वापस भाग गए थे। सं० १३६० तक पाटन में वाघेले सोलंकिया का ही राज्य था।

यों तो वृहद्गुर्वावली अतिशयोक्तियों, अफवाहों और कल्पित वर्णनों का खजाना है, परन्तु उन सभी बातों की चर्चा करने से कोई सारांश नहीं निकलता, जो कुछ इतिहास और वास्तविकता से विपरीत बातें प्रतीत हुई उनमें से कतिपय वृत्तान्तों की खरी समीक्षा लिखनी पड़ी है, आशा है, इसे पढ़कर पाठक गण सार ग्रहण करेंगे।

हस्तलिखित खरतर-गच्छीय पट्टावलियां

हमारे शास्त्र संग्रह मे कुछ हस्तलिखित खरतर पट्टावलिया भी हैं, जिनमे नम्बर २३२४ २३२७,२३२८,२३२६,२३३३ की पट्टावलियां खरतर-गच्छ के आचार्यो की परम्परा का प्रतिपादन करती हैं, यद्यपि इन पट्टाव-लियो में अव्यवस्थितता है, फिर भी इनमे से कुछ पट्टावलियो मे विशेप वृत्तान्त भी मिलते है, अत इन का अवलोकन लिखना प्रासगिक होगा।

पट्टावली नम्बर २३२४ – उक्त पट्टावली १५ पत्रात्मक है, इसका लेखन समय विक्रम की सत्रहवी शती का उत्तरार्ध है, लेखक ने अपना नाम नही लिखा फिर भी यह पट्टावली श्री जिनराजसूरि के समय की है, इसमे कोई शका नही। पट्टावली लेखक का निम्नांकित उल्लेख इस पट्टावली का समय सूचित करता है – **"श्री जिनचद्रसूरि अनेक अवदातकीया वृद्धाव स्थायि पातिसाहजी कनई जई षट्दर्शन मुगता कीधा, अ त समयि अणसण करी स० १६७० आसु वदि २ बोलपुरइ दिवगत थया। दिवगत हुया पछेई मुहपतो अग्निरइ विषइ साबती रही, तेहना कितराएक अवदात कहीयइ तेहनइ पाटनइ विषइ श्री जिनसिंघसूरि हूया जाणिवा, चोपडा गोत्रीय तेहना जितरा विहाडा तितरा पवाडा ते कितरा एक कहियइ, श्री सघइ दृष्टइ दीठा हुसी तेहनई पाटरइ विषयि बोहिथरा वश सिणगारहार चूडामणि समान श्री जिनराजसूरि विजयमान प्रवतइ, तेहनई पाटरइ विषइ बोहथहरा वशीय श्री जिनसागरसूरि थापी (मू० ग्र थाग्र थ ३७६ ॥छ॥) "महो उपाध्याय श्री हसप्रमोद गणि, महो उपाध्याय श्री चारित्रदत्त गणि, तत् शिष्य पडित पीयाजी, तत् शिष्य प० आणदलिपितम् ॥छ॥"**

उपयु क्त पट्टावली मे आचाय परम्परा श्री आयरक्षितसूरिजी से प्रारम्भ की है और आयरक्षितसूरि के पट्टपर आचाय श्री हरिभद्रसूरिजी को बिठाया

है, इससे इतना तो पहले से ही निश्चित हो जाता है कि पट्टावली प्रमादपूर्ण है। श्री हरिभद्रसूरि के बाद श्री शान्तिसूरि, श्री देविन्दवाचक, गोविन्द-वाचक, उमास्वातिवाचक, श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण, इस क्रम से श्रुत-धरो के नाम लिखने के बाद लेखक कहते हैं – श्री देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने वलभी नगरी मे सवसाधु सघ का सम्मेलन किया और सव-सिद्धान्त पुस्तकों मे लिखवाए भगवान् महावीर से ६८० वें वर्ष मे पुस्तक लिखे गए, श्री देवर्द्धि गणि के पट्टपर श्री शीलाङ्काचार्य हुए, जिन्होने एकादशागी पर वृत्ति बनाई, शीलाङ्काचार्य के पट्ट पर श्री देवसूरि, इनके पट्ट पर श्री नेमिचन्द्रसूरि, नेमिचन्द्र के पट्टपर श्री उद्योतनसूरि, उद्योतनसूरि के पट्टपर श्री वधमानसूरि, । वर्धमानसूरि के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि अभोहर देश मे ८४ स्थविरो की मण्डली में श्री जिनचन्द्राचार्य सव से वडे थे और जिनचन्द्राचाय के शिष्य वधमान को सिद्धान्त का अवगाहन करते ८४ आशातनाओ का अधिकार आया, तव आपने गुरु से पूछा कि चैत्य मे रहने से आशातनाए लगती हैं, इस पर से जिनचन्द्रचार्य ने दिल्ली की तरफ विचरते हुए सुविहित श्री उद्योतनसूरिजी को पत्र लिखा कि मेरा शिष्य वधमानसूरि आपकी तरफ आरहा है सो आप इसे उपसपदा देकर जिस प्रकार इसका विस्तार हो वैसा करे, मैंने अपना यह शिष्य आपको सोप दिया है। वधमान उद्योतनसूरिजो के पास गया और उन्होने योग्य जानकर अपना पट्टधर वना लिया।

वधमानसूरि के पट्ट पर जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरसूरि हुए, । एक समय जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि पाटण गए और राजा के पुरोहित के यहां ठहरे, चैत्यवासियो के साथ दुर्लभराज की सभा मे जिनेश्वरसूरि का वाद हुआ और साधुओ का 'वसति मे रहना प्रमाणित हुआ," इससे स० १०८० मे जिनेश्वरसूरि को "खरतर" विरुद दिया, तव से उनका गच्छ सुविहित" इस नाम से प्रसिद्ध हुआ और "चौरासी गच्छ" "कमल" इस नाम से प्रसिद्ध हुए।

इतिहास के जानने वालो को यह समझने मे तनिक भी देर न लगेगी कि आय रक्षित से पट्टावली की शुरुआत करवा कर उनके बाद हरिभद्र, श्री शान्तिसूरि, श्री देविन्दवाचक, गोविन्दवाचक, उमास्वातिवाचक श्री

जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण और देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के नाम लिख दिये, इन श्रुतधरो का न पट्टक्रम से सम्बन्ध है, न कालक्रम से ही, जैसे नाम याद आए वैसे ही एक के बाद एक लिख दिए। हरिभद्रसूरि के बाद के सभी श्रुतधर उनके पूववर्ती हैं, तब लेखक ने हरिभद्र को सब से पूव मे लिखा हैं। देवर्धिगणि के पट्ट पर शीलाङ्काचार्य का नाम लिखना भी इतिहास का अज्ञान ही सूचन करता है। श्री वधमानसूरि तथा इनके पूर्ववर्ती सभी आचार्यो के नाम कल्पनाबल से लिखे गए हैं, वास्तव मे यह पट्टावलो श्री वर्धमानसूरिजी से प्रारम्भ होती है, यही कहना चाहिए।

"दुलभराज की सभा मे जिनेश्वरसूरि का चैत्यवासियो के साथ वाद हुआ" यह कथन भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है, क्योकि स० १०८० के पहले ही राजा दुलभसेन् सोलकी इस दुनिया से विदा हो चुके थे। गुजरात पाटन के सोलकी राजाओ की वशावली प्राचीन शिलालेखो तथा ताम्रपत्रो के आधार से विद्वानो ने इस प्रकार तैयार की है –

(१)	मूलराज	सोलकी	इ०	९४२	से	९९७	तक
(२)	चामुण्ड	,,	,,	९९७	,,	१०१०	,,
(३)	वल्लभसेन	,,	,,	१०१०	,,	१०१०	,,
(४)	दुलभसेन	,,	,,	१०१०	,,	१०२२	,,
(५)	भीमदेव (प्रथम)	,,	,,	१०२२	,,	१०७२	,,
(६)	करण	,,	,,	१०७२	,,	१०९४	,,
(७)	सिद्धराज	,,	,,	१०९४	,,	११४३	,,
(८)	कुमारपाल	,,	,,	११४३	,,	११७४	,,
(९)	अजयपाल	,,	,,	११७४	,,	११७७	,,
(१०)	मूलराज (दूसरा)	,,	,,	११७७	,,	११७९	,,
(११)	भीमदेव (दूसरा)	,,	,,	११७९	,,	१२४१	,,
(१२)	त्रिभुवनपाल	,,	,,	१२४१	,,	१२४१	,,

उक्त वशावली मे राजा दुर्लभसेन जिसको खरतरगच्छीय लेखको ने दुर्लभराज लिखा है, इसका राजत्वकाल इ० १०१० से १०२२ तक रहा था,

इस इसवी सन् को अगर हम विक्रम सं० बना लें तो भी १०७६ के पहले ही दुलभसेन का समय पूरा हो जाता है, इस परिस्थिति मे दुलभराज के द्वारा जिनेश्वरसूरिजी को १०८० मे खरतर बिरद प्राप्त होने की वात प्रमाणित नही होती। हम इतना मान लेते हैं कि जिनेश्वरसूरि का पाटन के किसी चौलुक्य राजा की राजसभा मे चैत्यवासियो के साथ चर्चा-विवाद होकर साधुओ का वसति निवास प्रमाणित हुआ था। तथापि इस घटना से उन्हे "खरतर" विरद मिलने का कथन कल्पना मात्र ही ठहरता है, इस सम्बन्ध मे आचार्य श्री जिनदत्तसूरि निर्मित "गणधर साद्धशतक' को हमने ध्यान पूर्वक पढा है। जिनदत्तसूरिजी ने अपने इस ग्रथ मे "खरतर विरद" मिलने का कोई सूचन नही किया, विक्रम की तेरहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे निर्मित सुमतिगणि की "गणधर साद्धशतक की बृहद्वृत्ति" को भी हमने अच्छी तरह पढा है। उसमे आचार्य जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, बुद्धिसागर, जिनचन्द्रसूरि और जिनवल्लभसूरि तथा ग्रन्थकर्ता श्री जिनदत्तसूरि के सविस्तर चरित्र दिए गए हैं, चैत्यवासियो के साथ वसतिवास के सम्बन्ध मे चर्चा होने की वात सूचित की है, परन्तु किसी भी राजा द्वारा जिनेश्वरसूरि को कोई विरुद मिलने की वात नही, ऐसी कोई घटना बनी होती तो जिनदत्तसूरिजी "साद्धशतक" के मूल मे ही उसका सूचन कर देते पर ऐसा कुछ नही किया, न प्राचीन वृत्तिकार श्री सुमतिगणिजी ने ही "खरतर विरुद" की चर्चा की है इससे निश्चित होता है कि राजा द्वारा "खरतर विरुद" प्राप्त होन की बात पिछले पट्टावली लेखको की गढी हुई बुनियाद है।

श्री जिनेश्वरसूरि की परम्परा के कई विद्वान् साधुओ ने सस्कृत तथा प्राकृत भाषा मे ग्रन्थो का निर्माण किया है और उनके अन्त मे अपनी गुरु परम्परा की प्रशस्तिया भी दी हैं, जिनमे "चन्द्रकुल" का निर्देश मात्र मिलता है, कही भी "खरतर" शब्द का प्रयोग नही मिलता, जहा तक हमे ज्ञात हुआ है, "खरतर" शब्द श्री जिनदत्तसूरिजो के लिए प्रयुक्त हुआ है और वह भी इनके विरोधी साधुओ की तरफ से, जिनदत्तसूरि की प्रकृत्ति कितनी कठोर भाषी थी, यह बात इनके ग्रन्थो के पढने से जानी जाती है।

श्री जिनवल्लभ गणि की पीठ थपेड कर उन्हे पाटन मे सघ बाहर करवाया और जिनदत्तसूरि को भी उकसा कर जिनेश्वरसूरिजी के शिष्य-मडल ने उन्हे पाटन से मारवाड की तरफ विहार करवाया, जिनवल्लभ गणि ने पाटन से मेवाड की तरफ विहार करने के बाद, अपनी वाणी की उग्रता पर कुछ अकुश डाल दिया था, जो उनके बाद के बने हुए "कुलकों" पर से जाना जाता है, परन्तु जिनदत्तसूरि की उग्रता अन्त तक बनी रही, ऐसा "चचरी," "उपदेशरसायनरास," "कालस्वरूप कुलक" तथा "गणधर सार्द्धशतक उत्तराध को ७५ गाथाए" पढने से जाना जाता है। अनेक विद्वानो का कहना है कि "जिनवल्लभ के निरकुश भाषणो से पाटण गुजरात मे उन्हे सघ से बहिष्कृत होकर गुजरात छोडना पडा था,"—इस कथन मे सत्याश अवश्य है, अपने "सघपट्टक" मे जिनवल्लभ गणि ने तत्कालीन जैन सघ पर जो वचन प्रहार किये हैं वे इनके सघबहिष्कृत होने के बाद के वचन हैं, बाकी उन्होने चैत्यवासियो की कतिपय अयोग्य प्रवृत्तियो का और उनके शिथिलाचार का खण्डन अवश्य किया है। "विधिचैत्यादि" कतिपय बातें जिनवल्लभ गणि पर थोपी जाती हैं, परन्तु वास्तव मे ये अधिकाश बातें "जिनदत्तसूरिजी" इनके बाद के आचाय "जिनपतिसूरिजी" तथा "तरुणप्रभसूरिजी" आदि की चलाई हुई है, वास्तव मे जिनवल्लभ गणि के समय मे इन बातो की चर्चा तक नही चली थी। जिनवल्लभ गणि विद्वान् थे, और जिनेश्वरसूरि के कतिपय शिष्यो के उकसाने से वे चैत्यवासियो के खण्डन मे अगुआ बने थे, परन्तु जब पाटण का पूरा सघ उनके विरुद्ध हुआ और सघ बाहर का प्रस्ताव पास किया, तब से उन्हे अकेला मारवाड, मेवाड की तरफ फिरना पडा, उकसाने वाले तो क्या, उनका गुरुभाई जिनशेखर तक सघ बाहर होने के भय से साथ मे नही गया, आचार्य देवभद्र आदि कतिपय साधुओ को जिनवल्लभ गणि की तरफ पूरी सहानुभूति थी और इस सहानुभूति को चरितार्थ करने के लिए जिनवल्लभगणिजी को आचार्य पद तक देना चाहते थे, परन्तु पाटण मे जो इनके सघ बाहर का प्रस्ताव हुआ था, उसके साथ यह भी प्रकट कर दिया था कि जो कोई जिनवल्लभ गणि के साथ सम्बन्ध रखेगा उसे भी सघ बाहर समझा जायगा, इस सघ बाहर के हथियार से डरकर वर्षो तक आचार्य देवभद्र और उनकी

पार्टी जिनवल्लभ के भाव तक नही पूछ सकी, परन्तु जिनवल्लभ गणि ने पाटण मे चैत्यवासियो के सामने जो विरोध की नीव डाली थी, वह धीरे-धीरे मजबूत होती गई। आचार्य चन्द्रप्रभ तथा आचार्य आर्यरक्षित आदि ने जिनवल्लभ की नीव पर तो नही, पर अपनी नयी विरोधी भित्तियो पर चैत्यवासियो के सामने ही नही, सारे जैन सघ के सामने अपने नये विरोध खडे किये। आचार्य चन्द्रप्रभ ने प्राथमिक रूप मे साधु द्वारा जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा करने का विरोध किया और धीरे धीरे उनके अनुयायियो ने पूर्णिमा का पाक्षिक प्रतिक्रमण और भाद्रपद शुक्ल ५ को सावत्सरिक प्रतिक्रमण करने का प्रारभ किया। "महानिशीथ सूत्र" के आधार पर पहले जो "उपधान" करवाया जाता था, उस प्रवृत्ति का भी त्याग किया। आर्य रक्षितसूरि, जो अचलगच्छ-प्रवर्तक माने जाते हैं, उन्होने तो चन्द्रप्रभ से भी दो कदम आगे रक्खे, प्रचलित धार्मिक क्रिया काण्ड जो किसी न किसी सूत्र अथवा उसकी पचागी का आधार रखता था, उसे छोडकर शेष सभी परम्परागत प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया, यहा तक कि "सूत्र की पचागी द्वारा प्रतिपादित नही है," यह कह कर श्राद्धप्रतिक्रमणादि अनेक बातो का उन्होने त्याग किया, इस विरोध तथा नये गच्छो की उत्पत्ति का परिणाम यह हुआ कि पाटण का सघ-बधारण जो सैकडो वर्षो से अक्षुण्ण चला आ रहा था, छिन्न भिन्न हो गया।

सघ बधारण के विनाशक समय मे जिनवल्लभ गणि से सहानुभूति रखने वाले आचार्य देवभद्र के ग्रुप की भी हिम्मत बढी, उन्होने गुजरात से मारवाड होकर चित्रकूट की तरफ विहार किया और विक्रम स० ११६७ के आषाढ शुक्ला ६ के दिन जिनवल्लभ गणि को आचार्य बनाकर अभयदेवसूरि के पट्ट पर बिठाया।

जिनवल्लभ गणि को आचार्य बनाकर देवभद्रसूरि ने अभयदेवसूरि का पट्टधर होने की उद्घोषणा की, इसका कारण बताते हुए देवभद्र ने कहा — आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने प्रसन्नचन्द्राचार्य को एकान्त मे सूचना की थी कि समय पाकर जिनवल्लभ को मेरा पट्टधर बना देना परन्तु प्रसन्नचन्द्राचार्य का अपने जीवनकाल मे ऐसा समय नही मिला कि वे जिनवल्लभ

को आचाय पद देत, अ तिम समय मे प्रसन्नचन्द्राचार्य ने मुझे एका त मे सूचित किया था, कि मुझे गुरु महाराज की आज्ञा का पालन करने का मौका नही मिला, पर तु तुम तो जिनवल्लभ को आचाय बनाकर गुरु-महाराज की आज्ञा का पालन कर ही देना ।''

उपर्युक्त बातो मे सत्यता कहा तक होगी यह कहना तो असभव है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि का पट्टधर बनाने सम्ब धी बात मे वास्तविकता से कृत्रिमता अधिक होने का सभव प्रतीत होता है, इसके अनेक कारण ह, प्रथम तो यह कि 'खरतरगच्छ' के किसी भी पट्टावलीकार ने श्री अभयदेवसूरिजी के स्वगवास का समय तक नही लिखा, उनके अनुयायी होने का दावा करने वालो के पास अपने पूवज आचाय के स्वगवास का समय तक न हो यह क्या बताता है ? अभयदेव-सूरिजी सूत्रो के टीकाकार थे, इस कारण से अ या य गच्छ को पट्टावलियो मे उनके स्वगवास का समय सगृहीत हैं, कोई उ हे विक्रम स० ११३५ मे स्वगवासी हुआ मानते है ता दूसरे इ हें सवत् ११३९ मे परलोकवासी हुआ म नते है, पर आश्चर्य की बात तो यह है कि उक्त दोनो सवत् अ य-गच्छीय पट्टावलियो मे मिलन हैं खरतरगच्छ की किसी भी प्राचीन पट्टावली मे नही । हमारी देखी हुई और पढी हुई कोई १५ खरतरगच्छीय पट्टावलियो मे से केवल एक पट्टावली म है—जिसकी कि समालोचना हो रही है । इस भाषा की पट्टावली मे अभयदेवसूरि के स्वगवास के विषय मे निम्नलिखित शब्द दृष्टिगोचर होते है – 'श्री जिनवल्लभवाचकई प्रतिष्ठ्यउ मरोटिमाहे नेमिनाथरउ देहरउ, तिहाथकी विहार करी गुजराती श्री अभयदेवसूरि क हई आवी वाडी कह्यउ मुनइ सिद्धांत भणावाओ, तिवारई गुरे कह्यउ, तप विण वह्यो सिद्धा त भणिवा नहीं, कितराएक दिन अभयदेवसूरि कन्हइ रहि पछइ गुरु अभयदेव कहई हुनो भणावऊ जउ गुर कन्हा जई अनुमति मांगी कागल लिखावी ल्यावइ तो, अम्हारी उपसम्पदा ल्यइ तओ, गुरु कन्हई जई घणओ आग्रह माडी अनुमति लई कागल लिखावी अभय-देवसूरि क हइ आव्या अभयदेवसूरि उपसम्पदा देइ तप विहरावो, सिद्धा त भणाया, महापडित पाट जोग्य महासवेगी देवभद्राचार्य नई कह्यउ माहरउ

पाट एह जिनव लभनु देज्यो, इसग्रो कहई सवत् ११ पचायन ग्रभयदेवसूरि गुरु देवलोकि ₹हुता, भवत्रि जइ मोक्ष जासी ।।"

पट्टावली के उपयुक्त फिकरे की ग्रनक वातें "गणधर साधशतक" की वातो से विरद्ध जाती हैं, इसलिए ऐसी श्लित पट्टावली के ग्राधार से ग्रभयदेवसूरि का सत्तासमय निर्णीत करना धोखे से खाली नही, ग्रभयदेव-सूरिजी ने नवाग सूत्रो की वृत्तिया तो बनाई ही हैं ग्रोर ग्रधिकाश वृत्तियो के ग्रन्त मे उनके निर्माण समय का भी आपने निर्देश किया है, "पचाशक" ग्रादि प्राचीन प्रकरणो पर भी आपने वृत्तिया लिखी हैं, परन्तु ग्राज तक हमने ग्रभयदेवसूरिजी की किसी भी वृत्ति या टीका की प्रशस्ति विक्रम सवत् ११२८ के वाद की नही देखी । वृद्धावस्था या शारीरिक ग्रस्वस्थता के कारण साहित्यनिर्माण के कामो के लिए ग्राप ग्रशक्त हो चुके थे, उसके वाद छ सात ग्रगर दस ग्यारह वप तक जीवित रहकर स्वग प्राप्त हुए हो तो ग्र श्चर्य की वात नही है, वृद्धपौपघशालिक पट्टावली ग्रादि मे इनका स्वगवास स० ११३५ या ११३६ मे होना लिखा है, वह ठीक प्रतीत होना है ।

जिनेश्वरसूरि के समय की प्रस्तुत पट्ट वली मे जिनदत्तसूरिजी के सम्ब ध मे अनेकानेक चमत्कार की ग्रद्भुत वातें मिलती है, जिनकी सुमति-गणि की 'साद्धशतक की वडी टीका" मे सूचना तक नही है, ग्राचायश्री जिनदत्तसूरिजी की ग्रनेक कृतिया मैंने पढी हैं उनमे जाश है, लगन है, ग्रपने कार्य का दृढ ग्राग्रह है, ये सभी वात ग्रापकी धार्मिक-सशोधक वृत्ति की परिचायक हैं, परन्तु दु ख के साथ कहना पडता है कि पिछले भक्तो ने ग्रापको एक चामत्कारिक जादूगर आचार्य वनाकर ग्रापके वास्तविक जीवन को ढाकमा दिया है । भले ही ग्रनपढ ग्रौर ग्र धश्रद्धालु भक्त लोग इन वातो से ग्रापको महान् मानें परन्तु समझदार विचारको के मत से तो इस प्रकार की वात महापुरुपो के वास्तविक जीवन को ग्रतिशयोक्तियो के स्तरो मे ग्र तर्हित कर देती हैं ।

---

(२) पट्टावली नम्बर २३२७ :

यह पट्टावली वास्तव मे "गणधर साद्धशतक" की लघु टीका है, यह लघुवृत्ति ४३ पत्रात्मक है, इसके निर्माता वाचक सवराजगणि हैं कि जिनका सत्तासमय विक्रम की १५ वी शताब्दी है, वृत्तिकार ने वृत्ति के उपोद्घात मे आचाय जिनदत्तसूरिजी को अनेक प्रकार के ऐसे विशेषण दिए हैं, जो पिछले लेखको ने इनके जीवन के साथ जोड दिये है, जैसे – "भूतप्रेत-निरसन, योगिनीचक्रप्रतिबोधक, कुमागनिरसन, प्रतिवादिसिंहनादविधान श्रीत्रिभुवनगिरिदे ानियमित, प वसमयतिवारण, श्री पाश्वनाथ (नव) फण धारण, वामावतीरात्रिकस्थापन, निरस्तरागच्छद्गच्छयान, सुरासुरविर-चिताधिसेवन, इत्यादि विशेषणो मे अधिकाश विशेषण ऐसे हैं, जो बृहद् वृत्ति मे नही हैं, इससे यह प्रमाणित होता है कि या तो यह लघुवृत्ति बृहद्वृत्ति का अनुसरण करने वाली नही है, यदि यह शब्दश बृहद्वृत्ति का अनुसरण करती है तो इसके उपोद्घात को किसी अर्वाचीन विद्वान् ने विगाडकर वतमानरूप दे दिया है, इस प्रकार की प्रवृत्तिया खरतरगच्छ की पट्टावलियो मे होना अस्वाभाविक नहीं, कुछ वर्षो पहले इसी लघुवृत्ति को हमने मुद्रित अवस्था में पढा था, जिसम यह छपा हुआ था कि "अणहिल पाटण के राजा दुलभराज ने श्री जिनेश्वरसूरिजी को चैत्यवासियो को जीतने के उपलक्ष्य मे 'खरतर" विरुद प्रदान किया था वही लघुवृत्ति हमारे पास हस्तलिखित है और इसके कर्त्ता भी वाचक सवराज गणि हैं, परन्तु इस लघुवृत्ति की हस्तलिखित वृत्ति मे "खरतर विरुद' देने की बात कही नही मिलती और न उपोद्घात छोडकर जिनदत्तसूरि के जीवन मे किसी चम-त्कार की बात का ही उल्लेख मिलता है। आज तक हमने खरतरगच्छ से सम्बन्ध रखने वाले सकडो शिलालेखो तथा मूर्तिलेखो को पढ़ा है, परन्तु ऐसा एक भी लेख दृष्टिगोचर नही हुआ, जो विक्रम की १४ वी शती के पूव का हो और उसमे "खरतर" अथवा "खरतरगच्छ" नाम उत्कीर्ण हो, इससे जाना जाता है कि "खरतर" यह "शब्द" पहले गच्छ के अर्थ मे प्रयुक्त नही होता था। "जिनदत्तसूरि" के कठोर भाषी स्वभाव के कारण उनके विरोधी जिनदत्तसूरि के लिए "खरतर" यह शब्द प्रयोग मे लाते थे, तब

जिनदत्तसूरि और इनके अनुयायी विरोधियों को "कोमल" इस नाम से सम्बोधित करते थे, आगे जाते गच्छ वाले किसी न किसी गच्छ के नाम से अपनी परम्परा को प्रसिद्ध करने लगे, तब जिनदत्तसूरि तथा जिनकुशलसूरि के अनुयायियों ने भी अपने नाम के साथ "खरतर" शब्द का "गच्छ" के अर्थ में प्रयोग करना प्रारम्भ किया और पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भ तक उसका पर्याप्त प्रचार हो गया।

"सार्द्धशतक" की लघुवृत्ति में जिनेश्वरसूरि का चैत्यवासियों के साथ विवाद होने का विवरण दिया गया है, किन्तु दुलभराज द्वारा खरतर विरुद प्राप्त होने का सूचन तक नहीं दिया गया, इससे प्रमाणित होता है कि वाचक सर्वराज गणि के समय तक "खरतरगच्छ" यह नाम गच्छ के अर्थ में प्रचलित नहीं हुआ था। लघुवृत्ति के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण देने के बाद अब हम "गणधर सार्द्धशतक" के निरूपण के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

'गणधर सार्द्धशतक" नाम के अनुसार १५० गाथाओं का एक प्राकृत-भाषामय प्रकरण है। इसके कर्त्ता आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी हैं। आपने यह प्रकरण आचार्य पद प्राप्त होने के बाद तुरन्त बनाया मालूम होता है। यही कारण है कि प्रकरण के अन्त में "जिनदत्त' और "सोमचन्द्र" इन दोनों नामों का निर्देश किया है। कुछ भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि यह 'सार्द्धशतक" आपने पूर्वाचार्यों की स्तुति के रूप में निर्मित किया है न कि परम्पराप्रतिपादन के भाव से। यही कारण है कि इसमें परम्परा का हिसाब न रख कर सभी प्रसिद्ध श्रुतधरों की स्तुति की है, जिसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है

प्रारम्भ में ऋषभदेव तीर्थङ्कर के प्रथम गणधर ऋषभसेन से लगा कर अजितादि चौबीस तीर्थङ्करों के गणधरों की स्मृति में ५ गाथाएं लिखी हैं, फिर दो गाथाओं में महावीर के पंचम गणधर सुधर्मा की स्तुति की है। सुधर्मा के बाद जम्बू स्वामी, प्रभवस्वामी, शय्यम्भवसूरि, यशोभद्रसूरि, सम्भूतविजयसूरि और भद्रबाहु स्वामी की क्रमशः सात गाथाओं में स्तवना

की है, फिर आ.य स्थूलभद्र की प्रशसा की पाच गाथाए लिखी हैं और उनके शिष्यद्वय आय महागिरि तथा सुहस्तीसूरि को दो गाथाओ मे याद कर आय समुद्र, आय मगु और आय धम नामक तीन युगप्रधानो को एक गाथा से नमस्कार किया है, फिर एक गाथा से युगप्रधान श्री भद्रगुप्त को व दन करके साढे चौदह गाथाओ मे वज्रस्वामी का वृत्ता त लिखा है और इसके बाद अक्रमप्राप्त युगप्रधान श्री आयरक्षितजी की दश (१०) गाथाओ मे स्तवना की है। इसके उपरान्त दो गाथाओ से सामान्य युगप्रधानो का शरण स्वीकार करके दो गाथाओ से श्री उमास्वाति वाचक को व दन कर आठ गाथाओ मे याकिनी महत्तरा धमपुत्र श्री हरिभद्रसूरि की प्रशसा की है। हरिभद्र के सम्ब ध मे उस समय तक द तकथा प्रचलित थी कि वे च.यवासी आचार्यो द्वारा दीक्षित और शिक्षित हुए थे। इस दन्तकथा का आपने निम्नलिखित गाथा से खण्डन किया है– वह गाथा यह है –

"जपइ केई समनाम – भोलिया भोलिथाइ जपति।
चीवासी दिक्खिओ सिक्खिओ य गीय.ए त न मय ॥"

उपर्युक्त गाथा मे आचार्य कहते हैं – नामसाम्य की भ्रान्ति मे पड कर कई भोले विद्वान् असत्य कहते हैं कि हरिभद्रसूरि चैत्यवासियो मे दीक्षित हुए थे और उ्ही के पास शिक्षित हुए थे, परन्तु यह कथन गीताथ-सम्मत नही है।

हरिभद्रसूरि के सम्ब ध मे आचाय जिनदत्तसूरिजी कहते है– हरिभद्रसूरि जिनभटसूरि के शिष्य थे और युगप्रधान जिनदत्तप्रभु के पास सूत्राथ का अनुयोग लेने वाले थे। ग्र थकार के उक्त कथन से हमारा मतभेद है, क्योकि आचार्य हरिभद्रसूरिजी स्वय अपने आपको जिनदत्तसूरि का शिष्य और जिनभटसूरि का आज्ञाकारी लिखते हैं, इसका तात्पय यही हो सकता है कि हरिभद्रसूरि के दीक्षा-गुरु जिनदत्तसूरि थे और वे जिनभटसूरि की आज्ञा मे रहते थे।

यहा पर लघुवृत्तिकार ने हरिभद्रसूरिजी को चतुर्दशशत प्रकरणकार लिखा है और उनके प्रकरणो तथा कतिपय टीकाग्र थो का नामनिर्देश किया है जो इस प्रकार है –

"पचवस्तुक, उपदेशपद, पचाशक अष्टक, षोडशक, लोकतत्वनिर्णय, धर्मबिन्दु, लोकबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, दर्शनसप्ततिका, नानाचित्रक, बृहन्मिथ्यात्वमथन, पचसूत्रक, सस्कृतात्मानुशासन, सस्कृत चैत्यवन्दनभाष्य, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेशक, परलोकसिद्धि, धर्मलाभसिद्धि, शास्त्रवार्तासमुच्चय, आवश्यकवृत्ति, दशवैकालिक बृहद्वृत्ति, दशवैकालिक लघुवृत्ति, पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति, जीवाभिगमवृत्ति, प्रज्ञापनोपाङ्गवृत्ति, पचवस्तुकवृत्ति, क्षेत्रसमासवृत्ति, शास्त्रवार्तासमुच्चयवृत्ति, अर्हद्श्रीचूडामणि, समरादित्य चरित्र, यशाकोश।"

आचार्य हरिभद्रसूरि के बाद सार्द्धशतककार ने आचाराग टीकाकार श्री शीलाङ्काचार्य की प्रशसा करने के उपरान्त सामान्य युगप्रधान गणधरो को प्रणाम किया है, उसके बाद देवाचार्य, नेमिचन्द्र और उद्योतनसूरि गुरु के पारतन्त्र्यगमन का निर्देश किया है, फिर श्री वर्धमानसूरि के चैत्यवास त्यागने और वसतिवास ग्रहण करने की बात कही है। इसके बाद १३ गाथाओ मे वसतिवास के उद्धारक युगप्रधान श्री जिनेश्वरसूरिजी की प्रशसा की है। जिनेश्वरसूरिजी को वर्धमानसूरिजी का शिष्य लिखा है, अणहिलवाड मे चैत्यवासियो के साथ शास्त्रार्थ करने के सम्बन्ध का तीन गाथाओं मे निम्न प्रकार से वर्णन किया है –

"अणहिल्लवाडए नाडइव्व दसिअसुपत्तसदोहे ।
पउरपए बहुकविदूसगेवे नायगाणुगए ॥ ६५ ॥

सड्ढियदुल्लहराए, सरसइअकोवसोहिए सुहए ।
मज्झे रायसह पविसिऊण लोयागमाणुमय ॥६६॥

नामायरिएहिं सम, करिय वियार वियाररहिएहिं।
वसहिनिवासो साहूण, ठाविओ ठाविओ अप्पा ॥६७॥"

अर्थात् – अणहिल्ल पाटक (पाटण) नगर मे श्रद्धावान् श्री दुर्लभराज की सभा मे नामाचार्यों (चैत्यवासियो) के साथ विचार करके श्री जिनेश्वरसूरिजी ने साधुओ के लिए वसतिवास को प्रतिष्ठित किया।

उपर्युक्त तीन गाथाओ मे साद्धशतककार श्री जिनदत्तसूरिजी ने चैत्यवासियो के साथ जिनेश्वरसूरिजी का शास्त्रार्थ होने और वसतिवास का प्रमाणित होना बडी खूबी के साथ बताया है, परन्तु राजा की तरफ से जिनेश्वरसूरिजी को "खरतर विरुद" मिलने का सूचन तक नही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिनदत्तसूरिजी के "गणधर सार्द्धशतक" का निर्माण हुआ तब तक "खरतर" नाम व्यवहार मे आया नही था, अन्यथा जिनदत्तसूरिजी इसका सूचना किये विना नही रहते। हरिभद्रसूरिजी के सम्बन्ध मे उनके चैत्यवासी होने की दन्तकथा का खण्डन करने के लिए आप तैयार हो गए हैं तो जिनेश्वरसूरि को राजसभा मे "खरतर विरुद" मिलने की वे चर्चा न करे, यह बात मानने काबिल नही है।

जिनेश्वरसूरिजी के बाद "साद्धशतक" मे श्री जिनचन्द्रसूरिजी का नम्बर आता है, जिनचन्द्रसूरि द्वारा अठारह हजार श्लोक[१] परिमाण 'सवेगरगशाला" कथा बनाने का निर्देश किया है, फिर अभयदेवसूरि का वर्णन दिया है और जिनवल्लभ गणि के आने, अभयदेवसूरि के पास सिद्धान्त पढने और अपने पूर्व गुरु जिनेश्वराचार्य से मिलकर फिर अभयदेवसूरि के पास आकर उनसे उपसम्पदा लेने की बात कही है।

आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने अपने पट्ट पर श्री वर्धमानसूरि को बैठने की बात भी लघुवृत्तिकार ने लिखी है, बाकी जिनदत्तसूरिजी ने "साद्धशतक" मे अपने परिचित और उपकारक आचार्यों, उपाध्यायो की प्रशसा करके "साद्धशतक" की १०० गाथाए पूरी की है — इसके बाद की ५० गाथाएँ लेखक ने अपने अनुयायियो की चैत्यवासियो से रक्षा करने तथा चैत्यवासियो के खण्डन मे पूरी की हैं।

हमने "गणधर साद्ध शतक" को खरतर पट्टावली का नाम इसलिए दिया है कि इसका लगभग आधा भाग खरतर-गच्छ के मान्य पुरुषो की

१ "गणधर साद्धशतक टीकाकार श्री सवराजगणि ने 'सवेगरगशाला का श्लोक-परिमाण अठारह हजार लिखा है जो ठीक नही जान पडता। "सवेगरगशाला' का श्लोक परिमाण १० हजार ७५ श्लोक है।

प्रशसा मे पूरा हुआ है। वास्तव मे इसको पट्टावली कहने के बजाय "गणधर स्तुति" कहना अधिक उपयुक्त है।

(३) पट्टावली नम्बर २३२८ :

उपयु क्त पट्टावली सस्कृत भाषा मे ६ पद्यात्मक हैं, इसके कर्त्ता समयसुन्दर गणि हैं, लेखक का मगलाचरण निम्न प्रकार से है –

"गोतमादिगुरून्नत्वा गणि समयसुन्दर ।
वक्ति गुर्वावली-ग्रन्थ गच्छे खरतराभिधे ॥१॥

इसके बाद गणि समयसुन्दरजी ने भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य गोतम स्वामी और प्रथम गणधर सुधर्मास्वामी का समय लिखा है, उनके समय की थोडी-थोडी जानकारी भी लिखी है, सुधर्म के बाद जम्बू, प्रभव, शय्यम्भवसूरि, यशोभद्रसूरि, आचार्य सभूतविजय, आर्य भद्रबाहु के नाम तथा इनके समय का परिचय दिया है। भद्रबाहु के पट्टधर स्थूलभद्र, स्थूलभद्र के बाद पट्टावली मे आर्य सभूतहस्तिसूरि नाम लिखा है, जो यथार्थ नही, आर्य सुहस्तीसूरि चाहिए, आर्य सुहस्ती के बाद श्री सुस्थितसूरि, उसके बाद इन्द्रदिन्नसूरि, इन्द्रदिन्न के बाद श्री दिन्नसूरि और श्री दिन्न के बाद सिंहगिरिजी का नाम उल्लिखित है।

यहा पर महावीर निर्वाण से ५०० वर्ष के बाद श्री वज्रस्वामी का जन्म बताया है। वज्रस्वामी के चार शिष्यो मे नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति, विद्याधर नामक चार शाखाओ का निकलना लिखा है, वीर निर्वाण के बाद ५४४ मे "जटाधर मत[1]" निकलने का उल्लेख किया है, वीर निर्वाण से ६८६ मे दिगम्बर मत निकलने का लिखा है जो ठीक नही। दिगम्बर मत ६०६ मे निकला था। श्री वज्रस्वामी के पट्ट पर आचार्य वज्रसेन बैठे थे यह १५ पट्टो का अनुक्रम कल्पसूत्र के अनुसार है, इसके बाद श्री चन्द्रसूरि

१ राहगुप्त की त्रैराशिक प्ररूपणा के परिणाम स्वरूप वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति हुई थी उसी वैशेषिक दर्शन के सन्यासियो का यहा जटाधर कहा है।

१६, समन्तभद्रसूरि १७, वृद्धदेवसूरि १८, प्रद्योतनसूरि १९, श्री मानदेवसूरि २०, श्री देवेन्द्रसूरि २१, श्री मानतुंगसूरि २२, श्री वीरसूरि २३, श्री जयदेवसूरि २४, श्री देवान दसूरि २५, श्री विक्रमसूरि २६, श्री नरसिंहसूरि २७, श्री समुद्रसूरि २८, श्री मानदेवसूरि २९, श्री विबुधप्रभसूरि ३०, श्री जयान दसूरि ३१, श्री रविप्रभसूरि ३२, श्री यशोभद्रसूरि ३३, श्री जिनभद्रसूरि ३४, श्री हरिभद्रसूरि ३५, श्री देवसूरि ३६, श्री नेमिचन्द्रसूरि ३७, सुविहितचूडामणि उद्योतनसूरि ३८, श्री उद्योतनसूरि के पट्ट पर वधमानसूरि ३९ हुए, श्री वधमानसूरि के पट्ट पर श्री जिनेश्वरसूरि जिन्होने अणहिल पत्तन मे दुलभराज-सभा मे सं० १०८० मे "खरतर" विरुद प्राप्त किया, जिनेश्वरसूरि के पट्ट पर श्री जिनच द्रसूरि हुए जिन्होने "सवेगरगशाला" ग्र थ वनाया और मोजदीन पिञ्जर को दिल्ली के राज्य का भविष्य कथन किया था जो सही उतरा।

श्री जिनच द्रसूरि के पट्ट पर अभयदेवसूरि हुए, व्याख्यान मे षड्रसो का पोषण करने से गुरु ने प्रायश्चित्त के रूप मे छ महीने तक आचामाम्ल करने का दण्ड दिया, जिससे उनके शरीर मे कुष्ठ रोग की उत्पत्ति हुई, स्तम्भनक पार्श्वनाथ मूर्ति प्रकटन, नवागी वृत्तिकरणादि सम्ब ध स्वय समझ लेने चाहिए, अ त मे कपडवज नगर मे अनशन द्वारा शरीर छोडकर चौथे देवलोक गए।

श्री अभयदेवसूरि के पट्ट पर जिनवल्लभसूरिजी हुए जो पूर्वावस्था मे कूचपुरीय जिनेश्वरसूरिजी के शिष्य थे, बाद श्री अभयदेवसूरिजी के पास उपसम्पदा लेकर उनके शिष्य हुए।

आचाय अभयदेवसूरिजी जिनवल्लभ को अपना पट्टधर बनाना चाहते थे, पर न्तु परगच्छीय को कसे पट्ट दिया, इस प्रकार के लोकापवाद से डरते हुए वे उसे पट्ट नही दे सके और अपने शिष्य प्रसन्नच द्राचाय को पट्ट देने का कह गए।

प्रसन्नच द्राचाय ने देवभद्राचाय को जिनवल्लभ को पट्टधर बनाने की सूचना की, उसके बाद बारह वष तक देवभद्राचाय ने गच्छ का भार

चलाया, फिर स० ११६७ के वर्ष मे आचार्य देवभद्र ने श्री जिनवल्लभ गणि को अभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थापित किया, परन्तु छ मास के बाद जिनवल्लभसूरि वही पर देवगत हुए।

इस समय मे खरतरगच्छ मे 'मधुकरा शाखा' निकली। श्री जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर श्री जिनदत्त हुए, जिनदत्त का पूर्व नाम सोमचन्द्र था और वे "जयदेव[1] उपाध्याय" के शिष्य थे तथा धन्धूका मे इनका जन्म और धन्धूका में ही स० ११४१ मे दीक्षा हुई थी। सवत् ११६९ मे वैशाख वदि ६ के दिन श्री देवभद्राचार्य के द्वारा ये चित्तौड मे जिनवल्लभसूरि के पद पर प्रतिष्ठित हुए।

श्री जिनवल्लभसूरि द्वारा समुदाय से निष्कासित किसी साधु को फिर गच्छ मे लेने के अपराध मे १३ आचार्यों ने मिलकर श्री जिनदत्तसूरि को अपने गच्छ से बहिष्कृत कर दिया।

जिनदत्तसूरि तीन वर्ष के लिए वहा से चले गए थे। उसके बाद पट्टावलीकार ने जिनदत्तसूरि को एक चमत्कारमूर्ति बना दिया है जो उनके जीवन के वास्तविक स्तर को ढाक देता है।

जिनदत्तसूरिजी ने कुल १५०० साधु और ७०० साध्वियो को दीक्षित किया, ऐसा लिखा हुआ है, परन्तु "चर्चरी" "उपदेशरसायन" और "कालस्वरूप कुलक" आदि इनकी खुद की कृतियो को पढने से परिस्थिति इससे बिल्कुल विपरीत ज्ञात होती है।

पट्टावली मे जिनदत्तसूरि के परकायप्रवेश की बात लिखी है, जो निराधार है। जिनके साथ परकायप्रवेश विद्या का सम्बन्ध है वे जिनदत्तसूरि वायट गच्छीय थे, यह बात प्रभावकचरित्रादि प्राचीन ग्रन्थो से जानी जा सकती है।

---

१ गणधर सार्द्धशतक की लघुटीका में सर्वराजगणि ने सोमचन्द्र के गुरु का नाम धर्मदेव उपाध्याय और जन्म स्थान का नाम 'धवलक' लिखा है।

जिनदत्तसूरिजी १२११ के आषाढ सुदि ११ के दिन अनशन करके अजमेर मे स्वर्गवासी हुए थे। जिनदत्तसूरि के समय दर्म्यान स० १२०५ में श्री जिनशेखरसूरि से 'रुद्रपल्लीय खरतर-गच्छ" निकला। जिनदत्तसूरिजी के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए। जिनचन्द्रसूरि का जन्म ११९७ मे, दीक्षा सवत् १२०३ मे, पट्ट स्थापना १२०५ मे जिनदत्तसूरि द्वारा हुई थी और स० १२३३ मे इनका स्वगवास हुआ।

यहा से प्रत्येक चतुर्थ पट्टधराचार्य का नाम "जिनचन्द्र" देने की पद्धति चली। श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनपतिसूरि हुए, जिन्होंने खरतरगच्छ-सामाचारी स्थापित की। स० १२७७ मे श्री जिनपतिसूरिजी स्वगवासी हुए, जिनपतिसूरि के पट्ट पर श्री जिनेश्वरसूरि बैठे। इनके समय मे श्री जिनसिंहसूरि से लघु खरतरगच्छ उत्पन्न हुआ, जिनेश्वरसूरि के पट्ट पर जिनप्रबोधसूरि हुए, जिनेश्वरसूरि ने इन्हें आचार्य पद दिया था। स० १३४१ मे आप स्वगवासी हुए थे। जिनप्रबोधसूरि के पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि हुए, जिनकी दीक्षा १३३२ मे श्री जालोर नगर मे हुई थी। सवत् १३४७ मे जालोर मे ही स्वगवासी हुए, श्री जिनचन्द्रसूरि के पद पर श्रीजिनकुशलसूरि हुए, जिनका जन्म सवत् १३३७ मे हुआ था। १३४७ मे दीक्षा, १३७७ मे आचार्य पद और १३८९ मे आप स्वर्गवासी हुए। जिनकुशलसूरि के पट्ट पर स० १३९० मे श्री जिनपद्मसूरि को श्री तरुणप्रभाचार्य द्वारा आठ वर्ष की उम्र मे आचार्य पद दिया गया। स० १४०० के वैशाख सुदि १४ के दिन किसी के छलने से पाटण मे आपका स्वगवास हुआ, श्री जिनपद्मसूरि के पट्ट पर श्री जिनलब्धिसूरि हुए, आपको भी सवत् १४०० में तरुणप्रभाचार्य ने सूरि-पद दिया, स० १४१६ के वर्ष मे आप स्वर्गवासी हुए, जिनलब्धिसूरि के पट्ट पर श्री जिनोदयसूरि हुए, आप भी स० १४१५ मे तरुणप्रभाचार्य द्वारा सूरि-पद पर आरूढ़ हुए, स० १४३२ मे आपने पाटण मे स्वगवास प्राप्त किया। श्री जिनोदयसूरि के पट्ट पर श्री जिनराजसूरि हुए, जिनराजसूरि को स० १४३३ मे पत्तन में श्री लोकहितसूरि ने सूरि-पद दिया, जिनराजसूरि ने श्री स्वर्णप्रभाचार्य, श्री भुवनरत्नाचार्य और श्री सागरचन्द्राचार्य को आचार्य पद पर स्थापित

क्रिया और स० १४६१ मे देलवाडा मे स्वगवास प्राप्त किया, श्री जिनराजसूरि के पट्ट पर श्री जिनवधनसूरि हुए ।

जिनवर्धनसूरि –

जिनवधनसूरि को सवत् १४६१ मे सागरचन्द्रसूरि ने आचार्य पद पर स्थापित किया, यहा खरतरगच्छ मे एक नया फाट पडा । जिनवधनसूरि से सवत् १४६१ मे "पीपलिया" खरतरगच्छ उत्पन्न हुआ, तव श्री सागरचन्द्रसूरि ने स० १४७५ के वप मे श्री जिनभद्रसूरि को आचाय-पद पर स्थापित किया ।

जिनभद्रसूरि -

जिनप्रभसूरि ने भावप्रभाचाय, कीर्तिरत्नसूरि प्रमुख अनेक अचार्य वनाये, स्थान-स्थान पर पुस्तक लिखवाकर भण्डागार स्थापित करवाए, स० १५१४ मे जिनभद्रसूरि ने श्री कुम्भलमेर मे स्वगवास प्राप्त किया,

श्री जिनचन्द्रसूरि –

श्री जिनभद्रसूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए जो १५१५ मे जिनकीर्तिसूरि द्वारा आचार्य वने और धमरत्नसूरि, गुणरत्नसूरि आदि को आचाय पद पर विठाया, स० १५३७ मे जिनचन्द्रसूरि का जैसलमेर मे स्वर्गवास हुआ ।

श्री जिनसमुद्रसूरि –

श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनसमुद्रसूरि हुए, इनकी दीक्षा स० १५२१ मे और पदस्थापना १५३३ मे जिनचन्द्रसूरि द्वारा हुई, आप स० १५५५ मे अहमदावाद मे परलोकवासी हुए ।

श्री जिनहंससूरि –

श्री जिनसमुद्रसूरि के पट्ट पर जिनहससूरि हुए, इनका जन्म सवत् १५२४, दीक्षा स० १५३५ मे और आचार्य-पद १५५६ में शान्तिसागर द्वारा हुआ, स० १५८२ मे जिनहस पाटण मे स्वर्गवासी हुए, इनके समय मे स० १५६३ मे शान्तिसागर द्वारा "आचार्यीय" गच्छ की उत्पत्ति हुई ।

श्री जिनमाणिक्यसूरि –

श्री जिनहससरि के पट्ट पर श्री जिनमाणिक्यसूरि हुए, जिनमाणिक्य को श्री जिनहससूरि ने स० १५८२ मे आचाय पद दिया, स० १६१२ में जिनमाणिक्यसूरि स्वर्गवासी हुए।

श्री जिनचन्द्रसूरि युग-प्रधान –

श्री जिनमाणिक्यसूरि के पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि युगप्रधान हुए, इनका जन्म स० १५९५ मे हुआ था और स० १६१२ मे जैसलमेर वेगडा भट्टारक श्री गुणप्रभसूरि ने इ हें आचार्य पद दिया था। जिनचन्द्रसूरि ने क्रियोद्धार किया था, इनके प्रथम शिष्य का नाम सकलचन्द्र था, इन्होने अकबर बादशाह द्वारा आषाढ महीने की अष्टाहिका के दिनो मे जीवदया का फर्मान निकलवाया था। जिनचन्द्र ने अपना गच्छ जिनसिंहसूरि को सौंप कर स० १६७० मे परलोक प्राप्त किया।

श्री जिनसिंहसूरि –

जिनचन्द्र के पट्ट पर जिनसिंहसूरि हुए, जिनसिंह का जन्म १६१५ मे और दीक्षा १६२३ मे हुई थी, स० १६४९ मे लाहोर मे आपको सूरि-पद प्राप्त हुआ था, स० १६७० मे विलाडा नगर मे मि० सु० १० के दिन भट्टारक पद मिला और स० १६७४ मे मेडता मे आप परलोकवासी हुए।

श्री जिनसागरसूरि –

श्री जिनसिंहसूरि के पट्ट पर जिनसागरसूरि हुए, इनकी दीक्षा १६६१ मे और भट्टारक-पद १६७४ मे मेडता मे हुआ था। जिनराजसूरि द्वारा स० १६८६ के वष मे किसी दुजन ने विषप्रयोग की मिथ्यावार्ता चलाई, जिसके परिणामस्वरूप गच्छ में फूट पडी, फिर भी आपकी मान्यता सवत्र होती रही, स० १७२० में आपका अहमदाबाद मे स्वगवास हुआ।

श्री जिनधर्मसूरि –

जिनसागर के पट्ट पर श्री जिनधमसूरि हुए, जिनधमसूरि को सं० १७०८ मे अहमदाबाद मे जिनसागरसूरि ने दीक्षा दी। और स० १७११ मे

अहमदावाद मे श्री जिनसागरसूरि द्वारा आचार्य-पद दिया गया और गुरु-महाराज दिवगत हो जाने के कारण स० १७२० मे श्री बीकानेर मे स्वय ने भट्टारक-पद प्राप्त किया। स० १७४७ मे लूणकरणसर मे आपका देहान्त हुआ।

श्री जिनचन्द्रसूरि –

जिनधमसूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए, जिनचन्द्र को १७४६ मे लूणकरण मे भट्टारक पद प्राप्त हुआ, स० १७६४ मे बीकानेर मे जिन-चन्द्रसूरि स्वगवासी हुए।

श्री जिनविजयसूरि –

जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनविजयसूरि हुए, आपको स० १७८५ मे श्री बीकानेर मे जिनचन्द्रसूरि ने आचाय पद दिया, उनकी आज्ञा मे श्री सघ प्रवृत्ति कर रहा है।

(४) पट्टावली न० २३२६ :

यह पट्टावली २६ पद्यात्मक सस्कृत भाषा मे लिखी हुई है, इसके लेखक ने इसका नाम पट्टावली न रखकर गुर्वावली रक्खा है, यह पट्टावली विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे आचार्य श्री जिनमहेन्द्रसूरि के समय मे बनी हुई है, हमारे पास वाली प्रति का लेखनकाल स० १६१७ है, कही कही विस्तृत प्रसग भी इसमे लिखे गए है, फिर भी सामान्य रूप मे यह "गुर्वावली" खरतरगच्छीय अन्य पट्टावलियो से मिलती जुलती है, इसके सम्बन्ध मे हम विशेष विवरण न देकर पट्टधरो की नामावलिया तथा उनका यथोपलब्ध समय देकर ही इसका अवलोकन पूरा कर देगे।

पट्टावली का मगलाचरण निम्न प्रकार से है –

"प्रणिपत्य जगन्नाथ, वर्धमान जिनेश्वरम् ।
गुरूणा नामधेयानि, लिख्यन्ते स्वविशुद्धये ॥१॥"

भगवान् महावीर चतुर्थारक के तीन वष और साढे आठ मास शेष रहे तब कार्तिकी अमावस्या को मुक्ति प्राप्त हुए।

महावीर के पट्ट पर इन्द्रभूति गौतम वीर निर्वाण से १२ वष के बाद मोक्ष, गौतम स्वामी की परम्परा आगे नही वढी इसलिए ये पट्टधरो मे नही गिने जाते।

(१) महावीर के पट्ट पर सुधमस्वामी, जिननिर्वाण से २० वष के बाद मुक्ति।

(२) जम्बूस्वामी जिननिर्वाण से ६४ वष के बाद मुक्ति प्राप्त हुए।

(३) प्रभवस्वामी वीरात् ७५ वर्षे स्वर्ग प्राप्ति।

(४) शय्यम्भवसूरि वीरात् ६८ वर्षे स्वग गमन।

(५) श्री यशोभद्रसूरि का वीरात् १४८ वर्षे स्वर्ग गमन।

(६) सभूतविजय का वीरात् १६५ वर्षे स्वर्गवास।

(७) भद्रबाहु स्वामी वीरात् १७० वर्षे परलोकगमन।

(८) स्थूलभद्र स्वामी वीरात् २१६ वर्षे स्वर्गवास।

(९) आय महागिरि-वीरात् २४६ वर्षे स्वर्गवास।

(१०) आय सुहस्ती-वीरात् २६५ वर्षे स्वर्गवास।

(११) सुस्थितसूरि-वीरात् ३४३ वष के वाद स्वर्ग। इन्ही से हमारा सम्प्रदाय कोटिकगच्छ कहलाया।

(१२) श्री इन्द्रदिन्नसूरि, (१३) श्री दिन्नसूरि (१४) श्री सिंहगिरि, इस समय मे आचार्य पादलिप्तसूरि, वृद्धवादिसूरि, तथा सिद्धसेन दिवाकर हुए।

(१५) श्री वज्रस्वामी का जन्म वीरात् ४६६ मे, निर्वाण से ५८४ मे स्वगवास।

(१६) वज्रसेनाचाय-नागेन्द्र, चन्द्र, निवृ ति, विद्याधर को दीक्षा और कुलो की उत्पत्ति।

(१७) श्री चन्द्रसूरि – इस समय मे आयरक्षित युगप्रधान हुए।

(१८) समन्तभद्रसूरि – (वनवासी)

(१६) श्री वृद्धदेवसूरि (२०) प्रद्योतनसूरि (२१) मानदेवसूरि (शान्ति-स्तव कर्त्ता)

(२२) मानतु गसूरि (भक्तामर कर्त्ता)

(२३) वीरसूरि, इस समय के दर्म्यान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हुए जिन्होने ६८० मे वलभी नगरी मे सर्यान्द्धात लिखवाए, इसी समय मे श्री कालकाचार्य, जिन्होने भाद्रपद शुक्ल ५ से चतुर्थी पर्युषणा पर्व किया, यह घटना वीर निर्वाण से ६६३ मे बनी। इसके पहले दो कालकाचार्य और हुए, प्रथम श्यामाचाय जो ३७६ मे, द्वितीय गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचाय वीर से ४५३ मे, फिर इसी समय के भीतर श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (विशेषावश्यक भाष्य कर्त्ता) हुए, जिनके शिष्य शीलाङ्काचार्य ने आचाराग और सूत्रकृताग की वृत्ति बनाई और इसी समय के लगभग प्रसिद्ध श्रुतधर हरिभद्रसूरि हुए।

(२४) श्री जयदेवसूरि, (२५) देवानन्दसूरि, (२६) विक्रमसूरि, (२७) नरसिंहसूरि, (२८) समुद्रसूरि, (२९) मानदेवसूरि, (३०) विबुधप्रभसूरि, (३१) जयानन्दसूरि, (३२) रविप्रभ, (३३) यशोभद्र (३४) विमलचन्द्रसूरि।

(३५) श्री देवसूरि, इनके सुविहित मार्गाचरण से सुविधि गच्छ ऐसी प्रसिद्धि हुई।

(३६) श्री नमिचन्द्रसूरि

(३७) श्री उद्योतनसूरि – इनसे चौरासी गच्छो की उत्पत्ति हुई।

(३८) वधमानसूरि। (३९) जिनेश्वरसूरि बुद्धिसागरसूरि 'जिनेश्वरसूरि-मुद्दिश्य।तिखरा एते इति राज्ञा प्रोक्त तत एव "खरतर-विरुद" लब्ध, तथा चैत्यवासिना हि पराजयप्रापणात् "कुवला' इति नामधेय प्राप्ता एव च सुविहितपक्षधारका जिनेश्वरसूरयो विक्रमत १००० वर्षे "खरतर" विरुद-धारका जाता।"

पट्टावली के उपयुक्त फिकरे मे राजा दुर्लभ द्वारा जिनेश्वरसूरि को "अतिखर" और इनके सामने चर्चा करने वालो को 'कोमल' कहलाया है।

इन शब्दो से यही अर्थ निकलता है कि जिनेश्वरसूरि ने वसतिवास का निर्भयतापूर्वक प्रतिपादन किया, तब चैत्यवासियो ने इनके मुकाबिले मे चैत्यवास का प्रतिपादन कोमलतापूर्वक किया, इस शब्दप्रयोगो से विरुद्ध प्रदान मान लेना यौक्तिक नही माना जा सकता है।

(४०) जिनचन्द्रसूरि (४१) अभयदेवसूरि

एक समय मे आचार्य पद प्राप्त करने के बाद आचार्यश्री अभयदेवसूरिजी ने नव रसो का पोषण किया, जिसे सुनकर सभा आनंदित हुई, परन्तु गुरु ने उन्हे उपालम्भ दिया, तब अभयदेवसूरिजी ने आत्मशुद्धचर्थ प्रायश्चित्त मागा और गुरु ने १२ वर्ष तक आचामाम्ल व्रत करने का आदेश दिया[१] अभयदेवसूरिजी ने गुरु का वचन स्वीकृत करके छः ही विकृतियो का त्याग किया, परिणाम स्वरूप उनके शरीर मे गलत्कुष्ठ रोग की उत्पत्ति हो गई, बाद मे स्तम्भनक पार्श्वनाथ की स्तवना करके प्रतिमा निकलवाई, जिसके स्नात्रजल से शरीर नीरोग हुआ, बाद मे सूरिजी ने नवांगसूत्रो की वृत्तियां बनाई और अन्त मे कपडवज मे अनशन कर चतुर्थ देवलोक प्राप्त किया।

(४२) जिनवल्लभसूरि –

जिनवल्लभसूरि जो पहले कूर्चपुरीय गच्छ के जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे इन्होने "पिण्डविशुद्धिप्रकरण", "गणधर[२] सार्द्ध शतक", "षडशीति" प्रमुख अनेक शास्त्र बनाये थे।

जिनवल्लभ सं० ११६७ मे देवभद्राचार्य द्वारा आचार्य बने और छः मास तक आचार्य पद भोगा। इनके समय मे "मधुकर खरतर" शाखा निकली तथा इन्ही के समय में शासन देवता के वचन से आचार्य के नाम की आदि मे "जिन" शब्द रखने की प्रवृत्ति चली।

१ समयसुन्दरजी की पट्टावली में ६ मास का प्रायश्चित्त लिखा है।

२ "गणधर सार्द्धशतक" जिनवल्लभसूरि की कृति नहीं, यह जिनदत्तसूरि की कृति है।

(४३) जिनदत्तसूरि –

जिनदत्तसूरि का जन्म ११३२ मे, दीक्षा ११४१ मे, आचार्य-पद ११६९ मे आचार्य देवभद्र द्वारा दिया गया। इनके समय मे सवत् १२०४ मे जिनशेखराचार्य से रुद्रपल्लीय शाखा निकली, यह द्वितीय गच्छभेद हुआ।

यहा पर वायटगच्छीय जिनदत्तसूरि सम्बन्धी गौशरीर मे प्रवेश करने की हकीकत प्रस्तुत जिनदत्तसूरि के साथ जोड दी है जो अन्धश्रद्धा का परिणाम है, इसके सिवा अन्य भी अनेक वृत्तान्त जिनदत्तसूरि के जीवन के साथ जोड दिये हैं, जो इनकी महिमा बढ़ाने के बजाय महत्त्व घटाने वाले है।

जिनदत्तसूरि स० १२११ के आषाढ शुक्ल ११ को अजमेर मे स्वर्गवासी हुए।

यहा पर क्षमाकल्याणक मुनि ने निम्न प्रकार का डेढ श्लोक लिखा है –

"श्री जिनदत्तसूरीणां, गुरूणा गुणवर्णनम्।
मया क्षमादिकल्याण–मुनिना लेशत कृतम् ॥
सुविस्तरेण तत्कर्तुं, सुराचार्योऽपि न क्षम ॥१॥"

उपर्युक्त षट्पदी से मालूम होता है कि या तो यह पट्टावली क्षमाकल्याणक कृत होनी चाहिए, जिसका अन्तिम भाग जिनमहेन्द्रसूरि के किसी शिष्य ने जोड कर इसे अपना लिया है। अगर ऐसा नही है, तो कम से कम जिनदत्तसूरिजी का वर्णन तो क्षमाकल्याणकजी की पट्टावली से उद्धृत किया होगा, इसमे कोई शका नही है।

(४४) श्री जिनचन्द्रसूरि –

इनकी दीक्षा सवत् १२०३ मे अजमेर मे हुई थी। स० १२११ में श्री जिनदत्तसूरिजी के हाथ से आचार्य-पद पर स्थापित हुए थे और स० १२२३ में भाद्रपद कृष्णा १४ के दिन २६ वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ था।

(४५) श्री जिनपतिसूरि –

आपकी दीक्षा १२१८ की साल में दिल्ली में हुई थी और संवत् १२२३ में श्री जयदेवाचार्य द्वारा आपकी पद-स्थापना हुई थी। सं० १२७० में पालनपुर में स्वर्गवास।

(४६) श्री जिनेश्वरसूरि –

आपकी दीक्षा सं० १२६५ में, १२७० में सर्वदेवाचार्य द्वारा जालोर में आचार्य-पद, इनके समय में ही १२१४ में आंचलिक मत की उत्पत्ति हुई। १२८५ में चित्रावालगच्छीय जगच्चन्द्रसूरि से तपागण प्रसिद्ध हुआ। सं० १३३१ में आपका स्वर्गवास हुआ। इनके समय में जिनसिंहसूरि से लघुखरतर शाखा प्रकट हुई।

(४७) श्री जिनप्रबोधसूरि –

इनका सं० १३३१ में जालोर में आचार्य पद हुआ और स्वर्गवास १३४१ में।

(४८) श्री जिनचन्द्रसूरि –

सं० १३३२ में जालोर में दीक्षा, सं० १३४१ में जालोर में पदमहोत्सव, सं० १३७६ में स्वर्गवास। इनके समय में "खरतरगच्छ" की "राजगच्छ" के नाम से प्रसिद्धि हुई थी।

(४९) श्री जिनकुशलसूरि –

सं० १३३० में जन्म, १३४७ में दीक्षा, सं० १३७७ में राजेन्द्राचार्य द्वारा सूरिमन्त्र दिया गया। सं० १३८९ में स्वर्गप्राप्ति।

(५०) श्री जिनपद्मसूरि –

सं० १३८९ में आचार्य तरुणप्रभ द्वारा सूरिमन्त्र दिया गया, सं० १४०० वैशाख सुदि १४ के दिन पाटण में स्वर्गवास।

(५१) जिनलब्धिमूरि –

श्री तरुणप्रभाचाय द्वारा ग्राचार्य-पद, स० १४०६ म स्वर्गवास ।

(५२) श्री जिनचन्द्रसूरि –

इनको स० १४०६ में तरुणप्रभाचार्य द्वारा सूरि-मन्त्र मिला और १४१५ मे स्वर्गवास ।

(५३) जिनोदयसूरि –

स० १३७५ म जन्म, १४१५ मे आषाढ शु० २ को तरुणप्रभाचाय द्वारा पद स्थापना और स० १४३२ मे पाटण मे स्वर्गवास, इनके समय म १४२२ मे "वेगडखरतरशाखा" निकली । यह चतुर्थ गच्छ भेद हुआ ।

(५४) श्री जिनराजसूरि –

स० १४३२ मे पाटण मे आचार्य-पद हुआ, स्वर्णप्रभाचार्य, श्री भुवनरत्नाचार्य और सागरचद्राचार्य को आचार्य बनाया । स० १४६१ मे देलवाडा मे स्वर्गवास ।

(५५) श्री जिनभद्रसूरि –

स० १४६१ मे सागरचन्द्राचाय ने श्री जिनराजसूरि के पट्ट पर श्री जिनवर्द्धनसूरि को स्थापित किया था, उन्होने जैसलमेर के श्री चिन्ता मणि पार्श्वनाथ के पास मे स्थापित क्षेत्रपाल की मूर्ति को गर्भगृह के बाहर ले जाकर स्थापित किया, इससे कुपित क्षेत्रपाल ने उनमे चतुर्थव्रत भग का दोष बताया, जिससे इनके भक्त नाराज हो गये । स० १५१४ मे श्री जिनभद्रसूरि का कुम्भलमेर मे स्वर्गवास । इनके समय मे १४७४ मे श्री जिनवर्द्धनसूरि से 'पिप्पलक' नाम की "खरतर शाखा निकली," यह पाचवा गच्छ भेद हुआ ।

(५६) श्री जिनचन्द्रसूरि –

स० १४६२ मे दीक्षा, १५१४ मे कीर्तिरत्नाचाय द्वारा पद स्थापना और आबु ऊपर नवफणा पार्श्वनाथ प्रतिष्ठा की । धर्मरत्नसूरि, गुण-

रत्नसूरि प्रमुख अनेक आचाय बनाने वाले, श्री जिनचन्द्रसूरि १५३० मे जैसलमेर मे स्वगवासी हुए, इनके समय मे १५०८ मे अहमदाबाद मे लौका नामक लेखक ने प्रतिमा पूजा का विरोध किया; और स० १५२४ मे लौका के नाम से मत प्रचलित हुआ।

(५७) श्री जिनसमुद्रसूरि –

१५२१ मे दीक्षा, १५३० मे श्री जिनचन्द्रसूरि द्वारा पदस्थापना और स० १५५५ मे अहमदाबाद मे स्वर्गवास।

(५८) श्री जिनहसस्रि --

स० १५६५ मे दीक्षा, स० १५५५ मे आचाय-पद, स० १५५६ मे फिर विशेष पद महोत्सव, स० १५८२ मे पाटन मे स्वगवास, इनके समय मे १५६४ मे मारवाड मे आचाय शान्तिसागर ने आचार्यीय खरतरशाखा निकाली।

(६६) श्री जिनमाणिक्यसूरि --

स० १५४६ मे जन्म, १५६० मे दीक्षा, स० १५८२ मे आचाय-पद श्री जिनहससूरि द्वारा, श्री जिनमाणिक्यसूरि कई वर्षो तक जैसलमेर मे रहे। परिणामस्वरूप इनके सब साधु शिथिलाचारी हो गये, उधर प्रतिमोत्थापको का मत बहुत बढ रहा था, यह देखकर मन्त्री सग्रामसिंह ने गच्छ की स्थिति ठीक रखने के लिए गुरु को अजमेर बुलाया, उन्होने मन से तो क्रियोद्धार का सकल्प कर ही लिया था और कहा – प्रथम देरावल मे श्री जिनकुशलसूरिजी की यात्रा करके फिर यहा से क्रियोद्धार करके विहार करूगा। देराउल से आप वापिस जैसलमेर आ ही रहे थे परन्तु स० १६१२ के आषाढ शुक्ल ५ को आप का स्वगवास हो गया।

(६०) श्री जिनचन्द्रसूरि --

इनकी दीक्षा स० १६०४ मे, सूरि-पद १६१२ मे, गच्छ मे शिथिलाचारित्व देखकर सर्व परिग्रह का त्याग कर कर्मचन्द्र के आग्रह से बीकानेर

गए और वहा से सुविहित साधुओ के साथ विहार करते हुए, प्रतिमोत्थापक मत का खण्डन करते हुए, अपनी सामाचारी को दृढ करते हुए गुजरात की तरफ गए। अहमदाबाद मे शिवा, सोमजी नाम के दो भाइयो को प्रतिबोध करके धनवन्त किए, लाहोर जाकर अकबर को प्रतिबोध करके सब देशो में फर्मान भिजवाकर अट्ठाई के दिनो में अमारि का पालन करवाया, स० १६५२ में पाच नदियो का साधन किया, जहा ५ पीर मणिभद्रयक्ष, खोडिया क्षेत्रपालादि देव शामिल थे, स० १६७० म वेणातट पर आपका स्वगवास हुआ, इनके समय मे स० १६२१ मे भावहर्षोपाध्याय से "भावहर्षीय खरतर शाखा" निकली। यह सातवा गच्छभेद हुआ।

(६१) श्री जिनसिंहसूरि –

स० १६२३ मे दीक्षा, १६४६ के फल्गुन शुक्ल २ को लाहोर में आचाय-पद और स० १६७० मे वेनातट पर सूरि पद, १६७४ में मेडता में स्वर्गवास।

(६२) श्री जिनराजसूरि –

स० १६५६ में दीक्षा, १६७४ में मेडता में सूरि पद, इनके द्वितीय शिष्य सिद्धसेन गणि को आचाय पद देकर जिनसागरसूरि नाम रक्खा, १२ वप तक आप इनकी आज्ञा में रहे, फिर समयसुन्दरोपाध्याय के शिष्य हर्षनन्दन के कदाग्रह से स०१६८६ में आचार्य जिनसागरसूरि से 'लघ्वाचाय" खरतर शाखा निकली, यह अष्टम गच्छभेद हुआ। जिनराजसूरि ने नपधीय काव्य पर "जैनराजी" नामक टीका बनाई, स० १६९९ में आप स्वर्गवासी हुए। लगभग उसी समय १७०० मे प० रगविजयजी गणि से "रगविजया" शाखा निकली यह नवमा गच्छभेद हुआ और इस शाखा मे से श्रीसार उपाध्याय ने "श्रीसारीय खरतर शाखा' निकाली, यह दशवा गच्छभेद हुआ। ग्यारहवा सुविहित मूल खरतरगच्छ का भेद कायम रहा इस तरह ११ भेद पडे।

(६३) श्री जिनरत्नसूरि –

स १६९९ मे श्री जिनराजसूरिजी ने सूरिमन्त्र दिया। स० १७११ मे जिनरत्नसूरि अकबराबाद मे स्वगवासी हुए।

(६४) श्री जिनचन्द्रसूरि –

आपकी स० १७११ मे राजनगर मे पद स्थापना हुई, स० १७६३ मे सूरत वन्दर मे स्वगवासी हुए।

(६५) श्री जिनसुखसूरि –

स० १७५१ मे दीक्षा, १७६३ मे पदस्थापना हुई और सवत् १७८० मे रीणी नगर मे स्वगवास।

(६६) श्री जिनभक्तिसूरि –

स० १७८० मे प्र चाय-पद, स० १८०४ मे माडवी व दर में स्वगवास।

(६७) श्री जिनलाभसूरि –

स० १७६६ में जसलमेर म दीक्षा, १८०४ म प्राचाय पद, स० १८३४ में स्वर्गवास।

(६८) श्री जिनचन्द्रसूरि –

स० १८२२ में दीक्षा, स० १८३४ में पदस्थापना, १८५६ मे सूरत में स्वगवास।

(६६) श्री जिनहर्षसूरि –

स० १८४३ में दीक्षा, स० १८५६ में पदस्थापना, १८६२ में ब्राह्म-मुहूत में मडोवर में स्वर्गवास।

(७०) श्री जिनमहेन्द्रसूरि –

स० १८६७ में ज म, १८८५ में दीक्षा, स० १८६२ में जोधपुर महाराजा मानसिहजो के राज्यकाल में प्राचाय-पद। श्री पादलिप्तपुर मे तपागच्छीय उपाश्रय के आगे होकर वादित्र वजाते हुए जिनम दिर मे दर्शनार्थ गए।

श्री सघाधिप ने सपरिकर गुरु को अपने निवास स्थान पर बुलाकर स्वर्णमुद्राओं से नवांग पूजा की और दस हजार रुपया और पालकी सघ के

समक्ष भेंट की। वाचक, पाठक साधुवर्ग को सुवर्ण रूप्य मुद्राए तथा महावस्त्रादि ज्ञानोपकरण भेट दिए।

श्री गुरु ने भी चौरासी-गच्छीय समस्त आचार्य तथा सहस्र साधुओ को महावस्त्र और प्रत्येक को दो-दो रूप्य-मुद्राए अर्पण की।

ऊपर चौरासी गच्छ के आचार्यो तथा सहस्राधिक साधुओ को श्रीजी द्वारा महावस्त्र और वस्त्रादि दो दो रुपयो के साथ देने की बात कही है तब आगे जाकर नीचे का फिकरा लिखते हैं –

"फाल्गुन सुदि २ दिने सर्वे तपागच्छीयादि आचार्य साधूनुपत्यकायां सरोध्य श्रीजिनमहेन्द्रसूरय सवसघपतिभि सार्द्ध श्रीमूलनायकजिनगृहा ग्रतो गत्वा विधिना सर्वेषा कण्ठेषु सघमाला स्थापिता, अन्यगच्छीया-चार्याणा कौशिकानामिव मनोभिलाष मनस्येव स्थित, खरतरगच्छेश्वरसूर्यो-दयतेज प्रकरत्वात्तदनुत्तीर्य गीतगानतुर्यवाद्यमानगजाश्वशिविके द्रव्यजादि-महर्घ्या पादलिप्तपुरे जिनगृहे दर्शन विधाय तपागच्छीयाचार्यस्थितोपाश्रया-ग्रतो भूत्वा सधाव सेऽयासिषु भूयोऽपि तत्रस्थचतुरशीतिगच्छीय द्वादशशत साधुवर्गेभ्यो महावस्त्र-रूप्यमुद्रायुग्म प्रत्येक प्रदत्तानि, तदवसरे श्रीमत्पूज्यै-र्बहुतरद्रव्यव्यय कृत, तत्सम्बन्ध पूर्ववत् पुन श्री मदाविजिनकोशकुञ्चिका-युग्म श्रीखरतरगणश्राद्धैस्तपाधद्धालुभ्य सकाशाद्गृहीत कुञ्चिकायुग्म तत्पार्श्वे रक्षित।'

पट्टावली का ऊपर जो पाठ दिया है इससे अनेक गुप्त बाते ध्वनित होती हैं। फल्गुन सुदि २ के दिन, जिनमहेन्द्रसूरिजी पादलिप्तपुर मे उपस्थित सघपतियो को माला पहिनाने वाले थे, परन्तु दादा की टूङ्क में मूलनायकजी के सामने माला पहिनाने में तपागच्छीय तथा अन्यगच्छीय सभी आचार्य विरुद्ध थे, जिसके परिणामस्वरूप जिनमहेन्द्रसूरिजी ने राज-कीय बल द्वारा अन्य सभी गच्छो के आचार्यो तथा साधुओ को ऊपर जाने से रुकवा दिया था, फिर आपने निर्भयता से दादा के सामने सघ पतियो को मालायें पहिनाने का पुरुषार्थ किया था। पट्टावली के कथना-नुसार यह घटना खरतरगच्छ के सूर्योदय के तेज का प्रकाश था, जिसके

सामने अ यगच्छीय आचाय रूप उल्लुओं के नेत्र चौंधिया गए थे। ऊपर से उतर कर नगर के मंदिर में दशनाथ जाने के प्रसंग में तपागच्छ के उपाश्रय के सामने होकर गीत वादित्रों के साथ जाने का उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि विशिष्ट प्रसंगों के सिवाय तपागच्छ के उपाश्रय के आगे होकर वादित्रों के साथ निकलने का खरतरगच्छीय आचार्यों के लिए बन्द होगा अ यथा यहा पर उक्त उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। पट्टावली के उपर्युक्त पाठ मे संघपति द्वारा अपने निवास-स्थान पर जिनमहेन्द्रसूरि को बुला कर सुवर्ण मुद्राओं से नवांग पूजा करने और दस हजार की थली भेंट करने की बात कही है। ठीक तो है, संघपति जब धनवान् है तो अपने गुरु को धनहीन कैसे रहने देगा। इन बातों से निश्चित होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के "श्रीपूज्य" नाम से पहिचाने जाते जैन आचार्य और "यति के नाम से प्रसिद्ध जैन साधु' पूरे परिग्रहधारी बन चुके थे। संघपति ने अपने आचार्य तथा साधुओं को वस्त्र और दो दो रुपये भेंट किये, यह एक साधारण बात है परन्तु आचार्य जिनमहेन्द्रसूरि द्वारा प्रत्येक साधु को दो दो रुपयों के साथ वस्त्र देना, हमारी राय मे उचित नहीं था। कुछ भी हो, परन्तु खरतरगच्छ के अतिरिक्त अ य सभी गच्छों के आचाय तथा साधुओं को ऊपर जाने से रोकने व ले संघपतियों से तथा उनके गुरु श्री जिनमहेन्द्रसूरि से अन्य गच्छ के आचार्यों तथा साधुओं ने वस्त्र तथा मुद्राओं की दक्षिणा ली होगी, इस बात को कौन मान सकता है। जिनके मन मे अपने सम्प्रदाय का और अपनी आत्मा का कुछ भी गौरव होगा, वे तो दक्षिणा तो क्या उनकी शक्ल तक देखने को तयार नहीं हुए होंगे। बाकी पट्टावली मे कुछ भी लिखें इसको कौन रोक सकता है।

पट्टावली लेखक कहता है – "तदवसरे श्रीमत्पूज्यैर्बहुतर द्रव्यव्यय कृत।" पट्टावलीकार की भाषा से इतना तो स्पष्ट होता है कि इसका अन्तिम भाग किसी अघदग्ध संस्कृतपाठी का लिखा हुआ है। अधिकांश पट्टावली शुद्ध संस्कृत में है, परन्तु जिनमहेन्द्रसूरि के वर्णन मे जो कुछ लिखा गया है, उसमें व्याकरण की अशुद्धियों का तो ठिकाना ही नहीं,

लिंग, वचन और सन्धि तक का पूरा ज्ञान नही था, उसी ने जिनमहेन्द्र-सूरि के गुणगान किये हैं।

इसके अतिरिक्त पट्टावली मे ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक स्खलनाए दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उन सब की यहा चर्चा करके लेख को बढाना उचित नही समझा गया।

(५) पट्टावली नम्बर २३३३ :

उपर्युक्त नम्बर की पट्टावली में भिन्न-भिन्न पट्टावली तथा गुर्वावली के पाच पत्र है और इनमें भिन्न-भिन्न लेखकों की लिखी हुई पाच पाटपरम्पराएं हैं, परन्तु उन सब की यहा चर्चा करना उपयुक्त नही, इनमे से जो बातें उपयोगी जान पडेगी मात्र उन्हीं की चर्चा करना ठीक होगा, इन पानों में एक पाट परम्परा श्री जिनलाभसूरि पर्यन्त लिखी हुई है और जिनलाभसूरि का नम्बर ६९ वा दिया है, परन्तु बाद में किसी ने श्री जिन-चन्द्रसूरि और जिनहर्षसूरि के नाम बढा कर पट्टधरों के नम्बर ७१ कर दिये हैं।

एक दूसरे पट्टावली पत्र में युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि को ६२ वे नम्बर में लिया है और आगे जिनसिंह, जिनराज, जिनरत्न और जिनचन्द्र-सूरि के नाम लिखकर पट्टधरो के नम्बर ६६ कर दिये हैं परन्तु बाद में जिनसुख, जिनभक्ति और जिनलाभ इन तीनो आचार्यों के नाम बढाकर पट्टधरो के नम्बर ६९ कर दिये है।

एक पट्टावली का पत्र पद्यमय गुर्वावली का है, आचार्यों की स्तुति उद्योतनसूरि से प्रारम्भ की है और जिनलाभसूरि तक परम्परागत आचार्यों की स्तुति करके इस कल्पवाचना का उपोद्घात लिखा है, यह पत्र जिनलाभसूरि के समय का लिखा हुआ है।

चौथा पत्र सुधर्म-स्वामी से लेकर जिनलाभसूरि के पट्टधर श्री जिन-चन्द्रसूरि तक के ७२ पट्टधरो के नम्बर लगाए है, परन्तु इस पट्टावली मे

कितने ही नाम युगप्रधानो के है जिनको यहा परम्परा में लिखा है, इनमें से बहुतेरे युगप्रधानो के नाम न आय महागिरि की परम्परा से मिलते हैं, न आय सुहस्तीसूरि की परम्परा से, यह पत्र जिनचन्द्रसूरि के समय का लिखा हुआ है, इसके अन्त मे "खरतरगच्छ" की शाखाओ के तथा अन्य गच्छो की उत्पत्ति के समयनिर्देशपूवक उल्लेख किये गए है। यह पत्र विशेष उपयोगी होने से इसका विशेष सक्षेप सार देंगे।

इस पत्र मे आय सुहस्ती तक प्रचलित परम्परा दी है, आय सुहस्ती को १० नम्बर दिया है, इसके बाद ११ वां शान्तिभद्रसूरि, (१२) हरिभद्रसूरि, (१३) गुणाकरसूरि, (१४) कालकाचार्य, (१५) श्री शण्डिलसूरि, (१६) रेवन्तसूरि, (१७) श्री धमसूरि, (१८) श्रीगुप्तसूरि, (१९) श्री आयसमुद्रसूरि, (२०) श्री मगुसूरि, (२१) श्री सुधमसूरि, (२२) श्री भद्रगुप्तसूरि, (२३) श्री वयरस्वामी, (२४) आयरक्षितसूरि, (२५) दुवलिकापक्ष (पुष्य) मित्र, (२६) श्री आयनन्दसूरि, (२७) नागहस्तीसूरि, (२८) श्री लघुरेवतीसूरि, (२९) श्री ब्रह्मद्वीपसूरि, (३०) श्री पाण्डिलसूरि, (३१) हिमवन्तसूरि, (३२) श्री नागार्जुन वाचक, (३३) श्री गोविन्द वाचक, (३४) श्री सम्भूतिदिन्न वाचक, (३५) श्री लोहित्यसूरि, (३६) श्री दुष्यगणि वाचक, (३७) उमास्वाति वाचक, (३८) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, (३९) श्री हरिभद्रसूरि, (४०) श्री देवसूरि।

उपर्युक्त ४० नामो से आर्य सुहस्ती के बाद के ३० नाम अस्तव्यस्त और इधर उधर से उठा कर लिख दिये हैं। इनमें न पट्टक्रम है, न समय ही व्यवस्थित है, कितनेक नाम तो कल्पित हैं, तब अधिकाश नाम युगप्रधान पट्टावलियो मे से लिये हुए हैं। (४१) श्री नेमिचन्द्र, (४२) श्री उद्योतन, (४३) श्री वधमान और (४४) श्री जिनेश्वरसूरि ये नाम खरतर पट्टावलियो से मिलते-जुलते हैं। इसके आगे ये (४५) श्री जिनचन्द्र, (४६) श्री अभयदेव, (४७) श्री जिनवल्लभ, (४८) श्री जिनदत्त, (४९) श्री जिनचन्द्र, (५०) श्री जिनपति, (५१) श्री जिनेश्वर, (५२) श्री जिनप्रबोध, (५३) श्री जिनचन्द्रसूरि, (५४) श्री जिनकुशल, (५५) श्री जिनपद्म, (५६) श्री जिनलब्धि, (५७) श्री जिनचन्द्र, (५८) श्री जिनोदय, (५९)

श्री जिनराज, (६०) श्री जिनभद्र, (६१) श्री जिनचन्द्र, (६२) श्री जिनसमुद्र, (६३) श्री जिनहस, (६४) श्री जिनमाणिक्य, (६५) श्री जिनचन्द्र, (६६) श्री जिनहस, (६७) श्री जिनराज, (६८) श्री जिनरत्न, (६९) श्री जिनचन्द्र, (७०) श्री जिनसुख, (७१) श्री जिनभक्ति, (७२) श्री जिनलाभ, (७३) श्री जिनचन्द्रसूरि। इस प्रकार ये पिछले सभी नाम खरतर पट्टावली के अनुसार हैं। जिनचन्द्र के समय मे यह पाना लिखा गया है।

इस पत्र के अन्त मे खरतरगच्छ की शाखाओ तथा अन्यगच्छ-मतो के प्रकट होने का समय-निर्देश नीचे लिखे अनुसार किया है।

१ स० १२०४ मे जिनशेखराचाय से 'रुद्रपल्लीय" खरतर शाखा निकली।

२ स० १२०५ मे श्री जिनदत्तसूरि के समय "मधुकर" खरतर शाखा निकली।

३ स० १२२२ मे जिनेश्वरसूरि द्वारा "वेगड" खरतर शाखा निकली।

४ स० १४६१ के वर्ष मे श्री वधमानसूरिजी ने "पीप्पलीया" खरतरगच्छ की शाखा का प्ररूपण किया।

५ स० १५६० मे श्री शान्तिसागराचाय ने "आचार्या" नामक नयी खरतरगच्छ की शाखा निकाली।

६ श्री जिनसागरसूरिजी ने स० १६८७ मे "लघु आचाय" नामक खरतरगच्छ मे एक नयी शाखा चलाई।

७ स० १३३१ मे श्री जिनसिहसूरि एव जिनप्रभसूरि ने "लघु खरतरगण" नाम से अपने गच्छ को प्रसिद्ध किया।

८ स० १६१२ मे भावहर्षगणि ने अपने नाम से खरतरगच्छ मे "भावहर्षीया" शाखा निकाली।

९ स० १६७५ मे श्री रगविजयसूरि ने "रगविजया" शाखा निकाली।

१० १६७५ वप खरतरगच्छ मे श्री सारजी से "श्री सारगच्छ' नामक भेद पडा।

स० १२३६ (२२६) मे आचार्य हेमसूरि त्रिकोटी ग्रन्थो के कर्त्ता हुए ।

स० १२८५ मे तपागच्छ की उत्पत्ति हुई ।

स० ११५६ मे पूर्णमीयागच्छ निकला ।

स० १२१४ मे आचलीयागच्छ निकला ।

स० १३३३ (अन्यत्र १२५०) मे आगमिकगच्छ निकला ।

स० १५०८ मे अहमदावाद मे लुकाशाह नामक पुस्तक लेखक ने 'प्रतिमोत्थापक" मत निकाला और लखमसी से भेट हुई ।

स० १५२४ मे लुकागच्छ की उत्पत्ति हुई ।

उपसहार :

इतिहास साधन होने के कारण हमने तपागच्छ, खरतरगच्छ, आचलगच्छ आदि की यथोपलब्ध सभी पट्टावलियो तथा गुर्वावलिया पढी है और इससे हमारे मन पर जो असर पडा है उसको व्यक्त करके इस लेख को पूरा कर दगे ।

वतमानकाल मे खरतरगच्छ तथा आचलगच्छ की जितनी भी पट्टावलिया हैं, उनमे से अधिकाश पर कुलगुरुओ की वहियो का प्रभाव है, विक्रम की दशवी शती तक जैन श्रमणो मे शिथिलाचारी साधुओ की सख्या इतनी बढ गई थी कि उनके मुकाबले मे सुविहित साधु बहुत ही कम रह गये थे । शिथिलाचारियो ने अपने अड्डे एक ही स्थान पर नही जमाये थे, उनके बडेरे जहा-जहा फिरे थे, जहा-जहा वे गृहस्थो को अपना भाविक बनाया था, उन सभी स्थानो में शिथिलाचारियो के अड्डे जमे हुए थे, जहा उनकी पौषधशालाए नही थी वहां अपने अड्डो से अपने गुरु प्रगुरुओ के भाविको को सम्हालने के लिये जाया करते थे, जिससे कि उनके पूवजो के भक्तो के साथ उनका परिचय बना रहे, गृहस्थ भी इससे खुश रहते थे कि हमारे कुलगुरु हमारी सम्हाल लेते हैं, उनके यहां कोई भी धार्मिक काय प्रतिष्ठा, तीथयात्रा, सघ आदि का प्रसग होता, तब वे अपने कुलगुरुओं को आमन्त्रण करते और

धार्मिक विधान उन्ही के हाथ से करवाते, धीरे धीरे वे कुलगुरु परिग्रहधारी हुए वस्त्र, पात्र के अतिरिक्त द्रव्य की भेंट भी स्वीकारने लगे, तबसे कोई गृहस्थ अपने कुलगुरु को न बुलाकर दूसरे गच्छ के आचार्य को बुला लेता और प्रतिष्ठादि कार्य उनसे करवा लेता तो उनका कुलगुरु बना हुआ आचार्य काय करने वाले अन्य गच्छीय आचार्य से झगडा करता। इस परिस्थिति को रोकने के लिए कुलगुरुओ ने विक्रम की १२ वी शताब्दी से अपने अपने श्रावको के लिए अपने पास रखने शुरू किये, किस गाव मे कौन-कौन गृहस्थ अपना अथवा अपने पूर्वजो का मानने वाला है उनकी सूचियां बनाकर अपने पास रखने लगे और अमुक अमुक समय के बाद उन सभी श्रावको के पास जाकर उनके पूर्वजो की नामावलिया सुनाते और उनकी कारकीर्दियो की प्रशसा करते, तुम्हारे वडेरो को हमारे पूवज अमुक आचाय महाराज ने जैन बनाया था, उन्होने अमुक २ धार्मिक काय किये थे इत्यादि बातो से उन गृहस्थो को राजी करके दक्षिणा प्राप्त करते। यह पद्धति आरम्भ होने के बाद वे शिथिल साधु धीरे धीरे साधुधम से पतित हो गए और "कुलगुरु" तथा "वही बचो" के नाम से पहिचाने जाने लगे। आज पयन्त ये कुलगुरु जैन जातियो मे बने रहे हैं, परन्तु विक्रम की बीसवी सदी से वे लगभग सभी गृहस्थ बन गए हैं, फिर भी कतिपय वर्षों के बाद अपने पूवज-प्रतिबोधित श्रावको को वन्दाने के लिऐ जाते हैं, वहिया सुनाते है और भेंट पूजा लेकर आते हैं, इस प्रकार के कुलगुरुओ की अनेक वहिया हमने देखी और पढी है उनमे बारहवी शती के पूव की जितनी भी बाते लिखी गई हैं वे लगभग सभी दन्तकथामात्र हैं, इतिहास से उनका कोई सम्बन्ध नही, गोत्रो और कुलो की वहिया लिखी जाने के बाद की हकीकतो मे आशिक तथ्य अवश्य देखा गया है, परन्तु अमुक हमारे पूवज आचाय ने तुम्हारे अमुक पूवज को जैन बनाया था और उसका अमुक गोत्र स्थापित किया था, इन बातो मे कोई तथ्य नही होता, गोत्र किसी के बनाने से नही बनते, आजकल के गोत्र उनके वडेरो के धन्धो रोजगारो के ऊपर से प्रचलित हुए हैं, जिन्हे हम "अटक" कह सकते हैं। खरतरगच्छ की पट्टावलियो मे अनेक आचार्यो के वणन मे लिखा मिलता है कि अमुक को आपने जैन बनाया और उसका यह गोत्र कायम किया, अमुक आचाय ने इतने लाख और इतने हजार अजैनो

को जैन बनाया, इस कथन का सार मात्र इतना ही होता है कि उन्होने अपने उपदेश से अमुक गच्छ मे से अपने सम्प्रदाय मे इतने मनुष्य सम्मिलित किए। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की वातो मे कोई सत्यता नही होती, लगभग आठवी नवमी शताब्दी से भारत मे जातिवाद का किला बन जाने से जैन समाज की सख्या बढने के बदले घटती ही गई है। इक्का दुक्का कोई मनुष्य जैन बना होगा तो जातियो की जातिया जैन समाज से निकलकर अन्य धार्मिक सम्प्रदायो मे चली गई है, इसी से तो करोडो से घटकर जैन समाज की सख्या आज लाखो मे आ पहुँची है। ऐतिहासिक परिस्थिति उक्त प्रकार की होने पर भी बहुतेरे पट्टावलीलेखक अपने अन्य आचार्यों की महिमा बढाने के लिए हजारो और लाखो मनुष्यो को नये जैन बनाने का जो ढिण्ढोरा पीटे जाते हैं इसका कोई प्रभाव नही पड सकता, इसलिए ऐतिहासिक लेखो प्रबन्धो और पट्टावलियो मे इस प्रकार की अतिशयोक्तियो और कल्पित कहानियो को स्थान नही देना चाहिए।

हमने तपागच्छ को छोटी वडी पच्चीस पट्टावलिया पढी है और इतिहास की कसौटी पर उनको कसा है, हमको अनुभव हुआ कि अन्यान्य गच्छो की पट्टावलियों की अपेक्षा से तपागच्छ की पट्टावलियो मे अतिशयोक्तियो और कल्पित कथाओ की मात्रा सब से कम है और ऐसा होना ही चाहिए, क्योकि कच्ची नींव पर जो इमारत खडी की जाती है, उसकी उम्र बहुत कम होती है। हमारे जैन सघ मे कई गच्छ निकले और नामशेष हुए, इसका कारण यही है कि उनकी नीव कच्ची थी, आज के जैन समाज में तपागच्छ, खरतरगच्छ, आंचलगच्छ आदि कतिपय गच्छो में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकात्मक चतुर्विध जैन सघ का अस्तित्व है, इसका कारण भी यही है कि इनमें वास्तविक सत्यता है। जो भी सम्प्रदाय वास्तविक सत्यता पर प्रतिष्ठित नही होते, वे चिरजीवी भी नही होते, यह बात इतिहास और अनुभव से जानी जा सकती है।

॥ इति खरतरगच्छीय पट्टावली सग्रह ॥

चतुर्थ परिच्छेद

[लौंकागच्छ और कडवामत की पट्टावलियाँ]

गृहस्थों का गच्छ-प्रवर्तन

लौंकामत-गच्छ की उत्पत्ति

सूत्रकाल मे स्थविरो के पट्टक्रम की यादी को "थेरावली" अर्थात् "स्थविरावली" इस नाम से पहिचाना जाता था, क्योकि पूर्वधरो के समय मे निर्ग्रन्थश्रमण वहुधा वसति के वाहर उद्यानो में ठहरा करते थे और पृथ्वीशिलापट्ट पर बैठे हुए ही श्रोतागणो को धर्मोपदेश सुनाते थे, न कि पट्टो पर बैठकर। देश, काल, के परिवर्तन के वश श्रमणो ने भी उद्यानो को छोडकर ग्रामो नगरो मे ठहरना उचित समझा और धीरे-धीरे जिननिर्वाण से ६०० वर्ष के वाद अधिकाश जैन श्रमणो ने वसतिवास प्रचलित किया। गृहस्थ वर्ग जो पहले "उपासक" नाम से सम्वोधित होता था वह धीरे-धीरे नियत रूप से धर्म-श्रवण करने लगा, परिणाम स्वरूप प्राचीन श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका-समुदाय श्रावक श्राविका के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह सब होते हुए भी तब तक श्रमणसघ धार्मिक मामलो मे अपनी स्वतत्रता कायम रक्खे हुए था।

उपर्युक्त समय दर्मियान जो कोई निग्रन्थ श्रमण अपनी कल्पना के वल से धार्मिक सिद्धान्त के विरुद्ध तक प्रतिष्ठित करता तो श्रमण सघ उसको समझा-बुझाकर सिद्धान्तानुकूल चलने के लिए वाध्य करता, यदि इस पर भी कोई अपने दुराग्रह को न छोड़ता तो श्रमण-सघ उसको अपने से दूर किये जाने की उद्घोषणा कर देता। श्रमण भगवान् महावीर को जीवित अवस्था मे ही ऐसी घटनाएँ घटित होने लगी थी। महावीर को तीर्थ-

कर पद प्राप्त होने के बाद १४ वें और २० वें वर्ष मे क्रमश जमालि और तिष्यगुप्त को श्रमण-सघ से वहिष्कृत किये जाने के प्रसग सूत्रो मे उपलब्ध होते हैं, इसी प्रकार जिन वचन से विपरीत अपना मत स्थापित करने वाले जैन साधुओ के सघबहिष्कृत होने के प्रसग "आवश्यक-निर्युक्ति" मे लिखे हुए उपलब्ध होते है, इस प्रकार से सघ बहिष्कृत व्यक्तियो को शास्त्र मे निह्नव इस नाम से उल्लिखित किया है और "औपपातिक" "स्थानाङ्गसूत्र" एव आवश्यकनियुक्ति मे उनकी सख्या ७ होने का निर्देश किया है ।

वीरजिन-निर्वाण की सप्तम शती के प्रारभ मे नग्नता का पक्ष कर अपने गुरु से पृथक् हो जाने और अपने मत का प्रचार करने की आर्य शिवभूति की कहानी भी हमारे पिछले भाष्यकार तथा टीकाकारो ने लिखी है, परन्तु शिवभूति को सघ से बहिष्कृत करने की बात प्राचीन साहित्य मे नही मिलती । इसका कारण यही है कि तब तक जैन श्रमण बहुधा वसतियो मे रहने वाले बन चुके थे और उनके पक्ष, विपक्ष मे खडे होने वाले गृहस्थ श्रावको का उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बन चुका था । यही कारण है कि पहले "श्रमण-सघ" शब्द की व्याख्या "श्रमणाना सघ श्रमण-सघ " अर्थात् "साधुओ का सघ" ऐसी की जाती थी, उसको बदलकर "श्रमणप्रधान. सघ श्रमणसघ" अर्थात् जिससघ मे साधु प्रधान हो वह "श्रमणसघ" ऐसी व्याख्या की जाने लगी ।

आर्य स्कन्दिल के समय मे जो दूसरी बार आगमसूत्र लिखे गए थे, उस समय श्रमणसघ शब्द की दूसरी व्याख्या मान्य हो चुकी थी और सूत्र मे "चाउवण्णे सघो" शब्द का विवरण, "समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ" इस प्रकार से लिखा जाने लगा था । इसका परिणाम श्रमण-सघ के लिए हानिकारक हुआ, अपने मार्ग में उत्पन्न होने वाले मतभेदो और आचार विषयक शिथिलताओ को रोकना उनके लिए कठिन हो गया था । जिननिर्वाण की १३ वी शती के उत्तरार्ध से जिनमार्ग में जो मतभदो का और आचारमार्ग से पतन का साम्राज्य बढ़ा उसे कोई रोक नही सका ।

वर्तमान आगमों मे से "आचारांग" और "सूत्रकृतांग" ये दो सूत्र मौर्यकालीन प्रथम आगमवाचना के समय मे लिखे हुए हैं । इन दो मे से

"आचाराग" मे केवल एक "पासत्था" शब्द आचारहीन साधु के लिए प्रयुक्त हुआ उपलब्ध होता है, तब "सूत्रकृताग" मे एक शब्द जो आचार-हीनता का सूचक है अधिक बढ़ गया है। वह शब्द है "कुशील"।

उपर्युक्त दो सूत्रो के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्रो मे "पाश्वस्थ, कुशील, अवसन्न, ससक्त, और यथाछन्द" इन पाच प्रकार के कुगुरुओ की परिगणना हुई, परन्तु आगे चलकर "नियय" अर्थात् 'नियत" रूप से "वसति" तथा "आहार" आदि का उपभोग करने वालो की छट्ठे कुगुरु के रूप मे परिगणना हुई। यह सब होने का मूल कारण गृहस्थो का सघ मे प्रवेश और उनके कारण से होने वाला एक दूसरे का पक्षपात है। साधुओ के समुदाय जो पहले "गण" नाम से व्यवहृत होते थे "गच्छ" बने और "गच्छ" मे भी पहले साधुओ का प्राबल्य रहता था वह धीरे-धीरे गृहस्थ श्रावको के हाथो मे गया, गच्छो तथा परम्पराओ का इतिहास बताता है कि कई "गच्छपरम्पराए" तो केवल गृहस्थो के प्रपत्र से ही खडी हुई थी, और उन्होने श्रमणगणो के सघटन का भयकर नाश किया था। मामला यही समाप्त नही हुआ, आगमो का पठन पाठन जो पहले श्रमणो के लिए ही नियत था, श्रावको ने उसमे भी अपना दखल शुरू कर दिया, वे कहते – अमुक प्रकार के शास्त्र गृहस्थ-श्रावक को क्यो नही पढाये जाये? मर्यादारक्षक आचार्य कहते – श्रावक सुनने के अधिकारी है, वाचना के नही, फिर भी कतिपय नये गच्छ वालो ने अमुक सीमा तक गृहस्थो को सूत्र पढाना, सुनाना प्रचलित कर दिया, परिणाम जो होना था वही हुआ, कई सुधारक नये गच्छो की सृष्टि हुई और अन्धाधुन्ध परिवर्तन होने लगे, किसी ने सूत्र-पचागी को ही प्रमाण मानकर परम्परागत आचार-विधियो को मानने से इन्कार कर दिया, किसी ने द्रव्य स्तव भावस्तवो का बखेडा खडा करके, अमुक प्रवृत्तियो का विरोध किया, तब कइयो ने आगम, परम्परा दोनो को प्रमाण मानते हुए भी अपनी तरफ से नयी मान्यताए प्रस्तुत करके मौलिकता को तिरोहित करने की चेष्टा की, इस अन्धाधुन्ध मत सर्जन के समय मे कतिपय गृहस्थो को भी साधुओ के उपदेश और आदेशो

का विरोध कर अपनी स्वय की मान्यताओं को मूर्त रूप देकर अपने मत गच्छ स्थापित करने का उत्साह वढा। ऐसे नये मतस्थापकों में से यहा हम दो मतो की चर्चा करेंगे, एक "लौंकामत" की और दूसरी "कडुवामत" की। पहला मत मूर्तिपूजा के विरोध में खडा किया था, तब दूसरामत वर्तमानकाल में शास्त्रोक्त आचार पालने वाले साधु नहीं हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिये।

लौंका कौन थे ?

लौंकागच्छ के प्रादुर्भावक लौंका कौन थे ? यह निश्चित रूप से कहना निराधार होगा। लौंका के सम्बन्ध मे प्रामाणिक बातें लिखने का आधारभूत कोई साधन नहीं है, क्योकि लौंकाशाह के मत को मानने वालों में भी इस विषय का ऐकमत्य नहीं है। लौंका के सम्बन्ध में सर्वप्रथम लौंकागच्छ के यतियो ने लिखा है पर वह भी विश्वासपात्र नहीं। बीसवीं शती के लेखको मे शाह वाडीलाल मोतीलाल, स्थानकवासी साधु मणिलाल-जी आदि हैं, पर ये लेखक भी लौंका के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दिशाओ मे भटकते हैं। शाह वाडीलाल मोतीलाल लौंकाशाह का जन्म अहमदाबाद मे हुआ मानते हैं और इनको बडा भारी साहूकार एव शास्त्र का बडा मर्मज्ञ विद्वान् मानते हैं, तब स्थानकवासी साधु मुनिश्री मणिलालजी अपनी पट्टावली में लौंका का जन्म "अहटवाडा" मे हुआ बताते हैं और लिखते हैं –

अहमदाबाद में आकर लौंका बादशाह की नोकरी करता था और कुछ समय के बाद नोकरी छोड कर पाटन में यति सुमतिविजय के पास वि० स० १५०६ में यतिदीक्षा ली थी और अहमदाबाद मे चातुर्मास्य किया था, परन्तु वहा के जैनसघ ने यति लौंका का अपमान किया, जिससे वे उपाश्रय को छोड कर चले गये थे।

इसके विपरीत लौंका के समीपवर्ती काल में बने हुए चौपाई, रास आदि में लौंकाशाह को गृहस्थावस्था में ही परलोकवासी होना लिखा है। इन परस्पर विरोधी बातों को देखने के बाद लौंकाशाह

से सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से अभिप्राय व्यक्त करना साहस मात्र ही माना जायगा ।

लौंकाशाह और इनका मन्तव्य

लौंकाशाह का अपना खास मन्तव्य क्या था, इसको इसके अनुयायी भी नही जानते। लौंका की मौलिक मान्यताओ का प्रकाश उनके समीपकालवर्ती लेखको की कृतियो से ही हो सकता है, इसलिए पहले हम लौंका के अनुयायी तथा उनके विरोधी लेखको की कृतियो के आधार से उनके मत का स्पष्टीकरण करेगे ।

लौंकागच्छीय यति श्री भानुचन्द्रजी कृत "दयाधर्म चौपाई' के अनुसार लौंका के मत की हकीकत –

यति भानुचन्द्रजी कहते है – "भस्मग्रह के अपार रोष से जैनधर्म अन्धकारावृत हो गया था । भगवान् महावीर का निर्वाण होने के बाद दो हजार वर्षो मे जो जो बरतारे बरते उनके सम्बन्ध मे हम कुछ नही कहेगे, जब मे शाह लौंका ने धर्म पर प्रकाश डाला और दयाधर्म की ज्योति प्रकट हुई है उसके बाद का कुछ वर्णन करेंगे ।१।२।"

"सौराष्ट्र देश के लीबडी गाव मे डुङ्गर नामक दशा श्रीमाली गृहस्थ बसता था । उसकी स्त्री का नाम था चूडा । चूडा बडे उदार दिल की स्त्री थी, उसने सवत् १४८२ के वैशाख वदि १४ को एक पुत्र को जन्म दिया और उसका नाम दिया लौंका । लौंका जब आठ वर्ष का हुआ तब उसका पिता शा डुगर परलोकवासी हो गया था ।३।४।"

'लौंका की फूफी का बेटा लखमसी नामक गृहस्थ था, जिसने लौंका का धनमाल अपने कब्जे मे रक्खा था । लौंका की उम्र १६ वर्ष की हुई तब उसकी माता भी स्वर्ग सिधार गई । लौंका लीम्बडी छोडकर अहमदाबाद आया और वहा नाणावट का व्यापार करने लगा । हमेशा वह धर्म सुनने और पौषधशाला मे जाता और त्रिकाल पूजा, सामायिक करता, व्या-

स्थान म वह साधुग्रो का ग्राचार सुनता, परन्तु उस समय के साधुग्रो म शास्त्रोक्त ग्राचार पालन न देखकर उनको पूछता–ग्राप कहते तो सही ह परन्तु चलते उससे विरुद्ध है, यह क्या ? लौंका के इस प्रश्न पर यति उसको कहते–धम तो हमसे ही रहता है, तुम इसका मम क्या जानो। तुम पाच ग्राश्रवसेवती हो और साधुग्रो को सिखामन देने निकले हो। ५ ६।७।८।"

'यति के उक्त कथन पर शाह लौंका ने कहा–शास्त्र मे तो दया को धर्म कहा है, पर तुम तो हिंसा का उपदेश देकर ग्रधम की स्थापना करते हो ? इस पर यति ने कहा–फिट् भोण्डे ! हिंसा कहा देखी ? यति के समान कोई दया पालने वाला है ही नही। लौंका ने यति के उत्तर को ग्रपना ग्रपमान माना और साधुग्रो के पास पौषधशाला जाने का त्याग किया। स्थान स्थान वह दया धम का उपदेश देता, ग्रौर कहता–ग्राज ही हमने सच्चा धम पाया है। दूकान पर बैठा हुग्रा भी वह लोगो को दया का उपदेश दिया करता, जिसे सुनकर यति लोग उसके साथ क्लेश किया करते थे, पर लौंका ग्रपनी धुन से पीछे नही हटा। फलस्वरूप सघ के कुछ लोग भी उसके पक्ष मे मिले, बाद म शाह लौंका ग्रपने वतन लींबडी गया, लींबडी मे लौंका की फूफी का बेटा लखमसी कारभारी था, उसने लौंका का साथ दिया ग्रौर कहा–हमारे राज्य मे तुम धम का उपदेश करो। दया धम ही सब धर्मो म खरा धम है। ६।१० ११।१२ "

"शाह लौंका ग्रौर लखमसी के उद्योग से बहुत लोग दया धर्मी बने। इतने मे लौंका को भाणा का सयोग मिला। लौंका बुढडा होने ग्राया था, इसलिए उसने दीक्षा नही ली, पर तु भाणा ने साधु का वेष ग्रहण किया ग्रौर जिनका शाह लौंका ने प्रकाश किया था उस दया धम की ज्योति भाणा ने सवत्र फैलायी। शाह लौंका सवत् १५३२ मे स्वर्गवासी हुए।१३।१४।"

"दया धम जयवन्त है, परन्तु कुमति इसकी निन्दा ग्रौर बुराइया करते हैं, कहते हैं–'लौंका साधुग्रो को मानने का निषेध करता है, पौषध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, जिनपूजा ग्रौर दान को नही मानता।' परन्तु ह

कुमतियो ! यह क्या कहते हो ? लौंका ने जिस बात का खण्डन किया है, वह समझ तो लो। "लौंका सामायिक को दो से अधिक बार करने का निषेध करता है, एवं बिना पौषध का निषेध करता है, व्रत बिना प्रतिक्रमण करने का निषेध करता है। वह भाव-पूजा से ज्ञान को अच्छा बताता है, वह द्रव्य पूजा का निषेध करता है, क्योंकि उसमे धर्म के नाम से हिंसा होती है। ३२ सूत्रों को वह सच्चा मानता है, समता भाव मे रहने वालो को वह साधु कहता है।" उक्त प्रकार से लौंका का धर्म सच्चा है, परन्तु भ्रम मे पडे हुए मनुष्य उसका मर्म नही समझते। १५। १६।१७।१८।१९।"

"जो कुमति है वह हठवाद करता है, जैसे विच्छू के काटने से उन्मादी हुआ बन्दर। झूठ बोलकर जो कर्म बांधता है वह धर्म का सच्चा मर्म नहीं जानता। यतना मे धर्म है और समता मे धर्म है, इनको छोडकर जो प्रवृत्ति करते है वे कर्म बांधते है, जो परनिन्दा करते हैं वे पाप का संचय करते हैं, जिनमे समता नही है उनके पास धर्म नही रहता। श्रीजिनवर ने दया को धर्म कहा है, शाह लोका ने उसको स्वीकार किया है और हम उसी की आज्ञा को पालते है, यह तुमको बुरा क्यो लगता है ? क्या तुम दया में पाप मानते हो जो इतना विरोध खडा कर दिया है, तुम सूत्र के प्रमाण देखो दया बिना का धर्म नही होता जो जिन आज्ञा का पालन करते हैं, उनको मेरा नमस्कार हो। मेरे इस वचन से जिनके मन मे दुःख हुआ हो उनके प्रति मेरा मिथ्यादुष्कृत हो। सं० १५७८ के माघ सुदी ७ को यति भानुचन्द ने अपनी बुद्धि के उल्लास से लौंका के दया-धर्म पर यह चौपाई लिखी है, जो पढने व लो के मन का उल्लास बढाये। २०।२१।२२। २३।२४।२५।"

ऊपर जिसका साराश लिखा है उस दया-धर्म चौपाई से शाह लौंका का जीवन कुछ प्रकाश मे आता है। उनका जन्म गाव, माता-पिता के नाम और जन्म समय पर यह चौपाई प्रकाश डालती है। लौंका अरहट-वाडा मे नहीं पर लीम्बडी (सौराष्ट्र) में जन्मे थे, उनका जन्म १५वीं शती के अन्तिम चरण मे हुआ था। अपनी २८ वर्ष की उम्र मे उसने यतियो

से विरुद्ध होकर उनके सामने "दया धर्म के नाम से अपना मूर्तिपूजा विरोधी मत स्थापित किया था" और २२ वर्ष तक उन्होंने महेता लखमसी के सहकार से उसका प्रचार किया। स० १५३२ में अपने पीछे भाणजी को छोड़कर लौंका परलोकवासी हुए। भाणजी ने साधु का वेश लौंकाशाह के जीवनकाल में धारण किया था या उनके स्वर्गवास के बाद ? इसमें दो मत प्रतीत होते हैं। उक्त "दया-धर्म चौपाई" में लौंका यति भानुचन्द्रजी ने स० १५३२ में लौंकाशाह का स्वर्गवास माना है। लौंकाशाह ने खुद ने दीक्षा नहीं ली पर भाणा ने वेष-धारण किया था ऐसा चौपाई में लिखा है। इसके विपरीत लौंकागच्छ के यति केशवजी कृत लौंकाशाह के सिलोके में लौंका द्वारा स० १५३३ में भाणजी को दीक्षा देने और उसी वर्ष में लौंका के स्वर्गवास प्राप्त करने का लिखा है। केशवर्षि-कृत लौंकाशाह-सिलोके में लेखक ने कुछ ऐतिहासिक बातें भी लिखी हैं इसलिए सिलोका के आधार से लौंकामत की कुछ बातें लिखते हैं—

सौराष्ट्र में नागनेरा नदी के तट पर आए एक गाँव में हरिचन्द्र नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम मूंगीबाई था। पूनमीया गच्छ के गुरु की सेवा से और शत्रुंद के आशीर्वाद से स० १४७७ में उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम "लक्खा" दिया गया। लक्खा ज्ञानसागर गुरु की सेवा करता हुआ पढ़ लिखकर "लहिया" बना और वही पुस्तक लिखने का काम करने लगा। इस कार्य में लक्खा को द्रव्य की प्राप्ति होती थी, श्रुत की भक्ति होती थी, और ज्ञान शक्ति भी बढ़ती थी। आगम लिखते-लिखते उसके मन में शंका उत्पन्न हुई कि "आगम में कहीं भी दान देने का विधान नहीं दीखता, प्रतिमा पूजा, प्रतिक्रमण, सामायिक और पौषध भी मूल सूत्रों में कम दीखता है।" राजा श्रेणिक, कुणिक, प्रदेशी तथा तुंगिया नगरी के श्रावक जो तत्त्वगवेषी थे उनमें से किसी ने प्रतिक्रमण नहीं किया, न किसी को दान दिया। सामायिक और पूजा एक ठट्ठा है, और यतियों की चलाई हुई यह पोल है, प्रतिमा-पूजा बड़ा सन्ताप है, इसको करके हम धर्म के नाम पर थप्पड़ खाते हैं। लक्खा को लोग "लुम्पर" कहते हैं सो ठीक ही है, क्योंकि वह अविधि का लोप करने वाला है।

नवा का दूसरा नाम लङ्का भी है। वह मवत नही है, फिर भी यति ने प्रसिक ह। लोगो ने लौंका मत को परख लिया है।

स० १५०८ मे सिद्धपुर मे लौंका ने जोश-पूर्वक शुद्ध जिन मत की स्थापना की है। लौंका मत प्रसिद्ध हुआ। बादशाह मुहम्मद लुका मत को प्रमाण मानता है। सूबा, सेवक सब कोई इसको मानते हैं और लंका गुरु के चरणों मे सिर नवाते हैं।

उस समय सोरठ देश मे लीम्बडी गाव का लखमसी नामक एक कामदार था, उसने लुकागुरु का उपदेश ग्रहण किया और देश-विदेश मे विस्तार किया। इस मत के सम्बन्ध मे जो कोई वाद-विवाद करता है तो न्यायाधीश भी 'लौंका' का पक्षपात करता है।

"स० १५३३ के वर्ष में लौंका मत के प्रादुर्भावक शाह लौंका ने ५६ वर्ष को उम्र मे स्वर्गवास प्राप्त किया और १५३३ मे ही लौंका ने भाणजी को शिक्षा दी थी।" भाणजी ऋषि सत्य का और जीव-दया का प्रचार करते थे। वर्धमान की पेटी के नायक बनकर भाणजी ऋषि देश विदेश मे विचरते थे और अब तक उनकी शुद्ध परम्परा चलती है।

लौंकागच्छ की पट्टावली (१)

सिलोके मे केशवजी कहते है – अंतिम तीर्थङ्कर श्री वर्द्धमान के गुणवान् ११ गणधर हुए इसलिए उनकी पाट-परम्परा कहते है –

१ महावीर के पचम गणधर सुधर्मास्वामी हुए।

२ सुधर्मा के शिष्य गुणवान् जम्बू हुए।

३ जम्बू के प्रभव, ४ प्रभव के शय्यम्भव, ५ यशोभद्र, ६ सभूति, ७ बाहुस्वामी ८ स्थूलभद्र, ९ महागिरि, १० सुहस्ती, ११ बहुल और १२ बल्लिस्सह स्वाति, १३ कालिकसूरि, १४ स्कन्दिलस्वामी, १५ आयसमुद्र, १६ श्रीमगू, १७ श्रीधर्म, १८ भद्रगुप्त, १९ वज्र स्वामी, २० सिंहगिरि, २१ वज्रसेन, २२ चन्द्र, २३ समन्तभद्र, २४ मल्लवादी, २५ वृद्धवादी, २६ सिद्धसेन, २७ वादीदेव, २८ हेमसूरि, २९ जगच्चन्द्रसरि, ३० विजयचन्द्र, ३१ खेमकीर्तिजी, ३२ हेमजीस्वामी, ३३ यशोभद्र, ३४ रत्नाकर, ३५ रत्नप्रभ, ३६ मुनिशेखर, ३७ धमदेव, ३८ ज्ञानचन्द्रसूरि।

लौंकागच्छ की पट्टावली (१)

हमारे भण्डार मे श्री कल्पसूत्र मूल की एक हस्तलिखित प्रति है, उसके अन्तिम पत्र १७२ से १७४ तक मे लौंकागच्छीय पट्टावली दी हुई है। यह कल्पसूत्र स० १७६४ मे लिखा गया था ऐसा इसकी निम्नोद्धृत पुष्पिका से ज्ञात होता है —

"इति कल्पसूत्र समाप्त "छ" श्री श्री सवत् १७६४ वर्षे शा० १६६० प्रवर्तमाने चैत्रमासे, कृष्णपक्षे ६ गुरौ लि० पूज्य श्री ५ नाथाजी, तत् शिष्य ५ मनोजी तत् शिष्य श्री ५ मूलजी, गुरुभ्राता प्रेमजी लिपी कृत स्वात्मार्थे।"

उपर्युक्त पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह पट्टावली आज से लगभग सवा दो सौ वर्ष पहले लिखी गई है और इसके लिखने वाले लौंकागच्छ के श्रीपूज्य मूलजी के गुरुभाई प्रेमजी यति थे। पट्टावली का प्रारम्भ श्री स्थूलभद्रस्वामी से किया है, अन्य पट्टावली लेखको की तरह इसके लेखक ने भी अनेक युगप्रधानो के नामो तथा समयनिरूपण मे गोलमाल किया है, फिर भी हम इसमे कुछ भी मौलिक परिवर्तन न करके पट्टावली को ज्यो का ज्यो उद्धृत करते हैं —

॥६॥ तत् पटे श्री स्थूलभद्रस्वामीऽत्र स्थूलभद्रजीकथा सर्वं जाणवी ॥७॥ दशपूर्वधारी महावीर पछी १७० वर्षे देवलोक पहोतो ॥ तत्पटे आर्य महागिरी १० पूर्वधर, ॥८॥ तत्पट्टे आर्य सुहस्तस्वामी, ॥६॥ तत्पट्टे श्री गुणगार स्वामी, ॥१०॥ तत्पट्टे श्री कालिकाचार्य, ॥११॥ तत्पट्टे श्री सडिलस्वामी, ॥१२॥ तत्पट्टे श्री रेवतगिरस्वामी, ॥१३॥ तत्पट्टे सौधर्माचार्य,

॥१४॥ तत्पट्टे श्रीगुप्तास्वामी, ॥१५॥ तत्पट्टे श्री श्रायमगुस्वामी, ॥१६॥ तत्पट्टे श्री श्रायसुधर्मस्वामी, ॥१७॥ तत्पट्टे श्री वृद्धवादधरस्वामी, ॥१८॥ तत्पट्टे श्री कुमुदचन्द्रस्वामी, ॥१६॥ तत्पट्टे श्री सिंहगिरिस्वामी, ॥२०॥ तत्पट्टे श्री वयरस्वामी दशपूवधर, ॥२१॥ तत्पट्टे श्री भद्रगुप्ताचाय स्वामी, ॥२२॥ तत्पट्टे श्री श्रायनन्द स्वामी, ॥२३॥ तत्पट्टे श्री श्रायनागहस्ती स्वामी, ॥२४॥ तेणे वारे बीजी पट्टावलीमा सत्तावीसमे पाट देवर (धि) गणि जेणे सव सून पुस्तके चढाव्या ते समस्थ जाणव्यो, श्रायनागहस्ती, तत्पट्टे श्री रेवतस्वामी, ॥२५॥ तत्पट्टे श्री ब्रह्मदिन्नस्वामी, ॥२६॥ तत्पट्टे श्री सडिलसूरि, ॥२७॥ तत्पट्टे श्री हेमवन्तसूरि, ॥२८॥ तत्पट्टे श्री नागार्जुनस्वामी, ॥२६॥ तत्पट्टे श्री गोवन्दवाचक स्वामी, ॥३०॥ तत्पट्टे श्री सभूतिदिनवाचक स्वामी, ॥३१॥ तत्पट्टे श्री लोहगिरिस्वामी, ॥३२॥ तत्पट्टे श्री हरिभद्रस्वामी, ॥३३॥ तत्पट्टे श्री सिलगाचायस्वामी ॥३४॥

तिवारपनी (छी) १२ दुकाली जोगे पाट लोहडीवडी पोसाल मा चाल्या जावत् पौशालिक धम प्रवर्त्यो । पौशालिक कालि माहात्मा नाम घरवुई छै ॥ पाट ३३ । ३४ सूधी पूवधर छे, पछ पूव विद्या ढाकी पोसाल प्रवर्ति जाता जाता पाट १० । १२ पोसाल मा थया, तिणे समे सूत्रने ढाकी श्रनेरा देहेरा पोशालना माहातम ग्रन्थकरी पूजाऽर्चा धम चलाव्यो, वीर पछी १२ सौ वर्षे देहरा प्रवर्त्या, जावत् महावीर पछी बेसहस्र वप वुश्रो तिहा सूधी पौशाल धर्म प्रवतना थई ॥ तेणे समे श्री गुजर देशें श्रणहल्लपुर पाटन नें विषे मोटी पौशाल सूरी सूरपाट प्रवर्ति थई, तेणे समे ते नगरमा लोकासाह इसइ नामइ विवहारी वसे छे, जावत सिद्धवत छे, लिखत कला छै, ते माटे एकदा समे सूरि सूरे सिद्धान्त परत जुनी थाई जाणी लका साहनें लिखवा दीधी, ते लिखता वीरवाणी सिधात जाण्यो, १ परत पोतो ने अर्थ लिखें, १ परत सूरिसर ने लिखी देयें, एम करतां ३२ सूत्र लिख्या, तेणे समे सूरिशरे जाण्यो ते पोतानी प्रति पण लिखे छ पछे भडारमाथी लिखया दीधी नहीं । पाटन ना भडार मा ८४ सूत्र छै बीजी श्रागमोक्त सर्व विद्यापण छ, पण ३२ सून लकेसाहि लिख्याति श्रावक श्रागेवांची साधना गुण विचाडे ॥ वीरवाणी श्रोनखावचे इम करता केनलाक सूत्र रुचि

श्रावक थया, साध मूत मानता थया, तेरो समय मारवाड थी एक सघ सेत्रुजानी जात्राइ जाइ, तेमा ८ स्घ मुखी छे, भाणा, भीदा, जगमाल, सरवा प्रमुख ते पाटरा श्राव्या, ते लकासाह नो नवीन धर्म प्रबोध साभलवा श्राव्या, तेरो प्रबोध दई सिद्धात श्रोल्खाव्यो, तेरो पोसाली धर्म, देहरो, प्रतमा पुजा मुकी, साधथया, तारे लके साहो सूत्र ३३ साधनें ते सूंप्या हवे, तुम्यो वांचो धम धुरधर, त्यांर पछी भाराादिक साधे वीरधर्मवार्णी साधु धम देशे २ प्रवर्तना कीधी, इम सूरिसरे जाण्यो जे सर्वे ए धर्म ग्रहसे, तारि पोसालमांथी पाटधारी सूरि क्रियाउधारो निकल्यां, नाम 'तपगछ" धराणो, इम करता भाणा, भीदाना साधप्रवर्त्या, तेरो श्राचार्य-पद धरयो लके साहि धम प्रवर्ताव्यो ते माटे श्राचार्ये 'लुका नामे गच्छ स्थापना कीधी" लुकागच्छ स्थापना जाणवी। श्रीवीरवाणी महापन्नवणा सूत्र मा तथा दुसरा ग्रन्थ मा कह्यो छे, जे पचमा श्रारा मा 'रुपा, जीवा दो भारीया भवई", ते श्राचार्य श्रेमना साध धम प्रवर्त्या, तेरो समे सवत् १५०० मध्ये दक्षरा देशे निकलकी राजा ने घरे धर्मदत्त पुत्र उपनो, लोक मा बुध अयतारे कहवाणो, शुभ परो साधुधर्म प्रकासे, जिनशासन धमउदे करी सबुध कला ज्ञानप्रकासी पाचमा देवलोके देवता थया। तेलकगच्छ मा थया, तीथ गौत्री ते वीरवाणी सूत्र माही छे, ते रुप रुप धर्म धूरधर महत पुरुष धर्माचार्य भवप्राणी उधारक थया तिल (तेह) ना पाट लिखिये छे ॥ छ ॥

प्रथम पाट युगप्रधान श्री ६ श्री रुपरखजी (१), तत ट्टे श्री युगप्रधान श्री ६ जीवरुपजी जी ॥२॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ वरुद्धवरसगाजी ॥३॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री लघुवरसगजी ॥४॥, तत्पट्टे यु० जसवतजी ॥५॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ रुपसिहजी ॥६॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ दामोदरजी ॥७॥, तत्पट्टे यु० ६ श्री क्रर्मसिहजी ॥८॥, तत्पट्टे युग० श्री ६ केशवजी ॥८॥, तत्पट्टे यु० श्तेजसिहजी ॥१०॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ लख्यमचद्रजी ॥११॥, तत्पट्टे श्री ६ श्री दुर्लसिहजी ॥१२॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री जगरुपजीजी जय-जयवत, अस्मिन् जबुद्वीपे अस्मिन् भरतखण्डे, दक्षरा भरते, अस्मिन् देशे, अस्मिन् ग्रामनगरे, अस्मिन् चतुर्मासे चतुविध सग धम प्रबोधित तेहुना

गुणकीर्तिना करता सघ ने यर्भ (परम) कल्याणनी कोड हुई ॥श्रीरस्तु॥ तत्पट्टे श्री ६ श्री जगजीवनजी, तत्पट्टे श्री - मेघराजजी, तत्पट्टे युगप्रधान जयवता श्री ६ श्री सोमचदजी, तत्पट्टे श्री ६ श्री हर्षचन्द्रजी, तत्पट्टे श्री ६ युगप्रवर्तक जयचन्द्रजी, तत् श्री युगप्रवर श्री ६ कल्याणचन्द्र सूरिसर छे ॥"

लौंकागच्छ की पट्टावली (३)

(वडोदे की गादी)

तपगच्छ की वडी पौशाल के आचार्य ज्ञानसागरसूरि के पुस्तक लेखक लौंका गृहस्थ ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध मे अपना लौंकामत चलाया, उसके मतानुयायी ऋषि नामक वेशधारियो की एक परम्परा नीचे मुजब है –

१ भाणजी ऋषि
२ भीदाजी ,,
३ नूनाजो ,,
४ भीमाजी ,,
५ जगमालजी ,,
६ सर्वाजी ,,
७ रुपजी ,,
८ जीवाजी ,,

(१) ९ वरसिंहजी (वृद्ध) को स० १६१३ के ज्येष्ठ वदि १३ को वडोदे के भावसारो ने श्रीपूज्य का पद दिया, तब से उनकी गादी वडोदे मे स्थापित हुई और "गुजराती लौंकागच्छ मोटीपक्ष" ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ। इसी दर्म्यान अहमदावाद के मूल गादी के श्रीपूज्य कुंवरजी ऋषि के उत्तराधिकारी श्री मेघजी ऋषि ने २६ ऋषियो के साथ आचार्य श्री हीरसूरि के पास दीक्षा स्वीकार की, स० १६२८ मे।

(२) १० वरसिहजी ऋषि (लघु) दूसरे वरसिंहजी जिनका स्वर्गवास

१६५२ मे हुआ था, के शिष्य कलाजी ने भी सवेग माग स्वीकार किया था जो विजयानन्दसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे ।

११ यशवन्त ऋषि
१२ रूपसिंहजी ,,
१३ दामोदरजी ,,
१४, कर्मसिंहजी ,,
१५ केशवजी ,, गुजराती लोंकागच्छ के वडे पक्ष का दूसरा नाम "केशवजी पक्ष' भी है ।
१६ तेजसिंहजी ,,
१७ कानजी ,,
१८ तुलसीदासजी ,,
१९ जगरूपजी ,,
२० जगजीवनजी ,,
२१ मेघराजजी ,,
२२ सोमचन्दजी ,,
२३ हरकचन्दजी ,,
२४ जयचदजी ,,
२५ कल्याणचन्दजी ,,
२६ खूबचन्दजी ,,
२७ श्रीपूज्य न्यायचन्द्रसूरि

बालापुर की गादी की लौंका पट्टावली (४)

८ ऋषि जीवाजी

९ ,, कुंवरजी — इनको बालापुर के श्रावकों ने श्रीपूज्य का पद दिया, तब से इनकी गादी बालापुर में स्थापित हुई और 'गुजराती लौंकापक्ष का छोटा पक्ष' इस नाम से वह प्रसिद्ध हुई। इनके शिष्य ऋषि मेघजी अहमदाबाद की गादी ऊपर थे, जिन्होंने संवेगी-मार्ग ग्रहण किया था।

१० ,, श्रीमलजी

११ ,, रत्नसिंहजी

१२ ,, केशवजी — स्व० सं० १६८६ में।

१३ ,, शिवजी — इनके शिष्य धर्मसिंह के शिष्य धर्मदासजी ने "ढुण्ढिया" मत चलाया।

१४ ,, संघराजजी — स्व० सं० १७२५ में। आनन्द ऋषि ने अपने शिष्य ऋषितिलक को श्रीपूज्य बनाकर नया गच्छ स्थापित किया जो "अढारिया" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१५ ,, सुखमलजी — स्वर्ग सं० १७६३ में।

१६ ,, भागचन्द्रजी

१७ ,, बालचंदजी

१८ ,, माणिक्यचंदजी

१९ ,, मूलचंदजी — स्वर्ग सं० १८७६

२० ,, जगतचंदजी

२१ ,, रतनचंदजी

२२ ,, नृपचंदजी — (मुनि मणिलाल-कृत "प्राचीन संक्षिप्त इतिहास")

ाुजराती लौंकागच्छ की पट्टावली (२)

(पू० जयराजजो)
(पू०) ऋ० मेघराजजी)
(,, ,, कृष्णाजी)
(,, ,, वगतमलजी)
(,, ,, परसरामजी)
(,, ,, ज्योतिरूपजी) स० १८९५
(,, ,, हृषजी)
(,, ,, जिनदासजी) स० १९१० आगरा

केशवर्षि वर्णित लौंकागच्छ की पट्टावली (६)

भाणाजी ऋषि के पाट पर सुबुद्धिभद्र ऋषि हुए।

भीमाजी स्वामी

जगमाल ऋषि

सर्वा स्वामी

इस समय कुमति बीजा पापी निकला जिसने फिर जिन-प्रतिमा की स्थापना की। सर्वा स्वामी के बाद–रूपजी।

जीवाजी।

कुवरजी।

श्रीमलजी ऋषि जो विचर रहे है, इन पूज्य के चरणो को प्रणाम करके केशव ने यह गुरुपरम्परा गाई है।

उपर्युक्त लौंकाशाह-सिलोका के लेख के श्री केशवजी ऋषि ने श्रीमल जी को अपना गुरु बताया है और श्रीमलजी लौंकाशाह के आठवें पट्टधर श्री जीवर्षि के तीन शिष्यो मे से एक थे, इससे सिलोका के लेखक केशवजी स १६०० के आसपास के व्यक्ति होने चाहिए। इनसे २५-३० वर्ष पूर्ववर्ती लौंका-गच्छीय यति भानुचन्द्रजी लौका की मान्यता के सम्बन्ध मे मन्दिर-मार्गियो की तरफ से होने वाले आक्षेपो का उत्तर देते हुए कहते हैं— "लौंका यतियो को नही मानता, लौका सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, जिनपूजा, दान नही मानता इत्यादि।" क्या कहा? लुका ने क्या उत्थान किया है? वह तो दो बार से अधिक बार सामायिक करने, पर्वदिन बिना पौषध करने, १२ व्रत बिना प्रतिक्रमण करने, आगार-सहित-

प्रत्याख्यान करने और असयत को दान देने का निषेध करता है। तब भानुचन्द्रजी से बाद मे होने वाले केशवजी ऋषि मन्दिर-मार्गियो की तरफ से किये जाने वाले आक्षेपो का खण्डन न करके अपने लौंकाशाह के सिलोका की गाथा १३, १४, १५ मे उनका समर्थन करते है। वे कहते है–"दान देने मे आगम साक्षी नही है। प्रतिमापूजा, प्रतिक्रमण, सामायिक और पौषध भी आगम मे नही है। राजा श्रेणिक, कुणिक, प्रदेशी और तत्त्व गवेषक तु गिया के श्रावको मे से किसी ने प्रतिक्रमण नही किया, न पर को दान दिया। सामायिक पूजा यह ठट्ठा है और यतियो की चलाई हुई पोल है, प्रतिमा पूजा सन्ताप रूप है तो इसको करके हम धम को थप्पड क्यो लगाए ? यति भानुचन्द्रजी और केशवजी ऋषि की इन परस्पर विरोधी बातो से मालूम होता है कि लौंकाशाह की मान्यताओ के सम्बन्ध मे होने वाले आक्षेप सत्य थे। यदि ऐसा नही होता तो केशवजी ऋषि उनका समथन नही करते, इसके विपरीत यति भानुच द्रजी ने इन आक्षेप-जनक बातो का रूपान्तर करके बचाव किया है। इससे निश्चित होता है कि लौंका की प्रारम्भिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे लौंका के अनुयायी ऋषियो मे ही बाद मे दो मत हो गये थे, कुछ तो लौंकाशाह के वचनो को अक्षरश स्वीकार्य मानते थे, तब कतिपय ऋषि उनको सापेक्ष बताते थे। कुछ भी हो एक बात तो निश्चित है कि कोई भी लौंका का अनुयायी लौंका के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी नही रखता था। यति भानुच द्रजी ने लौंका के सम्बन्ध मे जो कुछ खास बातें लिखी है, केशवजी ऋषि ने अपने लौंका-सिलोका मे उनसे बिल्कुल विपरीत लिखी हैं। भानुचन्द्रजी लौंका का जन्म स० १४८२ के वैशाख वदि १४ को लिखते हैं, उसका गाव लीम्बडी, जाति दशा श्रीमाली और माता-पिता के नाम शाह डुगर और चूडा लिखते हैं तथा लौंका का परलोकवास १५३२ मे हुआ बताते हैं। इसके विपरीत केशव ऋषि लौंका का गाव नागनेरा नदी के तट पर बताते हैं और माता पिता के नाम सेठ हरिचन्द्र और मूगीबाई लिखते हैं, लौंका का नाम लखा लिखते हैं और उसका जन्म १४७७ मे बताते हैं और लौंका का स्वर्गवास स० १५३३ मे होना लिखते हैं। इस प्रकार लौंकाशाह के *निकटवर्ती अनुयायी ही उनके सम्बन्ध मे एक-मत नही थे तो अन्य गच्छ*

तथा सम्प्रदाय की मान्यता का निर्देश करके इस विषय को बढाना तो बेकार ही होगा ।

लौंका के जन्म स्थान और जाति के सम्बन्ध मे तो इतना अज्ञान छाया हुआ है कि उसका किसी प्रकार से निर्णय नही हो सकता । कोई इनको दशा-श्रीमाली और लीम्बडी मे जन्मा हुआ मानते हैं, कोई इनको ओसवाल जातीय अरहटवाडा मे जन्मा हुआ मानते हैं, कोई इनको दशा-पोरवाल जाति मे पाटन मे जन्मा हुआ मानते हैं । कोई इनको नागनेरा नदी-तट के गाव मे जन्म लेने वाला मानते हैं, कोई इनको जालोर मारवाड समीपवर्ती पोपालिया निवासी मानते हैं, कोई इनका जन्म-स्थान जालोर को मानते हैं, तब स्वामी जेठमलजी, श्री अमोलक ऋषिजी, श्री सन्तवालजी और शा० वाडीलाल मोतीलाल लौंकाशाह को अहमदाबाद निवासी मानते है ।

पूर्वोक्त लौंकाशाह के संक्षिप्त निरूपण से इतना तो निश्चित हो जाता है कि लौंकाशाह १५वी शताब्दी के अन्तिम चरण से १६वी शती के द्वितीय चरण तक जीवित रहने वाले एक गृहस्थ व्यक्ति थे। लौंका ने मूर्ति-पूजा के अतिरिक्त अनेक बातो को अशास्त्रीय कहकर खण्डन किया था, परन्तु उनके अनुयायी ऋषियो ने एक मूर्तिपूजा के अतिरिक्त शेष सभी लौंका द्वारा निषिद्ध बातो को मान्य कर लिया था और कालान्तर मे लौंकागच्छ के अनुयायी यतियो और गृहस्थो ने मूर्तिपूजा का विरोध करना भी छोड दिया था । आज तक कई स्थानो मे लुंकागच्छ के यति विद्यमान हैं जो मूर्तियो के दर्शन करते हैं और उनकी प्रतिष्ठा भी करवाते हैं और लौंका-गच्छ का अनुयायी गृहस्थवर्ग जिन-मूर्तियो की पूजा भी करता है ।

लौंकागच्छ और स्थानकवासी

लौंकागच्छ के अनुयायी यति और गृहस्थ जब लौंका की मान्यताओं को छोड कर अन्य गच्छो के यतियो की मर्यादा के बिलकुल समीप पहुँच गए तब उनमे से कोई कोई यति क्रियोद्धार के नाम से अपने गुरुओ से जुदा होकर मुँह पर मुँहपत्ति बाध कर जुदा फिरने लगे। इन क्रियोद्धारको मे पहला नाम "धर्मसिहजी" का है, लौंकागच्छ वालो ने इनको कई कारणो से गच्छ बाहर कर दिया था। इस सम्बन्ध मे नीचे लिखा दोहरा पढने योग्य है –

> "सवत् सोलह पच्च्यसिए, अहमदाबाद मझार।
> शिवजी गुरु को छोड के धर्मसिंह हुआ गच्छ बहार॥"

क्रियोद्धारको मे दूसरे पुरुष यति लवजी थे जो लौंकागच्छीय यति बजरगजी के शिष्य थे। गुरु के मना करने पर भी लवजी मुह पर मुहपत्ति बाधकर उनसे अलग हो गये। धर्मसिंह और लवजी सूरत मे मिले, दोनो क्रियोद्धारक थे, दोनो मुहपत्ति बाधते थे, पर छ-कोटि आठ कोटि के बखेडे के कारण ये दोनो एक दूसरे से सहमत नही हुए, इतना ही नही, वे एक दूसरे को जिनाज्ञाभजक और मिथ्यात्वी तक कहते थे।

तीसरे क्रियोद्धारक का नाम था धर्मदासजी। ये धर्मसिहजी तथा लवजी मे से एक को भी नही मानते थे और स्वय मुहपत्ति बाधकर क्रियोद्धारक के रूप में फिरते थे। इन क्रियोद्धारको से समाज और लौंकागच्छ को जो नुकसान हुआ है उसके सम्बन्ध मे वाडीलाल मोतीलाल शाह का निम्नोद्धृत अभिप्राय पढने योग्य है। शाह कहते हैं –

"× × × इतना इतिहास देखने के बाद मैं पढ़ने वालो का ध्यान एक बात पर खीचना चाहता हू कि स्थानकवासी व साधुमार्गी जैन-धर्म का जब से पुनर्जन्म हुआ तब से यह धर्म अस्तित्व मे आया और आज तक यह जोर-शोर मे था या नही ! अरे ! इसके तो कुछ नियम भी नही थे, यतियो से अलग हुए और मूर्तिपूजा को छोडा कि ढू ढिया हुए । × × ×"

"× × × मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार इस तरकीब से जैन-धम का बडा भारी नुकसान हुआ, इन तीनो के तेरह सौ भेद हुए । ×××"

ऊपर के विवरण से सिद्ध होता है कि आज का स्थानकवासी-सम्प्रदाय लोकागच्छ का अनुयायी नही है, किन्तु लौंकागच्छ से बहिष्कृत धमदासजी लवजी तथा स्वय वेशधारी धर्मसिहजी का अनुयायी है, क्योकि मुँह पर मुँहपत्ति बांध कर रहना उपर्युक्त तीन सुधारको का ही आचार है । लौंकाशाह स्वय असयत दान का निषेध करते थे, तब उक्त क्रियोद्धारक अभयदान का शास्त्रोक्त मतलब न समझ कर पशुओ, पक्षियो को उनके मालिको को पैसा देकर छोडाने को अभयदान कहते थे । आज तक स्थानकवासी-सम्प्रदाय मे यह मान्यता चली आ रही है ।

आजकल के कई स्थानकवासी सम्प्रदायो ने अपनी परम्परा मे से शाह लौंका का नाम निकाल कर ज्ञानजी यति, अर्थात् "ज्ञानचन्द्रसूरिजी" से अपनी पट्टपरम्परा शुरु की है । खास करके पजाबी और कोटा की परम्परा के स्थानकवासी साधु लौका का नाम नही लेते, परन्तु पहले के लौंकागच्छ के यति लौकाशाह से ही अपनी पट्टपरम्परा शुरु करते थे । हमने पहले जिस लौंकाशाह के शिलोके को दिया है उसमे केशवजी ऋषि द्वारा लिखी हुई पट्टावली केशवर्षि वर्णित, "लौकागच्छ की पट्टावली (६)", इस शीपक के नीचे दी है ।

श्री देवर्द्धि गणि के बाद ज्ञानचन्द्रसूरि तक के आचार्यो के नामो की सूची देकर केशवजी लौंकाशाह का वृत्तान्त लिखते हैं तथा लौंकाशाह के उत्तराधिकारी के रूप मे भाणजी ऋषि को बताते है और भाणजी के बाद—

भद्र ऋषि
नवरा ऋषि
नोनाजी
नानाज ऋषि
मवो स्वामी
रूपजी
जीवाजी
कुवरजी और

श्रीमलजी के नाम लिखकर उनका प्रमाण करते हैं।

इन लेख से प्रमाणित होता है कि लुंकागच्छ वालों ने अपना सम्बन्ध बृहत्पोपालिक पट्टावली से जोड़ा था, परन्तु उनमें से निकले हुए धर्मदासजी लवजी और धर्मसिंहजी के बाद उनके अनुयायियों में अनेक परम्पराएं और आम्नाय स्थापित हुए। इन आम्नायों के अनुयायी स्थानकवासी साधु अपना सम्बन्ध प्रसिद्ध अनुयोगधर श्री देवद्धिगणि क्षमा-श्रमण से जोड़ना चाहते हैं, इसके लिए उन्होंने कल्पित नाम गढ़कर अपना सम्बन्ध जोड़ने का साहस भी किया है, परन्तु इसमें उनको सफलता नहीं मिली, क्योंकि लौंकागच्छ वालों ने तो, ज्ञानचन्द्रसूरि तक के पूर्वाचार्यों को अपने पूर्वज मान कर सम्बन्ध जोड़ा था और वह किसी प्रकार मान्य भी हो सकता था, परन्तु स्थानकवासी समाज के नेता ५०५ वर्ष से अधिक वर्षों को कल्पित नामों से भर कर अपने साथ जोड़ते हैं, यह कभी मान्य नहीं हो सकेगा।

इस समय हमारे पास स्थानकवासी-सम्प्रदाय की चार पट्टावलिया मौजूद हैं –

(१) पजाबी स्थानकवासी साधुओं द्वारा व्यवस्थित की गई पट्टावली।
(२) अमोलक ऋषिजी द्वारा सकलित।
(३) कोटा के सम्प्रदाय द्वारा मानी हुई पट्टावली और
(४) श्री स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी द्वारा व्यवस्थित की हुई पट्टावली।

ये चारो ही पट्टावलिया ग्राचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण पयन्त की हैं। इनमे गणधर सुधर्मा से लेकर नवमे पट्टधर ग्राचार्य महागिरि तव के नाम सव मे समान हैं, वाद के १८ नामो मे एक दूसरे से वहुत ही विरोध है, परन्तु इसकी चर्चा मे उतर कर समय खोना वेकार है।

पजाव के स्थानकवासियो को पट्टावली मे देवर्द्धिगणि के वाद के १८ नाम छोड कर ग्रागे के नाम निम्न प्रकार मे लिखे हैं –

"४६ हरिसेन, ४७ कुशलदत्त, ४८ जीवनर्षि, ४६ जयसेन, ५० विजयर्षि, ५१ देवर्षि, ५२ नूरसेनजी, ५३ महासेन, ५४ जय-राज, ५५ विजयसेन, ५६ मिश्र(त्र)सेन, ५७ विजयसिंह, ५८ शिवराज, ५६ लालजीमल्ल, ६० ज्ञानजी यति।

स्थानकवासियों की हस्तलिखित पट्टावली १.

स्थानकवासी पट्टावलियो के सम्बन्ध में ऊपर हमने जो ऊहापोह किया है, वे सभी मुद्रित पट्टावलियां हैं। अब हम एक हस्तलिखित पट्टावली के सम्बन्ध मे विचार करेंगे। हमारे पास स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक ११ पत्र की पट्टावली है जिसका प्रारभ निम्नलिखित शब्दो से होता है–

"अथ श्री गुरुभ्यो नमो नम" ॐ ह्रीं श्री मोतीचन्दजी, श्री वर्दीचन्दजी श्री नमो नम।" "अथ श्री पटावली लिखते" "वली पाट परपराये चाल्यो आवे छे ते कहे छे–"

"श्री जेसलमेर ना भडार माहे थी पुस्तक लौंके महेताजीए कडावी जोया छे, तिणमाहे ऐसी वीगत निकली छे॥"

उपर्युक्त प्रारम्भ वाली पट्टावली किसी स्थानकवासी पूज्य ने स० १६३६ के वर्ष मे गाव सीतामऊ मे लिखी हुई है, ऐसा अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है। "पटावली" यह अशुद्ध नाम स्वय बताता है कि इसका लेखक सस्कृत का जानकार नही था, उसने इस पट्टावली मे सुनी सुनाई वातें लिखी हैं और जैसलमेर के भण्डार मे से पुस्तकें लौंका महेता ने निकालकर देखने की वात तो कोरी डीग है, क्योकि लौंका महेता ने अहमदावाद और लीम्बडी के वीच के गावो के अतिरिक्त कोई गाव देखे ही नही थे। लौंका के परलोकवास के बाद भाणजी आदि ने गुजरात और अन्य प्रदेशो मे फिरकर लौंका के मत का प्रचार किया था पर उनमे से कोई जैसलमेर गया हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

प्रस्तुत पट्टावली लेखक जैनशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र से कितना दूर था यह बात उसके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट होती है—

लेखक इन्द्र के मुख से भगवान् महावीर को कहलाता है – "अहो भगवन्त ! पूज्य तुमारी जन्मरास उपरे भस्म ग्रहो वेठो छे, दोय हजार वरसनो सीघस्य छ।" भगवान् महावीर की जन्मराशि पर दो हजार वर्ष की स्थिति वाला भस्मग्रह बैठने और उसको "सिहस्य" कहने वाले लेखक ने "कल्प-सूत्र" पढा मालूम नही होता, क्योंकि कल्पसूत्र देखा होता तो वह भगवन्त की जन्मराशि न कहकर जन्म-नक्षत्र पर दो हजार वर्ष की स्थिति का भस्मग्रह बैठने की बात कहता, और "भस्मग्रह को सिहस्य" मानना भी ज्योतिष से विरुद्ध है। प्रथम तो भगवान् महावीर के समय में राशियों का प्रचलन ही नही हुआ था, दूसरा महावीर की जन्मराशि "कन्या" है और जन्म नक्षत्र "उत्तरा फाल्गुनी।" इस परिस्थिति मे उक्त कथन करना अज्ञानसूचक है।

अब हम पट्टावलीकार की लिखी हुई देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक की पट्टपरम्परा उद्धृत करके यह दिखायेंगे कि मुद्रित लौंकागच्छ की सभी पट्टावलियों मे देवर्द्धिगणि की परम्परा नन्दी सूत्र के अनुसार देने की चेष्टा की गई है, वह परम्परा वास्तव मे देवर्द्धि की गुरु-परम्परा नही है, किन्तु अनुयोगधर वाचकों की परम्परा है। तब प्रस्तुत पट्टावली मे लेखक ने देवर्धिगणि क्षमा-श्रमण की गुरु-परम्परा समझकर दी है, जिससे कई स्थलों पर भूले दृष्टिगोचर होती हैं।

प्रस्तुत पट्टावली की देवर्द्धिगणि-परम्परा :

(१) सुधर्मा	(२) जम्बु	(३) प्रभव
(४) शय्यम्भव	(५) यशोभद्र	(६) सभूतविजय
(७) भद्रबाहु	(८) स्थूलभद्र	(९) महागिरि
(१०) सुहस्ती	(११) सुप्रतिबुद्ध	(१२) इन्द्रदिन्न
(१३) आर्यदिन्न	(१४) वज्रस्वामी	(१५) वज्रसेन

(१६) आर्य रोहण	(१७) पुष्यगिरि	(१८) युगमन्त्र
(१९) धरणीधर स्वामी	(२०) शिवभूति	(२१) आयभद्र
(२२) आयनक्षत्र	(२३) आयरक्ष	(२४) नाग
(२५) जेहलविसन स्वामी	(२६) सदिदत्र	(२७) देवड्ढि

पट्टावली लेखक यह परम्परा नन्दीसूत्र के आधार से लिखी बताते हैं जो गलत है। इस परम्परा के नामो मे आय महागिरि और आय-सुहस्ती को एक पट्ट पर माना है, तब आर्य सुहस्ती के बाद के नामो मे से कोई भी नाम नन्दी मे नही है, किन्तु पिछले सभी नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली के है, इसमे दिया हुआ ११ वा सुप्रतिबुद्ध का नाम अकेला नहीं किन्तु स्थविरावली मे "सुस्थित सुप्रतिबुद्ध" ऐसे सयुक्त दो नाम हैं। आय दिन्न के बाद इसमे वज्रस्वामी का नाम लिखा है जो गलत है। आयदिन्न के बाद पट्टावली मे आय सिंहगिरि का नाम है, बाद मे उनके पट्टधर वज्र-स्वामी है। वज्रस्वामी के शिष्य वज्रसेन के बाद इसमे आर्य-रोहण का नाम लिखा है जो गलत है। आयरोहण आयसुहस्ती के शिष्य थे, न कि वज्रसेन के, वज्रसेन के शिष्य का नाम 'आय-रथ' था। पुष्यगिरि के बाद इसमे १८वें पट्टधर का नाम "युगमन्त्र" लिखा है जो अशुद्ध है। पुष्य-गिरि के उत्तराधिकारी का नाम आर्य "फल्गुमित्र" था, फल्गुमित्र के बाद के पट्टधर का नाम कल्पस्थविरावली मे आय "घनगिरि" है जिसको विगाडकर प्रस्तुत पट्टावली मे "धरणीधर स्वामी" लिखा है। आय-नक्षत्र के पट्टधर का नाम कल्पस्थविरावली मे "आय-रक्ष" है, जिसके स्थान पर प्रस्तुत पट्टावलीकार ने "क्षत्र" ऐसा गलत नाम लिखा है। आयनाग के बाद "कल्पस्थविरावली" मे "जेहिल" और इसके बाद "विष्णु" का नम्बर आता है, तब प्रस्तुत पट्टावली मे उक्त दोनो नामों को एक ही नम्बर के नीचे रख लिया है। विष्णु के बाद कल्पस्थविरावली मे "आयकालक" का नम्बर है, तब प्रस्तुत पट्टावली मे इसके स्थान पर "सढिल" यह नाम है जो शाण्डिल्य का उपभ्रंश है। शाण्डिल्य देवर्द्धिगणि के पूववर्ती आचार्य थे, जबकि पट्टावली लेखक विष्णु के बाद के अनेक आचार्यों के नाम छोडकर देवर्द्धिगणि के समीपवर्ती शाण्डिल्य का नाम खींच लाया है, इसके बाद

दर्वाद्धिगणि क्षमा श्रमण का नाम लिखकर उन्हे २७वा पट्टधर मान लिया है। वास्तव मे देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण की गुरु परम्परा गिनने से उनका नम्बर ३४वा आता है, जबकि देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण २७ वें पुरुप माने गये हैं, सो वाचक-परम्परा के क्रम से, न कि गुरु-शिष्य-परम्परा क्रम से। इस भेद को न समझने के कारण से ही प्रस्तुत पट्टावलीकार ने कल्पस्थविरावली के क्रम से देवर्द्धिगणि को २७वा पुरुप मानने की भूल की है।

देवर्द्धिगणि तक के नाम लिखकर पट्टावली लेखक कहता है – ये २७ पाट नन्दीसूत्र मे मिलते हैं, "ये २७ पट्टधर जिनाज्ञा के अनुसार चलते थे, तब इनके बाद मे पाट परम्परा द्रव्यलिंगियो की चली, फिर कालातर मे आत्मार्थी साधु शुद्धमार्ग को चलायेगे उनका अधिकार आगे कहते हैं।"

लेखक के कहने का तात्पर्य यह है कि देवर्द्धिगणि के बाद जो साधु परम्परा चली वह मात्र वेषधारियो की परम्परा थी। भाव साधुओ की नही। यहा लेखक को पूछा जाय कि भावसाधु देवर्द्धिगणि के बाद नही रहे और स० १७०६ से भगवान् के दयाधर्म का प्रचार स्थानकवासी साधुओ ने किया, तब देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के बाद और स्थानकवासी साधुओ के प्रकट होने के पहले के १२०० वर्षों मे भगवान् का दयाधर्म नही रहा था ? क्योकि जैन शासन के चलाने वाले तो निर्ग्रन्थ भावसाधु ही होते थे। तुम्हारी मान्यता के अनुसार देवर्द्धि के बाद की श्रमणपरम्परा केवल लिंगधारियो की थी तब तो स० १७०६ के पहले के १२०० वर्षों मे जैन दयाधर्म विच्छिन्न हो गया था, परन्तु भगवतीसूत्र मे भगवान् महावीर ने अपना धर्मशासन २१ हजार वर्षों तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहने की बात कही है, अब भगवतीसूत्र का कथन सत्य माना जाय या प्रस्तुत स्थानकवासी पट्टावली के लेखक पूज्यजी का कथन ? समझदारो के लिए तो यह कहने की आवश्यकता ही नही है, कि वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ आरे के अंतिम भाग मे भगवान् महावीर ने श्रमणसंघ की स्थापना करने के साथ धर्म की जो स्थापना की है वह आज तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही है और पंचम आरे के अन्त तक चलती रहेगी, चाहे स्थानकवासी-सम्प्रदाय

वढें घटे या विच्छिन्न हो जाय, जैनधम के अस्तित्व मे उसका कोई असर नही पडेगा ।

यद्यपि प्रस्तुत स्थानकवासो पट्टावली ११ पानो मे पूरी की है, फिर भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की परम्परा के अतिरिक्त इसमे कोई भी व्यवस्थित परम्परा या पट्टक्रम नही दिया । आयकालक की कथा, पचकाली, सप्तकाली, वारहकाली सम्बन्धी कल्पित कहानिया और दिगम्बर तथा निह्नवो के उटपटाग वणनो से इसका कलेवर वढ़ाया है, हमको इन बाता की चर्चा मे उतरने की कोई आवश्यकता नही ।

"लौंकागच्छ तथा "स्थानकवासी सम्प्रदायो" से सम्बन्ध रखने वाली कुछ वातो की चर्चा करके इस लेख को पूरा कर देंगे ।

पट्टावली के आठवे पत्र के दूसरे पृष्ठ मे प्रस्तुत पट्टावलीकार लिखते ह – श्री महावीर स्वामी के वाद दो हजार तेईस के वष मे जिनमत का सच्चा श्रद्धालु और भगवन्त महावीर स्वामी का दयामय धम मानने वाला लौंकागच्छ हुआ[१] ।"

लौंकागच्छ के यति भानुचन्द्रजी और केशवजी ऋषि अपने कवित्तो मे लौंकाशाह के धमप्रचार का स० १५०८ मे प्रारम्भ हुआ वताते है और १५३२ मे तथा ३३ मे भाणजीऋषि की दीक्षा और लौंकाशह का देवलोक गमन लिखते ह, तब स्थानकवासो पट्टावली लेखक वोरनिर्वाण २०२३ मे अर्थात् विक्रम स० १५३३ मे लौंकागच्छ का प्रकट होना वतते है, जिस समय कि लौंकाशाह को स्वगवासी हुए २० वप से अधिक समय व्यतीत हो चुका था । पट्टावली लेखक कितना असावधान और अनभिज्ञ है यह वताने के लिए हम ने समयनिर्देश पर ऊहापोह किया है ।

यहा पर पट्टावलोकार ने लौंकागच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक कल्पित कथा दी है जिसका सार यह है –

१ 'श्री महावीर पछे २०२३ वरखेजिनमति साचीसरदाका घणी भगवन्त महावीर स्वामी नो धम दया म चाल्यो लौंकागच्छ हुवा ।' (पट्टावली का मूल पाठ)

"पुस्तक भडार मे से पुस्तक निकाले तो कुछ पाने दीमक खा गया था, यह देख यति ने उनके पास गए हुए मेहता लुका को कहा – महेताजी। एक जैन मार्ग का काम है, महेता ने कहा – कहिये क्या काम है ? यति ने कहा – सिद्धान्त के पान दीमक खा गया है उन्हें लिख दो तो उपकार होगा, लोका ने उनका वचन मान लिया। यति ने "दशवैकालिक" को प्रत लोका को दी। लोका ने मन मे सोचा वीतराग भाषित दयाधर्म का मार्ग दशवैकालिक मे लिखे अनुसार है, आजकल के वेषधारी इस आचार को छोड हिंसा की प्ररूपणा करते हैं, वे स्वय धर्म से दूर हैं इसलिए लोगो को शुद्धधर्म-मार्ग नही बताते, परन्तु इस समय इनको कुछ कहूगा तो मानेंगे नही, इसलिए किसी भी प्रकार से पहले शास्त्र हस्तगत करलू तो भविष्य मे उपकार होगा, यह सोचकर महेता लुका ने दशवैकालिक को दो प्रतिया लिखी, एक अपने पास रखी, एक यति को दी। इस प्रकार सब शास्त्रो की दो-दो प्रतिया उतारी और एक-एक प्रति अपने पास रखकर खासा शास्त्र सग्रह कर दिया। महेता अपने घर पर सूत्र की प्ररूपणा करने लगा' बहुत से लोग उनके पास सुनने जाते और सुनकर दयाधर्म की प्ररूपणा करते।

उस समय हटवाणिया के वणिक् शाह नागजी १ मोतीचन्दजी २, दुलीचन्दजी ३, शम्भुजी ४, और शम्भुजी के बेटा की बेटी मोहीबाई और मोहीबाई की माता इन सब ने मिलकर सघ निकाला। घाडो, गोडे, ऊट, बल, इत्यादि साज सामान के साथ निकले परन्तु मार्ग मे जलवृष्टि हो गई, जहा लौंका महेता अपने मत का उपदेश करता था वहा यात्रिक आए और लौंका की वाणी सुनने लगे। लौंका महेता भी बडी तत्परता से दयाधर्म का प्रतिपादन करते थे। सारा यात्री सघ लुका महेता वाले गाव मे आया और वहा पडाव डालकर महेता की वाणी सुनने लगा, उस समय सघ के गुरु वेशधारी साधु ने सोचा – अगर सघ के लोग सिद्धान्त शैली सुनेंगे तो आगे चलेंगे नही और हमारी बात भी मानेंगे नही, यह विचार कर वेशधारी साधु सघनायक के पास आया और कहने लगा – सघ के लोग खर्च और पानी से दुःखी हैं, तब सघनायक ने कहा – मार्ग मे तो त्रसजीव और

हरियालो के अकुर निकल जाने से अयतना बहुत दोख रही है वास्ते अभी ठहरो ! इस पर द्रव्यलिंगी गुरु बोले – शाहजी धम के निमित्त होने वाली हिंसा को हिंसा नही माना, यह सुनकर सघवी ने सोचा कि लौंका महेता के पास जो सुना था कि वेशधारी साधु अनाचारी है, छ काय की दया से हीन हैं, वह बात आज प्रत्यक्ष दीख रही है, द्रव्यलिंगी यति वापस लौट गया और सघ के साथ सिद्धान्त सुनता वही ठहरा, सुनते सुनते उनमे से ४५ जनों को वैराग्य उत्पन्न हुआ और सयम लिया, उनके नाम – सर्वोजी, भाणोजी, नयनोजी, जगमोजी आदि थे, इस प्रकार ४५ साधु जिनमार्ग के दयाधम की प्ररूपणा करने लगे और अनेक जीवो ने दयाधम का स्वीकार किया, उस समय लोकाशाह ने पूछा तुम कसे साधु कहलाते हो ? साधु बोले – महेताजी हमने तीर्थङ्कर का धममार्ग आपसे पाया है, इसलिए हम "लौंका साधु" कहलाते है और हमारा समुदाय "लौंकागच्छ' कहलाता है ।

कल्पित कथा के प्रारभ मे "दशवैकालिक" के पाने दीमक खाने की बात कही गई है । और "दशवैकालिक" की प्रति लौंका को देने का कहा है अब विचारणीय बात यह है कि पुस्तक के पाने दीमक द्वारा नष्ट हो गये तो उसी "दशवकालिक" की प्रति के ऊपर से लौंका ने दो प्रतिया कैसे लिखी ? क्योंकि लौंका के पास तो पुस्तक भंडार था नही और लौंका को लिखने के लिए पुस्तक देने वाले यतिजी ने उसे "दशवैकालिक" की अखडित प्रति देने का का सूचन तक नही है, केवल "दशवैकालिक" ही नही यतिजी के पास से दूसरे भी सूत्र लिखने के लिए लौंका ले जाता था और उनकी एक एक नकल अपने लिए लिखता था । यदि भण्डार के तमाम सूत्रो मे दीमक ने नुकशान किया था और यतिजी भडार के पुस्तको को लिखवाते थे तो साथ मे अखडित सूत्रो की प्रतिया देने की आवश्यकता थी, परन्तु इस कहानी से ऐसी बात प्रमाणित नही होती अत "लौंकाशाह जिनमार्ग का काम समझकर सूत्रो की प्रतिया लिखते थे, यह कथन सत्यता से दूर है ।" सत्य बात तो यह है कि लौंकाशाह लेखक का धन्धा करता था। मेहनताना देकर साधु उससे पुस्तक लिखवाते थे,

उनमे से लोंका ने लिखवाने वाले की आज्ञा के विना अपने लिए पुस्तक की एक-एक प्रति लिख ली हो तो असम्भव नही है, परन्तु एक बात विचारणीय यह है कि लोंका के समय मे जैनसूत्रो पर टिब्बे नही बने थे। सूत्रो पर टिब्बे सवप्रथम पार्श्वचन्द्र उपाध्याय ने लिखे थे और पार्श्वचन्द्र का समय शाह लोंका के बाद का है। लोंका "सस्कृत" या "प्राकृत" भाषा का जानकार भी नही था फिर उसने सूत्रो की नकल करते करते मूल सूत्रो का अगर उसकी पचागी का तात्पय कैसे समझा कि सूत्रो में साधु का आचार ऐसा है और साधु उसके अनुसार नही चलते हैं। सच बात तो यह है कि वह साधुओ के व्याख्यान सुना करता था, इस कारण से वह साधुओ के आचारो से परिचित था। वृद्ध पौषधशालिक आचाय श्री ज्ञानचन्द्रसूरि का पुस्तक-लेखन का काय लोंकाशाह कर रहा था और इस व्यवसाय को लेकर ही ज्ञानचन्द्रसूरि ने लोंका को फिटकारा और लोंका ने साधुओ के पास न जाने की प्रतिज्ञा की थी और उनके आचार-विचार के सम्बन्ध मे टीका-टिप्पणिया करने लगा था।

लौंकामत को कल्पित कहानी मे दी गई, हटवाणिया गाव के सघ की कहानी भी सरासर झूठी है। क्योकि पहले तो "हटवाणिया" नामक कोई गाव ही मारवाड अथवा गुजरात मे नही है, दूसरा चातुर्मास्य आगे लेकर सघ निकालने की पद्धति जैनो मे नही है, फिर लौंकाशाह के निकट पहुँचने के लगभग जलवृष्टि होना और वनस्पति के अकुरो के उत्पन्न होने आदि का बातें केवल कल्पना-कल्पित है। विद्वान् साधुओ की विद्वत्तामयी धमदेशना सुनकर हजारो मे से शायद ही कोई दीक्षा के लिये तैयार होता है। तब लौंकाशाह के उपदेश से केवल यान्त्रिक सघ मे से ४५ जनो के दीक्षा लेने की बात सफेद झूठ नही तो और क्या हो सकती है। लौंकाशाह के थोडे ही वर्षो के बाद होने वाले लौंका भानुचन्द्रजी ऋषि और लौंका केशवजी ऋषि अपनी रचनाओ मे लौंकाशाह के अतिम समय मे केवल एक भाणजी की दीक्षा होने की बात लिखते है। तब बीसवी शती का स्थानकवासी पट्टावलीकार ४५ जनो के दीक्षा की बात कहता है और लौंकाशाह के द्वारा पुछवाता है कि "तुम कैसे साधु कहलाते हो ?' साधु

कहते हैं कि—"हम लौंकागच्छ के साधु कहलाते हैं" यह क्या मामला है ? पट्टावलीकार के लेखानुसार लौंकाशाह के स्वर्गवास के बाद २१वें वर्ष में लौंकागच्छ की उत्पत्ति होती है और ४५ साधु लौंकाशाह के सामने कहते है—"हम लौंकाशाह के साधु कहलाते हैं" क्या यह अ वेरगर्दी नहीं है ? लौंकागच्छ को कहलाने वाली सभी स्थानकवासी पट्टावलियां इसी प्रकार के अज्ञान से भरी हुई हैं। न किसी में अपनी परम्परा का वास्तविक क्रम है न व्यवस्था, जिसको जो ठीक लगा वही लिख दिया, न किसी ने कालक्रम से सम्बन्ध रखा, न ऐतिहासिक घटनाओं की शृंखला से।

पट्टावली-लेखक आगे लिखता है –

उसके बाद रूपजी शाह पाटन का निवासी संयमी होकर निकला, वह "रूपजी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह लौंकागच्छ का पहला पट्टधर हुआ।"

उसके बाद सूरत निवासी शाह जीवा ने रूपजी ऋषि के पास दीक्षा ली और जीवजी ऋषि बने। व्यवहार से हम इनको शुद्ध साधु जानते हैं। बाद में स्थानक दोष सेवन करने लगे। आहार की गवेषणा से मुक्त हुए, वस्त्र पात्र की मर्यादा लोपी, तब सं० १७०९ में सूरत निवासी वहोरा वीरजी का दोहिता शा० लवजी जो पढ़ा-लिखा था, उसको वैराग्य उत्पन्न हुआ और संयम लेने के लिए अपने नाना वीरजी से आज्ञा मांगी। वीरजी ने कहा – लौंकागच्छ में दीक्षा ले तो आज्ञा दूं, लवजी ने सोचा – अभी प्रसंग ऐसा ही है, एक बार दीक्षा ले ही लूं यह विचार कर लवजी ने लौंकागच्छ के यति वजरंगजी के पास दीक्षा ली। उनके पास सूत्र सिद्धान्त पढ़ा। कालान्तर में अपने गुरु से पूछा – सिद्धान्त में साधु का आचार जो लिखा है उस प्रकार आजकल क्यों नहीं पाला जाता ?, गुरु ने कहा – आजकल पांचवां आरा है। इस समय आगमोक्त आचार किस प्रकार पल सकता है ?, शिष्य लवजी ने कहा – स्वामिन् ! भगवन्त का मार्ग २१ हजार वर्ष तक चलने वाला है, सो लौंकागच्छ में से निकलो, आप मेरे गुरु और मैं आपका शिष्य। वजरंगजी ने कहा – मैं तो गच्छ से

निकल नही सकता, तब लवजी ने कहा – मैं तो गच्छ का त्याग कर चला जाता हू, यह कह कर ऋषि लवजी, ऋषि भाणोजी और ऋषि सुखजी तीनो वहा से निकल गये और तीनो ने फिर से दीक्षा ली। गाव नगरो मे विचरते हुए जैनधर्म की प्ररूपणा की, अनेक लोगो को धर्म समझाया, तब लोगो ने उनका "ढुण्ढिया" ऐसा नाम दिया।

अहमदाबाद के कालुपुर के रहने वाले शाह सोमजी ने लवजी के पास दीक्षा ली। २३ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा लेकर बडी तपस्या की, उनके अनेक साधु साध्वियो का परिवार बढा जिनके नाम हरिदासजी १, ऋषि प्रेमजी २, ऋषि कानाजी ३, ऋषि गिरधरजी ४, लवजी प्रमुख बजरगजी के गच्छ से निकले थे जिनके अनुयायियो का नाम अमीपालजी १, ऋषि श्रीपालजी २, ऋ० धर्मपालजी ३, ऋ० हरजी ४, ऋ० जीवाजी ५, ऋ० कमणजी ६, ऋ० छोटा हरजी ७, और ऋ० केशवजी ८। इन महापुरुषो ने अपना गच्छ छोड कर दीक्षा ली और जैनधर्म को दीपाया। बहुत टोले हुए, समर्थजी पूज्यश्री धर्मदासजी, श्री गोदाजी, फिर होते ही जाते हैं। इनमे कोई कहता है – मैं उत्कृष्ट हू, तब दूसरा कहता है – मैं उत्कृष्ट हू।

उपर्युक्त शुद्ध साधुओ का वृत्तान्त है, पीछे तो केवली स्वीकारे, सो सही। यह परम्परा की पट्टावली लिखी है।

पट्टावली-लेखक ने रूपजी ऋषि को लौंकागच्छ का प्रथम पट्टधर लिखा है, परन्तु लौंकागच्छीय ऋषि भानुचन्द्रजी तथा ऋषि केशवजी ने लौंकागच्छ का और लौंकाशाह का उत्तराधिकारी भाणजी को बताया है।

उपर्युक्त दोनो लेखको का सत्ता समय लौंकाशाह से बहुत दूर नही था, इससे इनका कथन ठीक प्रतीत होता है। पट्टावलीकार रूपजी ऋषि को लौंकागच्छ का प्रथम पट्टधर कहते ह वह प्रामाणिक नही है।

पट्टावलीकार रूपजी जीवाजी को महापुरुष और शुद्ध साधु कहकर उनको उसी जीवन मे स्थानक दोष, आहार दोष, वस्त्रापात्र आदि मर्यादा

का लोप आदि दोषो के कारण शिथिलाचारी बताता है और १७०६ में ऋ० लवजी की दीक्षा की बात कहता है। लवजी दीक्षा लेने के बाद अपने गुरु बजरंगजी को लौंकागच्छ से निकालने का आग्रह करते हैं, और इनके इन्कार करने पर भी ऋ० लवजी, ऋ० भाणजी और ऋ० सुखजी के साथ लौंकागच्छ को छोडकर निकल जाते हैं; और तीनो फिर दीक्षा लेते हैं और लोग उनको "ढुण्ढिया" यह नाम देते हैं। पट्टावलीकार ने उक्त त्रिपुटी की दीक्षा तो लिखाली, पर दीक्षा-दाता गुरु कौन थे? यह नही लिखा। अपने हाथ से कल्पित वेश पहिन लेना यह दीक्षा नही स्वाग होता है। दीक्षा तो दीक्षाधारी अधिकारी-गुरु से ही प्राप्त होती है, न कि वेश मात्र धारण करने से। लौंकागच्छ के साधु स्वय गृहस्थ गुरु के चेले थे तो उनमे से निकलने वाले लवजी आदि नया वेश धारण करने से नये दीक्षित नही बन सकते।

पट्टावली के अन्त मे लेखक ऋषि लवजी के मुह से कहलाता है — "अरे भाई! पाचवा आरा है, ऐसी कठिनाई हम से नही पलेगी, ऐसा करने सें हमारा टोला बिखर जाय।

पट्टावलीकार ने पूर्व के पत्र मे तो लवजी को महात्यागी और लौंकागच्छ का त्याग करके फिर दीक्षा लेने वाला बताया और आगे जाकर उन्ही लवजी के मुह से पचम आरे के नाम से शिथिलाचार को निभाने की बात कहलाता है। यह क्या पट्टावली लेखक का ढग है! एक व्यक्ति को खूब ऊचा चढ़ाकर दूसरे ही क्षण मे उसे नीचे गिराना यह समझदार लेखक का काम नही है।

ढुण्ढक-मत की पट्टावली २.

श्री आत्मारामजी महाराज के हाथ से लिखी हुई स्थानकवासियो की पट्टावली सम्यक्त्व शल्योद्धार के आधार से नीचे दी जाती है – पूज्य लेखक का कथन है कि "यह पट्टावली हमने अमरसिंहजी के परदादा श्री मुल्कचन्दजी के हाथ से लिखी हुई, ढुढकपट्टावली के ऊपर से ली है।" हमने सभी स्थानकवासियो की अन्यान्य पट्टावलियो की अपेक्षा से इसमे कुछ वास्तविकता देखकर यहा देना ठीक समझा है। पट्टावलीकार लिखते हैं कि "अहमदाबाद मे रहने वाला लोंका नामक लेखक ज्ञानजी यति के उपाश्रय मे उनके पुस्तक लिखकर अपनी आजीविका चलाता था, एक पुस्तक मे से सात पाने उसने यो ही छोड दिए। यतिजी को मालूम हुआ कि लो का ने जान बुझकर बेईमानी से पाने छोड दिये है, उसे फटकार कर उपाश्रय मे से निकाल दिया और दूसरे पुस्तक लिखाने वालो को भी सूचित कर दिया कि इस लुच्चे लेखक लो का के पास कोई पुस्तक न लिखावें।"

उक्त प्रकार से लो का की आजीविका टूट जाने से वह जैन साधुओ का द्वेषी बन गया, पर अहमदाबाद मे उसका कुछ नही चला, तब वह अहमदाबाद से ४० कोस की दूरी पर आये हुए लीम्बडी गाव गया, वहा उसका मित्र लखमशी नामक राज्य का कार्यभारी रहता था। लौंका ने लखमशी से कहा – "भगवान् का माग लुप्त हो गया है, लोग उल्टे मार्ग चलते है, मैंने अहमदाबाद मे लोगो को सच्चा उपदेश किया, पर उसका परिणाम उल्टा आया, मैं तुम्हारे पास इसलिए आया हू कि मैं सच्चे दयाधम की प्ररूपणा करू और तुम मेरे सहायक बनो।" लखमशी ने लो का को आश्वासन देते हुए कहा – खुशी से अपने राज्य मे तुम दयाधर्म का प्रचार करो, मैं तुम्हारे खान-पान आदि की व्यवस्था कर दू गा।

स० १५०८ मे लोंका ने जैन साधुग्रो के विरोध मे मदिर मूर्तिपूजा ग्रादि का खण्डन करना शुरू किया, लगभग २५ वष तक दयाधम-सम्बन्धी चोपाइया सुना-सुनाकर लोगो को मन्दिरो का विरोधी बनाता रहा, फिर भी उसका उत्तराधिकारी बनकर उसका काय सम्हालने वाला कोई नही मिला।

स० १५३४ मे भाणा नामक एक बनिया उसे मिला, ग्रशुभ कम के उदय से वह लोका का ग्रनन्य भक्त बना। इतना ही नही, वह लोका के कहने के ग्रनुसार बिना गुरु के ही साधु का वेश पहन कर ग्रज्ञ लोगो को लोका का ग्रनुयायी बनाने लगा। लोका ने ३१ सूत्र मान्य रखे थे। व्यवहार सूत्रो को वह मानता नही था ग्रौर माने हुए सूत्रो मे भी जहा जिनप्रतिमा का ग्रधिकार ग्राता वहा मन कल्पित ग्रथ लगाकर उनको समझा देता।

स० १५६८ मे भाणजी ऋषि का शिष्य रूपजी हुग्रा।

स० १५७८ मे माघ सुदि ५ के दिन रूपजी का शिष्य जीवाजी हुग्रा।

स० १५८७ के चत्र वदि १४ के दिन जीवाजी का शिष्य वृद्धवरसिंहजी नामक हुग्रा।

स० १६०६ मे उनका शिष्य वरसिंहजी हुग्रा।

स० १६४६ मे वरसिंहजी का शिष्य यशवन्त नामक हुग्रा ग्रौर यशवन्त के पीछे बजरगजी नामक साधु हुग्रा, जो बाद मे लोकागच्छ का ग्राचाय बना था।

उस समय सूरत के रहने वाले बोहरा वीरजी की पुत्री फूलाबाई के दत्तपुत्र लवजी ने लोंकाचायजी के पास दीक्षा ली ग्रौर दीक्षा लेने के बाद उसने ग्रपने गुरु से कहा – दशवैकालिक सूत्र मे जो साधु का ग्राचार बताया है, उसके ग्रनुसार ग्राप नही चलते है। लवजी की इस प्रकार की बातों से बजरगजी के साथ उनका झगडा हो गया ग्रौर वह लोकामत ग्रौर ग्रपने गुरु का सदा के लिए त्याग कर थोभण ऋषि ग्रादि कतिपय लोका साधुग्रो को साथ मे लेकर स्वय दीक्षा ली ग्रौर मुख पर मुँहपत्ति बान्धी।

लवजी के सोमजी और कानजी नामक दो शिष्य हुए ।

कानजी के पास एक गुजराती छीपा दीक्षा लेने आया था, परन्तु कानजी के आचरण अच्छे न जानकर उनका शिष्य न होकर वह स्वय साधु वन गया और मुहपर मुँहपत्ति वाघ ली । धर्मदास को एक जगह उतरने को मकान नहीं मिला, तव वह एक ढुण्डे (फुटे टुटे खण्डहर) मे उत्तरा तव लोगो ने उसका नाम "ढुण्ढक" दिया ।

लौकामति कु वरजी के धर्मशी, श्रीपाल और अभीपाल ये तीन शिष्य थे, इन्होने भी अपने गुरु को छोडकर स्वय दीक्षा ली, इनमे से आठ कोटि प्रत्याख्यान का पन्थ चलाया, जो आजकल गुजरात मे प्रचलित है ।

धमदास के धनजी नामक शिष्य हुए ।

धनजी के भूदरजी नामक शिष्य हुए और भूदरजी के रघुनाथजी जयमलजी और गुमानजी नामक तीन शिष्य हुए जिनका परिवार मारवाड गुजरात और मालवा मे विचरता है ।

रघुनाथजी के शिष्य भीखमजी ने १३ पथ चलाया ।

भीखमजी के तेरापंथ सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा

तेरापन्थी सम्प्रदाय स्थानकवासी साधु रघुनाथमलजी के शिष्य भिक्खूजी से चला। तेराप न्थी भिक्खूजी को श्री भिक्षुगणी के नाम से व्यवहृत करते है। आज तक इस सम्प्रदाय को दो सौ वष हुए और इसके उपदेशक आचाय ९ हुए। नवो आचार्यो की नामावलि क्रमश इस प्रकार है –

(१) आचाय श्री भिक्षुगणी
(२) ,, ,, भारमल गणी
(३) ,, ,, ऋषिराय गणी
(४) ,, ,, जयगणी – श्री मज्जयाचार्य
(५) ,, ,, मघवागणी
(६) ,, ,, माणकगणी
(७) ,, ,, डालगणी
(८) ,, ,, कालूगणी
(९) ,, ,, तुलसीगणी

ऊपर को तेराप न्थी आचार्यों की नामावलि तेराप न्थी मुनि श्री नगराजजी लिखित "तेराप न्थ दिग्दशन" नामक पुस्तिका से उद्धृत की है। पुस्तिका मे लेखक ने अतिशयोक्तियाँ लिखने मे मर्यादा का उल्लघन किया है, जिसका एक ही उदाहरण यहा उद्धृत किया जाता है –

"संस्कृत भाषा के अभ्यासी ऐसे भी साधु सघ मे हैं, जिन्होने एक-एक दिन मे पाच-पाच सौ व सहस्र-सहस्र श्लोकों की रचना की है।"

ठीक तो है जिस सघ मे प्रतिदिन पाच-पाच सौ और सहस्र-सहस्र श्लोक बनाने वाले साधु हुए है उस सघ मे सस्कृत-साहित्य के तो भण्डार भी भर गए होंगे, परन्तु दु ख इतना ही है कि ऐसे सघ की तरफ से एक भी सस्कृत ग्रन्थ मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ देखने मे नही आया।

लवजी के शिष्य सोमजी हुए।
हरिदासजी के शिष्य वृन्दावनजी हुए।
वृन्दावनजी के भवानीदासजी हुए।
भवानीदासजी के शिष्य मलूकचन्दजी हुए।
मलूकचन्दजी के शिष्य महासिंहजी हुए।
महासिंहजी के शिष्य खुशालरामजी हुए।
खुशालरामजी के शिष्य छजमलजी हुए।
रामलालजी के शिष्य अमरसिंहजी हुए।

अमरसिंहजी का शिष्य परिवार आजकल पजाब मे मुख बाध कर विचरता है।

लवजी के शिष्यो का परिवार मालवा और गुजरात मे विचरता है।

"समकितसार" के कर्त्ता जेठमलजी धर्मदासजी के शिष्यों मे से थे और उनके आचरण ठीक न होने के कारण उनके चेले देवीचन्द और मोतीचन्द दोनो जन उनको छोड कर जोगराजजी के शिष्य हजारीमलजी के पास दिल्ली मे आकर रहे थे।

ऊपर हमने जो लौकामत की और स्थानकवासी लवजी की परम्परा लिखी है वह पूर्वोक्त अमोलकचन्दजी के हाथ से लिखी हुई ढुण्ढकमत की पट्टावली के ऊपर से लिखी है, इस विषय मे जिस किसी को शका हो, वह हस्तलिखित मूल प्रति को देख सकता है।

लौंकाशाह, लौंकागच्छ और स्थानकवासी सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे अनेक व्यक्तियो ने लिखा है। वाडीलाल मोतीलाल शाह ने अपनी "ऐतिहासिक नोध" मे, सत बालजी ने "धमप्राण लौकाशाह" मे, श्री मणिलालजी ने "प्रभुवीर पट्टावली" मे और अन्यान्य लेखको ने इस विषय के लेखो मे जो कुछ लिखा है, वह एक दूसरे से मेल नही खाता, इसका कारण यही है कि सभी लेखको ने अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पनाओ द्वारा कल्पित बातो से अपने लेखो को विभूषित किया है। इन सब मे शाह वाडीलाल मोतीलाल सब के अग्रगामी हैं। इनकी असत्य कल्पनाए सब से बढी-चढ़ी है, इस विषय का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। लौंकागच्छ के आचाय श्री मेघजी ऋषि अपने २५ साधुओ के साथ लौंकामत को छोड कर तपागच्छ के आचाय श्री विजयहीरसूरिजी के शिष्य बने थे। इस घटना को बढा-चढा कर शाह वाडीलाल लौंकागच्छ के ५०० साधु तपागच्छ मे जाने की बात कहते हैं। अतिशयोक्ति की भी कोई हद होती है, परन्तु शाह ने इस बात का कोई ख्याल नही किया। इसी प्रकार शाह वाडीलाल ने अपनी पुस्तक "ऐतिहासिक नोध" मे अहमदाबाद मे मूर्तिपूजक और स्थानकवासी साधुओ के बीच शास्त्राथ का जजमेन्ट लिख कर अपनी असत्यप्रियता का परिचय दिया है, शाह लिखते हैं —

"आखिर स० १८७८ मे दोनो ओर का मुकद्दमा कोट मे पहुँचा। सरकार ने दोनो मे कौन सच्चा कौन झूठा ? इसका इन्साफ करने के लिए दोनो ओर के साधुओ को बुलाया। "स्था० की ओर से पूज्य रूपचन्दजी के शिष्य जेठमलजी आदि २८ साधु उस सभा मे रहने को चुने गये" और सामने वाले पक्ष की ओर से "वीरविजय आदि मुनि और शास्त्री हाजिर हुए।" मुझे जो यादी मिली है, उससे मालूम होता है कि मूर्तिपूजको का पराजय हुआ और मूर्तिविरोधियो का जय हुआ।" शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिए जेठमलजी-कृत "समकितसार" पढना चाहिए × × × १८७८ के पौष सुदि १३ के दिन मुकद्दमा का जजमेन्ट (फैसला) मिला।"

ऐ० नो० पृ० १२६।

शाह शास्त्राथ होने का वर्ष १७८७ बताते है और मिति उसी वर्ष के पौष मास की १३। शाह ने वष मिति की यह कल्पना प० वीरविजयजी और ऋषि जेठमलजी के बीच हुए शास्त्राथ की यादगार मे प० उत्तमविजयजी द्वारा निर्मित "लुंपकलोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास" के ऊपर से गढी है, क्योकि उत्तमविजयजी के बनाये हुए रास की समाप्ति मे स० १७८७ के वष का और माघ मास का उल्लेख है। शाह ने उसी वर्ष को शास्त्राथ के फैसले का समय मान कर पौष शुक्ल १३ का दिन लिख दिया है पर वार नही लिखा, क्योकि वार लिखने से लेख की कृत्रिमता तुरन्त पकडी जाने का भय था। शाह का यह फैसला उनके दिमाग की कल्पना मात्र है, यह बात निम्न लिखे विवरण से प्रमाणित होगी —

"समकितसार" के लेखक जेठमलजी लिखते है — श्री वद्धमान स्वामो मोक्ष गए तब चौथा आरा के ३ वर्ष और साढ़े आठ मास शेष थे। उसके बाद पाचवा आरा लगा और पाचवे आरे के ४७० वर्ष तक वीर सवत् चला, उसके बाद विक्रमादित्य ने सवत्सर चलाया, जिसको आजकल १८६५ वष हो चुके हैं।"

शाह के जजमेन्ट के समय मे अहमदाबाद मे कम्पनी का राज्य हो चुका था और अग्रेजी अदालत मे ही अर्जी हुई और जजमेन्ट भी अग्रेजो मे लिखा गया था, फिर भो जजमेन्ट मे अग्रेजी तारीख न लिखकर पौष सुदि १३ लिखा है इसका अर्थ यही है कि उक्त जजमेन्ट उत्तमविजयजी के रास के आधार से शाह वाडीलाल ने लिखा है, जो कल्पित है यह निश्चित होता है।

शाह शास्त्राथ के फैसले मे लिखते ह — "शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिए जेठमलजी कृत समकितसार पढ़ना चाहिए," यह शाह का दम्भ वाक्य है और "समकितसार" के प्रचार के लिए लिखा है, वास्तव मे जेठमलजी के "समकितसार" मे वीरविजयजी के साथ होने वाले शास्त्राथ की सूचना तक भी नही है।

"ऐतिहासिक नोध" के पृष्ठ १३० मे शाह लिखते है "परन्तु किसी प्रकार के लिखित प्रमाण के अभाव मे किसी तरह की टीका करने को खुश नहीं हू ।" भला किसी लिखित प्रमाण के अभाव मे शास्त्रार्थ का जजमेण्ट देने को तो खुश हो गए तब उस पर टीका-टिप्पणी करने मे आपत्ति ही क्या थी ? परन्तु शाह अच्छी तरह समझते थे कि केवल निराधार बातो की टीका टिप्पणी करता हुआ कही पकडा जाऊगा, इसलिए वे टीका करने से बाज आए है ।

शाह स्वय स्वीकार करते है कि दोनो सम्प्रदायो के बीच होने वाले शास्त्राथ मे कौन जीता और कौन हारा, इसका मेरे पास कोई लिखित प्रमाण नही है, इससे इतना तो सिद्ध होता है कि इस शास्त्राथ के सम्बन्ध मे जेठमलजी ऋषि अथवा उनके अनुयायियो ने कुछ भी लिखा नही है, अन्यथा शाह वाडीलाल को ऐसा लिखने का कभी समय नही आता। प० वीरविजयजी और उनके पक्षकारो ने प्रस्तुत शास्त्राथ का सविस्तर वर्णन एक लम्बी ढुढक चौपाई बनाकर किया है, जिसमे दोनो पक्षो के साधुओ तथा श्रावको के नाम तक लेख-बद्ध किये हैं, इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रार्थ मे जय मूर्तिविरोध पक्ष का नही, परन्तु मूर्तिपूजा मानने वाले प० वीरविजयजी के पक्ष का हुआ था, इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध मे लिखित प्रमाण होते हुए भी शाहने अपने पक्ष के विरुद्ध होने से उनको छुआ तक नही है ।

रासकार प० उत्तमविजयजी कहते है –मुँहपर पाय बाधकर गाव गाव फिरते और लोगो को भ्रमणा मे डालते हुए एक समय लौंका के अनुयायी साणद आये और वहा लोगो को फसाने के लिए पास फैलाया, वहा पर तपागच्छ का एक श्रावक नानचन्द शांतिदास रहता था, कर्मवश वह ढु ढको के फदे में फस गया । वह ढु ढको को मानने लगा और परापूव के अपने जैनधम को भी पालता था, इस प्रकार कई वर्षो तक वह पालता रहा और बीसा श्रीमाली न्यात ने उसको निभाया, अब नानुशाह के पुत्रो की बात कहता हू । अफीमची, अमरा, परमा पनजी और हमका ये चारो पुत्र भी न्यात जात की शम छोडकर ढु ढकधर्म पालने लगे, इस समय न्यात

ने देखा कि यह चेप बढ रहा है, अब इसका प्रतीकार करना जरूरी है, यह सोचकर नानचन्द और उसके पुत्रो को न्यात से बहिष्कृत कर दिया, कोई उनको पानी तक नही पिलाता था। सगे सम्बन्धी भी अलग हो गये, फिर भी वे अपना दुराग्रह नही छोडते थे। उनके घरो मे लडकिया १२-१२ वर्ष की हो गई थी, फिर भी उनसे कोई सम्बन्ध नही करता था और जो लडकी राजनगर मे ब्याही थी वह भी न्याती का विचार कर घर नही आती थी इस पर नानचन्द ने अपनी न्यात पर १४ हजार रुपयो का राजनगर की राज्यकोर्ट मे दावा किया।"

उधर अमरचन्द के घर मे उसकी औरत के साथ रोज क्लेश होने लगा। औरत कहती—"तुमने न्यात के विरुद्ध झगडा उठाया, यह मूर्खता का काम किया। न्यात से लडना झगडना आसान बात नही। पहले यह नही सोचा कि इसका परिणाम क्या होगा, तुमने न्यात से सामना किया और लोगो के उपालम्भ मैं खाती हू बडी उम्रकी बेटी को देखकर मेरी छाती जलती है," साह अमरा अपनी औरत की बातो से तग आकर शा० पूजा टोकर से मिला और कहने लगा—न्यात बहिष्कृति वापस खीचकर हमे न्यात मे कैसे ले, इसका कोई मार्ग बताओ। बेटी बडी हो गई है, उसको ब्याह बिना कैसे चलेगा, अमरा की बात सुनकर पूजा-शाह ने अमरा को उल्टी सलाह दी, कहा—न्यात पर कोर्ट मे अर्जी करो, इस पर अमरा ने अर्जी की और अपनी पुत्री को खभात के रहने वाले किसी दुण्ढक को ब्याह दी। पूजाशाह ने न्यात मे कुछ "करियावर" किया—तब उनके वेवाई जो दुण्ढक थे, उसके वहा मर्यादा रक्खी तो भी दुण्ढक लज्जित नही हुए, बहुत दिनो के बाद जब अर्जी की पेशी हुई तब शहर के धर्मप्रेमी सेठ भगवान् इच्छाचन्द माणकचन्द और अन्य भी जो धर्म के अनुयायी थे सब अदालत मे न्यायार्थ गए। अदालत ने अर्जी पर हुक्म दिया कि "मामला धर्म का है, इसलिए सभा होगी तब फैसला होगा, दोनो पक्षकार अपने-अपने गुरुओ को बुलाकर पुस्तक प्रमाणो के साथ सभा मे हाजिर हो," अदालत का हुक्म होते ही गाव गाव पत्र वाहक भेजे, फिर भी कोई दुण्ढक आया नही था।

इस समय पाटन मे रहे हुए जेठमलजी ऋषि ने अहमदाबाद पत्र लिखा कि 'मूर्तिपूजको की तरफ से वाद करने वाला विद्वान् कौन आएगा ? मूर्तिपूजको की तरफ से एक वीरविजयजी झगडे मे आयें तो अपने पक्ष के सब ऋषि राजनगर आने के लिए तैयार हैं," इस प्रकार का जेठमलजी ऋषि का पत्र पढकर प्रेमाजी ऋषि ने गलत पत्र लिखा कि "वीरविजयजी यहा पर नही है और न आने वाले हैं" इस मतलब का पत्र पढकर जेठमलजी ऋषि लगभग एक गाडो के बोझ जितनी पुस्तके लेकर अहमदाबाद आए और एक गली मे उतरे, वहा बैठे हुए अपने पक्षकारो से सलाह मशविरा करने लगे। लीम्बडी गाव के रहने वाले देवजी ऋषि अहमदाबाद आने वाले थे परन्तु विवाद के भय से बोमारी का वहाना कर खुद नही आए और अपने शिष्य को भेजा। मूलजी ऋषि जो शरीर के मोटे ताजे थे और चलते वक्त हाँफते थे, इसलिए लोगो ने उनका नाम "पूज्यहाँफूस" ऐसा रख दिया था। इनके अतिरिक्त नरसिह ऋषि जो स्थूलबुद्धि थे। वसराम ऋषि आदि सब मिलकर ८१ ढुण्ढक साधु जो मुह पर मुहपत्ति बाधे हुए थे, अहमदाबाद मे एकत्रित हुए।

शहर मे ये सवत्र भिक्षा के लिए फिरते थे। लोग आपस मे कहते थे – ये ढुण्ढिये एक मास भर का अन्न खा जायेगे। तब दीनानाथ जोशी ने कहा – "फिकर न करो आने वाला वर्ष ग्यारह महीने का है," जोशी के वचन से लोग निश्चिन्त हुए। श्रावक लोग उनके पास जाकर प्रश्न पूछते थे, परन्तु वे किसी को उत्तर न देकर नये-नये प्रश्न आगे धरते थे। तपागच्छ के पण्डितो के पास जो कोई प्रश्न आते उन सब का वे उत्तर देते, यह देखकर ढुण्ढकमत वाले मन मे जलते थे, इस प्रकार सब अपनी पार्टी के साथ एकत्रित हुए। इतने मे सरकारी आदमी ने कहा – 'साहब अदालत मे बुलाते है," उस समय जो पण्डित नाम धराते थे, सभा मे जाने के लिए तैयार हुए, मन्दिर मार्गियो के समुदाय मे सब से आगे प० वीरविजयजी चल रहे थे, उनकी मधुर वाणी और विद्वत्ता से परिचित लोग कह रहे थे – जयकमला वीरविजयजी को वरेगी। हितचिन्तक कहते थे – महाराज!

अच्छे शकुन देखकर चलियेगा, इतने मे एक मालिन फूलमाला लेकर वीरविजयजी को सामने मिली इस शकुन को देखकर जानकार कहने लगे – ये शकुन जेठाजी ऋषि को हरायेंगे और उनके समथक नीचा देखेगे। वीरविजयजी से कहा – तुम्हारी कीर्ति देश-देश मे फैलेगी। उस समय वीरविजयजी के साथ खुशालविजयजी, मानविजयजी, भुजनगर से आये हुए आनन्दशेखरजी, खेडा के चौमासी दलीचन्दजी और साणद से आए हुए लब्धिविजयजी आदि विद्वान् साधु चल रहे थे, इतना ही नही गाव-गाव के पढे लिखे श्रोता श्रावक जैसे वीसनगर के गलालशाह, जयचन्दशाह आदि। इन के अतिरिक्त अनेक साधु सूत्र-सिद्धान्त लेकर साथ मे चल रहे थे और धन खच ने मे श्रीमाली सेठ रायचन्द, वेचरदास, मनोहर, वक्तचन्द, महेता, मानचन्द आदि जिनशासन के कार्य मे उल्लास पूवक भाग ले रहे थे। भाविक श्रावक केसर चन्दन वरास आदि घिसकर तिलक करके भगवान् की पूजा करके जिनाज्ञा का पालन कर रहे थे, नगर सेठ मोतीभाई धर्म का रग हृदय मे धरकर सर्व-गृहस्थो के आगे चल रहे थे।

इधर ऋषि जेठमलजी अपने स्थान से निकलकर छीपा गली मे पहुँचे, वहा सभी जाति के लोग इकट्ठे हुए थे, वहा से ऋषि जेठमलजी और उनकी टुकडी अदालत द्वारा बुलाई गई, सब सरकारी सभा की तरफ चले, मूर्तिपूजक और मूर्तिविरोधियो की पार्टिया अपने-अपने नियत स्थानो पर बैठी।

शास्त्राथ मे पूवपक्ष मन्दिर-मार्गियो का था, इसलिए वादी पार्टी के विद्वान् अपने-अपने शास्त्र प्रमाणो को बताते हुए मूर्तिविरोधियो के मत का खण्डन करने लगे। जब पूव पक्ष ने उत्तर पक्ष की तमाम मान्यताओ को शास्त्र के आधार से निराधार ठहराया तब प्रतिमापूजा विरोधी उत्तर पक्ष ने अपने मन्तव्य का समथन करते हुए कहा – "हम प्रतिमापूजा का खण्डन करते हैं, क्योकि प्रतिमा मे कोई गुण नही है, न सूत्र मे प्रतिमापूजा कही है, क्योकि दशवें अग सूत्र "प्रश्न व्याकरण" के आश्रवद्वार मे मूर्ति पूजने वालो को मन्दबुद्धि कहा है और निरजन निराकार देव को छोडकर चैत्यालय मे मूर्ति पूजने वाला मनुष्य अज्ञानी है।"

उत्तर पक्ष की युक्तियों को सुनकर प० वीरविजयजी प्रत्युत्तर देते हुए योले – "तुम ढुण्ढक लोगों का प्रवाह जानवरों के जमा है, जिस प्रकार जानवरों के टोले को एक आदमी जिधर ले जाना चाहता है, उसी तरफ ले जाता है, यही दशा तुम्हारी है, तुम्हारे आदि गुरु लोंका ने किसी को गुरु नहीं किया और मूर्तिपूजा आदि का विरोध कर अपना मत स्थापित किया, उसी प्रकार तुमने भी किसी भी ज्ञानी गुरु के विना उनकी बातों को लेकर उसके पन्थ का समर्थन किया है, जिससे एक को साधते हो और दस टूटते हैं। प्रतिमा में गुण नहीं कहते हो तो उसमें दोष भी तो नहीं है और उसके पूजने से भक्तिगुण की जो पुष्टि होती है वह प्रत्यक्ष है। सूत्र-सिद्धान्त में अरिहन्त भगवन्त ने जिनप्रतिमा पूजनीय कही है आश्रव द्वार में प्रतिमापूजा वाला को मन्दबुद्धि कहा है – वह प्रतिमा जिन की नहीं, परन्तु नाग भूत आदि की समझना चाहिए ऐसा "अंगविद्या" नामक ग्रन्थ में कहा है। इतना ही नहीं बल्कि उसी "प्रश्नव्याकरण" अंग के संवरद्वार से जिनप्रतिमा की प्रशंसा की है और पूजने वाले के कर्मों को निर्बल करने वाली बताई है। छट्ठे अंग "ज्ञातासूत्र" में द्रौपदी के ठाठ के साथ पूजा करने का पाठ है, इसके अतिरिक्त विद्याचारणमुनि जिनप्रतिमा वन्दन के लिए जाते हैं, ऐसा भगवती सूत्र में पाठ है। सूर्याभदेव के शाश्वत जिनप्रतिमाओं की पूजा करने का "राजप्रश्नीय" में विस्तृत वर्णन दिया हुआ है और "जीवाभिगम" सूत्र में विजयदेव ने जिनप्रतिमा की पूजा करने का वर्णन विस्तारपूर्वक लिखा है, इस प्रकार जिन-जिन सूत्रों में मूर्तिपूजा के पाठ थे वे निकालकर दिखाये जिस पर ढुण्ढक कुछ भी उत्तर नहीं न दे सके। आगे प० वीरविजयजी ने कहा – जब स्त्री ऋतुधर्म से अपवित्र बनती है, तब उसको "सूत्र सिद्धान्त" पढना तथा पुस्तकों को छूना तक शास्त्र में निषेध किया है। यह कह कर उन्होंने "ठाणाङ्ग" सूत्र का पाठ दिखाया, तब ढुण्ढकों ने राजसभा में मंजूर किया कि ऋतुकाल में स्त्री को शास्त्र पढना जैन सिद्धान्त में वर्जित किया है। परन्तु यह बात शास्त्रार्थ के अन्तर्गत नहीं है हमारा विरोध प्रतिमा से है इसके उत्तर में वीरविजयजी ने कहा – यज्ञ कराने वाला शय्यम्भव भट यूप के नीचे से निकली हुई शान्तिनाथ की प्रतिमा को देखकर प्रतिबोध पाया, इसी प्रकार अनेक भव्य मनुष्यों ने जिनप्रतिमा के दर्शन से जैनधर्म

को पाया और दीक्षा लेकर मोक्ष के अधिकारी हुए। प्रतिमा का विरोध करने वाले लौंका के अनुयायी स० १५३१ मे प्रकट हुए, उसके पहले जैन नामधारी कोई भी व्यक्ति जिनप्रतिमा का विरोधी नही था। इस पर नृसिह ऋषि वोले – सूत्र मे जिनप्रतिमा का अधिकार है यह बात हम मानते हैं, परन्तु हम स्वय प्रतिमा को जिन के समान नही मानते। नरसिह ऋषिजो के इन इकवाली बयानो से अदालत ने मूर्तिपूजा मानने वालो के पक्ष मे फैसला सुना दिया और जैनशासन की जय वोलता हुआ मूर्तिपूजक समुदाय वहा से रवाना हुआ।

बाद मे मूर्तिपूजा विरोधियो के अगुआओ ने सघ के नेताओ से मिल कर कहा – "हम शहर मे झूठे तो कहलाये, फिर भी हम वीरविजयजी से मिल कर कुछ समाधान करले। इसलिए जेठमलजी ऋषि को वीरविजयजी मिले ऐसी व्यवस्था करो" इस पर इच्छाशाह ने कहा – यह तो चोरो की रीति है, साहूकारो को तो खुल्ले आम चर्चा करनी चाहिए। तुम मूर्ति को उत्थापन करते हो, इस सम्बन्ध मे तुम से पूछे गये १३ प्रश्नो के उत्तर नही देते, राजदरबार मे तुम झूठे ठहरे, फिर भी धीठ बनकर एकान्त मे मिलने की बातें करते हो ?, मोटे ताजे मूलजी ऋषि अदालत मे तो एक कोने मे जाकर बैठे थे और अब एकान्त मे मिलने की बात करते हैं ?, अगर अब भी जेठाजी ऋषि और तुमको शास्त्राथ कर जीतने की होश हो तो हम बडी सभा करने को तैयार हैं। उनमे शास्त्र के जानकार चार पण्डितो को बुलायेंगे, दूसरे भी मध्यस्थ पण्डित सभा मे हाजिर होगे। वे जो हार-जीत का निणय देंगे, दोनो पक्षो को मान्य करना होगा। तुम्हारे कहने मुजब एकान्त मे मिलकर कुलडी मे गुड नही भागेगे।

सभा करने की बात सुनकर प्रतिपक्षी बोले – हम सभा तो नही करेंगे, हमने तो आपस मे मिलकर समाधान करने की बात कही थी।

सभा करने का इनकार सुनने के वाद प्रतिमा पूजने वालो का समुदाय और प्रतिमा-विरोधियो का समुदाय अपने-अपने स्थान गया।

अपने स्थानक पर जाने के बाद जेठाजी ऋषि ने हकमाजी ऋषि को कहा – आज राजनगर मे अपने धम का जो पराजय हुआ है, इसका

मुख्य कारण तुम हो । हमने पहले ही तुमको पुछाया तो तुमने लिखा कि शहर मे शास्त्रार्थ करने वाला कोई पण्डित नही है । तुम्हारे इस झूठे पत्र के भरोसे हम सब हर्षपूर्वक यहाँ आये और लूटे गये । इस प्रकार एक दूसरे की भूलें निकालते हुए, ढुण्ढक अहमदाबाद को छोड कर चले गये । शहर से बहुत दूर निकल जाने के बाद वे गाव-गाव प्रचार करने लगे कि राजनगर की अदालत मे हमारी जीत हुई । ठीक तो है, सुवर्ण थाल से कासे का रणकार ज्यादा ही होता है । विष को बघारना इसी को तो कहते हैं, "काटने वाला घोडा और आख से काना", "झूठा गाना और होली का त्यौहार", "रण का जगल और पानी खारा" इत्यादि कहावतें ऐसे प्रसगो पर ही प्रचलित हुई हैं ।

रास के रचियता प० श्री उत्तमविजयजी जो उस शास्त्रार्थ के समय वहा उपस्थित थे, रास की समाप्ति मे अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहते हैं –

"जैनिदक वस्त लहिइरे ॥ जं० ॥ निंदा तेनो नवी कहिइरे ॥ जं० ॥
अहमदाबाद सेहर मजार रे ॥ जं० ॥ सहु चब्या हता दरबार रे ॥जं०॥३॥
करयो न्याय अदालत माये रे ॥जं०॥ त्यारे अमे गया ता साथे रे ॥जं०॥
त्यारे ढुण्ढ सभा थी भागा रे ॥जं०॥ जिनसासन डका वागा रे ॥जं०॥४॥
ए वातो नजरें दीठी रे ॥ जं० ॥ हइयामा लागी मीठी रे ॥ जं० ॥
जब जाजा वरसते थाय रे ॥ जं० ॥ तब कांइक वीसरि जग्य रे ॥जं०॥५॥
पछे कोइ नर पुछाय रे ॥ जं० ॥ आडु अवलु बोलाय रे ॥ जं० ॥
जूठा बोलां करी गाय रे ॥ जं० ॥ दुनिया जीति नवि जाय रे ॥जं०॥६॥
अग चौथु जे समवाय रे ॥ जं० ॥ जूठा ना पाप गवाय रे ॥ जं० ॥
अमे जूठ नथी कहेवाय रे ॥ जं० ॥ आटा मा लूण समाय रे ॥जं०॥७॥
जिन सासन फरसी छाय रे ॥ जं० ॥ साचा बोलां मुनि राय रे ॥जं० ॥
जे मृग तृष्णा जल धाय रे ॥ जं० ॥ ते आपमति कहेवाय रे ॥जं०॥८॥
अमे अवलब्या गुरु पाय रे ॥ जं० ॥ साचु सोनु ते कसाय रे ॥जं०॥
साची वातो अमे भाषी रे ॥ जं० ॥ छे लोक हजारो साखी रे ॥जं०॥९॥

अढार अठयोत्तर वरसे रे ॥ जं० ॥ सुदि पोष नी तेरस विषमे रे ॥जं०॥
कुमति ने शिक्षा दीधी रे ॥ जं० ॥ तव रास नी रचना कीधी रे ॥जं०॥१७॥
राधनपुर ना रहेवासी रे ॥ जं० ॥ तपगच्छ केरा चौमासी रे ॥ जं० ॥
खुशालविजयजी नु सीस रे ॥ जं० ॥ कहे उत्तमविजय जगीस रे ॥जं०॥११॥
जे नारी रस भर गास्ये रे ॥ जं० ॥ सोभाग्य अखडित थास्ये रे ॥ जं० ॥
साभल से रास रसीला रे ॥ जं० ॥ ते लेस्यें अविचल लीला रे ॥जं०॥१२॥

"॥इति लुपक लोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास सपूर्ण । स० १८७८ ना वर्षे माघ मासे कृष्णपक्षे ५ वार चन्द्र प० वीरविजयजी नीं आज्ञा थीं कत्तपुरा गच्छे राजनगर रहेवासी प० उत्तमविजय । स० १८८२ र. वर्षे लिपिकृतमस्ति पाटन नगरे प० मोतीविजय ॥"

'जो निंदक होता है, उसके वास्तविक स्वभाव का वर्णन करना वह निन्दा नही है । अहमदावाद मे जब दोनो पार्टिया कोर्ट मे जाकर लडी थी और अदालत ने जो फसला दिया था, उस समय हम भी अदालत में उनके साथ हाजिर थे । ढुण्ढको के विपक्ष मे फैसला हुआ और जैनशासन का डका बजा, तब ढुण्ढक सभा को छोड कर चले गये थे । यह हमने अपनी आखो से देखी बात है । जब कोई भी घटना घटती है और उसको अधिक समय हो जाता है, तब वह विस्मृत हो जाती है । लम्बे काल के बाद उस घटना के विषय मे कोई पूछता है तो वास्तविक स्थिति से ज्यादा कम भी कहने मे आ जाता है और तब जानकार लोग उसको असत्यवादी कहते हैं, हालाकि कहने वाला विस्मृति के वश ऊचा नीचा कह देता है, परन्तु दुनिया को कौन जीत सकता है, वह तो उसको असत्यवादी मान लेती हैं । चोथे समवायाग सूत्र मे असत्य बोलने का पाप बताया है, इसलिये जो बात ज्यो बनी है हम वही कहते हैं । वर्णन मे असत्य की मात्रा आटे मे नमक के हिसाब से रह सकती है, अधिक नही । जिन्होने जैनशासन को छाया का भी स्पर्श किया है, वैसे मुनि तो सत्यभाषी ही कहलाते हैं । जो मृग की तरह मृगतृष्णा के पीछे दौडते हैं, वे आपमति कहलाते हैं । हमने तो गुरु के चरणो का आश्रय लिया है । जिस प्रकार

सच्चा सोना कसौटी पर कसा जाता है, हमारी बातो की सच्चाई के हजारो लोग साक्षी हैं ।

स० १८७८ के पौष सुदि १३ के दिन जब दुर्बुद्धि मूर्तिलोपको को शिक्षा दी, उस समय इस रास की रचना की है। राधनपुर रहने वाले तपागच्छ के चौमासी श्री खुशालविजयजी के शिष्य उत्तमविजयजी कहते हैं – जो नारी इस रास को रसपूर्वक गायेगी उसका सौभाग्य अखडित होगा और जो इस रसपूर्ण रास को सुनेंगे वे शाश्वत सुख पायेंगे ।

"इस प्रकार लुम्पक लोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास पूर्ण हुआ । स० १८७८ के माघ कृष्णपक्ष में ५ सोमवार को पडित वीरविजयजी की आज्ञा से कत्तपुरागच्छीय राजनगर के निवासी प० उत्तमविजयजी ने रास की रचना की और स० १८८२ के वर्ष मे प० मोतीविजय ने पाटन नगर मे यह प्रति लिखी ॥"

उपर्युक्त प० उत्तमविजयजी के रास से और वाडीलाल मोतीलाल शाह के जजमेन्ट से प्रमाणित होता है कि "समकितसार" के निर्माण के बाद स्थानकवासियो का प्रचार विशेष हो रहा था, इसलिए इस प्रचार को रोकने के लिए अहमदावाद के जैनसघ ने स्थानकवासियो के सामने कडा प्रतिबन्ध लगाया था । परिणामस्वरूप अदालत द्वारा दोनो पार्टियो से सभा मे शास्त्रार्थ करवा कर निर्णय किया था । निर्णयानुसार स्थानकवासी पराजित होने से उन्हे अहमदावाद छोड कर जाना पडा था ।

प्रभुवीर - पट्टावली (२)

स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी द्वारा सकलित "प्रभुवीर पट्टावली" के पृ० १५७ मे ३३ पट्टधरो के उपरान्त आगे के पट्टधरो के नाम निम्न प्रकार से दिये है –

३४ वर्धनाचार्य
३५ भूराचाय
३६ सूदनाचाय
३७ सुहस्ती
३८ वधनाचाय
३९ सुबुद्धि
४० शिवदत्ताचाय
४१ वरदत्ताचार्य
४२ जयदत्ताचाय
४३ जयदेवाचाय
४४ जयघोपाचार्य
४५ वीरचन्द्रधर
४६ स्वातिसेनाचार्य
४७ श्री वन्ताचार्य
४८ सुमतिआचार्य (लोंकाशाह के गुरु)

अब हम पजाव की पट्टावली और श्री मणिलालजी की पट्टावली के नाम तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तो वे एक दूसरे से मिलते नहीं हैं, इसका कारण यही है कि ये दोनो पट्टावलिया कल्पित है और इसी कारण से पजाबी स्थानकवासियो की पट्टावली के अनुसार लोंकाशाह के गुरु ज्ञानजी यति का पट्ट न० ६० वा दिया है, तव श्री मणिलालजी ने ज्ञानजी यति के स्थान पर "सुमति" आचाय नाम लिखा है और उनको ४८ वां पट्टधर लिखा है।

स्थानकवासी पंजाबी साधुओं की पट्टावली (३)

पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली जो "ऐतिहासिक नोंध" पृ० १६३ में दी गई है, उसमें देवर्द्धिगणि के बाद के १८ नाम छोड़कर शेष ४६ से लगाकर निम्न प्रकार से नाम लिखे हैं –

४६ हरिसेन	५३ महासेन
४७ कुशलदत्त	५४ जयराज
४८ जीवनर्षि	५५ गजसेन
४९ जयसेन	५६ मिश्रसेन
५० विजयर्षि	५७ विजयसिंह
५१ देवर्षि	५८ शिवराज
५२ सूरसेन	५९ लालजीमल्ल

६० ज्ञानजी यति

सुत्तागमों की प्रस्तावनो की स्थानकवासी पट्टावली (४)

१ सुधर्मा	२ जम्बू	३ प्रभव
४ शय्यम्भव	५ यशोभद्र	६ सम्भूति
७ श्राय भद्रबाहु	८ स्थूलभद्र	९ श्राय महागिरि
१० बलिस्सह	११ सन्तायरिय	१२ श्यामाचार्य
१३ साण्डिल्य	१४ जिनधम	१५ समुद्र
१६ नन्दिल	१७ श्री नागहस्ती	१८ रेवत
१९ खन्दिल	२० सिंहगिरि	२१ श्रीमन्त
२२ नागाजु न	२३ गोविन्द	२४ भूतदिन्न
२५ लोहाचाय	२६ दुप्रस्सह	२७ देवर्द्धिगणि
२८ वीरभद्र	२९ शिवभद्र	३० जसवीर
३१ वीरसेन	३२ णिज्जामय	३३ जससेन
३४ हपसेन	३५ जयसेन	३६ जयपाल गणि
३७ देवर्षि	३८ भीमसेन	३९ कर्मसिंह
४० राजर्षि	४१ देवसेन	४२ शकरसेन
४३ लक्ष्मीलाभ	४४ रामर्षि	४५ पद्माचाय
४६ हरिशर्म्मा	४७ कुशलप्रभ	४८ उ मूनाचाय
४९ जयसेन	५० विजयर्षि	५१ श्री देवचन्द्र
५२ सूरसेन	५३ महासिंह	५४ महासेन
५५ जयराज	५६ गजसेन	५७ मित्रसेन
५८ विजयसिंह	५९ शिवराज	६० लालाचाय

६१ ज्ञानाचाय	६२ भाणा	६३ रूपाचार्य
६४ जीवर्षि	६५ तेजराज	६६ हरजी
६७ जीवराज	७८ धनजी	६९ विस्सणायरियो
७० मनजी	७१ नाथूरामाचार्य	७२ लक्ष्मीचन्द्र
७३ छित्तरमल	७४ राजाराम	७५ उत्तमचन्द
७६ रामलाल	७७ फकीरचन्द	७८ पुप्फभिक्खू
७९ सुमित्त	८० जिणचन्द	

(२०११ में जिनचन्द्र ने यह पट्टावली बनाई)

श्रमण-सुरतरु की
स्थानकवासि-पट्टावली (१)

पुष्फभिक्खू की पट्टावली लिखने के बाद स्थानकवासी मुनि श्री मिश्रीमलजी (मरुधर केसरी) निर्मित "श्रमणसुरतरु" नामक एक पट्टक हमारे देखने मे आया, उसमे दी गई सुधर्मा स्वामी से ज्ञानजी ऋषि पर्यन्त के ६७ नाम पट्टावली मे लिखे गए हैं। तब पुष्फभिक्खू की नूतन पट्टावली मे ज्ञानजी ऋषि को "ज्ञानाचार्य" नाम दिया है, और ६१ वा पट्टधर बताया है, इस प्रकार इन दो पट्टावलियो में ही छ नाम कम ज्यादह आते हैं और जो नाम लिखे गए हैं उनमे से छ नाम दोनो मे एक से मिलते हैं। वे ये हैं –

२८ आ० वीरभद्रजी
३१ आ० वीरसेनजी
३६ आ० जगमालजी
३८ आ० भीमसेनजी
४० आ० राजर्षिजी
४१ आ० देवसेनजी

उपयु क्त छ आचार्यो के नाम और नम्बर दोनो पट्टावलियो में एक से मिलते हैं' तब शेष देवर्द्धिगणि के बाद के ३४ नामो मे से एक भी नाम एक दूसरे के साथ मेल नही खाता, इससे प्रमाणित होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के बाद के ज्ञानजी यति तक के सभी नाम कल्पित हैं, जिनकी पहिचान यह है कि इन सब नामो के अन्त में 'जी' और 'महाराज' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, 'जी' कारान्त और 'महाराजा-त' नाम मौलिक नहीं है,

यह बात नामो की रचना और उनके प्रयोगो से ही पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं।

सुधर्मा से देवर्द्धिगरिण तक के २८ नामो में भी लेखक महोदय ने अनेक स्थानो मे अशुद्धिया घुसेड दी है, इनके दिये हुए देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण तक के नाम वास्तव मे किसी की गुरु परम्परा के नाम नही हैं, किन्तु ये माथुरी वाचनानुयायी वाचक वश के नाम है, जिसका खरा क्रम निम्न प्रकार का है –

६ श्री आर्य महागिरि	१० श्री वलिस्सहसूरि
११ ,, स्वास्तिसूरि	१२ ,, श्यामार्य
१३ ,, जीतधर शाण्डिल्य	१४ ,, आय समुद्र
१५ ,, आय मगू	१५ ,, आय नन्दिल
१७ ,, नागहस्ती	१८ ,, रेवती नक्षत्र
१९ ,, ब्रह्मद्वीपकसिंह	२० ,, स्कन्दिल
२१ ,, हिमवान्	२२ ,, नागार्जुन
२३ ,, गोविन्द वाचक	२४ ,, भूतदिन्न
२५ ,, लोहित्य	२६ ,, दूष्यगरिण
२७ ,, देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण	

'श्रमणसुरतरु' के लेखक महाशय ने ११ वें नम्बर मे सुहस्तीसूरि को रखा है, जो ठीक नही, क्योंकि महागिरि के बाद उनके अनुयोग-धर शिष्यो के नाम ही आते हैं, सुहस्ती का नहीं।

१२ वें नम्बर मे आचार्यश्री शातांचाय लिखा है, इसी लाइन मे नन्दिलाचार्य नाम लिखा है, वे भी यथाथ नही हैं, खरा नाम स्वात्याचाय है। सुप्रतिबुद्ध का नाम वाचक परम्परा मे नही है, किन्तु सुहस्तिसूरि की की शिष्य-परम्परा मे है और नन्दिल का नाम १६ वे नम्बर मे आता है।

१३ वा नम्बर स्कन्दिलाचाय का दिया है, जो गलत है। १३ वें नम्बर के श्रुतधर जीतश्रुतधर शाण्डिल्य हैं, स्कन्दिल नही। स्कन्दिलाचाय का

नम्बर २० था है, १३ वा नही, कोष्टक मे आयदिन का नाम भी गलत लिखा है, आयदिन्न आर्य सुहस्ती की परम्परा के स्थविर थे और इनका पट्ट नम्बर ११ वा था, १३ वा नही।

१४ वें नम्बर मे जीतधर स्वामी का नाम लिखा है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि जीतधर विशेष नाम नहीं है, किन्तु १३ वें नम्बर के आर्य शाण्डिल्य का विशेषण मात्र है।

१५ वें नम्बर मे आय समुद्र का नाम दिया है पर आय समुद्र १४ वें नम्बर मे हैं और आगे कोष्टक के श्री वज्रधर स्वामी ऐसा नाम लिखा है, यह भी यथाथ नही है, क्योंकि इस नाम के कोई भी स्थविर हुए ही नही हैं।

१६ वे नम्बर के आगे "वयर-स्वामी" लिखा है, जो गलत है, इस नम्बर के नन्दिलाचाय स्थविर ही हुए हैं, इनके आगे वज्रशाख १, चन्द्र-शाखा २, निवृत्तिशाखा ३ और ४ विद्याधरीशाखा नाम लिखे हैं, ये भी यथाथ नही है। वज्रस्वामी से वाज्रीशाखा जरूर निकली है, "चन्द्र" नाम कुल का है शाखा का नही इसी तरह "निवृति" नही कि तु "निवृं ति" नाम है और वह नाम शाखा का नही "कुल" का है, इसी तरह "विद्याधर" भी "कुल" का नाम है। शाखा का नही।

१७ वें नम्बर के आचाय "रेवतगिरि" "श्री आर्यरक्षित" और श्री "धरणीधर" इनमे से पहले और तीसरे नाम के कोई श्रुतधर हुए ही नही है और आयरक्षित हुए हैं, तो इनका नम्बर २० वा है, १७ वा नही।

१८ वें और १९ वें नम्बर के आगे आचाय "श्री सिंहगणि" और "स्थविर-स्वामी" ये नाम लिखे हैं, परन्तु दोनों नाम गलत है, क्योंकि इन नामो के कोई श्रुतधर हुए ही नही, सिंहगणि के आगे शिवभूति का नाम लिखा है, सो ठीक है परन्तु शिवभूति वाचक-वश में नहीं किन्तु देवर्द्धिगणि की गुर्वावली मे है, यह बात लेखक को समझ लेना चाहिए थी।

२० वें नम्बर में आचार्य शाण्डिल्य का नाम लिखा है, और कोष्टक मे आर्य नागहस्ती एव आर्य भद्र के नाम हैं, परन्तु ये शाण्डिलाचार्य श्रुतधर शाण्डिल्य नही, क्योकि श्रुतधर शाण्डिल्य का नाम १३ वा है, जो पहले लेखक ने सन्दिलाचार्य के रूप मे लिख दिया है। प्रस्तुत शाण्डिल्य आर्य नागहस्ती और आर्य भद्र ये तीनो नाम देवर्द्धिगणि की गुर्वावली के हैं और गुर्वावली मे इनके नम्बर क्रमश २३, २२ और २० हैं, जिनको लेखक ने ऊटपटाग कही के कही लिख दिए हैं।

२५ वें नम्बर के आगे श्री लोहगणि नाम लिखा है, सो ठीक नही, शुद्ध नाम "लौहित्यगणि" है।

२६ नम्बर के आगे इन्द्रसेनजी लिखकर कोष्टक मे दूष्यगणि लिखा है, वास्तव मे "इन्द्रसेनजी" कोई नाम ही नही है, शुद्ध नाम "दूष्य-गणि" ही है।

जैनसघ तीर्थयात्रा को जा रहा था। लौंकाशाह जहा अपने मत का प्रचार कर रहे थे वहा सघ पहुचा और वृष्टि हो जाने के कारण सघ कुछ समय तक रुका। सघजन लौंका का उपदेश सुनकर "दयाधर्म के अनुयायी बन गए और सघ को आगे ले जाने से रुक गए," यह कल्पित कहानी स्थानकवासी सम्प्रदाय की अर्वाचीन पट्टावलियो मे लिखी मिलती है; परन्तु न तो सिरोही स्टेट के अन्दर अहवाडा अथवा अहटवाडा नामक कोई गाव है, न इस कहानी की सत्यता ही मानी जा सकती है, तब अहवाडा में लौंका का जन्म बताने वाली बात सत्य कैसे हो सकती है। स० १४७२ के कार्तिक सुदि १५ को गुरुवार होना पचाग गणित के आधार से प्रमाणित नहीं होता, न उनके स्वर्गवास का समय ही १५४६ के चैत्र सुदि ११ को होना सिद्ध होता है।

उपर्युक्त दोनो सवत् मनघडन्त लिखे हैं, क्योकि उन दोनो तिथियो मे "एफेमेरिज" के आधार से लिखित वार नही मिलते। अब रही दीक्षा की बात सो लौंकागच्छ की किसी भी पट्टावली मे लौंकाशाह के दीक्षा लेने की बात नही लिखी। प्रत्युत केशवजी ऋषि ने लौंका को अदीक्षित माना है,

तब २१ वीं सदी के स्थानकवासी श्रमणसंघ और "श्रमणसुरतरु" के लेखक मुनिजी को लौंकाशाह के जन्म, दीक्षा और स्वर्गारोहण के समय का किस ज्ञान से पता लगा, यह सूचित किया होता तो इस पर कुछ विचार भी हो सकता था। खरी बात तो यह है कि पट्टावली-लेखकों तथा लौंका-गच्छ को अपना गच्छ कहने वालों को लौंकाशाह को गृहस्थ मानने में संकोच होता था, इसलिये पंजाबी पट्टावली में से लौंकाशाह को पहले से ही अदृश्य बना दिया था, अब मारवाड के श्रमणों को भी अनुभव होने लगा कि लौंकाशाह को साधु न मानना अपने गच्छ को एक गृहस्थ का चलाया हुआ गच्छ मानना है, इसी का परिणाम है कि 'श्रमणसुरतरु' के लेखक ने लौंकाशाह को दीक्षा दिलाकर "अपने गच्छ को श्रमण प्रवर्तितगच्छ बताने की चेष्टा की है," कुछ भी करें, लौंका के अनुयायियों की परम्परा गृहस्थोपदिष्ट मार्ग पर चलने वाली है, वह इस प्रकार की कल्पित कहानियों के जोडने से आगमिक श्रमण-परम्पराओं के साथ जुड नहीं सकती।

प्रारम्भिक पट्टावलियों के विवरण में लौंकागच्छीय और स्थानक-वासियों की पट्टावलियों के सम्बन्ध में हम लिख आए हैं कि ये सभी पट्टा-वलियां छिन्नमूलक हैं। देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक के २७ नामों से भी इनका एकमत्य नहीं है। किसी ने देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण को आर्य-महागिरि की परम्परा के मानकर नन्दी की स्थविरावली में लिया है, तब किसी ने उन्हें आर्य-सुहस्ती की गुरु-परम्परा के स्थविर मानकर कल्पसूत्र की स्थविरावली में घसीटा है। वास्तव में दोनों प्रकार के लेखक देवर्द्धिगणि-क्षमा-श्रमण की परम्परा लिखने में मार्ग भूल गये हैं।

देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण के बाद के कतिपय स्थविरों को छोडकर "प्रभुवीर पट्टावली" में उसके लेखक श्री मणिलालजी ने लौंकाशाह के गुरु तक के जो नाम लिखे हैं, वे लगभग सब के सब कल्पित हैं। उधर पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली में जो नाम देवर्द्धिगणि के बाद १८ नामों को छोडकर शेष लिखे गए हैं, उनमें से भी अधिकांश कल्पित ही ज्ञात होते हैं, क्योंकि आधुनिक स्थानकवासी साधु उनमें के अनेक नामों को भिन्न

प्रकार से लिखते है। पंजाब की पट्टावलियों में देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण के बाद १८ नाम छोडकर ज्ञानजी यति तक के जो नाम मिलते हैं, उनसे भी नही मिलने वाले आधुनिक स्थानकवासी पंजाबी साधु श्री फूलचंदजी द्वारा सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक के दूसरे भाग के प्रारम्भ में दी गई पट्टावली में उपलब्ध होते हैं, जो १८ नाम अन्य पट्टावलियों में नही मिलते, वे भी इसमें लिखे मिलते है।

पुप्फभिक्खू की पट्टावली (६)

२७ देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण	२८ वीरभद्र	२९ शिवभद्र
३० जसवीर	३१ वीरसेन	३२ णिज्जामय
३३ जससेन	३४ हृपसेन	३५ जयसेन
३६ जयपाल गणि	३७ देवर्षि	३८ भीमसेन
३९ कर्मसिह	४० राजर्षि	४१ देवसेन
४२ शकरसेन	४३ लक्ष्मीलाभ	४४ रामर्षि
४५ पद्माचाय	४६ हरिशर्म्मा	४७ कुशलप्रभ
४८ उन्मनाचाय	४९ जयसेन	५० विजयर्षि
५१ देवचन्द्र	५२ सूरसेन	५३ महासिह
५४ महासेन	५५ जयराज	५६ गजसेन
५७ मित्रसेन	५८ विजयसिह	५९ शिवराज
६० लालाचाय	६१ ज्ञानाचाय	६२ भाणाचार्य
६३ रूपाचाय	६४ जीवर्षि	६५ तेजराज
६६ हरजी	६७ जीवराज	६८ धनजी
६९ विस्सणायरिओ	७० मनजी	७१ नाथूरामाचाय
७२ लक्ष्मीचन्द्र	७३ छिनरमल	७४ राजाराम
७५ उत्तमचन्द	७६ रामलाल	७७ फकीरचन्द
७८ पुप्फभिक्खु	७९ सुमित्र	८० जिनचन्द्र

उपर्युक्त ८० नामो मे से देवर्द्धिगणि पर्यन्त के २७ नाम ऐतिहासिक हैं। इनमे भी कतिपय नाम अस्त-व्यस्त और अशुद्ध बना दिये हैं। २७ मे से ११वा, १४वा, २०वा, २१वा, २५वा और २६ वा, ये सात नाम वास्तव

मे देवर्द्धिगणि की वाचक वशावली के नही है और न देवर्द्धि की गुरु-परम्परा के ये नाम है, तथा २८ से लेकर ६० तक ये नाम कल्पित हैं। इन नामो के आचार्यो या साधुओ के होने का उल्लेख माथुरी या वालभी स्थविरावली मे अथवा तो अन्य किसी पट्टावली स्थविरावली मे नही है। ६१वा ज्ञानाचार्य वास्तव मे वृद्धपोषधशालिक आचार्य ज्ञानचन्द्रसूरि हैं। इसके आगे के ६२ से लेकर ८० तक के १८ नामो मे प्रारम्भ के कतिपय नाम लौंकागच्छ के ऋषियो के हैं, तब अन्तिम कतिपय नाम पुप्फभिक्खु के वडेरो के और उनके शिष्य प्रशिष्यो के हैं।

पजाव के स्थानकवासियो की पट्टावली जो "ऐतिहासिक नोंध" पृ० १६३ मे दी है उसमे देवर्द्धिगणि के बाद के १८ नाम छोडकर ४६ से लगाकर निम्न प्रकार से नाम लिखे हैं—

४६ हरिसेन	४७ कुशलदत्त	४८ जीवनर्षि
४९ जयसेन	५० विजयर्षि	५१ देवर्षि
५२ सूरसेन	५३ महासेन	५४ जयराज
५५ गजसेन	५६ मिश्रसेन	५७ विजयसिंह
५८ शिवराज	५९ लालजीमल्ल	६० ज्ञानजी यति

पजाबी साधु फूलचन्दजी ने अपनी नवीन पट्टावली मे देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण के वाद जो २८ से ४५ तक के नम्बर वाले नाम लिखे हैं वे तो कल्पित हैं ही, परन्तु उसके वाद के भी ४६ से ६० नम्बर तक के १५ नामो मे से ७ नाम फूलचन्दजी की पट्टावली के नामो से नही मिलते। ४६वा पट्टधर का नाम पजावी पट्टावली मे हरिसेन है, तब फूलचन्दजी ने उसके स्थान पर हरिशर्म्मा लिखा है। प० पट्टावली मे ४७वा नाम कुशलदत्त है, तब फूलचन्दजी ने उसे कुशलप्रभ लिखा है। प० पट्टावली में ४८वाँ नाम जीवनर्षि है, तब फूलचन्दजी ने उसके स्थान पर "उमणायरियो" लिखा है। ५१वा नाम प० पट्टावली मे "देवर्षि" है तब फूलचन्दजी ने "देवचन्द्र" लिखा है। प० पट्टावली मे ५३वा नाम "महासेन" मिलता है तब फूलचन्दजी ने "महासिंह" लिखा है। प० पट्टावली मे ५४वा नाम

जयराज है तब फूलचन्दजी ने उस नम्बर के साथ "महासेन" लिखा है और "जयराज" को नम्बर ५५वा मे लिया है, और प० पट्टावली मे ५५वें नवर के साथ गजसेन का नाम लिखा है। प० पट्टावली में ५६वो पट्टधर "मित्रसेन" बताया है, तब फूलचन्दजी ने इन्हीं को "मित्रसेन" लिखा है और नम्बर ५७वा दिया है। प० पट्टावली मे ५७वा नाम "विजयसिंह" का है, तब फूलचन्दजी ने विजयसिंह को ५८वें नम्बर मे रखा है। प० पट्टावली मे ५८–५९–६० नम्बर क्रमश शिवराज, लालजीमल्ल, और ज्ञानजी यति को दिए है, तब फूलचन्दजी ने इन्ही को ५९–६०–६१ नम्बर मे रखा है।

उपर्युक्त नामो की तुलना से जाना जा सकता है कि पजाबी साधु श्री फूलचन्दजी सूत्रो के पाठो के परिवतन में और नये नाम गढने मे सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। इन्होने स्थविरो के नामों मे ही नहीं आगमो के पाठो मे भी अनेक परिवर्तन किये हैं और कई पाठ मूल में से हटा दिये हैं। इस हकीकत की जानकारी पाठकगण आगे दिये गए शीर्षको को पढकर हासिल कर सकते हैं।

जैन आगमो मे काट-छांट :

लौंकामत का प्रादुर्भाव विक्रम स० १५०८ मे हुआ था और इस मत मे से १८वी शती के प्रारम्भ मे अर्थात् १७०९ मे मुख पर मुहपत्ति बाधने वाला स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला, इत्यादि बातो का विस्तृत वर्णन लौंकागच्छ की पट्टावली में दिया जा चुका है। शाह लौंका ने तथा उनके अनुयायी ऋषियो ने मूर्तिपूजा का विरोध अवश्य किया था, परन्तु जैन आगमो मे काटछाट करने का साहस किसी ने नही किया था।

सर्वप्रथम स० १८६५ मे स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी ने "समकितसार" नामक ग्रन्थ लिखकर मूर्तिपूजा के समर्थन मे जो आगमो के पाठ दिये थे उनकी समालोचना करके अर्थ-परिवर्तन द्वारा अपनी मान्यता

का बचाव करने की चेष्टा की, परन्तु मूल-सूत्रो मे परिवर्तन अथवा कांट-छाट करने का कातर प्रयास किसी ने नही किया ।

उसके बाद स्थानकवासी साधु श्री अमोलकऋषिजी ने ३२ सूत्रो को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया । उस समय भी ऋषिजी ने कही-कही शब्द परिवतन के सिवा पाठो पर कटार नही चलाई थी ।

विक्रम की २१ वी शती के प्रथम चरण मे उन्ही ३२ सूत्रो को "सुत्तागमे" इस शीर्षक से दो भागो में प्रकाशित करवाने वाले श्री पुप्फ भिक्खू (श्री फूलचन्दजी) ने उक्त पाठो को जो उनकी दृष्टि में प्रक्षिप्त थे निकालकर ३२ आगमो का सशोधन किया है । उन्होने जिन जिन सूत्रो मे से जो जो पाठ निकाले हैं उनकी सक्षिप्त तालिका नीचे दी जाती है –

(१) श्री भगवती सूत्र मे से शतक २० । ३०६ । सू० ६८३ – ६८४ । भगवतीसूत्र शतक ३ । ३०२ मे से ।
भगवतीसूत्र के अन्दर जघाचारण विद्याचारणो के सम्बन्ध में नन्दीश्वर मानुषोत्तर पवत तथा मेरु पर्वत पर जाकर चैत्यवन्दन करने के पाठ मूल मे से उडा दिए गए हैं ।

(२) ज्ञाताधम कथाग मे द्रौपदी के द्वारा की गई जिनपूजा सम्बन्धी सारा का सारा पाठ हटा दिया है ।

(३) स्थानाग सूत्र मे आने वाले नन्दीश्वर के चैत्यो का अधिकार हटाया गया है ।

(४) उपासक-दशाग सूत्र के आनन्द श्रावकाध्ययन मे से सम्यक्त्वोच्चारण का आलापक निकाल दिया है ।

(५) विपाकश्रुत मे से मृगारानी के पुत्र को देखने जाने के पहले मृगादेवी ने गौतम स्वामी को मुहपत्ति से मुह बाघने की सूचना करने वाला पाठ उडा दिया है।

(६) औपपातिक सूत्र का मूल पाठ जिसमे अम्बडपरिव्राजक के सम्यक्त्व उचरने का अधिकार था, वह हटा दिया गया है, क्योकि उसमे

"अरिहन्तचैत्य" और "अन्य तीर्थिक परिगृहीत अरिहन्त चैत्यो" का प्रसग आता था ।

(७) राजप्रश्नीय सूत्रो मे सूर्याभदेव के विमान मे रहे हुए सिद्धायतन मे जिनप्रतिमाओ का वर्णन और सूर्याभदेव द्वारा किये हुए उन प्रतिमाओ के पूजन का वर्णन सम्पूर्ण हटा दिया है ।

(८) जीवाभिगम सूत्र मे किये गए विजयदेव की राजधानी के सिद्धायतन तथा जिनप्रतिमाओ का, नन्दीश्वर द्वीप के जिनचैत्यो का रुचक तथा कुण्डल द्वीप के जिनचैत्यो का, वर्णन निकाल दिया गया है। श्री जीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देश मे विरुद्ध जाने वाला जो पाठ था उसको हटा दिया है ।

(९) इसी प्रकार जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि सूत्रो मे आने वाले सिद्धायतन कूटो मे से "आयतन" शब्द को हटाकर "सिद्धकूट" ऐसा नाम रक्खा है ।

(१०) वहार-सूत्र के प्रथम उद्देशक के ३७ वे सूत्र के द्वितीय भाग मे आने वाले "भाविजिनचेइअ" शब्द को हटा दिया है ।

उपर्युक्त सभी पाठ स्थानकवासी साधु धर्मसिहजी से लगाकर वीसवी सदी के स्थानकवासी साधु श्री अमोलक ऋषिजी ने ३२ सूत्रो को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया तब तक सूत्रो मे विद्यमान थे ।

गतवर्ष स० २०१९ के शीतकाल मे जब हमने श्री पुप्फभिक्खू सम्पादित "सुत्तागमे" नामक जैनसूत्रो के दोनो अश पढे तो ज्ञात हुआ कि सूत्रो के इस नवीन प्रकाशन मे श्री फूलचन्दजी (पुप्फभिक्खू) ने बहुत ही गोलमाल किया है । सूत्रो के पाठ के पाठ निकालकर मूर्तिविरोधियो के लिए मार्ग निष्कण्टक बनाया है । मैंने प्रस्तुत सूत्रो के सम्पादन मे की गई काट-छाट के विषय मे स्थानकवासी श्री जैनसघ सहमत है या नही, यह जानने के लिए एक छोटा सा लेख तैयार कर "जनवाणी" कार्यालय जयपुर (राजस्थान) तथा चादनी चौक देहली न० ६ "जैनप्रकाश" कार्यालय को

एक-एक नकल प्रकाशनार्थ भेजी, परन्तु उक्त लेख स्थानकवासी एक भी पत्रकार ने नही छापा, तब इसकी नकल भावनगर के "जैन" पत्र के ऑफिस को भेजी और वह लेख जैन के "भगवान् महावीर-जन्म कल्याणक विशेषाङ्क" मे छपकर प्रकट हुआ, हमारा वह संक्षिप्त लेख निम्नलिखित था।

श्री स्थानकवासी जैनसंघ से प्रश्न :

पिछले लगभग अर्द्धशताब्दी जितने जीवन मे अनेक विषयो पर गुजराती तथा हिंदी भाषा मे मैंने अनेक लेख तथा निबन्ध लिखे हैं, परन्तु श्री स्थानकवासी जैनसघ को सम्बोधन करके लिखने का यह पहला ही प्रसग है, इसका कारण है "श्री पुप्फभिक्खू" द्वारा सशोधित और सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक का अध्ययन।

पिछले कुछ वर्षो से प्राचीन जैन साहित्य का स्वाध्याय करना मेरे लिए नियम सा हो गया है, इस नियम के फलस्वरूप मैंने "सुत्तागमे" के दोनो अश पढे, पढने से मेरे जीवन में कभी न होने वाला दुख का अनुभव हुआ।

मेरा झुकाव इतिहास-सशोधन की तरफ होने से "श्री लौंकागच्छ" तथा "श्री बाईस सम्प्रदाय" के इतिहास का भी मैंने पर्याप्त अवलोकन किया है। लौंकाशाह के मत-प्रचार के बाद मे लिखी गई अनेक हस्तलिखित पुस्तको से इस सम्प्रदाय की पर्याप्त जानकारी भी प्राप्त की, फिर भी इस विषय मे कलम चलाने का विचार कभी नही किया, क्योंकि सप्रदायो के आपसी सघर्ष का जो परिणाम निकलता है उसे मैं अच्छी तरह जानता था। लौंकाशाह के मौलिक मन्तव्य क्या थे, उसको उनके अनुयायियों के द्वारा १६वीं शताब्दी के अन्त मे लिखित एक चर्चा-ग्रन्थ को पढ कर मैं इस विषय में अच्छी तरह वाकिफ हो गया था। उस हस्तलिखित ग्रन्थ के बाद मे बनी हुई अनेक इस गच्छ की पट्टावलियों तथा अन्य साहित्य का भी मेरे पास अच्छा सग्रह है। स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी द्वारा सदृब्ध "समकितसार" और इसके उत्तर मे श्री विजयानन्दसूरि लिखित "सम्यक्त्व-

शल्योद्धार" पुस्तक तथा श्री अमोलकऋषिजी द्वारा प्रकाशित ३२ सूत्रो मे से भी कतिपय सूत्र पढे थे। यह सब होने पर भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के विरुद्ध लिखने की मेरी भावना नही हुई। यद्यपि कई स्थानकवासी विद्वानो ने अपने मत के वाधक होने वाले सूत्र-पाठो के कुछ शब्दो के अर्थ जरूर वदले थे, परन्तु सूत्रो मे से वाधक पाठो को किसी ने हटाया नही था। लोंकागच्छ की उत्पत्ति से लगभग पौने पाच सौ वर्षो के वाद श्री पुप्फभिक्खू तथा इनके शिष्य-प्रशिष्यो ने उन वाधक पाठो पर सर्वप्रथम कैंची चलाई है, यह जान कर मन में अपार ग्लानि हुई। मैं जानता था कि स्थानकवासी सम्प्रदाय के साथ मेरा सद्भाव है, वसा ही वना रहेगा, परन्तु पुप्फभिक्खू के उक्त कार्य से मेरे दिल पर जो आघात पहुँचा है, वह सदा के लिए अमिट रहेगा।

भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथाग, उपासकदशाग, विपाकसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय ,जीवाभिगम, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, व्यवहारसूत्र आदि मे जहा-जहा जिनप्रतिमा पूजन जिनचैत्यवन्दन, सिद्धायतन, मुँहपत्ति वाधने के विरुद्ध जो जो सूत्रपाठ थे, उनका सफाया करके श्री भिक्खूजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय को निरापद वनाने के लिए एक अप्रामाणिक और कापुरुषोचित कार्य किया है, इसमे कोई शका नही, परन्तु इस कार्य के सम्बन्ध मे मैं यह जानना चाहता हू कि "सुत्तागमे" छपवाने मे सहायता देने वाले गृहस्थ और सुत्तागमे पर अच्छी-अच्छी सम्मतिया प्रदान करने वाले विद्वान् मुनिवर्य मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने का कष्ट करेंगे कि इस कार्य मे वे स्वय सहमत हैं या नही ?

उपर्युक्त मेरा लेख छपने के वाद "अखिल भारत स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस" के माननीय मन्त्री और इस सस्था के गुजराती साप्ताहिक मुखपत्र "जैन प्रकाश" के सम्पादक श्रीयुत् खीमचदभाई मगनलाल वोहरा द्वारा "जैन" पत्र के सम्पादक पर तारीख १-५-६२ को लिखे गये पत्र म लिखा था कि — "सुत्तागमे' पुस्तक श्री पुप्फभिक्खू महाराज का खानगी प्रकाशन हैं, जिसके साथ "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ" अथवा "अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस" का कोई सम्बन्ध

नही है, सो जानिएगा । "इस पुस्तक के प्रकाशन के सम्बन्ध मे श्रमणसघ के अधिकारी मुनिराजो ने तथा कॉन्फ्रेन्स ने श्री पुप्फभिक्खू महाराज के साथ पत्र व्यवहार भी किया है, इसके अतिरिक्त यह प्रश्न श्रमणसघ के विचारणीय प्रश्नो पर रक्खा गया है और श्रमणसघ के अधिकारी मुनिराज थोडे समय मे मिलगे तब इस पुस्तक प्रकाशन के विषय मे आवश्यक निर्णय करने का सोचा है ।"

कुछ समय के बाद पत्र मे लिखे मुजब ता० ७–६–६२ के "जैन प्रकाश" मे स्थानकवासी श्रमणसघ की कार्यवाहक समिति ने "सुत्तागम" पुस्तक को अप्रमाणित ठहराने वाला नीचे लिखा प्रस्ताव सर्वानुमति से पास किया –

"मन्त्री श्री फूलचन्दजी महाराज ने "सुत्तागमे" नामक पुस्तक के प्रकाशन मे आगमो मे कतिपय मूल पाठ निकाल दिए हैं, वह योग्य नही । शास्त्र के मूल पाठो मे कमी करने का किसी को अधिकार नहीं है, इसलिए "सुत्तागमे" नामक सूत्र के प्रस्तुत प्रकाशन को यह कार्यवाहक समिति अप्रमाणित उद्घोषित करती है ।"

उपर्युक्त स्थानकवासी श्रमणसघ की समिति का प्रस्ताव प्रसिद्ध होने के बाद इस विषय मे अधिक लिखना ठीक नही समझा और चर्चा वही स्थगित हो गई।

पट्टावली के विवरण मे श्री पुप्फभिक्खू के "सुत्तागमे" नामक सूत्रो के प्रकाशन के सम्बन्ध मे पुप्फभिक्खूजी द्वारा किये गये पाठ परिवर्तन के सम्बन्ध मे कुछ लिखना आवश्यक समझ कर ऊपर निकाले हुए सूत्रपाठो की तालिका दी है । पुप्फभिक्खूजी का पुरुषार्थ इतना करके ही पूरा नही हुआ है, इन्होने सूत्रो मे से चैत्य शब्द को तो इस प्रकार लुप्त कर दिया है कि सारा प्रकाशन पढ लेने पर भी शायद ही एकाध जगह चैत्य शब्द दृष्टिगोचर हो जाये[१] ।

१ उत्तराध्ययन-सूत्र के महानियठिज्ज नामक बीसवें अध्ययन की दूसरी गाथा के चतुर्थ 'मण्डि कुच्छिसिचेइए' इस चरण में "चैत्य' शब्द रहने पाया है, वह भी भिक्खूजी

भिक्खूजी की चैत्य शब्द पर इतनी अब कृपा कैसे हुई यह समझ मे नही आता, मन्दिर अथवा मूर्तिवाचक "चैत्य" शब्द को ही काट दिया होता तो बात और थी। पर आपने चुन-चुन कर "गुणशिलकचैत्य," "पूर्णभद्रचैत्य," और चौवीस तीर्थङ्करो के "चैत्यवृक्ष" आदि जो कोई भी चत्यान्त शब्द सूत्रो मे आया, उसको नेस्तनाबूद कर दिया। इनके पुरोगामी ऋषि जेठमलजी आदि "चैत्य" शब्द को "व्यन्तर का मन्दिर" मानकर इसको निभाते थे, उनके बाद के भी बीसवीं शती तक के स्थानकवासी लेखक "चैत्यशब्द" का कही 'ज्ञान,' कही 'साधु,' कही 'व्यन्तर देव का मन्दिर' मानकर सूत्रो मे इन शब्दो को निभा रहे थे, परन्तु "श्री पुष्फभिक्खूजी" को मालूम हुआ कि इन शब्दो के अर्थ बदलकर चैत्यादि शब्द रहने देना यह एक प्रकार की लीपापोती है। "चैत्यशब्द" जब तक सूत्रो मे बना रहेगा तब तक मूर्तिपूजा के विरोध में लडना झगडना बेकार है, यह सोचकर ही आपने "चैत्य" "आयतन" "जिनघर" "चैत्यवृक्ष" आदि शब्दो को निकालकर अपना मार्ग निष्कण्टक बनाया है। ठीक है, इनकी समझ से तो यह एक पुरुषार्थ किया है, परन्तु इस करतूत से इनके सूत्रो मे जो नवीनता प्रविष्ट हुई है, उसका परिणाम भविष्य मे ज्ञात होगा।

पुष्फभिक्खूजी ने पूजा विषयक सूत्र-पाठो, मन्दिरो और मूर्तिविषयक शब्दो को निकालकर यह सिद्ध किया है, कि इनके पूर्ववर्ती शाह लोंका, धर्मसिंह, ऋषि जेठमलजी और श्री अमोलक ऋषिजी आदि शब्दों का अर्थ बदलकर मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे, वह गलत था।

"चैत्य शब्द" का वास्तविक अर्थ :

आजकल के कतिपय अदीर्घदर्शी विद्वान् "चैत्यशब्द" की प्रकृति "चिता" शब्द को मानते हैं और कहते है मरे मनुष्य को जहा पर जलाया

के प्रमाद से नही किन्तु निरुपायता से क्योकि "चेइए इस शब्द के स्थान में रखन के लिए आपको दूसरा कोई रगणात्मक "चेइय शब्द का पर्याय नही मिलने से चैत्य शब्द कायम रखना पडा और नीचे टिप्पण में 'उज्जाणे यह शब्द लिखना पडा।'

जाता था उस स्थान पर लोग चबूतरा आदि कुछ स्मारक बनाते थे, जो "चैत्य" कहलाता था। इस प्रकार "चिता" शब्द की निष्पत्ति बताने वाले विद्वान् व्याकरण शास्त्र के अनजान मालूम होते हैं। "चिता" शब्द से "चैत्य" नही बनता पर "चैत" शब्द बनता है। आज से लगभग ५ हजार वर्ष पहले के वैदिक धर्म को मानने वाले सवर्ण भारतीय लोग अग्निपूजक थे, उन प्रत्येक के घरों मे पवित्र अग्नि को रखने के तीन-तीन कुण्ड होते थे, उन कुण्डो मे अग्नि की जो स्थापना होती थी उसको "अग्निचित्या" कहते थे। सैकडो वर्षो के बाद "अग्निचित्या" शब्द मे से "अग्नि" शब्द तिरोहित होकर व्यवहार मे केवल "चित्या" शब्द ही रह गया था। आज से लगभग २४०० वर्ष पहले के प्रसिद्ध वैयाकरण श्री पाणिनिऋषि ने अपने व्याकरण मे व्यवहार मे प्रचलित "चित्या" शब्द को ज्यो का त्यो रखकर उसको स्पष्ट करने वाला उसको पर्याय शब्द "अग्निचित्या" को उसके साथ जोडकर "चित्याग्निचित्ये" ३।१॥३२. यह सूत्र बना डाला, इसी अग्निचयनवाचक "चित्या" शब्द से "चैत्य" शब्द की निष्पत्ति हुई, जिसका अर्थ होता है – "पवित्र अग्नि, पवित्र देवस्थान, पवित्र देवमूर्ति और पवित्र वृक्ष" इन सब अर्थो मे "चैत्य" शब्द प्रचलित हो गया और आज भी प्रचलित है।

जिनचैत्य का अर्थ – जिन का पवित्र स्थान अथवा जिन की पवित्र प्रतिमा, यह अर्थ आज भी कोशो से ज्ञात होता है। जिस वृक्ष के नीचे बैठकर जिन ने धर्मोपदेश किया वह वृक्ष भी श्रीजिन चैत्य वृक्ष कहलाने लगा और कोशकारो ने उसी के आधार से "चैत्य जिनौकस्तद्बिम्ब, चत्यो जिनसभातरु" इस प्रकार अपने कोशो मे स्थान दिया।

कौटिल्य अर्थशास्त्र जो लगभग २३०० वर्ष पहले का राजकीय न्याय शास्त्र है, उसमे भी अमुक वृक्षो को "चैत्यवृक्ष" माना है और उन पवित्र वृक्षो के काटने वालो तथा उसके आस-पास गन्दगी करने वालो के लिए दण्डविधान किया है।" नगर के निकटवर्ती भूमि-भागो को देवताओं के नामो पर छोडकर उनमे अमुक देवो के मन्दिर बना दिये जाते थे और उन भूमि भागो के नाम उन्हीं देवों के नाम से प्रसिद्ध होते थे। जसे –

राजगृह नगर के ईशानदिक्कोण मे "गुणशिलक" नामदेव का स्थान होने से वह सारा भूमिभाग "गुणशिलक चैत्य" कहलाता था। इसी प्रकार चम्पा-नगरी के ईशान दिशा-भाग मे "पूर्णभद्र" नामक देव का स्थान था जो "पूर्णभद्र चैत्य" के नाम से प्रसिद्ध हो गया था और उस सारे भूमिभाग को देवता अधिष्ठित मानकर उस स्थान की लकडी तक लोग नही काटते थे।

इसी प्रकार प्राचीनकाल के ग्रामो, नगरो के बाहर तत्कालीन भिन्न-भिन्न देवो के नामो से भूमि-भाग छोड दिए जाते थे और वहा उन देवो के स्थान बनाए जाते थे, जो चैत्य कहलाते थे। आजकल भी कई गावो के बाहर इस प्रकार के भूमिभाग छोडे हुए विद्यमान हैं। आजकल इन मुक्त भूमिभागो को लोग "उग" अर्थात् "उपवन" इन नाम से पहिचानते हैं।

उपयु क्त सक्षिप्त विवरण से पाठकगण समझ सकेंगे कि "चैत्यशब्द" "साधुवाचक" अथवा "ज्ञानवाचक" न कभी था न आज ही है। क्योकि चैत्य शब्द की उत्पत्ति पूजनीय अग्निचयन वाचक "चित्या" शब्द से हुई है, न कि "चिता" शब्द से अथवा "चिति सज्ञाने" इस धातु से। इस प्रकृतियो से "चैत" "चित्त" "चैतस्" शब्द बन सकते हैं, "चैत्य शब्द" नही। श्री पुप्फभिक्खू की समझ मे यह बात आ गई कि शब्दो का अर्थ बदलने से कोई मतलब हल नही हो सकता। पूजनीय पदार्थ-वाचक "चैत्य" शब्द को सूत्रो मे से हटाने से ही अमूर्तिपूजको का मार्ग निष्कण्टक हो सकेगा।

श्री पुप्फभिक्खू अपने प्रकाशन के प्रथम अ श के प्रारम्भ मे "सूचना" इस शीर्षक के नीचे लिखते हैं—

"यह प्रकाशन मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य साधुकुल-शिरोमणि १०८ श्री-फकीरचन्दजीमहाराज (स्वर्गीय) के धारणा-व्यवहारानुसार है।"

पुप्फभिक्खूजी की इस सूचना मे "धारणा व्यवहार" शब्द का प्रयोग किस अर्थ मे हुआ है यह तो प्रयोक्ता ही जाने, क्योकि "धारणा व्यवहार" शब्द प्रायश्चित्त विषयक पाच प्रकार के व्यवहारो मे से एक का वाचक है।

शास्त्र के प्रकाशन मे प्रायश्चित सबन्धी व्यवहार का कोई प्रयोजन नही होता, फिर भी आपने इसका प्रयोग किया है। यदि "हमारे गुरु की धारणा यह थी कि चैत्यादि-वाचक शब्द-विशिष्ट पाठो को निकालकर सूत्रो का सम्पादन करना" यह धारणा व्यवहार के अर्थ मे अभिप्रेत है तो जिनके विशेषणो से पौने दो पृष्ठ भरे है वे विशेषण अपार्थक हैं और यदि वे लेखक के कथनानुसार विद्वान् और गुणी थे तो सम्पादक ने उनकी 'धारणा" का नाम देकर अपना बोझा हल्का किया है, क्योंकि गुणी और जिनवचन पर श्रद्धा रखने वाला मनुष्य जैनागमो मे काट-छांट करने को सलाह कभी नही दे सकता। श्री भिक्खुजी के सम्पादन मे सूत्रो की काफी काटछांट हुई है, इसकी जवाबदारी पुप्फभिक्खुजी अपने गुरुजी पर रक्खे या स्वय जवाबदार रहे इस सम्बन्ध में हमको कोई साराश निकालना नही है। पुप्फभिक्खुजी के समानधर्मी श्रमणसमिति ने इस प्रकाशन को अप्रमाणित जाहिर किया, इससे इतना तो हर कोई मानेगा कि यह काम भिक्षुजी ने अच्छा नही किया।

पुप्फभिक्खुजी ने अपने प्रस्तुत काय में सहायक होने के नाते अपने शिष्य श्री जिनचन्द्र भिक्खु की अपने वक्तव्य मे जो सराहना की है उसका मूल आधार निम्नलिखित गाथा है –

"दो पुरिसे धरइ धरा, अहवा दोहिंवि धारिआ धरणी।
उवयारे जस्स मई, उवयरिअ जो न फुसेई ॥"

अर्थात्,– पृथ्वी अपने ऊपर दो प्रकार के पुरुपो को धारण करती है उपकार बुद्धि वाले उपकारक को और उपकार को न भूलने वाले "कृतज्ञ" को अथवा दो प्रकार के पुरुषो से पृथ्वी धारण की हुई है। एक उपकारक पुरुप से और दूसरे उपकार को न भूलने वाले कृतज्ञ पुरुप से।

उपयु क्त सुभाषित को गुरु-शिष्यो के पारस्परिक सहकार को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त करना शिष्टसम्मत है या नही, इसका निर्णय हम शिष्ट वाचको पर छोडते हैं।

श्री पुष्फभिक्खू, सुमित्तभिक्खू और जिणचन्दभिक्खू यह त्रितय "सुत्तागमे" के सम्पादन मे एक दूसरे का सहकारी होने से आगे हम इनका उल्लेख "भिक्षुत्रितय" के नाम से करेंगे ।

पुस्तक की प्रस्तावना मे "आगमो की भाषा" नामक शीर्षक के नीचे लिखा है –

'देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगमो को लिपिवद्ध किया, इतने समय के वाद लिखे जाने पर भी भाषा की प्राचीनता मे कमी नही आई ।"

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय मे भाषा की प्राचीनता मे कमी नही आई यह कहने वाले भिक्षुत्रितय को प्रथम प्राचीन और अर्वाचीन अर्द्धमागधी भाषा मे क्या अन्तर है, यह समझ लेना चाहिए था । आगमो मे आचाराग और सूत्रकृताग हैं और आगमो मे विपाक और प्रश्न व्याकरण भी हैं, इन सूत्रो की भाषाओ का भी पारस्परिक अन्तर समझ लिया होता तो वे "प्राचीनता मे कमी नही हुई" यह कहने का साहस नही करते ।

आचाराग तथा सूत्रकृताग सूत्र आज भी अपने उसी मूल रूप मे वर्तमान हैं, जो रूप उनके लिखे जाने के मौर्य-समय मे था । इनके आगे के स्थानाग आदि सभी अग सूत्रो मे भिन्न-भिन्न वाचनाओ के समय मे थोडा *थोडा परिवर्तन और सक्षेप होता रहा है । स्थानाग आदि नव अग सूत्रो मे* दूसरी वाचना के समय मे स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता मे सूत्रो का जो स्वरूप निर्धारित हुआ था, वह आज तक टिका हुआ है । देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय मे जो पुस्तकालेखन हुआ उसमे मुख्यता माथुरी और वालभी वाचनानुगत सूत्रो मे चलते हुए पाठान्तरो का समन्वय करने की प्रवृत्ति की थी । देवर्द्धिगणि ने तत्कालीन दोनो वाचनानुयायी श्रमणसघो की सम्मति से सूत्रो का समन्वय किया था, तत्कालीन प्रश्नव्याकरण मे १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, जैसे अगुष्ठप्रश्नादि, वाहु-प्रश्नादि, आदश-प्रश्नादि के उत्तरो का निरूपण था । इनके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक विचित्र विद्याओ के अतिशय थे उनको तिरोहित करके वर्तमानकालीन

पचसवर-पचाश्रवमय प्रश्नव्याकरण बनाया और प्राचीन प्रश्न-व्याकरण के स्थान मे रखा। भाषा की प्राचीनता अर्वाचीनता की मीमासा करने वाला भिक्षुत्रितय यह बताएगा कि आचाराग, सूत्रकृताग की भाषा मे और आगे के नव अ गसूत्रो की भाषा मे क्या अन्तर पडा है, और उनमे प्रयुक्त शब्दो तथा वाक्यों में कितना परिवर्तन हुआ है ?

अ ग्रेज विचारकों के अनुयायी बनकर जैन-आगमो की भाषा को महाराष्ट्रीय प्राकृत के असर वाली मानने के पहले उन्हें देशकाल-सम्ब धी इतिहास जान लेना आवश्यक था। डॉ० हानले जैसे अ ग्रेजो की अपूर्ण शोध के रिपोर्टो को महत्त्व देकर जैन मुनियो के दक्षिण-देश मे जाने की वात जो दिगम्बर भट्टारको की कल्पनामात्र है, सच्ची मानकर जन-आगमो मे दक्षिणात्य प्राकृत का असर मानना निराधार है। न तो मौर्य्य चन्द्रगुप्त के समय मे जैनश्रमण दक्षिण प्रदेश मे गए थे, न उनकी अद्धमागधी सौत्र भाषा मे दक्षिण-भाषा का असर हुआ था। जो दिगम्बर विद्वान् कुछ वर्षो पहले श्र ुतधर भद्रवाहु स्वामी के चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण मे जाने की बात करते थे वे सभी आज मानने लगे हैं कि दक्षिण मे जाने वाले भद्रवाहु और चन्द्रगुप्त दूसरे थे, श्र ुतधर भद्रवाहु और मौर्य्य-सम्राट चन्द्रगुप्त नही, क्योकि दिगम्बरो के ग्रन्थो मे भद्रबाहु का और च द्रगुप्त का दक्षिण मे जाना उज्जैनी नगरी से बताया है, और उनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी मे अनुमानित किया है। आज तो डा० ज्योतिप्रसाद जन जैसे शायद ही कोई अति-श्रद्धालु दिगम्बर विद्वान् श्र ुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण मे जाने का बात कहने वाले मिलेंगे। श्रवणबेल्गोल आदि दिगम्बरो के प्राचीन तीर्थों के शिलालेखो के प्रकाशित होने के बाद अब विद्वानो ने यह मान लिया है कि दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु श्र ुतकेवली नही किन्तु दूसरे ज्योतिषी-भद्रवाहु हो सकते हैं। इसका कारण उनके प्राचीन तीर्थो मे से जो शिलालेख मिल हैं वे सभी शक की आठवी शती और उसके बाद के हैं। हमारी खुद की मान्यता के अनुसार तो अधिक दिगम्बर साधुओ के दक्षिण मे जाने सम्ब धी दतकथाए सही हो, तो भी इनका समय विक्रम की छट्ठी शती के पहले का नही हो सकता। दिगम्बर-सम्प्रदाय की ग्रथप्रशस्तियो तथा पट्टावलियो मे

जो प्राचीनता का प्रतिपादन किया गया है, वह विश्वासपात्र नहीं है। इस स्थिति में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मान्य आगमों पर दक्षिणात्य प्राकृत भाषा का प्रभाव बताना कोई अर्थ नहीं रखता।

"सुत्तागमे" के प्रथम अंश की प्रस्तावना के १४ वें पृष्ठ की पादटीका में लेखक कहते हैं —

"इतना और स्मरण रहे कि इससे पहले पाटलीपुत्र का सम्मेलन और नागार्जुन क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान में माथुरी-वाचना हो चुकी थी।"

लेखकों का नागार्जुन क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान में माथुरीवाचना बताना प्रमादपूर्ण है, माथुरी-वाचना नागार्जुन वाचक के तत्वावधान में नहीं किन्तु आचार्य स्कन्दिल की प्रमुखता में मथुरा नगरी में हुई थी; इसलिये यह वाचना "माथुरी" तथा "स्कन्दिली" नामों से भी पहचानी जाती है।

एक आगम के नाम का निर्देश दूसरे में होने के सम्बन्ध में भिक्षु-त्रितय समाधान करता है – कि यह आगमों की प्राचीन शैली है। भिक्षुत्रय का यह कथन यथार्थ नहीं, भगवान् महावीर के गणधरों ने जब द्वादशांगी की रचना की थी, उस समय यह पद्धति अस्तित्व में नहीं थी। पूर्वाचार्यों ने नाश के भय से जब आगमों को संक्षिप्त रूप से व्यवस्थित किया, तब उन्होंने सुगमता के खातिर यह शैली अपनाई है, और जिस विषय का एक अंग अथवा उपांगसूत्र में विस्तार से वर्णन कर देते थे। उसको दूसरे में कट करके विस्तृत वर्णन वाले सूत्र का निर्देश कर देते थे। अंगसूत्रों में "पन्नवणा" आदि उपांगों के नाम आते हैं उसका यही कारण है।

जैन-साहित्य पर नई नई आपत्तियाँ :

उपर्युक्त प्रस्तावनागत शीर्षक के नीचे भिक्षुत्रितय एक नया आविष्कार प्रकाश में लाता हुआ कहता है – "जिस काल में जैनों और बौद्धों के साथ हिन्दुओं का महान् संघर्ष था उस समय धर्म के नाम पर बड़े से

वडे अत्याचार हुए। उस अन्धड मे साहित्य को भी भारी धक्का लगा, फिर भी जैन समाज का शुभ उदय या आगमो का माहात्म्य समझो कि जिससे आगम वाल वाल बचे और सुरक्षित रहे।"

भिक्षुत्रितय की उपर्युक्त कल्पना उसके फलद्रूप भेजे की है। इतिहास इसकी साक्षी नही देता कि बौद्ध और जैनो के साथ हिन्दुओ का कभी साहित्यिक सघप हुआ हो। साहित्यिक सघप की तो बात ही नही, किन्तु धार्मिक असहिष्णुता ने भी बौद्ध और जैनो के साथ हिदुओ को सघप मे नही उतारा। किसी प्रदेश विशेप मे राज्यसत्ताधारी धर्मान्ध व्यक्ति विशेप ने कही पर बौद्ध जैन अथवा दोनो पर किसी अश तक ज्यादती की होगी तो उसका अपयश हिदू समाज पर थोपा नही जा सकता और उससे जैन-साहित्य को हानि होने की तो कल्पना ही कमे हो सकती है। इस प्रकार की देश स्थिति जैन-साहित्य को हानिकर मुसलमानो के भारत पर आक्रमण के समय मे अवश्य हुई थी, परन्तु उससे केवल जैनो का ही नहीं, हिदू, जैन, बौद्ध आदि सभी भारतीय सम्प्रदायो को हुई थी। आगे भिक्षुत्रितय अपनी मानसिक खरी भावनाओ को प्रकट करता हुआ कहता है –

"इसके अनन्तर चैत्यवासियो का युग आया। उन्होने चैत्यवास का जोर-शोर से आन्दोलन किया और अपनी मान्यता को मजबूत करने के लिए नई-नई बातें घडनी शुरु की, जैसे कि अगूठे जितनी प्रतिमा बनवा देने से स्वग की प्राप्ति होती है। जो पशु मन्दिर की ईटें ढोते हैं वे देवलोक जाते हैं आदि-आदि। वे यही तक नही रुके, वल्कि उन्होने आगमो मे भी अनेक बनावटी पाठ घुसेड दिये। जिस प्रकार रामायण मे क्षेपको की भरमार है, उसी प्रकार आगमो मे भी।"

भिक्षुत्रितय चैत्यवासियो के युग की बात कहता है, तब हमको आश्चय के साथ हसी आती है। युग किसे कहते हैं और 'चैत्यवास" का अर्थ क्या है? इन बातो को समझ लेने के बाद भिक्षुत्रितय ने इस विपय मे कलम चलाई होती, तो वह हास्यास्पद नही वनता।

"चैत्यवास" यह कोई नई सस्था नही है और चैत्यो मे रहना भी वर्जित नहीं है। मौर्य्यकाल और नन्दकाल से ही पहाडो की चट्टानो पर "लेण" बनते थे जिसका सस्कृत अर्थ "लयन" होता था, ये स्थान बनाने वाले राजा, महाराजा और सेठ साहूकार होते थे और मेलो उत्सवों के समय मे इनका उपयोग होता था, शेषकाल में उनमे साधु सन्यासी ठहरा करते थे, "लयन" बनाने वाला धनिक जिसधर्म की तरफ श्रद्धा रखने वाला होता, उस धर्म के प्रवतक देवो और उपदेशक श्रमणो की मूर्तिया भी उन्ही पत्थरो मे से खुदवा लेता था, जिससे कि उनमे ठहरने वाले श्रमण लोग उनको लक्ष्य करके ध्यान करते, आज भी इसी प्रकार के लयन उडीसा के खण्डगिरि आदि पवतो मे और एजण्टा, गिरनार आदि के चट्टानो मे खुदी हुई गुफाओ के रूप मे विद्यमान हैं। सैकडो लोग उनको देखने जाते है, खोदी हुई मूर्तियो से सुशोभित इस प्रकार के लयनो को भिक्षुत्रितय "चैत्य' कहे चाहे अपनी इच्छानुसार दूसरा नाम कहे, वास्तव मे इस प्रकार के स्थान "चैत्यालय" ही कहलाते थे और उनमें निस्सग और त्यागी श्रमण रहा करते थे, खास कर वर्षा के समय में श्रमण लोग उनका आश्रय लेते थे जिनको वडे वडे राजा महाराजा पूज्य दृष्टि से देखते और उनकी पूजा करते थे। धीरे-धीरे समय निर्बल आया, मनुष्यो के शक्ति-सहनन निवल हो चले, परिणामस्वरूप विक्रम की दूसरी शती के निकट समय में श्रमणगण ग्रामो के परिसरों में वसने लगे, जव उनकी सख्या अधिक वढी और परिसरो मे इस प्रकार के ठहरने के स्थान दुलभ हो चले, तव धीरे-धीरे श्रमणो ने गावो के अन्दर गृहस्थो के अव्यापृत मकानों मे ठहरना शुरु किया, पर इस प्रकार के मकानों मे भी जव उनका निर्वाह नही होने लगा तव गृहस्थों ने सामूहिक धार्मिक क्रिया करने के लिए स्वतत्र मकान वनवाने का प्रारम्भ किया। उन मकानो मे वे सामायिक प्रतिक्रमण, पोपध आदि धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए जाने लगे, पौपध क्रिया के कारण ये स्थान "पौपधशाला" के नाम से प्रसिद्ध हुए, यह समय विक्रम की आठवी शती का था।

साधुओ के उपदेश के सम्वन्ध मे भिक्षुत्रितय का कथन अतिरजित है, उपदेश के रूप मे गृहस्थो के आगे उनके कर्तव्य का उपदेश करना उपदेशको

का कर्त्तव्य है और इसी रूप मे सुविहित गीतार्थ साधु जैन गृहस्थो को उनके अन्यान्य कर्तव्यो के उपदेश के प्रसग मे दर्शन-शुद्धयर्थ जिनभक्ति का भी उपदेश करते थे और करते हैं। प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्रसूरि के प्रतिष्ठा पचाशक और षोडशक आदि मे इसी प्रकार के निरवद्य उपदेश दिये गये हैं। अर्वाचीनकाल मे अगुष्ठ मात्र जिनप्रतिमा के निर्माण से स्वर्गप्राप्ति का किसी ने लिखा होगा तो वह भी अधार्मिक वचन नही है, किसी भी धार्मिक अनुष्ठान के करने मे कर्ता का मानसिक उल्लास उसके फल मे विशिष्टता उत्पन्न कर सकता है इसमे कोई असम्भव की बात नही, दो तीन घटे तक मुह बधवाकर स्थानक में जैनो अजैनो को बिठाना और बाद में उनको मिष्टान्न खिलाकर रवाना करना इस प्रकार दया पल वानेके धार्मिक अनुष्ठान से तो भावि शुभ फल की आशा से मन्दिर तथा मूर्तियो का निर्माण करवाना और उनमें जिनदेव की कल्पना कर पूजा करना हजार दर्जे अच्छा है।

भिक्षुत्रितय ने उपर्युक्त फिकरे में आगमो में बनावटी पाठ घुसेड देने की बात कही है, वह भी उनके हृदय की भावना को व्यक्त करती है, यो तो हर एक आदमी कह सकता है कि अमुक ग्रन्थ में अमुक पाठ प्रक्षिप्त है, परन्तु प्रक्षिप्त कहने मात्र से वह प्रक्षिप्त नही हो सकता, किन्तु पुष्ट प्रमाणो से उस कथन का समर्थन करने से ही विद्वान् लोग उस कथन को सत्य मानते है। सपादक ने बनावटी पाठ घुसेडने की बात तो कह दी पर इस कथन पर किसी प्रमाण का उपन्यास नही किया। अत यह कथन भी अरण्यरोदन से अधिक महत्त्व नही रखता, आगमो में बनावटी पाठ घुसेडने और उसमें से सच्चे पाठो को निकालना यह तो भिक्षुत्रितय के घर की रीति परम्परा से चली आ रही है। इनके आदि मार्गदर्शक शाह लू का ने जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, दान, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, साधर्मिक, वात्सल्य आदि अनेक आगमोक्त धार्मिक कर्त्तव्यो का उच्छेद कर दिया था। और इन कार्यों का उपदेश करने वालों की निन्दा करने मे अपना समय बिताया था, परन्तु इनके मन्तव्यो का प्रचार करने वाले वेश-धारी शिष्यों ने देखा कि लु का के इस उपदेश का प्रचार करने से तो सुनने

वाला अपने पास तक नही फटकेगा, न अपनी पेटपूजा ही सुख से होगी, इस कारण से लौंका के वेशधारी शिष्यो ने प्रतिमापूजा के विरोध के अतिरिक्त शेष सभी लौंका के उपदेशो को अपने प्रचार में से 'नकाल दिया, इतना ही नही, कतिपय बातें तो लौंका के मन्तव्यो का विरोध करने वाली भी प्रचलित कर दी।

भिक्षुत्रितय ने जिन 'सूत्रपाठो' को मूल मे से हटा दिया है, उनको वनावटी कहकर अपना बचाव करते हैं। "गणधरो की रचना को ही ये आगम मानकर दूसरे पाठो को वनावटी मानते हैं, तब तो इनको मूल आगमों मे से अभी बहुत पाठ निकालना शेष है। स्थानांग सूत्र और औपपातिक सूत्र मे सात निन्हवो के नाम सन्निहित हैं, जो पिछला प्रक्षेप है, क्योंकि अन्तिम निन्हव गोष्ठामाहिल भगवान् महावीर के निर्वाण से ५८४ वर्ष बीतने पर हुआ था, इसी प्रकार नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार मे कौटिल्य, कनकसप्तति, वैशेषिकदर्शन, बुद्धवचन, त्रैराशिकमत, षष्ठितन्त्र, माठर, भागवत, पातञ्जल, योगशास्त्र आदि अनेक अर्वाचीनमत और ग्रन्थो के नामो के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनका अस्तित्व ही गणधरो द्वारा की गई आगम-रचना के समय मे नही था, इनकों प्रक्षिप्त मानकर भिक्षुत्रितय ने आगमो मे से क्यो नही निकाला, यह समझ मे नही आता। प्रक्षिप्त पाठ मानकर ही आगमो मे से पाठो को दूर करना था तो सर्वप्रथम उपयुक्त पाठों का निकालना आवश्यक था, अथवा तो अर्वाचीन पाठ वाले आगमो को अप्रमाणिक घोषित करना था सो तो नही किया, केवल 'चैत्यादि के पाठों को सूत्रो मे से हटाए," इससे सिद्ध है कि वनावटी कहकर चैत्य-सम्बन्धी पाठो को हटाने की अपनी जवाबदारी कम करने की चाल मात्र है।

गणधर तीथङ्करो के उपदेशो को शब्दात्मक रचना मे व्यवस्थित करके मूल आगम बनाते हैं और उन आगमो को अपने शिष्यो को पढाते समय गणधर और अनुयोगधर चार प्रकार के व्याख्यानागो से विभूषित कर पचागी के रूप मे व्यवस्थित करते हैं। आगमो की पचांगी के नाम ये हैं – १ सूत्र, अर्थ २, ग्रन्थ ३, निर्युक्ति ४ और ५ सग्रहणी। आज भी

यह पचांगी तीथङ्कर भावित आगमो का खरा अथ बता सकती है। मूल सूत्र के ऊपर उसी भाषा मे अथवा तो सस्कृत आदि अन्य भाषाओ द्वारा सूत्रो का जो भाव स्पष्ट किया जाता है, उसको सक्षेप मे "अर्थ" कहते हैं। सूत्र का अथ ही पद्यों में रचकर प्रकरणो द्वारा समझाया जाता है उसको 'ग्रन्थ" कहते हैं, सूत्रो मे प्रकट रूप से नही बधे हुए और लक्षणा-व्यजनाओं से उपस्थित होने वाले अर्थों को लेकर सूत्रोक्त विषयों का जो शका-समाधान-पूवक ऊहापोह करने वाला गाथात्मक निबन्ध होता है वह "निर्युक्ति" नाम से व्यवहृत होता है, तथा सूत्रोक्त विषयो को सुगमतापूवक याद करने के लिए अध्याय, शतक, उद्‌शक आदि प्रकरणो की आदि मे उनमे वर्णित विषयों का सूचित करने वाली गाथाओ का सग्रह बनाया जाता था, उसको "सग्रहणी" के नाम से पहिचानते है।

आजकल सूत्रो पर जो प्राकृत चूर्णिया, सस्कृत टीकाए आदि व्याख्याएँ हैं, इनको प्राचीन परिभाषा के अनुसार "अर्थ" कह सकते हैं। सूत्र तथा अथ मे व्यक्त किये गये विषयो को लेकर प्राचीनकाल मे गाथाबद्ध निर्मित भाष्यों को भी प्राचीन परिभाषा के अनुसार "ग्रथ" कहना चाहिए। भद्रबाहु आदि अनेक श्रुतधरो ने आवश्यक, दशवैकालिक आदि सूत्रो के ऊपर तर्कशैली से गाथाबद्ध निबन्ध लिखे हैं, उन्हें आज भी "निर्युक्ति" कहा जाता है। "भगवती", "प्रज्ञापना" आदि के कतिपय अध्यायो की आदि मे अध्यायोक्त विषय का सूचन करने वाली गाथाए दृष्टिगोचर होती हैं इनका पारिभाषिक नाम "सग्रहणी" है। भगवती सूत्र के प्रथम शतक के प्रारम्भ मे ऐसी सग्रहणी गाथा आई तब भिक्षु महोदय ने पुस्तक के नीचे पाद-टीका के रूप में उसे छोटे टाइपो मे लिया, परन्तु बाद मे भिक्षु महोदय की समझ ठिकाने आई और आगे की तमाम सग्रहणी गाथाए मूल सूत्र के साथ ही रक्खीं। सम्प्रदायानभिज्ञ व्यक्ति अपनी समझ से प्राचीन साहित्य में सशोधन करते हुए किस प्रकार सत्यमाग को भूलते हैं, इस बात का भिक्षु महोदय ने एक उदाहरण उपस्थित किया है।

भिक्षुत्रितय आगे लिखता है – "इसके बाद युग ने करवट बदली और उसी कटाकटी के समय धमप्राण लोंकाशाह जैसे क्रान्तिकारी पुरुष

प्रकट हुए। उन्होने जनता को सन्मार्ग सुझाया और उस पर चलने की प्रेरणा दी × × × जिससे लोगो मे क्रान्ति और जागृति उत्पन्न हुई तथा लवजी, धमशी, धर्मदासजी, जीवराजजी जैसे भव्य भावुको ने धर्म की वास्तविकता को अपनाया और उसके स्वरूप का प्रचार आरम्भ किया, परिणामस्वरूप आज भी उनकी प्रेरणाओ को जीवित रखने वालों की सख्या ५ लाख से कही अधिक पाई जाती है। लौंकाशाह सहित इन चारो महापुरुषो ने "चत्यवासी मान्य अन्य आगमो मे परस्पर विरोध एव मन-घडन्त बातें देखकर ३२ आगमो को ही मान्य किया।"

भिक्षुत्रितय चैत्यवासी युग के बाद लौंकाशाह जैसे क्रान्तिकारी पुरुषो के उत्पन्न होने की बात कहता है, जो अज्ञानसूचक है, क्योकि विक्रम की चौथी शती से ग्यारहवीं शती तक शिथिलाचारी साधुओ का प्राबल्य हो चुका था। फिर भी वह उनका युग नही था। हम उसे उनकी बहुलता वाला युग कह सकते हैं, क्योकि उस समय भी उद्यतविहारी साधुओ की भी सख्या पर्याप्त प्रमाण मे थी। शिथिलाचारी सख्या मे अधिक होते हुए भी उद्यतविहारी सघ मे अग्रगामी थे। स्नानमह, प्रथमसमवसरण आदि प्रसगो पर होने वाले श्रमण सम्मेलनो मे प्रमुखता उद्यतविहारियो की रहती थी। कई प्रसगो पर वैहारिक श्रमणो द्वारा पार्श्वस्थादि शिथिलाचारी फटकारे भी जाते थे, तथापि उनमे का अधिकाश शिथिलता की निम्न सतह तक पहुच गया था और धीरे-धीरे उनको सख्या कम होती जाती थी। विक्रम की ग्यारहवी शती के उत्तरार्ध तक शिथिलाचारी धीरे-धीरे नियतवासी हो चुके थे और समाज के ऊपर से उनका प्रभाव पर्याप्त रूप से हट चुका था। भले ही वे जातिगत गुरुओ के रूप मे अमुक जातियो और कुलो से अपना सम्बन्ध बनाए हुए हो, परन्तु सघ पर से उनका प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे मिट चुका था, इसी के परिणाम स्वरूप १२ वी शती के मध्यभाग तक जैनसघ मे अनेक नये गच्छ उत्पन्न होने लगे थे। पौर्णमिक, आचलिक, खरतर, साधुपौर्णमिक और आगमिक गच्छ ये सभी १२ वी और १३ वी शती मे उत्पन्न हुए थे और इसका कारण शिथिलाचारी चैत्यवासी कहलाने वाले साधुओ की कमजोरी थी। यद्यपि उस समय मे भी वर्द्धमान-

सूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनवल्लभगणि, मुनिचन्द्रसूरि, धनेश्वरसूरि, जगचन्द्र-सूरि आदि अनेक उद्यतविहारी आचार्य और उनके शिष्य परिवार अप्रतिबद्ध विहार से विचरते थे, तथापि एक के बाद एक नये सुधारक गच्छो की सृष्टि से जैनसघ मे जो पूर्वकालीन सघटन चला आ रहा था वह विशृखल हो गया। इसी के परिणाम-स्वरूप शाहलोंका शाह कडुआ आदि गृहस्थो को अपने पन्थ स्थापित करने का अवसर मिला था, न कि उनके खुद के पुरुषार्थ से। उपर्युक्त जैनसघ की परिस्थिति का वर्णन पढ़कर विचारक समझ सकेंगे कि श्रमणसमुदाय मे से अधिकाश शिथिलाचार के कारण निर्बल हो जाने से सुधारकों को नये गच्छ और गृहस्थो को श्रमणगण के विरुद्ध अपनी मान्यताओ को व्यापक बनाने का सुअवसर मिला था, किसी भी सस्था या समाज को बनाने मे कठिन से कठिन पुरुषार्थ और परिश्रम की आवश्यकता पडती है, न कि नष्ट करने मे। समाज की कमजोरी का लाभ उठाकर क्रियोद्धार के नाम से नव गच्छसजको ने तो अपने बाडे मजबूत किये ही, पर इस अव्यवस्थित स्थिति को देखकर कतिपय श्रमणसस्था के विरोधी गृहस्थों ने भी अपने-अपने अखाडे खडे किये और आपस के विरोधो और शिथिलाचारो से बलहीन बनी हुई श्रमणसस्था का ध्वस करने का कार्य शुरू किया। लोंका तथा उसके अनुयायी मन्दिर तथा मूर्तियो की पूजा की अतिप्रवृत्तियो का उदाहरण दे देकर गृहस्थवर्ग को साधुओ से विरुद्ध बना रहे थे। कडुवा जैसे गृहस्थ मूर्तिपूजा के पक्षपाती होते हुए भी साधुओ के शिथिलाचार की बातो को महत्त्व दे देकर उनसे असहकार करने लगे, चीज बनाने मे जो शक्ति व्यय करनी पडती हैं वह बिगाडने मे नही। लोंकाशाह तथा उनके वेशधारी चेले हिंसा के विरोध मे और दया के पक्ष मे बनाई गई, चौपाइयो के पुलिन्दे खोल-खोलकर लोगो को सुनाते और कहते — "देखो भगवान् ने दया मे धर्म बताया है, तब आजकल के यति स्वय तो अपना आचार पालते नही और दूसरो को मन्दिर मूर्तिपूजा आदि का उपदेश करके पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के जीवों की हिंसा करवाते हैं, बोलो — धर्म दया, में कि हिंसा मे ? उत्तर मिलता दया में," तब लोंका के चेले कहते — "जब धर्म दया मे है तो हिंसा को छोडो और दया पालो" अनपढ़ लोग, लोंका के अनपढ अनुयायियो की इस प्रकार की बातो से भ्रमित

होकर पूजा, दर्शन आदि जो श्रमसाध्य कार्य थे, उन्हें छोड छोडकर लौंका के अनुयायी बन गये, इसमे लौंका और इनके अनुयायियो की बहादुरी नही, विध्वसक पद्धति का ही यह प्रभाव है, मनुष्य को उठाकर ऊचे ले जाना पुरुषार्थ का काम है, ऊपर खडे पुरुप को धक्का देकर नीचे गिराना पुरुषार्थ नहीं कायरता है, जैनो मे से ही पूजा आदि की श्रद्धा हटाकर शाह लौंका, लवजी, रूपजी, धर्मसिह आदि ने अपना वाडा बढाया, यह वस्तु प्रशसनीय नही कही जा सकती, इनकी प्रशसा तो हम तब करते जब कि ये अपने त्याग और पुरुषार्थ से आकृष्ट करके जैनेतरो को जैनधर्म की तरफ खीचते और शिथिलाचार मे डूबने वाले तत्कालीन यतियो को अपने आदर्श और प्रेरणा से शिथिलाचार से ऊँचा उठाने को बाध्य करते ।

भिक्षुत्रितय चैत्यवासियो द्वारा लौंका आदि को कष्ट दिये जाने की बात कहता है, इसके पुरोगामी लेखक शाह वाडीलाल मोतीलाल तथा स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी ने भी यही राग अलापा है कि यतियो ने लौंकाशाह को कष्ट दिया था, परन्तु यतियो पर दिये जाने वाले इस आरोप की सच्चाई को प्रमाणित करने के लिएँ कोई प्रमाण नहीं बताया, वास्तव मे यह हकीकत लौंकाशाह को महान् पुरुप ठहराने के अभिप्राय से कल्पित गढी है । ईसाइयो के धर्मप्रवर्तक "जेसस क्राईष्ट' को उनके विरोधियो ने क्रॉस पर लटकाया था, जिसके परिणामस्वरूप लगभग सारा यूरोप उसका अनुयायी बन गया था, इसी प्रकार लौंका को कष्ट-सहिष्णु महापुरुष बताकर लोगो को उसकी तरफ खींचने का लौंका के भक्तो का यह झूठा प्रचार मात्र है । लौंका ने तो तत्कालीन किन्ही भी साधुओ के साथ मुकाबला करने की कोई बात नही लिखी, परन्तु लौंकाशाह के वेशधारी शिष्यो के साथ श्री लावण्यसमय आदि अनेक विद्वान् साधु चर्चा शास्त्रार्थ मे उतरे थे और उनको पराजित किया था, लेकिन यह प्रसग कोई उनको कष्ट देने का नही माना जा सकता, समाज के अन्दर फूट डालने और हजारो वर्षो से चले आते धार्मिक मार्ग मे बखेडा डालने के कारण उन पर किसी ने कटुशब्द प्रहार अवश्य किए होगे और यह होना अत्याचार नही है, ऐसी बातें तो लौंका के बाडे मे से भाग छूटने वालो पर लौंका के अनुयायियो ने भी की है, देखिये –

सं० १५७० मे लौकामत को छोड़कर श्री विजयऋषि ने मूर्तिपूजा मानना स्वीकार किया; तब लौंका के अनुयायियो ने उन पर कैसे वाग्बाण बरसाये थे, उसका नमूना निम्नलिखित केशवजी ऋषि कृत लौंकाशाह के सिलोके की कड़ी पढिए –

"लवण ऋषि भीमाजी स्वामी, जगमाला रुषि सखा स्वामी।
बीजो निकल्यो कुमति पापी तेणइ वली जिनप्रतिमा थापी ॥२३॥"

इसी प्रकार लौंकाशाह के विरोध मे मूर्तिमण्डन पक्ष के विद्वानो ने लौंकाशाह के लिए "लुम्पक" "लुकट" आदि शब्दो से कोसा होगा, तो यह कुछ कष्ट देना नहीं कहा जा सकता। लौंका की ही शती के लौंकागच्छीय भानुचन्द्र यति, केशवजी ऋषि उन्नीसवी शती के मध्यभागवर्ती 'समकितसार" के कर्त्ता श्री जेठमलजी ऋषि आदि ने लौंकाशाह तथा उनके मत के सम्बन्ध मे बहुत लिखा है, फिर भी उनमे से किसी ने भी यह सूचन तक नहीं किया कि चैत्यवासियो ने लौंकाशाह को कष्ट दिया था वास्तव मे लौंकाशाह की तरफ जन समाज का ध्यान खीचने के लिए बीसवी सदी के लेखको की यह एक कल्पना मात्र है।

भिक्षुत्रितय आगे कहता है – वर्तमानकालीन जैन साहित्य मे चैत्य-वासियो ने अनेक प्रक्षेप कर उन्हे परस्पर विरोधी बना दिया है, इसलिए लौंका और उसके अनुयायी धर्मसी, आदि ने ३२ सूत्रो को ही मान्य रक्खा है। भिक्षुत्रितय की ये बात उनके जैसे ही सत्य मानेगे, विचारक वर्ग नहीं, जैन आगमो का शास्त्रवर्णित स्वरूप आज नहीं है, इस बात को हम स्वय स्वीकार करते हैं, परन्तु लौंका के अनुयायी जिन ३२ आगमो को गणधर कृत मानते हैं, वे भी काल के दुष्प्रभाव से बचे हुए नहीं है, उनमे सौकर्यार्थ संक्षिप्त किये गये है, एक दूसरे के नाम एक दूसरे में निर्दिष्ट किये हुए है, उनसे यही प्रमाणित होता हैं, कि सूत्रो मे जिस विषय का वर्णन जहा पर विस्तार से दिया गया है, उसको फिर मूल-सूत्र मे न लिखकर उसी वर्णन वाले सूत्र का अतिदेश कर दिया है जैन-सिद्धान्त के द्वादश आगम गणधर कृत होते हैं तब उपांग, प्रकीर्णक आदि शेष श्रुतस्थविर कृत होते हैं।

स्थविरो मे चतुर्दश पूर्वधर भी हो सकते है और सम्पूर्ण दशपूर्वधर भी हो सकते हैं, इन श्रुतधरो की कृतिया आगमो मे परिगणित होती है, तब इन से निम्न कोटि के पूर्वधरो की कृतिया सूत्रव्याख्याग या प्रकीर्णक कहलाते हैं और उनमे द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार पढने वालो के हितार्थ सिद्धात मर्यादा के बाहर नही जाने वाले उपयुक्त परिवर्तन भी होते रहते हैं, इस प्रकार के परिवर्तन ३२ सूत्रो मे भी पर्याप्त मात्रा मे हुए है, परन्तु लोंका के अनपढ अनुयायियो को उनका पता नही है। लोंका के अनुयायियो मे प्रचलित सैंकडो ऐसी बात हैं जो ३२ आगमो मे नही हैं और उन्हें वे सच्ची मानते हैं तब कई बातें उनमे ऐसी भी देखो जाती हैं जो उनके मान्य आगमों से भी विरुद्ध है, इसका कारण मात्र इस समाज मे वास्तविक तलस्पर्शी ज्ञान का अभाव है।

व्याकरण व्याधिकरण है :

आज स कोई ५० वर्ष पहले लुकामत के अनुयायी साधुओ को कहते सुना है कि 'व्याकरण मे क्या रक्खा है व्याकरण तो व्याधिकरण है।'

स्थानकवासी साधुओ के उपर्युक्त उद्‌गारो का खास कारण था सत्रहवी शती मे लुकागच्छ के आचार्य मेघजी ऋषि ने अपना गच्छ छोडकर तपागच्छ मे दीक्षित होने की घटना। इस घटना के बाद लुकागच्छ वालो ने व्याकरण का पढना खतरनाक समझा और अपने पाठ्यक्रम मे से उसको निकाल दिया था, यही कारण है कि बाद के लोंकागच्छ के आचार्य, यति और स्थानकवासी साधुओ के बनाये हुए सस्कृत, प्राकृत आदि के ग्रथ दृष्टिगोचर नही होते "समकितसार" के कर्ता ऋषि जेठमलजी जैसे अग्रगामी स्थानकवासी साधु भी सूत्रों पर लिखे हुए टिबो मात्र के आधार से अपना काम चलाते थे, यही कारण है कि भौगोलिक आदि की आवश्यक बातो मे भी वे अज्ञान रहते थे, इस विषय मे हम "समकितसार" का एक फिकरा उद्धृत करके पाठको को दिखाएगे कि उन्नीसवी शती तक के लोंकागच्छ के वशज कितने अबोध होते थे।

"समकितसार" के पृष्ठ ११-१२ में "आर्यक्षेत्र की मर्यादा" इस शीर्षक के नीचे ऋषि जेठमलजी ने "बृहत्कल्पसूत्र" का एक सूत्र देकर आर्य अनार्य क्षेत्र की हद दिखाने का प्रयत्न किया है –

"कप्पइ निग्गन्थाण वा निग्गथीण वा पुरत्थिमेण जाव अग मगहाओ एत्तए, दक्खिणेण जाव कोसम्बीओ एत्तए, पच्चत्थिमेण जाव थूणाविस याओ एत्तए, उत्तरेण जाव कुणालाविसयाओ एत्तए एयावयावकप्पइ, एया वयाव आरिए खेते, नो से कप्पइ एत्तो वाहिं, तेण पर जत्थ नाणवसण चरित्ताइ उस्सप्पन्ति ॥४८॥"

उपर्युक्त पाठ "समकितसार ' मे कितना अशुद्ध छपा है, यह जानने की इच्छा वाले सज्जन "समकितसार" के पाठ के साथ उपर्युक्त पाठ का मिलान करके देखे कि "समकितसार" मे छपा हुआ पाठ कितना भ्रष्ट है, इस पाठ को देकर नीचे चार दिशा की क्षेत्र मर्यादा बताते हुए ऋषिजी कहते हैं –

'पूव दिशा मे अगदेश और मगधदेश तक आयक्षेत्र है, अब भी राजगृह और चम्पा की निशानिया पूव दिशा मे हैं।

दक्षिण मे कौशम्बी नगरी तक आयक्षेत्र है, आगे दक्षिण दिशा मे समुद्र निकट है इसलिए समुद्र की जगती लगती है।

पश्चिम दिशा मे थूभणानगरी कही है, वहा भी कच्छ देश तक आयक्षेत्र है, आगे समुद की जगती आती है।

उत्तर दिशा मे कुणाल देश और श्रावस्ती नगरी है जहा आज स्यालकोट नामक शहर है।

आगे ऋषिजी कहते हैं – कितनेक नगरो के नाम बदल गए हैं, उनको लोकोत्तर से जानते हैं, जैसे – पाटलीपुर जो आज का पटना है, देसारणपुर वह मन्दसौर है, हत्थणापुर वह आज की दिल्ली, सोरीपुर वह आगरा अट्टीगाव वह वढवाण है।

इसी प्रकार बृहत्कल्पोक्त गगा, यमुना, सरयू, इरावती और मही इन पाच महानदियो का परिचय देते हुए जेठमलजी इरावती को लाहौर के पास की रावी बताते हैं और मही गुजरात मे वडोदा शहर के उत्तर मे ८-१० माईल के फासले पर बहने वाली मही बताते हैं।

जेठमलजी कौशम्बी के आगे दक्षिण मे समुद्र और उसकी जगती बताते हैं, यह भौगोलिक "अज्ञान" मात्र है, कौशम्बी नगरी आधुनिक इलाहबाद से दक्षिण म वत्स देश की राजधानी थी। उनकी दक्षिण सीमा विन्ध्याचल के उत्तर प्रदेश मे ही समाप्त हो जाती थी और समुद्र वहां से १ हजार माईल से भी अधिक दूर था, इस परिस्थिति मे कौशम्बी की दक्षिण सीमा समुद्र के निकट बताना भौगेलिक अज्ञानता सूचक है।

पश्चिम दिशा मे आर्यदेश की अन्तिम सीमा थूभणानगरी कहते हैं और उनकी हद कच्छ देश तक बताते हैं, यह भी गल्त है, प्रथम तो नगरी का नाम ही गलत लिखा है, नगरी का नाम थूभणा नहीं, पर उसका नाम "स्थूणा" है और वह सिन्ध देश के पश्चिम मे कही पर आयी हुई थी और उसके आस-पास के प्रदेश को जैनसूत्रो मे "स्थूणाविषय" बताया है, कच्छ को नही।

भारत के उत्तरीय आर्यक्षेत्र की सीमा पजाब के शहर स्यालकोट तक बताते हैं, यह भी अज्ञानजन्य हैं, स्यालकोट पजाब प्रदेश मे वर्तमान भारत के वायव्यकोण मे आया हुआ है, तब कुणाल देश भारत के उत्तरीय भाग मे था और आजकल के "सेटमहेट" के किले को प्राचीनकाल मे श्रावस्ती कहते थे। गोरखपुर तथा वस्ति जिले के आस-पास का प्रदेश पूर्वकाल मे कुणाल देश कहलाता था।

दशार्णपुर को जेठमलजी देसारणपुर लिखते है और उसको आधुनिक मन्दसौर कहते हैं जो यथार्थ नही है। दशार्णपुर आजकल का मन्दसौर नही किन्तु पूर्व मालवा के पहाडी प्रदेश मे आए हुए दशार्ण देश की राजधानी थी और दशार्णपुर अथवा मृत्तिकावती इन नामो से प्रसिद्ध थी,

आधुनिक मन्दसौर का पूर्वकालीन नाम दशार्णपुर नही किन्तु 'दशपुर' था, यह बात शायद जेठमलजी के स्मरण मे से उतर गई है।

हत्थाणापुर अर्थात् हस्तिनापुर दिल्ली नही, किन्तु वह कुरु जांगल देश की राजधानी स्वतन्त्र नगरी थी और आज भी है। सोरीपुर आगरा नही किन्तु आगरा से भिन्न प्राचीन सौर्यपुर नगर का नाम है। वढवाण को अट्ठीगाव कहना भूल से भरा है, अस्थिकग्राम प्राचीन भारत के विदेह प्रदेश मे था, पश्चिम भारत मे नही।

लाहौर के पास की रावी नदी इरावती नही, किन्तु कुणाल प्रदेश मे वहने वाली इरावती नामक एक बडी नदी थी, इसी प्रकार मही नदी भी बडौदा के निकटवर्ती गुजरात की मही नहीं किन्तु दक्षिण कोशल की पहाडियो से निकलने वाली मही नदी को सूत्र मे ग्रहण किया है जो गगा की सहायक नदी है।

'समकितसार" के लेखक श्री जेठमलजी के प्रमादपूर्ण उपर्युक्त पाच सात भूलो मे ही "समकितसार" गत अज्ञान विलास की समाप्ति नही होती। यो तो सारी पुस्तक भूलो का खजाना है, प्रमाण के रूप मे दिये गये सस्कृत प्राकृत अवतरण इतनी भद्दी भूलो से भरे पडे है जो देखते ही पुस्तक पढने की श्रद्धा को हटा देते हैं और पुस्तक की भाषा तो किसी काम की नही रही, क्योकि शब्द शब्द पर विषयगत अज्ञान और मुद्रण-सम्बन्धी अशुद्धियो को देखकर पढने वाले का चित्त ग्लानि से उद्विग्न हो जाता है।

हमारे सामने जो "समकितसार" की पुस्तक उपस्थित हैं यह "समकितसार" की तृतीयावृत्ति के रूप मे विक्रम स० १९७३ मे अहमदाबाद मे छपी हुई है, इसी "समकितसार' की सम्भवत प्रथमावृत्ति विक्रम स० १९३८ मे निकली थी इसकी द्वितीयावृत्ति कब निकली इसका हमे पता नही है और ७३ के बाद इसकी कितनी आवृत्तिया निकली यह भी साधनाभाव से कहना कठिन है। १९३८ की आवृत्ति निकलने के बाद इसके उत्तर मे स० १९४१ मे "सम्यक्त्व शल्योद्धार" नामक पुस्तक पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने लिखकर प्रकाशित करवाई "समकितसार"

मे इसके लेखक, "ऋषि जेठमलजी ने मूर्तिपूजक जैन सम्प्रदाय का "हिंसा-धर्मी" यह नाम रक्खा है और सारी पुस्तक मे उनको इसी नाम से संबोधित किया है। "सम्यक्त्व-शल्योद्धार" मे जेठमलजी की इस भाषा का ही प्रत्याघात हैं और उसके लेखक ने "मूढजेठाऋष, निन्हव" इत्यादि शब्दों के प्रयोगो से लेखक ने उत्तर दिया है। जेठमलजी के "समकितसार गत" अज्ञान को देखकर बीसवी शती के पञ्जाबविहारी स्थानकवासी साधुओ के मन मे आया कि संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओ का जानना जैनसाधुओ के लिए जरूरी है, इसके परिणामस्वरूप कतिपय बुद्धिशाली स्थानकवासी साधुओ ने संस्कृत भाषा सीखी और हस्तलिखित सटीकसूत्र पढे। संस्कृत सीखने के बाद सटीकसूत्रो के पढने से वे समझने लगे कि सूत्रो में अनेक स्थानो पर मूर्तिपूजा का विधान है और दिनभर मुंह पर मुंहपत्ति बांधना शास्त्रोक्त नही है, इन दो बातो को पूरे तौर पर समझने के बाद उनकी श्रद्धा वर्तमान स्थानकवासी सम्प्रदाय मे से निकल जाने की हुई, प्रथम श्री बूटेरायजी, श्री मूलचंदजी, श्री वृद्धिचंदजी नामक तीन श्रमण मुंहपत्ति छोडकर सम्प्रदाय से निकल गये, शत्रुञ्जय आदि तीर्थो की यात्रायें कर श्री बूटेरायजी ने अहमदाबाद आकर प० मणिविजयजी के शिष्य बने, नाम बुद्धिविजयजी रक्खा। शेष दो साधु बुद्धिविजयजी के शिष्य बने और क्रमश मुक्तिविजयजी, वृद्धिविजयजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके अनन्तर लगभग दो दशको के बाद श्री आत्मारामजी श्री वीसनचन्द्रजी आदि लगभग २० साधु स्थानकवासी सम्प्रदाय छोडकर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मे आये और बुद्धिविजयजी आदि के शिष्य बने, इस प्रकार सम्प्रदाय मे से पठित साधुओ के निकल जाने से स्थानकवासी सम्प्रदाय मे संस्कृत व्याकरण आदि भाषा विज्ञान के ऊपर से श्रद्धा उठ गई और व्याकरण को तो वे 'व्याधिकरण" मानने लगे।

बीसवी शती का प्रभाव :

यो तो अन्तिम दो शतियो से जैन श्रमणो मे संस्कृत का पठन-पाठन बहुत कम हो गया था, परन्तु बीसवी शती के उत्तरार्ध मे संस्कृत भाषा की

फिर कदर होने लगी। बनारस, मेसाणा आदि स्थानो मे सस्कृत पाठशालाए स्थापित हुई और उनमे गृहस्थ विद्यार्थी पढ़कर विद्वान् हुए कतिपय उनमें से साधु भी हुए, तब कई साधु स्वतत्र रूप से पण्डितो के पास पढ़कर व्युत्पन्न हुए, इस नये सस्कृत प्रचार से अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय को एक नई चिंता उत्पन्न हुई, वह यह कि सम्प्रदाय मे से पहले अनेक पठित साधु चले गये तो अब न जायेंगे, इसका क्या भरोसा ? इस चिंता के वश होकर सम्प्रदाय के अमुक साधुओ ने अपने मान्य सिद्धान्तो पर नई सस्कृत टीकाएँ बनवाना शुरू किया। अहमदाबाद शाहपुर के स्थानक मे रहते हुए स्थानकवासी साधु श्री घीसीलालजी लगभग ७ ८ साल से यही काम करवा रहे हैं, सस्कृतज्ञ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा आगमों पर अपने मतानुसार सस्कृत टीकाएँ तैयार करवाते है, साथ साथ उनका गुजराती तथा हिन्दी भाषा मे भाषान्तर करवा कर छपवाने का काय भी करवा रहे है, इस प्रकार की नई टीकाओ के साथ कतिपय सूत्र छप भी चुके है। टीकाकार के रूप मे उन पर अमुक प्रसिद्ध साधुओ के नाम अंकित किये जाते हैं।

उपर्युक्त व्यवस्था चालू हुई तभी से श्री फूलचन्दजी ने सबसे आगे कदम उठाया, उन्होंने सोचा नई टीकाओ के बनने पर भी संस्कृत के जानकार साधु को प्राचीन मूर्तिपूजक सम्प्रदाय-मान्य टीकाओ को पढने से कौन रोक सकेगा, इस वास्ते सबसे प्रथम कर्त्तव्य यही है कि आगमो मे से तमाम मूर्तिपूजा के पाठ तथा उनके समर्थक शब्दो तक को हटा दिया जाय ताकि भविष्य मे सूत्रों का वास्तविक अथ समझकर अपने सम्प्रदाय मे से मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मे साधुजो का जाना रुक जाय। अगर प्राचीन टीकाओ वाले आगमो मे मूर्तिपूजा के अधिकार देखकर कोई यह शका करेंगे कि मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मान्य आगमो मे तो प्रतिमापूजा के अधिकार विद्यमान है और अपने आगमों मे नही इसका क्या कारण है, तो उन्हे कह दिया जायगा कि मूर्तिपूजा के पाठ चैत्यवासी यतियो ने आगमो मे घुसेड दिये थे उनको हटाकर आगमो को संशोधित किया गया है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधुओ मे व्याकरण को "व्याधिकरण" कहने की जो पुरानी परम्परा थी वह सचमुच ठीक ही थी, क्योंकि उनमे से

व्याकरण पढे हुए कई साधु सम्प्रदाय छोडकर चले गये थे, श्री फूलचन्दजी तथा उनके शिष्य प्रशिष्य भी साधारणतया व्याकरण पढे हुए है, तो उनके लिए भी "व्याकरण व्याधिकरण" होना ही था, यदि ये सम्प्रदाय मे से निकल जाते तो इतना ही व्याधिकरण" होता, अन्यथा इन्होने सूत्रो के पाठ निकालकर सूत्रो को जो खण्डित किया है और इस प्रक्रिया द्वारा सूत्रो की प्राचीनता मे जो विकृति उत्पन्न की है, इसके परिणामस्वरूप भविष्य मे कोई भी जैनेतर सशोधक विद्वान् इन सूत्रो को छूएगा तक नही, क्योंकि आगमो की मौलिकता ही उनका खरा जौहर है। वह फूलचन्दजी ने उनके सम्प्रदाय मान्य ३२ आगमो मे से खत्म कर दिया है। अब उन पर सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती भाषा की टीकाएँ लिखवाते रहे और छपवाते रहे, जैन आगमो के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता, जैनधर्मियो की प्राचीन सभ्यता और आगम कालीन जैनो के आचार विचार जानने के लिए ये "स्थानकवासी आगम" किसी काम के नही रहे। शोध, खोज, करने वालो के लिए ये आगम बीसवी सदी के बने हुए किसी भी ग्रन्थ सदर्भ से अधिक महत्त्व के नही रहे।

भिक्षुनितय 'सुत्तागमे' के दोनो पुस्तको मे लिखता है – "पाठ शुद्धि का पूरा पूरा ध्यान रक्खा है, इसके सम्पादन मे शुद्धि प्रतियो का उपयोग किया गया है।"

सम्पादको की पाठ शुद्धि का अर्थ है इनकी मान्यता मे बाधक होने वाले पाठो को "हटाना"। अन्यथा कई स्थानो पर सम्पादकीय अशुद्धिया ही नही बल्कि सम्पादको द्वारा अपनी होशियारी से की गई अनेक अशुद्धियां सूत्रो म दृष्टिगोचर होती है, इस स्थिति मे सम्पादन मे शुद्ध प्रतियो का उपयाग करने की बात केवल दम्भपूर्ण है, क्योकि स्थानकवासियो के पास जो भी सूत्रो के पुस्तक होगे वे अशुद्धियो के भण्डार ही होगे, क्योकि इनके पुस्तकालयो तथा स्थानका मे मिलने वाले पुस्तक बहुधा इनके अनपढ साधुओ के हाथ के लिखे हुए ही मिलते हैं। सोलहवी शती मे लौंका का मत निकला और अठारहवी शती के प्रारभ मे स्थानकवासी ऋषियो ने टब्बे के साथ सूत्र लिखने शुरु किये थे, लिखने वाले साधु नकल करने

वाले लहियो से तो बढकर होशियार थे नही, फिर सम्पादको को शुद्ध प्रतिया कहा से हाथ लगी, यह सूचित किया होता तो इनके कथन पर विश्वास हो सकता था, परन्तु यह बात तो है ही नही, फिर कौन मान सकता है कि इनके सम्पादन काय के लिए ६०८-७०० वष पहले के आगमो के शुद्ध आदश उपलब्ध हुए होगे । 'सुत्तागमे" के द्वितीय अश मे दी हुई पट्टावली से ही यह तो निश्चित होता है कि सम्पादको को शुद्ध पुस्तक नही मिला था । अन्यथा नन्दी की वाचक वशावली के ऊपर से ली हुई गाथाओ मे मे इतनी गडवडी नही होती ।

पट्टावली मे सप्तम पट्टधर आय भद्रबाहु के सम्बन्ध मे लेखक निम्न प्रकार का उल्लेख करते हैं – '**तयाणतर अज्ज भद्दबाहु चउणाण चउदह-पुव्वधारगो दसाकप्पववहारकारगो सुयसमुद्दपारगो ॥ ७ ॥**"

उपर्युक्त प्रतीक मे दो भूलें ह, एक तो सम्पादक के सम्पादन की और दूसरी सम्पादक के शास्त्रीय ज्ञान के अभाव की, सम्पादन की भूल के सम्बन्ध मे चर्चा करना महत्त्वहीन है, परन्तु दूसरी भूल के सम्बन्ध मे ऊहापोह करना आवश्यक है, क्योकि पट्टावली-निर्माता ने इस उल्लेख मे भद्रबाहु स्वामी को "चतुर्ज्ञानधारक" लिखा है, वह शास्त्रोत्तीर्ण है – क्योकि भद्रबाहु "ज्ञानद्वयधारक" थे । लेखक ने इनको चतुर्ज्ञानधारक कहने मे किसी प्रमाण का उपन्यास किया होता, तो उस पर विचार करते । अन्यथा भद्रबाहु को चतुर्ज्ञानधारक कहना प्रमाणहीन है ।

पट्टावली-लेखक ने अपनी पट्टावली मे ११ वें नम्बर के स्थविर को "सन्तायरिओ" लिखा है जिसका सस्कृत "शान्त्याचाय" होता है जो कि गलत है, इन स्थविरजी का नाम "स्वात्याचाय" (आचाय स्वाति) है आचार्य शान्ति नही । शाण्डिल्य के बाद १४ वें स्थविर का नाम 'जिनधर्म' और १६ वें स्थविर का नाम 'नन्दिल" लिखा है, जो दोनो अक्रम प्राप्त हैं, क्योकि इन मे से 'आयधम" का नाम नन्दी की मूल गाथाओ मे नही है और "नन्दिल' का नम्बर मूल नन्दी मे १७ वा है । नम्बर २० और २१ मे स्थविरो के नाम भी पट्टावली लेखक ने गलत लिखे हैं, आर्य महागिरि

को वाचक-परम्परा मे सिंहगिरि का नाम नही है, किन्तु इस परम्परा मे वाचक "ब्रह्मद्वीपकसिंह" का नाम अवश्य आता है, २१ वे स्थविर को "सिरिमंतो" नाम से उल्लिखित किया है, जो गलत है, वास्तव मे इनका नाम "हिमवन्त" है ।

पट्टावलीकार ने २३ वा नम्बर गोविन्द को दिया है, जो वास्तव मे नन्दी की मूल गाथाओ मे नही है, किन्तु यह नाम "प्रक्षिप्त गाथा मे" आता है ।

पट्टावलीकार ने २५ वें स्थविर का नाम "लोहाचाय" लिखा है, जो यथार्थ नही है, इनका खरा नाम "लोहित्याच.य" है ।

पट्टावलीलेखक ने २६ वे स्थविर का नाय "दुप्पस" लिखा है, जो अशुद्ध है । देवद्धिगणि के पट्टगुरु का नाम ',दुप्पस' नही किन्तु "दूष्यगणि" है, यह लेखक को समझ लेना चाहिए था ।

पट्टावलीकार ने देवद्धिगणि के वाद वीरभद्र २८ शिवभद्र २६ आदि ३३ नाम कल्पित लिखे है, अत इन पर ऊहापोह करना निरथक है, इनके आगे पट्टावली लेखक ने "ज्ञानाचाय" "भाणजो" आदि लोकागच्छ की परम्परा के ऋषियो के नाम दिए ह, इन नामो मे भी पजावी साधुओ की पट्टावली के कई नामो के विरुद्ध पढने वाले नाम है जिनकी चर्चा पहले ही पट्टावली विवरण मे की गई है ।

कडवा-मत गच्छ की पट्टावली

१ शाह कडवा :

नाडुलाई गाव मे नागरज्ञातीय वीसानागर श्री कानजी की भार्या कन-कादे की कोख से स० १४६५ मे शाह कडुवा का जन्म हुआ था। कडवा जब आठ वर्ष का हुआ, तब से हरिहर के पद बनाने लगा था। कुछ समय के बाद कडुआ को अचलगच्छ का एक श्रावक मिला। श्रावक ने कडुआ को कहा – तुम हरिहर के पद बनाते हो वैसे जैनमार्ग के बनाओ तो तुम्हारी कदर होगी "जैन" यह शब्द सुनकर कडवा को बडा आनन्द हुआ, वह बोला मुझको जैनमार्ग सुनाओ तो मैं जैनधर्म के भी पद बनाऊ। आचलिक श्रावक कडुवा को अपने गच्छ के उपाश्रय मे ठहरे हुए साधुजी के पास ले गया, साधुजी ने उसे वार्ता के रूप मे धर्म का उपदेश किया। कडुआ ने इस प्रकार उनके पास जाते-जाते जैनधर्म का खासा परिचय पा लिया, उसने सर्वप्रथम एक कविता बनाई जिसका प्रथम पद्य इस प्रकार था।

> माइ बाप नी कीजई भगति' विनय करता रुढी युगति।
> जीव दया साची पालीजइ, सील धरी कुल उजुआलीइ ॥ १ ॥

इस प्रकार साधु समागम से और उनकी औपदेशिक बातें सुनने से कडुआ के मन मे ससार की असारता का आभास हुआ, उसकी इच्छा ससार त्याग करने की हुई, अपना भाव कडुआ ने माता पिता के सामने प्रकट किया जिसे सुनकर उसके माता पिता को बडा दुख हुआ और दीक्षा लेने की आज्ञा देने से इन्कार कर दिया। मेहता कानजी का स्वभाव

जानने वाला साधु उनकी आज्ञा के बिना कडुआ को दीक्षा देने के लिए कोई तैयार नही हुआ। दीक्षा लेने की धुन मे कडुआ अनेक साधुओ का परिचय करता हुआ अहमदावाद पहुँचा, वहा रूपपुरा मे आगमिक प० हरिकीर्ति शुद्ध प्ररूपक सवेग पाक्षिक साधु थे, वे अपनी शक्ति के अनुसार क्रिया कलाप करते थे। गुणी साधुओ को वन्दन करते थे, परन्तु आप किसी से वन्दन नही करवाते, कहते मैं वन्दन-योग्य नही हूँ, मुझ से शास्त्रोक्त साधु का आचार नही पलता। हरिकीर्ति रूपपुरे की एक शून्य शाला मे रहते थे, कडुवा ने उनका व्यवहार देखा और उसको पसन्द आया, उसने हरिकीर्तिजी के सामने अपना परिचय देते हुए कहा – मेरी इच्छा ससार छोडकर साधु होने की है, मुझे दीक्षा दीजिये। हरिकीर्ति ने सोचा – मैं अगर इसको योग्य मार्ग न दिखाऊँगा तो यह किसी कपटी कुगुरु के जाल मे फस जायगा, उन्हो ने कडुवा से कहा – प्रथम दशवैकालिक के चार अध्ययन पढने से ही दीक्षा पाली जा सकती है, इस वास्ते पहले तुम दशवैकालिक के ४ अध्ययन पढो, उसने स्वीकार किया और हरिकीर्ति के पास दशवैकालिक के चार अध्ययन अर्थ के साथ पढे। अध्ययन पढ़ने के बाद कडुआ ने उन्हे पूछा – पूज्य ! सिद्धान्त मार्ग तो इस प्रकार है, तब आजकल साधु इस मार्ग के अनुसार क्यो नही चलते ? हरिकीर्ति ने कहा – अभी तुम पढो और सुनो, बाद मे सिद्धान्त की चर्चा मे उतरना, महता कडुवा ने पन्यास के पास सारस्वत व्याकरण, काव्यशास्त्र, छदशास्त्र, चिन्तामणि प्रमुख वाद शास्त्र पढा और आचारागादि सूत्रो के अर्थ सुनकर प्रवीण हुआ, बाद मे पन्यास हरिकीर्ति ने कडुआ को कहा – हे वत्स ! आचारागादि सूत्रो मे जो साधु का आचार लिखा है, वह आज के साधुओ मे देखा नही जाता, आज के सब यति पूजा-प्रतिष्ठा कल्पितदान आदि कार्यों मे लगे हुए है, जिनमन्दिरो के रक्षक बने हुए है, क्योकि वर्तमानकाल मे दसवा अच्छेरा चल रहा है, यह कहकर उसने "ठाणाग" सूत्र की आश्चर्य-प्रतिपादक गाथाएँ, "सघपट्टक" की गाथाएँ और "षष्टिशतकप्रकरण" की गाथाएँ सुनाकर वर्तमानकालीन साधुओ की आचारहीनता का प्रतिपादन किया और उसकी श्रद्धा कुण्ठित करने के लिए हरिकीर्ति ने पिछले समय मे जैनश्रमणो मे होने वाली धडाबन्दियो का विवरण सुनाया, उन्होने कहा –

"११५६ मे पौर्णमिक, १२०४ मे खरतर, १२१३ मे अचल, १२३६ मे सार्द्धपौरणमिक, १२५० मे त्रिस्तुतिक १२८५ मे तपा आदि अपने आग्रह से उत्पन्न हुए, १५०८ मे लुका ने अपने आग्रह से मत चलाया, अब तुम ही कहो तो इन नये गच्छ-प्रवर्तकों मे से किस को युगप्रधान कहना और किसको नही, इस समय शास्त्रोक्त चतुष्पर्वी का आम्नाय भी दिखता नही, जहा युगप्रधान होगा, वहा उक्त सभी बातें एक रूप मे ही होगी, इसलिए तुम श्री युगप्रधान का ध्यान करते हुए श्रावक के वेश मे "सवरी" बनकर रहो, जिससे तुम्हारे आत्मा का कल्याण होगा।"

शाह कडुवा ने जैन सिद्धान्तो की बातें सुनी थी, उसको हरिकीर्ति की बात ठीक जची, वह साधुता की भावना वाला प्रासुक जल पीता, अचित्त आहार करता, अपने लिए नही करा हुआ भोजन विशुद्ध आहार श्रावक के घर से लेता था। ब्रह्मचर्य का पालन करता, १२ व्रत धारण करता हुआ किसी पर ममता न रखता हुआ पृथ्वी पर विचरने लगा।

कडुआशाह ने सब-प्रथम पाटण मे लीम्बा मेहता को प्रतिबोध किया, स० १५२४ मे शाह मेहता लीम्बा ने शाह कडुआ को विरागी जानकर अपने घर भोजनार्थ बुलाया, भोजन मे परोसने के लिए अनेक चीजें हाजिर की। कडुआ ने उनका काल पूछा, जो काल के उपरान्त की चीजें थी उन्हे नही लिया। लीम्बा ने – दही शक्कर आप लेंगे ? कडुआ ने पूछा – दही कब का है। लीम्बा ने कहा – हमारे घर पर ३६ भैसिया दूध देती हैं इसलिए यह कैसे जाना जा सकता है – कि यह दही कब का है। कडुआ ने कहा – हमको १६ पहर के उपरान्त का दही नही कल्पता, मेहता लींबा ने कहा – आप सब मैं जीव कहते हैं, दूध मे से भी पोरा निकालते हैं तो एक आध हमको दृष्टान्त दिखाओ तो मैं स्वय जैनधर्म स्वीकार कर लू, इस पर कडवाशाह ने दांत रगने का पोथा मगवाकर दही के उपरि भाग मे लकीर खीचकर दही का बतन धूप मे रखवाया और दही मे से ताप लगने के कारण पोथा की लकीर पर ऊपर आए हुए दही से सफेद जीवो को दिखाया, इससे मेहता लीम्बा जैनधर्म का श्रद्धालु बन गया।

स १५२५ मे वीरमगाव मे ३०० घर अपने मत मे लिए, स० १५२६ मे सलक्खपुर मे चातुर्मास्य कर अनेक मनुष्यो को प्रतिबोध किया और १५० घर अपने मत मे लिये, स० १५२८ मे श्री अहमदाबाद मे चतुर्मास्य किया, ७०० घर अपने मत मे प्रतिबोध किये। स० १५२९ मे खम्भात मे चतुर्मास किया ५०० घर को प्रतिबोध किया, । स० १५३० मे माडल मे चतुर्मास किया और ५०० घरो को प्रतिबोध दिया। स० १५३१ मे सूरत म चतुर्मास, स० १५३२ मे भरुच मे चतुर्मास किया, १५३३ मे चापानेर चतुर्मासक किया, घर ३०० को प्रतिबोध किया तथा थराद मे ९०० घर अपने मत मे किये। स० १५३६ मे राधनपुर चतुर्मास, १५३७ मे मोखाडा मे चतुर्मास किया तथा सोईगाव आदि मे अपना मत फैलाया। स० १५३८ मे सवत्र विहार किया। स० १५३९ मे नाडलाई मे ऋषि भाणा के साथ वाद किया और शास्त्रानुसार प्रतिमा को प्रमाणित किया और लुको के १५० घर अपने मत मे लिये। स० १५४० मे पाटन मे चतुर्मासक किया और ९०० घर कडुआ के समवाय मे हुए, शाह खीमा, शाह तेजा, कर्मसिह, शाह नाकर द्वादश व्रतधारक, शाह श्रीकृत १०१ नियमो के पालक सवरी गृहस्थ के वेश मे रहकर दीक्षा का भाव रखले, सवर का खप करे।

१ नीची नजर रखकर चले।
२ रात्रि मे भूमि का प्रमाजन किये विना न चले।
३ खास कारण बिना रास्ते चलते हुए वातचीत न करें, कोई प्रश्न करे तो यह कहे कि ज्यादा बातें स्थान पर करना।
४ औषध को छोडकर सच्चित्त आहार न खावें।
५ दिवस की पिछली दो घडी दिन रहते, चउविहाहार का पच्चक्खान करे,
६ भोजन करते समय अन्नकण न बिखेरे, न भूठा छोडे, प्रमाणातिरिक्त भोजन न करे, न बिना इच्छा के खाएँ।
७ भोजन करते न बोले।
८ द्विदल अन कच्चे गोरस के साथ न खाए।
९ छुटे हाथ कोई पदाथ न फके।
१० पाट पाटला प्रमुख किसी भी वस्तु को न घसीट कर ले जाय।

११ स्थण्डिल सम्ब धी शुद्ध भूमि की यतना करे।
१२ प्रस्रवण कीडी प्रमुख जीव-जन्तु न हो वहा छोडे।
१३ मात्रा की कुडी को छोडकर अन्य बतन मे मल त्याग न करे।
१४ जल प्रमुख त्याज्य पदाथ विना प्रमाजन किये न परठे।
१५ दूसरे को पीडाकारी वचन तथा हास्यादिक वचन न बोले।
१६ शरीर को विना प्रमाजन किये खाज न खरणे।
१७ पाच स्थावर जीवो का आरम्भ न कर।
१८ निवारण से स्वय पानी न ले, अगर लाए तो सब उपयोग कर।
१९ विना छाने पानी मे कपडे न धोएँ।
२० अपने हाथ से अग्नि का आरभ न करे।
२१ पखे से हवा न लें।
२२ वनस्पति अपने लिए न काटे।
२३ त्रस जीव की पीडा के परिहार मे नियम धारण करना
२४ त्रस जीव को मारने का त्याग करना।
२५ सर्वथा असत्य का त्याग करना।
२६ चोरी-यारी और अदत्तवस्तु लेने का त्याग।
२७ मनुष्य तथा चतुष्पद जाति की स्त्री का स्पश तथा सघट्ट न करना यदि, हो तो घृत का उस दिन त्याग करना।
२८ अपने पास धन न रखे।
२९ पिछली ४ घडी रात्रि मे शयन का त्याग करे।
३० खुले मुह न बोले, बोलते समय हाथ अथवा कपडा रखकर बोले।
३१ रात्रि के प्रथम पहर मे न सोवे।
३२ रोगादि कारण के सिवाय दिन मे न सोवे।
३३ प्रतिदिन तिविहार एकाशन करें।
३४ यथाशक्ति ग्रन्थि सहित प्रत्याख्यान करे।
३५ त्रिकाल देव-वन्दन करे तथा अपने-अपने समय मे आवश्यक तथा प्रतिलेखनादि करे।
३६ प्रतिदिन सात अथवा पाच चैत्य वन्दन करें।
३७ पढने गुणने का अभ्यास करे, प्रतिदिन गाथा एक याद कर और कम

से कम ५०० गाथा गिने ।

३८ पासत्थादि पाव कुदर्शनियो का सग न करे ।

३९ सामायिक दिनप्रति वहुत करे ।

४० प्रतिदिन एक विकृति वापरे, अधिक नही ।

४१ दिन मे पाव सेर से अधिक घृत न खाएँ ।

४२ पन्द्रह दिन मे दो उपवास करे ।

४३ लोगस्स १० तथा १५ का कार्योत्सग करे ।

४४ एक स्थान मे एक वर्ष उपरात न रहे ।

४५ अपने लिये घर तथा द्वार न कराये ।

४६ वस्त्र न धोए, ५ के उपरान्त अपने पास वस्त्र न रखे । कपडो की गठडी अन्यत्र न रखे ।

४७ विस्तर, तकिया गादो न वापरे ।

४८ पलग, खाट आदि पर सोवे नही, तथा वैठे नही ।

४९ चौराहे पर न वैठे ।

५० कलगिया एक, वाटकी एक, इसके अतिरिक्त वर्तन न रखे ।

५१ ज्वर आदि रोग मे तीन दिन तक लघन करे ।

५२ स्त्री से एकान्त मे वात न करे ।

५३ ब्रह्मचर्य की नव वाडी पालने मे यत्न करे ।

५४ मास मे एक वार वस्त्र धोवे ।

५५ एकान्तर सघट्ट न करे ।

५६ चार कपाय न करे ।

५७ कपाय उत्पन्न होने पर विगई का त्याग करे ।

५८ किसी को अभ्याख्यान न दे ।

५९ किसी को पीछे दोप न दे, चुगली न खाये ।

६० सुगन्ध तेल शौक के लिए न वापरें ।

६१ द्रव्य १२ के अतिरिक्त एक दिन मे न ले ।

६२ सुपारी, पान, इलायची प्रमुख का उपयोग न करे ।

६३ उत्कट वस्त्र न पहिने ।

६४ रेशमी वस्त्र का त्याग करे ।

६५ खेल, तेल इकट्ठा कर स्नान न करे।
६६ अपने हाथ से न पकावे, न सचित्त वस्तु दूसरे से पकवावें।
६७ हरी वनस्पति का आहार स्वाद की दृष्टि से न करे।
६८ वर्षाकाल मे खोपरा, खारक प्रमुख न वापर।
६९ स्त्री सुनते राग न आलापें।
७० आभूषण न पहिने।
७१ दो पुरुष एक पथारो पर न सोवे।
७२ स्त्री सोती हो वहा विना अन्तर के पुरुष न सोवे।
७३ लौकायतिक के यहा का अन्न जल न लेवे।
७४ जिस पर देव द्रव्य का देना हो और वह दे न सकता हो उसके वहा न जीमे।
७५ सुखायति के यहा भोजन न करे।
७६ अकेली स्त्री को न पढाए।
७७ मदिरजी की हद मे न सोवे।
७८ अपने सगे के लिए कोई चीज न मागे।
७९ दूसरे का द्रव्य अपने पास हो तो उसके स्वजन का आना विना धर्म-स्थानक मे न खर्चे।
८० निरतर एक घर मे दो दिन न जीमे।
८१ जिसके यहा श्राद्ध सवत्सरी हो उसके यहा तीन दिन नही जीमे।
८२ उत्कट आहार का उपयोग न करे।
८३ सिघोडे लीले, सुके, न खाए।
८४ डगला पहनने की छूट।
८५ दूसरो के बच्चो को प्यार न करे।
८६ स्वजन के अतिरिक्त लोग जीमते हो वहा न जीमे।
८७ कन्दोई के पक्वान्न की यतना।
८८ रात मे तैयार किये हुए अन्न का न जीमे।
८९ गृहस्थ के घर बैठकर गप्पे न लडाय।
९० जूते न पहने।
९१ रथ, गाडी, यान पर न बैठे।

९२ घोडा प्रमुख वाहन पर न चढे।
९३ महीने मे एक बार नख उतराए।
९४ कूलर, पकवान आदि बनवाकर अपने पास न रखे।
९५ मार्ग मे खडे रहकर अथवा चलते हुए स्त्री से वार्तालाप न करे।
९६ मार्ग मे चल न सके तो यान मे बैठे।
९७ पचवर्ण वस्त्र न पहिने।
९८ अकेली स्त्रियो के समूह मे भोजन के लिए अथवा अन्य किसी कार्य के लिए न जाये।
९९ राग उत्पन्न करने वाले गीत न गाए, न सुने।
१०० ब्राह्मण का सग न करे।
१०१ दूसरे के घर मे जाते खखार करना।

इसके अतिरिक्त दूसरी भी अनेक बातें जो सवरी की अपभ्राजना कराने वाली हो उनको न करे, तथा शाह कडुवा के लिखे हुए १०४ नियम शील पालने सम्बन्धी हैं, उनको धारण करना स्त्रियो के लिए शील पालन के ११३ नियम हैं ये सभी नियम यहा नही लिखे।

उस वर्ष श्री कडुवाशाह पाटन मे अमरवाडा दरवाजा के बाहर जाते दो दिन एक योगीशाह को देखकर बहुत खुश हुआ और शाह को आग्रह करके कुछ आम्नाय दिए। यन्त्र, तन्त्र तथा रूपा सिद्धि भी दी, ऐसा वृद्धवाद है, परन्तु शाहश्री ने एक भी विद्या न चलाई, उन्होने यावज्जीव के लिए एक घृत विकृति छूटी रखी। प्रतिदिन के लिए १० द्रव्य छूट रखे, यावज्जीव एकाशन करने का नियम था, फिर भी महिने मे १० आयम्बिल करते और श्री युगप्रधान का ध्यान धरते हुए दीक्षा की भावना रखते थे।

स० १५४१ मे शाहश्री वडोदे मे शाह कुवरपाल के घर चातुर्मास रहे, वहा भट देपाल के साथ वाद हुआ, जैन बोल ऊपर रहा, वहा पर 'जय जग गुरु देवाधिदेव" यह स्तवन बनाया।

स० १५४२ मे गधार मे शाह देवकर्ण के घर पर चातुर्मास किया वहा चैत्यवासियो के साथ चर्चा हुई, वहा पर शाह ने "सखिसार नयर गन्धार गाव" ऐसा वीर स्तवन बनाया।

स० १५४३ मे चूडा राणपुर मे शाह सघराज के घर चातुर्मास ठहरे, वहा शाहश्री के पास शाह राणा, शाह कमण, शाह शवमी, शाह पुन्ना, शाह धींगा, पाच श्रावक सवरी हुए, चूडा राणपुर मे २०० घर शाहश्री कडुमा की श्रद्धा मे आए।

स० १५४४ मे जूनागढ मे ठक्कुर गजपाल के घर चतुर्मासक किया, वहा लुका के १५० घर अपनी श्रद्धा के बनाए।

स० १५४५ मे सौराष्ट मे विचर कर अमरेली मे ठक्कुर काशी के घर चातुर्मास किया।

स० १५४६ मे अहमदाबाद के पास अहमदपुरे मे चतुर्मास किया, वहा परिख चोकसी ने आबू, राणकपुर, चित्तौड का सघ निकाला, उसके साथ श्री कडुवा प्रमुख ६ सवरी चले, जहा जहा सघ गया, या ठहरा उन सब गावो के चैत्यो की चत्य-परिपाटी का स्तवन बनाया। श्री कडुवाशाह ने सिरोही मे चत्यवासी के साथ वाद कर चैत्यवास का खण्डन किया। वहा से नाडलाई तक को यात्रा करके वापस अहमदाबाद आए और शाह कडुवा रूपपुर में ठहरे।

स० १५४७ मे खम्भात मे चतुमासक किया, वहा लगु(घु)शालिक तपा के साथ चर्चा हुई, जो श्री व तद्गत हुण्डी से जान लेना, शाहश्री ने वहा से अन्यत्र विहार किया और 'शाह रामा जो पहले उपाध्याय रामविमल था, वह स्तम्भतीय मे प्रतिक्रमण मे चार स्तुतिया कराता था, दूसरे भी शाह रामा के साथ प्रतिक्रमण करने वाले चार थुई करते थे, अब भी खम्भात मे इसी प्रकार का माग चलता है। अर्थात् कितनेक सवरी चार थुई करते हैं, सिद्धान्तोक्त गणधरोक्त ३ थुई है, परन्तु आवश्यक मे, आवश्यक चूर्णि मे, आवश्यक वत्ति मे, ललितविस्तरा आदि ग्रन्थो मे चतुथ स्तुति लिखो है।

स० १५४८ मे पाटन म चतुर्मासक किया, वहा परी० थावर तथा दोसी समथ के बडेरो को प्रतिबोध दिया, पाटन मे वु० धनराज परी० जी का के दादे का बिम्ब प्रवेश किया, उस समय शाह कडुवा मन्दिर में बदानाथ

आये उसी समय शाह देपा जो धर्मानुरागी और दीक्षा का अभिलाषी वहा आया था, शाहश्री को मन्दिर में पगडी उतारकर प्रतिमा के दर्शन करते हुए देखा, उसके सम्बन्ध मे पूछने की इच्छा हुई, शाह चैत्यवन्दन कर मन्दिर से बाहर निकले, तब शाह देपा ने अपनी बनाई हुई १२ व्रत की चतुष्पदी कडुवाशाह के सामने रक्खी शाह उसे पढ़कर बहुत खुश हुए, बाद मे देपाशाह ने मन्दिरजी मे पगडी उतारने का कारण पूछा, तब श्री शाह ने शास्त्र के आधार से कहा – भगवान् के सामने शिरोवेष्टन शिर पर रखकर जाना एक प्रकार की आशातना है, इस विषय की विस्तृत चर्चा और शास्त्र के पाठ शाहश्री तेजपाल कृत "दशपदी" मे देख लेना चाहिए, शाह देपा ने शाहश्री के पास सवरीपन स्वीकार किया और उनके साथ विचरने लगा, परी० पूनाशाह के पास बहुत पढे और होशियार हुए थे।

स० १५४९ मे शाह कडुवा नाडलाई मे वहोरा टोला के घर चातुर्मासक ठहरे, वहोरा टोला भी वैराग्यवान् और सद्गृहस्थ था। शाहश्री के पास छट्ठ छट्ठ पारणा करने की प्रतिज्ञा की थी। शाहश्री के पास वहा तीन सवरी हुए, शाह थीरपाल, शाह धोरु, शाह लीम्बा, एव १४ सवरी शाहश्री के पास रहते थे।

स० १५५० मे सादडी गए और दोसी सघराज के घर चातुर्मासक ठहरे, वहा पर खरतरो के साथ महावीर के कल्याणको के सम्बन्ध मे चर्चा हुई और कल्पसूत्र, यात्रापचाशक, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि शास्त्रो के प्रमाण से महावीर के पाच कल्याणक सिद्ध किये और गर्भापहार कल्याणक जिनवल्लभ ने स्थापित किया है, तथा स्त्री को पूजा करने का निषेध खरतरो ने किया है जिसका ज्ञातासूत्र के आधार से शाहश्री ने खण्डन किया। सादडी मे दो सवरी हुए – शाह सिद्धर, शाह कूपा।

स० १५५१ मे शाहश्री ने सिरोही मे चातुर्मासक किया, वहा एक श्रावक सवरी हुआ, जिसका नाम शाह शवगण था, वहा पर तपागच्छ वालो के साथ सामायिक ग्रहण करने मे ईरिया पथिकी-प्रतिक्रमण पहले या पीछे इस विषय की चर्चा हुई।

स० १५५२ मे थराद मे चतुर्मासिक हुआ, उस समय प० हरिकीर्ति भी वही थे। शाह कडुवा की व्याख्या सुनकर बहुत खुश हुए, थराद मे बहुतेरे आदमियो को प्रतिबोध किया, वहा पर चार श्रावक शाहश्री के पास सवरी हुए। उनके नाम शाह लूणा, शाह मागजी, शाह जसवन्त और शाह डाहा। थराद मे शाहश्री के धर्म की श्रद्धा सारे नगर को हो गई। थराद निवासी श्रावक शाह राया (राजा) शाहश्री के पास बहुत पढा कुछ दिन तक उनके पास रहा, थराद, निवासी शाह दूदा पन्यास के पास बहुत पढा।

स० १५५३ मे, १५५४ मे और १५५५ मे जालोर प्रमुख नगरो मे विचरे और अनेक तीर्थो की यात्रा की, वहा यति द्वारा प्रतिष्ठा की जाने सम्बन्धी तथा साधु के कृत्यो के विषय मे चर्चा हुई, तथा पव के दिनो को छोडकर शेप दिनो मे पौषध करने के सम्बन्ध मे आचलिक तथा खरतरो के साथ चर्चा हुई और स्थानाग ज्ञातादि के आधार से पौषध करना प्रमाणित किया। स० १५५६ मे आगरा की तरफ गये, नागोर, मेडता, आगरा यावत् सवस्थानो मे यात्राएँ की।

स० १५५८ मे पाटन गए, वहाँ परीख पूना ने शाहश्री के पास वृद्ध-शाखीय ओसवाल ज्ञातीय माता-पिता रहित एक ग्यारह वर्ष के बच्चे को लाया, जिसका नाम श्रीवत था। शाहश्री को कहा – इस कुमार को आप पढाइये, शाहश्री ने कुमार का हाथ देखा और शिर हिलाते हुए कहा – इसका आयुष्य तो कम है, परन्तु पढने वाला इसकी बराबरी नही कर सकेगा। परीख पूना ने उसको अपने घर रक्खा और कुछ दिनो तक शाहश्री के पास पढाया।

स० १५५६ मे शाहश्री नवानगर गए, वहा चौमासा करके अनेक मनुष्यो को धम का माग समझाया।

स० १५६० मे राजनगर मे चतुर्मासिक किया, वहाँ पर पटेल सघा, पटेल हासा सवरी बने।

स० १५६१ मे सूरत मे चातुर्मासिक रह, वहा शाह वेला, शाह जीवा, सवरी हुए।

स० १५६२ मे वीरमगांव मे डोसी तेजपाल के घर चतुर्मासक रहे, वहा शरीर मे वेदना हुई परन्तु कुछ दिनों के बाद नीरोग हो गए।

स० १५६३ मे महेसाने मे डो० वासन के घर चतुर्मासक रहे।

स० १५६४ मे कडुवाशाह पाटन गए, उस समय इनके पास जो सवरी थे उनके नाम नीचे लिखे अनुसार थे – १ शाह खीमा, २ शाह तेजा, ३ शाह कर्मसिंह, ४ शाह नाकर, ५ शाह राणा, ६ शाह कर्मण, ७ शाह शवसी, ८ शाह पुन्ना, ९ शाह धीगा, १० शाह देपा, ११ शाह लीम्बा, १२ शाह सिघर, १३ शाह कबा, १४ शाह शवगण, १५ शाह लुणा, १६ शाह मागजी, १७ शाह जसवत, १८ शाह डाहा, १९ शाह वेला, २० शाह जीवा, २१. पटेल हासा, २२ पटेल सघा, इनके अतिरिक्त शाह वीरा, १ शाह थीरपाल, २ शाह धीरु ये तीन नाडलाई मे थे और शाह रामा कणवेधी १ खम्भात मे थे।

स० १५६३ मे थराद मे पन्यास हरिकीर्ति दिवगत हुए। उन दिनो शाह रामा श्रावक वहा व्याख्यान वाचते थे, शाम को शाह दूदा भी व्याख्यान वाचते थे। एक दिन पाक्षिक दिन के सम्बन्ध मे बात चली, रामा की बात पर शाह दूदा ने कहा – पन्यास तो यह कहते थे, तब रामा ने कहा – नही पन्यास यह नही कहते थे, इस मतभेद का निराकरण शाहश्री कडुवा को पूछकर करने का निश्चय हुआ, उस समय कडुवाशाह पाटन मे थे, उनको पूछने के पहले ही कडुवाशाह के शरीर मे फिर पीडा उत्पन्न हुई, उन्होने अपने आयुष्य की समाप्ति निकट समझकर शाह खीमा को बुलाकर अन्तिम शिक्षा देते हुए कहा – सवरी का मार्ग अच्छी तरह पालना।

कडुवाशाह ने उन्हे निम्नलिखित अपनी मान्यताओ का पुनरुच्चारण करके उन्ह फिर सावचेत किया, उन्होने कहा –

१ जिनचैत्यो में पगडी उतार कर देव व दन करना।

२ प्रतिष्ठा करना श्रावक का कर्त्तव्य है, यति का नही।

३ पाक्षिक सिद्धान्त मे पूर्णिमा को नामा है, परन्तु आचरणा से चतुर्दशी को करते हैं।
४ पर्युषणा युगप्रधान कालकाचार्य की आचरणा से चतुर्थी को करते हैं।
५ श्रावक श्राविका के लिए मुहपत्ति चरवला रखना शास्त्रानुसार है।
६ सामायिक वार-वार करना चाहिए, ऐसा आवश्यक मे लेख है।
७ पर्व विना भी पोषध करना चाहिए, ऐसा ज्ञातासूत्र मे प्रमाण है।
८ द्विदल छोडना चाहिए, ऐसा कल्पभाष्यादि मे प्रमाण है।
९ मालारोपण उपधान का निषेध।
१० स्थापनाचार्य रखना सिद्धान्तोक्त है।
११ स्तुति तीन करना, आवश्यक मे लेख है।
१२ वासी विदल खाना निषेध है, योगशास्त्रानुसार।
१३ पौषध त्रिविधाहार चतुर्विधाहार करने का आवश्यक चूर्णि मे विधान है।
१४ सिद्धान्तानुसार पचागी मान्य है।
१५ प्रथम सामायिक पीछे इरियावही करने का आवश्यक चूर्णि मे लेख है।
१६ वीर के पाच कल्याणक मानना कल्पादिक मे प्रमाण है।
१७ दूसरा वन्दन बैठे देना समवायाग वृत्ति मे लेख है।
१८ साधु के कृत्यो का विचार दशवैकालिक आचाराग आदि मे है।
१९ श्रावण दो होने पर पर्युषणा दूसरे श्रावण मे और कार्तिक दो होने पर चातुर्मासिक समाप्ति दूसरे कार्तिक मे करना, ऐसा चूर्णि आदि मे है।
२० स्त्री को पोषध करने का प्रमाण उपासकदशा मे और पूजा करने का ज्ञातासूत्र मे है।
२१ वर्तमानकाल मे सघपटक आदि के आधार से दसवा आश्चर्य चल रहा है।

प्रतिक्रमण विधि प्रमुख अनेक बातो का खुलासा कर अपने पद पर शाह खीमा को स्थापित किया। शाह खीमा आदि सवरियो ने शाहश्री को पोषध के लिए कहा, इस पर शाहश्री ने कहा – मेरे लिए औषध "श्री अरि-

हन्त" का नाम है, यह कहकर उन्होने सीमन्धर स्वामी को साक्षी से त्रिविधाहार का अनशन कर दिया, दूसरे १७ सवरियो ने भी अनशन शाह श्री कडुवा के पास किये, जिनके नाम ये हैं — शाह तेजा, शाह कमसी, शाह नाकर, शाह राणा, शाह कमण, शाह डाहा और शाह पूना, अन्य दस सवरियो ने शत्रुञ्जय तीथ पर जाकर अनशन किये, उनके नाम — शाह शवसी, शाह धीगा, शाह देपा, शाह लीम्बा, शाह सीधर, शाह शवगण, शाह लूणा, शाह मागजी, शाह जनवन्त और पटेल हासा

शाह श्री कडवा अरिहन्त, सिद्ध का जाप करते २१ वें दिन दिवगत हुए, तथा अन्य सवरी अनशन करने वालो मे से कोई महोने मे, कोई ३५ दिन मे स्वर्ग प्राप्त हुए।

शाह श्री कडवा के लिए माडवो वनाकर चन्दन प्रमुख पदार्थों से देह का अग्निसस्कार किया गया। शाह श्री खीमा के मुख से श्लोक सुनकर अग्निसस्कार के समय आने वाले सब अपने अपने स्थान पहुचे।

शाह श्री कडुवा १९ वप गृहस्थ रुप मे रहे, १० वप सामान्य सवरी के रूप मे रहे, ४० वर्ष तक अपने समवाय के पट्टधर के रूप मे रहकर ६९ वप की उम्र मे परलोकवासी हुए।

शाह श्री कडुवा के बनाये हुए गीत, स्तवन, साधु वन्दना प्रमुख ग्रन्थो का श्लोक प्रमाण ६ हजार के लगभग पाटन मे है।

थराद से शाह रामा, शाह दूदा, प्रमुख कडुवाशाह को पाक्षिकतिथि के विषय मे पूछने आ रहे थे, तब रास्ते में सुना कि शाहश्री दिवगत हो गए है, तब यह बात विवादास्पद हो रही, शाह रामा आठवी पाक्षिक जानकर कहने लगे, शाह दूदा और खीमा की एक बात मिली, इसलिए वतमान मे थराद मे दो उपाश्रय है, उनमे शाह रामा कहते हैं — शाह कडुआ यही कहते थे कि जैसा मैं कहता हूँ, यह सब पचम आरे का प्रभाव है। कभी कभी अष्टमी और पाक्षिक का दिन जुदा जुदा आता है, शेप सभी वातें शा० कडुआ के समवाय मे समान है।

२. शा० खीमा चरित्र :

पाटन राजकावाडा मे पोरवाल ज्ञातीय शा० कमच द की भार्या कर्मादे की कोख से शा० खीमा का ज म हुआ और १६वे वप मे वह शा० कडुआ के पास सवरी बने थे। २४ वप सामान्य सवरी रहे, परी० पूना के घर शाह श्रीवत बहुत पढे। परी० पूना ने प्रतिदिन एक कोडी ब्राह्मण को देकर उसके पास यायशास्त्र पढ़ा। थोडे ही समय मे विद्वान् बना।

शा० कडुआ के स्वगवास के वाद शाह खीमा के शरीर मे बवासीर की बीमारी हुई, जिससे वे विहार भी नही कर सकते थे और सवरी के अभाव मे श्रावक शिथिल होने लगे थे।

इसी समय दर्म्यान सवत् १५६८ मे थराद मे पौपधशाला स्थापित हुई। कोई पौपधशाला मे जाते, कोई सवरियो के स्थान पर, पर तु सवत्र सामाचारी कडुआ की चलती। वतमान मे भी इसी प्रकार चलता है।

शाह रामा के पट्टधर शाह राघव और दूसरे उपाश्रय मे जाने वाले शाह दूदा के उत्तराधिकारी शाह ब्रह्मा हुए।

शाह खीमा १६ वप तक गृहस्थ रूप मे रहे, २४ वप तक सामान्य सवरी के रूप मे रहे और सात वप शा० कडुआ के पट्टधर रह कर ४७ वप की उम्र मे शाह वीरा को अपने पद पर स्थापन कर स० १५७१ मे पाटन मे देवगत हुए।

३ शाह वीरा चरित्र :

नाडलाई गाव मे श्रीश्रीमाली ज्ञातीय वृद्धशाला मे दोसी कुमारपाल की भार्या कोडमदे की कोख से शाह वीरा का ज म हुआ था। शाह वीरा श्री शा० कडुआ के पास सवरी बने थे। शाह श्री खीमा ने श्रीव त शाह को पढ़ा लिखा और समझदार जानकर भण्डार की पोथिया उ हे सोपी थी, वे पोथिया इस समय लीम्बा महेता के घर पर हैं। जब शाह खीमा ने काल किया उस समय शाह वीरा सिरोही मे थे।

एक समय प० पूना पाटन मे व्याख्यान दे रहे थे तब एक श्रावक बहुत दिनो से व्याख्यान मे आया। उसको पूना ने उपालम्भ दिया और व्याख्यान आगे चलाया। जिस श्रावक को पूना ने उपालम्भ दिया था उसने सोचा कि पूना को पोथो का भण्डार न सम्भलाया इसलिए वह हृदय मे जलता है। पोथिया लोम्बा वसुम्बीया के यहा से अपने घर मगाई। बात बढ गई, श्रीवन्त को कहा – चलो दूसरे समवाय के पास जाकर इसका न्याय कराए। शाह श्रीव त ने कहा – शाह श्री कडुआ के तथा शाह श्री खीमा के सिद्धान्तोक्त वचन सुनकर हीनाचारो को नमे वे हीन। इतना पढे लिखे आदमी को हीनाचारी को दृष्टि से भी देखना न चाहिए, इत्यादि बहुत चर्चा हुई। शाह श्रीव त ने हीनाचारियो का खण्डन किया तब परीख पूना ने हीनाचारी का समथन किया, इस प्रसग मे शाह श्रीव त ने "गुरु तत्त्वनिर्णय हुण्डो" रूप ग्रन्थ बनाया जो इस समय हेब्रतपुर मे उपाश्रय के भण्डार मे ४४ पत्र का ग्रन्थ रहा हुआ है, उस ग्रन्थ के अनुसार साधु का मार्ग देखना, परन्तु हीनाचारी को नमन नही करना। बाद मे परी० पूना ने शाह श्रीवन्त को कहा – मैंने तुमको पढाया, तैयार किया और मेरा ही वचन न माने यह ठीक नही है, मेरी बात का परसमवाय मे आकर समथन करना चाहिए। श्रीव त ने कहा – आप कहो वैसा करने को तैयार हूँ, परन्तु ऐसा करने से अपना ही धम ठहरेगा नही, वास्तव मे वीतराग के मार्ग मे रहकर १०० वष तक सूली पर रहना अच्छा, परन्तु धमबुद्धि से अगीताथ का सग करना अच्छा नही, इस पर परीख पूना ने कहा – अपन दोनो खम्भात शाह रामा कणवेधी को पत्र लिखे और वे जो निर्णय दें, उसे मान्य करे, शाह श्रीव त ने शाह पूना का उक्त प्रस्ताव स्वीकार किया और रामा को खम्भात पत्र लिखा। शाह रामा ने शास्त्राधार से उत्तर दिया, परन्तु परी० पूना ने उस बात पर श्रद्धा नही की, इस सम्ब ध मे आए हुए शाह रामा के १० पत्र इस समय "हैबतपुर भण्डार मे पडे हुए है।" शाह रामा बडे विद्वान् थे परन्तु परी० पूना ने उनकी बात पर विश्वास नही किया और उल्टे गुस्से मे आकर शाह श्रीव त के पास अपनी जो जो वस्तु थी वह भी अपने कब्जे मे ले ली, बहुत मनुष्यो को पक्ष मे करके ७०० घर लेकर पौषधशाला मे चला गया, परन्तु भण्डार नही ले

सका, वहा जाने के बाद परी० पूना मूत्र कृच्छ रोग से एक वर्ष के बाद मरण को प्राप्त हुए ।

वहा से श्रीवन्त निकलकर अहमदाबाद गए, उस समय वहा दोसी देवर की डेहली मे सब श्रावक इकट्ठे हुए थे । शाह खीमा के देवगत होने तथा परीख० पूना के पोषधशाला जाने सम्बन्धी विचार कर रहे थे । शाह श्रीवन्त ने क्या किया होगा ? इस विषय की भी विचारणा हो रही थी, इतने मे शाह श्रीवन्त वहा पहुँचे । फटे वस्त्र आदि देखकर श्रीवन्त को पहचाना तक नही और पूछा कि कहा से आए ? उत्तर दिया – "पाटन" से आता हूँ, यह सुनकर पूछा गया – परी० पूना का पौषाल गमन सुना जाता है, क्या सच है ? उसने कहा – हा ! आगे पूछा गया – शाह श्रीवन्त की कुछ खबर जानते हो, उसने कहा – हा जानता हूँ, सभा ने पूछा कहो वे कैसे हैं, उसने कहा – जिसको आप पूछते हैं, वह आपके पास है, यह सुनकर सब खुश हुए और आनन्द से मिले तथा श्रीवन्त को दूसरे कपडे पहनाए । सब धार्मिक कहने लगे – अगर तुम हो तो सब कुछ है । शाह श्रीवन्त वहा रहा और वहा रहते हुए सुख शान्ति के निमित्त श्री ऋषभदेव का विवाहला ढाल ४४ मे जोडा, जो सब गच्छो मे प्रसिद्ध है ।

स० १५७२ मे पाश्वचन्द्र नागौरी तपा मे से निकला और अपना नया मत प्रचलित करके मलीन वेश मे विचरता हुआ लोगो को अपने मत मे खींचने लगा जहा धर्मार्थी उपदेशक का योग नहीं वहां लोगो को अपने मत मे जोडता था । वीरमगाव प्रमुख अनेक स्थान पाश्वचन्द्र ने ले लिये थे, आचलिक तथा खरतर भी क्रिया उद्धार करके जहा सवरी श्रावक का योग नहीं था, वहा उनको अपने समाज मे मिलाते थे, इस समय भी कितने ही गावो मे सवरियो के विना भी शाह श्री कडुवा की सामाचारी रख रहे हैं ।

शाह श्रीवन्त जो देवर की देहली में रहे हुए हैं, वहो इनकी ख्याति सुनकर अनेक ब्राह्मण शाह श्रीवन्त के पास आए और इनके साथ प्रमाणवाद छन्दशास्त्र आदि के सम्बन्ध मे वार्तालाप हुआ । ब्राह्मणों ने कहा –

तुम अपनी रचनाएँ हमको दिखाओ। शाह श्रीवन्त ने अपने काव्य उनको दिखाए, देखकर ब्राह्मण बोले, वणिक् मे ऐसी शक्ति नही होती, यह तो तब सच्च माने जो इस डेहली मे रहे हुए पलग का वर्णन करके हमको सुनाओ। तब शाह श्रीवन्त ने उस पलग का धार्मिक दृष्टि से वर्णन किया, जिसे सुनकर ब्राह्मण बहुत ही खुश हुए, उन्होने कहा – हम ब्राह्मण हैं, फिर भी हमसे इतना जल्दी काव्य बनना कठिन हैं।

शाह श्रीवन्त सवत्र विचरते, परन्तु शाह धोरा, शाह सरपति, जो बादशाह के वजीरशाह श्री कडुवा के समवायो थे उन्होने शाह श्रीवन्त का बादशाह से मिलाया, वहा लहुआ व्यास के साथ दो दिन चर्चा हुई, एक दिन लहुआ व्यास ने बादशाद से कहा – श्रीवन्त आदे के एक टुकडे मे अनन्त जीव बताता है, इस पर से बादशाह ने श्रीवन्त को अपने पास बुलाया, नोकर बुलाने गए। श्रीवन्त ने नोकर से कहा मैं अभी आता हूँ, पर यह तो कहो कि क्या काम है ? सेवक ने कहा – मैं नही जानता, पर लहुआ व्यास अदरख का टुकडा लेकर आया है और वह बुलाता हैं। शाह श्रीवन्त बादशाह की तरफ चला और उनकी दृष्टि मर्यादा मे एक गाय को देखकर श्रीवन्त उसकी पूछ देखने लगा। बादशाह के पास पहुचने पर श्रीवन्त को बादशाह ने पूछा, श्रीवन्त गाय की पूछ मे क्या देखा ? श्रीवन्त ने कहा – लहुआ व्यास गाय के पूछ मे ३३ करोड देवता बताया है, उनको देखता था। बादशाह ने पूछा – क्यो लहुआ क्या बात है ? लहुआ ने कहा – जी हा हमारे शास्त्र में ऐसा लिखा है और श्रीवन्त ऐसा कहता है – आदे के टुकडे मे अनन्त जोव होते हैं, इस पर श्रीवन्त ने कहा – जी हा, हमारे शास्त्र मे ऐसा लिखा है। जो लहुआ व्यास गाय की पूछ मे देव दिखाये तो मैं जीव दिखाउँ। व्यास ने कहा – देव दीखते नही हैं। शास्त्र ही प्रमाण है, तब शाह श्रीवन्त ने आदा खड बोया, उसके खड-खड मे सजीवता प्रमाणित की।

शाह श्रीवन्त चापानेर के सुलतान के पास भी रहते थे, उस समय स० १५७९ में खम्भात के पास कसारी गाव मे कडुवामति के मन्दिर मे जो पर समवाय का आदमी भो दर्शनार्थ आए वह गगडी उतार कर जिनवन्दन

करें अन्यथा नही, खभात मे शा० घनुवा और मनुवा राज्यमान्य पुरुष हैं, उनमे से मनुआ देववन्दन करने आए हैं, यदि वे अपने मन्दिर मे पगड़ी नही उतारेंगे तो नियम टूट जायगा, यह सोचकर श्रावक मिलकर मन्दिर आए और मनुआ को कहा – "हम पर समवायी हैं, क्यो पगडी उतारेंगे" मनुआ का विरोध होते हुए भी पगडी उतारी गई, इस पर विरोधियो ने मनुआ के भाई को कहा – कसारी के कडुआमतियो ने तुम्हारे भाई की पगडी उतार दी, यह सुनकर मनुआ का भाई उत्तेजित होकर वहा आया, अपना भाई सन्मुख मिला और पूछा भाई ? क्या मामला था ? जब कि तुम्हारी पगडी उतार दी गई। भाई ने कहा – नही मैं स्वय उतार रहा था उस समय उन्होने हाथ लगाया, मनुआ के भाई का क्रोध शान्त हो गया। बाद मे यथार्थ जानकर मनुआ ने कसारी का महाजन इकट्ठा किया और बधा लगाया कि कसारी के कडुआमतिको कोई कुछ भी चीज न दे, यह बात सुनकर चांपानेर शाह गोरा के पास कसारी के कडुआमति के श्रावक गए, साधर्मी जानकर उनसे गोरा मिले और आने का कारण पूछा। जाने वालो ने कहा – हम खम्भात के पास के कसारी गाव से आये हैं, शाह गोरा ने पूछा – कसारी मे दोसी छाछा, दोसीपासा, सहिसा, आदि समस्त सकुशल हैं ? उत्तर मे जाने वालो ने कहा – वे सब आपके सामने खडे हैं, तब दूसरी वार मिले, देवपूजा की और भोजन के बाद पूछा – इतनी दूर से कैसे आना हुआ ? इस पर सब बात कही, जिसे सुनकर शाह गोरा सुलतान के पास जाके स्तम्भतीथ मे महाजन पर बादशाह का फर्मान भिजवाया सब महाराज मिलकर चापानेर पहुँचे और शाह गोरा को मिले और कसारी के महाजन के साथ समाधान कर सकुशल घर आये। शाह गोरा ने सुलतान की आज्ञा लेकर, शत्रुञ्जय का सघ निकाला। शाह श्रीवन्त भी शत्रुञ्जय गये, शत्रुञ्जय की यात्रा कर वापस तलहटी आए, तब उनके पेट मे दर्द होने लगा और शाह श्रीवन्त अरिहत, सिद्ध जपते हुए ३३ वर्ष की उम्र मे दिवगत हुए।

बाद में शाह श्रीवीरा गुजरात गए, जहा सवरी का योग नही था, यहा कुछ दिन तक श्रावक ने भी व्याख्यान वाचा। स० १५८१ मे शाह रामा थराद मे दिवगत हुए तब उसके पट्टधर शाह राघव बठे।

"स० १५८५ मे ऋषिमति की उत्पत्ति हुई, श्री आनन्दविमलसूरि क्रियोद्धार कर सर्वत्र फिरने लगे, धर्मार्थी के योग के विना कडुआमति के सर्वक्षेत्रो को अपनी तरफ खींच लिया, जहा कहीं पढे लिखे श्रावक थे वहा लोग ठिकाने रहे।" स० १५८६ मे शाह श्रीराग ने स्तम्भतीर्थ के पास कसारी मे दोसो पासा, सहेसा के श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा की।

स० १५८८ मे सघवी श्रीदत्ता ने आबु, गौडी, चित्तौड, कुम्भलमेर प्रमुख तीर्थो का सघ निकाला।

शाह वीरा स० १५६० अहमदावाद मे चतुर्मासक रहे, वहा शाह जीवराज को सवरी किया, दोसी मगन्न को प्रतिबोध देकर पूनमिया से कडुवामति किया।

स० १५६१ मे पटण मे चौमासा किया, शाह रामा ने भी स्तम्भतीर्थ प्रमुख से मनुष्यो को ठिकाने रक्खा।

"स० १५६२ मे शाह रामा कणवेधी ने "श्री वीर विवाहला" और "लुम्पक वृद्ध हुँडी' जिसके पाने ३२६ और अधिकार ५७४ हैं बनाई, इस समय राजनगर के भण्डार मे वह प्रति रखी हुई है।"

शा० वीरा स० १५६३ मे राधनपुर, थराद प्रमुख सवत्र विचरे और "स० १५६४ मे शाह रामा कणवेधी दिवगत हुए।"

स० १५६४ मे सिरोही मे चातुर्मास किया। स० १५६५ मे सादडी की तरफ विहार किया और नाडुलाई आये। वृद्धावस्था के कारण अब विहार भी नही कर सकते थे। स० १६०१ मे नाडुलाई मे शरीर मे बाधा हुई। यह वय कठिन था अन्न से और रोग से। दूसरे सवरी शा० जीवराज प्रमुख सब पास मे थे। शाह श्री वीरा के औषधार्थ किसी चीज की जरूरत थी, वह श्रावक के घर होते हुए भी मागने पर नहीं मिली। औषध करना जल्दी था अत शाह वीरा के पास की चार छापरी मे से दो छापरी श्रावक के हाथ मे दी और कहा – शाह भाणा के घर अमुक वस्तु है वह

लाओ, भाणा ने नाणा लेकर चीज तुरन्त दे दी। वह वस्तु शाहश्री के पास आयी, शाहश्री ने औषध प्रयोग किया। बाद मे शाह श्री वीरा ने शाह श्री जीवराज को कहा – देख लिया न, ससार मे सब स्वार्थी हैं, इसलिए आज से तुम सख्या मात्र ममता-रहित होकर द्रव्य रक्खो, आमन्त्रण से अथवा विना आमन्त्रण से भोजन करने जाओ, हाथ मे मुद्रिका पहनो, दो-चार वस्त्र ज्यादा रक्खो, समय विषम है अपन तो द्वादशव्रतधारी श्रावक हैं, जितना भी सक्षेप करे उतना अच्छा, इनके अतिरिक्त दूसरी भी अनेक प्रकार की शिक्षा दी और शाह श्री वीरा १६०१ मे सात दिन का अनशन पालकर दिवगत हुए। शाह वीरा १४ वर्ष गृहस्थावस्था मे रहे, २५ वर्ष सामान्य सवरी के रूप मे रहे ३० वर्ष पट्टधर रहकर ६९ वर्ष की उम्र मे शाह जीवराज को अपने पद पर स्थापन कर स्वर्गवासी हुए।

४. शा० वीरा के पट्टधर शाह जीवराज :

जीवराज का जन्म अहमदाबाद मे परीख जगपाल की भार्या बाई सोभी की कोख से स० १५७८ मे हुआ था, सवत् १५९० में शा० वीरा के पास सवरी बने, १२ वर्ष गृहस्थ रूप मे, ११ वर्ष सामान्य सवरीरूप मे सवरी रहने के पश्चात् आप पट्टधर बने थे। जीवराज बडे यशस्वी थे। आपने खम्भात, अहमदाबाद, पाटन, राधनपुर, मोरवाडा, थराद प्रमुख अनेक स्थलो मे मन्दिर तथा उपाश्रय करवाये, स्थान स्थान पर श्रावकों को स्थिर रक्खा।

स० १६०३ मे थराद मे शाह राघव दिवगत हुए और उनके पट्टधर सवत् १६०४ मे शाह जायसा (सो?) बैठे। शाह नरपति को सवरी बनाया, शाह साजन को सवरी किया।

स० १६०३ मे ब्रह्मामत की उत्पत्ति हुई सो लिखते हैं

शा० जीवराज राधनपुर मे ठहरे हुए थे, उस समय राजनगर मे पार्श्वचन्द्र ने विजयदेव को पद दिया जिससे ऋषि ब्रह्मा मन मे नाराज

हुए, दरमियान पार्श्वचन्द्र हेवतपुर मे उपाश्रय बनाने वाले थे। उनका अभिप्राय कडुग्रामतियो को अपनी तरफ खींचने का था, परन्तु महेता आनन्द ने सोचा कि हेवतपुर मे उपाश्रय हो गया तो हमारे साधर्मी शिथिल बन जायेंगे, इस कारण से ब्रह्मा ऋषि से मेहता आनन्द ने कहा – आप चिन्तामणि तक पढे हुए पण्डित होते हुए भी आपको पद नहीं यह क्या बात है ?, ब्रह्मा ऋषि ने कहा – आप भी तो उनके मुकाबिले के हैं आप अपना नया गच्छ ही चला दो, आपको भी पूर्णिमा को पाक्षिक करने की श्रद्धा तो है ही ? ब्रह्मा ऋषि ने कहा – तुम्हारे कहना सत्य है शास्त्र के आधार से मै पूर्णिमा को पाक्षिक स्थापित कर सकता हूँ, परन्तु मेरे पास श्रावक नहीं हैं, इस पर मेहता आनन्द ने कहा – मैं आपका श्रावक, यह कहकर आनन्द ने कहा – इसके लिए जो भी खर्च खाते की जरूरत हुई तो मै करूंगा। ऋषि ब्रह्मा ने नया गच्छ कायम किया, म० आनन्द के प्रेम से उन्होने नागिल सुमति की चतुष्पदी जोडकर आनन्द को दी। पूर्णिमा को पाक्षिक कायम किया। पार्श्वचन्द्र जो उपाश्रय करवाने वाले थे, वह रुक गया, वहा के गृहस्थ ब्रह्मा ऋषि के गच्छ मे मिल गए थे इधर राधनपुर मे शाह श्री जीवराज ने सुना कि मेहता आनन्द ब्रह्मामति हो गया, इससे शाह जीवराज ने मेहता आनन्द को पत्र लिखकर पूछा कि – हमने ऐसी बातें सुनी हैं सो क्या बात है ? इस पर मेहता आनन्द ने ऋषि ब्रह्मा के पास आकर "मिच्छामि दुक्कड" देकर बोला – मैने प्रयोजन विशेष से तुमको साथ दिया था सो तुम्हारा काय सिद्ध हो गया है, अब मै अपने उपाश्रय जाऊगा। बाद मे आनन्द ने शाह श्री जीवराज को पत्र द्वारा अपनी सर्व हकीकत लिखी जिसे पढकर शाह जीवराज बहुत खुश हुए।

शाह श्री जीवराज बडे प्रभावक थे। उन्होने स० १६०६ का चतुर्मासक पाटन मे किया और वही से आबु प्रमुख की यात्रा की।

स० १६१६ मे शाह श्री जीवराज ने थराद मे चतुर्मास किया बहुत उत्सव हुए, मासखमण प्रमुख तप हुए और शाह डुगर को सवरी बनाया।

स० १६१७ मे शा० जीवराज राधनपुर चतुर्मासक रह थे, दरमियान

खभात मे धर्मसागर के साथ सो० पोमसी ठा० मेरु ने मास छह तक चर्चा की, प्रतिदिन सो० पोमसो, सो० वस्तुपाल, सो० रीढा, सो० लाला प्रमुख समवाय ठा० मेरू के साथ जाकर यति की प्रतिष्ठा सम्बन्धी चर्चा करते थे, परन्तु शास्त्राधार से यति की प्रतिष्ठा प्रमाणित नही हुई, किन्तु श्रावक की प्रतिष्ठा सिद्ध हुई।

स० १६१८ मे शाह श्री जीवराज ने पाटन मे चतुर्मास किया, वहा मन्दिर प्रमुख बहुत धमकाय हुए।

स० १६१९ मे राजनगर मे चतुर्मासक किया।

स० १६२० मे खम्भात मे चतुर्मासक किया, वहा वहारा जिनदास के मन्दिर की प्रतिष्ठा की और दोसी थावर द्वारा घृतपटी मे मन्दिर करवाया और वहा से अनेक मनुष्यो के साथ आबु प्रमुख की यात्राए की।

स० १६२१ मे थराद आकर शाहश्री ने एक श्रावक को यावज्जीव तीन द्रव्य के उपरान्त का प्रत्याख्यान कराया।

स० १६२२ मे मोरवाडा प्रमुख स्थानो मे विचरे।

स० १६२३ मे पाटन मे चतुर्मासक किया और वहा शा० तेजपाल को और थराद मे शा० नरपति तथा चोपसीशाह को सवरी किया। तथा सघवी सग्राम ने आबु प्रमुख का सघ निकाला।

स० १६२५ मे खम्भात मे शाह रत्नपाल को सवरी किया।

स० १६२६ मे राजनगर मे शाह श्रीवन्त तथा शा० वजूड को सवरी किया और शाह काशी प्रमुख को शाहपुरा मे प्रतिबोध किया।

स० १६२८ मे शाह नरपति और शाह चोकसी के भाई जिनदास को सवरी किया।

स० १६३० मे शाह श्री जीवराज राधनपुर मे चतुर्मासक रहे और शाह साजन राजनगर मे, वहा आजमखान ने विरोध किया, उसने मनुष्य मरवाकर लटकाया, उसे देखकर शाह साजन विरक्त भाव से सोचते हैं देखो जीवधर्म के बिना इस प्रकार की पीडा पाते हैं, परन्तु अपनी इच्छा से कोई कष्ट नही करता और मनुष्य जन्म निरर्थक गवाते हैं, यह सोचकर शाह

सज्जन ते चतुदशी का उत्तर वारणा किया और पाक्षिक के दिन पौषध कर काल के देव-वन्दन के बाद श्री चन्द्रप्रभ जिन की साख से जावज्जीवाए तिविहाहार का प्रत्याख्यान किया। दूसरे दिन पारणे के समय पारणा न करने से लोगों ने जाना आज भी उपवास होगा, बाद मे शाह साजन ने स्वय बात कही – "मैंने तो अनशन किया है।" दोसी मगल, दोसी सोना, शाह धना प्रमुख सघ ने विनती की, कि शाहजी यह कार्य बडा दुष्कर है, वास्ते आठ, अथवा १५, अथवा तो मासखमण करो पर अनशन न करो, इस पर शाह साजन ने कहा – मैंने यावज्जीव का प्रत्याख्यान कर लिया है, तब सघ ने राधनपुर शाह जीवराज को पत्र लिखकर जल्दी बुलाया, शाह जीवराज १७ वें उपवास के दिन आए, उत्सव बहुत हुए, ६१ दिस अनशन पालकर शाह साजन दिवगत हुए, तब सघ ने माडवी प्रमुख उत्सव करके अग्निसस्कार किया और सघ ने असारउआ की धर्मसी पटेल की वाडी मे स्तूप बनवाया, आज भी वह मौजूद है। तथा मेहता जयचन्द को जो मेहता नीम्बा के सतानीय थे उनको काबिलखान ने जेल मे रक्खा था, उन्हे अहमदाबाद से दो० मगल, प० रतना, दो० सोना, शाह धना ने पाटन जाकर तुरत मुक्त करवाया।

परी० कीका को शाह नरपति ने पढाया, शा० नरपति बडे पण्डित थे, अनेक विद्याएँ पढे थे।

स० १६३१ मे शाह नरपति दिवगत हुए।
स० १६३५ मे शाह चोपसी दिवगत हुए।
स० १६३६ मे शाह तेजपाल ने थराद मे राजमल को सवरी किया।
स० १६३८ मे शाह गोवाल, शाह देवजी प्रमुख को प्रतिबोध किया।

स० १६४२ मे पाटन से परी० कीका ने आबु की यात्रा निकाली, साथ मे शाह जीवराज प्रमुख सवरी थे, थराद से सघवी सीहा ने आबु का सघ निकाला, दोनो सघ इकट्ठे मिले, थराद से शाह जैसा आदि अनेक सवरी शाह जीवराज को मिले, आबु ऊपरशाह माडन ने अनशन किया, उत्सव हुए, जिसकी हकीकत शाह माडन के रास से जानना। शाह माडन ५६ वें दिन दिवगत हुए।

स० १६४३ मे दोसी अमजी ने प्रतिष्ठा की, शाह जीवराज ने प्रतिमा प्रतिष्ठा की, बाद मे खरतर शाह सोमजी शवा ने सघ निकाला, उन्होने बहुत आग्रह करके शाहश्री को सघ के साथ लिया, शाहश्री अपने सघ के साथ खभात के सोनी परखा प्रमुख राजनगर के भी अनेक मनुष्यो के साथ सब सवरियो को लेकर सिद्धाचल की यात्रा के लिए गए, वहा अनेक उत्सव हुए, पूजा, स्नात्रादि हुए, साह रतनपाल ने वहा पर अवन्ति सुकुमाल का नया रास बनाया और गाकर सुनाया, यात्रा करके सकुशल राजनगर आए।

स० १६४४ मे शाहश्री के शरीर मे रोग उत्पन्न हुआ, समस्त सघ मिला और शाहश्री ने अपना आयुष्य निकट जानकर शाह तेजपाल को अपने पद पर स्थापन किया, सवरियो को अनेक प्रकार से शिक्षा दी, तीन दिन तक अनशन पालकर अरिहत सिद्ध जपते हुए जीवराजशाह दिवगत हुए।

शाह जीवराज १२ वर्ष गृहस्थ रूप मे, ११ वर्ष सामान्य सवरी के रूप मे और ४३ वर्ष पट्टधर के रूप मे रहकर ६६ वर्ष का आयुष्य पूर्णकर स्वर्गवासी हुए।

सार्धमियो ने बडे ठाट के साथ देहसस्कार किया, सारे नगर मे दो दिन तक अमारि रही।

५ जीवराज के पट्टधर शाह तेजपाल का चरित्र :

पाटन के निवासी श्रीश्रीमाली दोसी रायचन्द की भार्या कनकादे की कोख से शा० तेजपाल का जन्म हुआ। शा० तेजपाल जीवराज के वचन से सवरी हुए थे। १३ वर्ष गृहस्थ रूप मे, २१ वर्ष सामान्य सवरी के रूप मे और दो वर्ष पट्टधर रहे। शाह तेजपाल बडे विद्वान् थे। आपने 'महावीर नमस्कृत्य" तथा "कल्याणकारणो धम" इत्यादि 'सावचूरिक स्तोत्र' बनाए थे। शाह राजमल तथा चोथा को पढाया और चोथा को यराद का आदेश दिया। दूसरे सवरियो को भी विद्या पढा कर तैयार किया। आपको उदर व्याधि की पीडा रहा करती थी।

स० १६४५ मे शाह श्रीवत ने भी अपने स्तोत्र बनाए और शाह श्रीवत स० १६४६ मे दिवगत हुए।

शाह श्री तेजपाल ने पाटन मे चातुर्मासक किया, वहा शरीर मे विशेष प्रकार की बाधा उत्पन्न हुई। शाह रत्नपाल को पद पर स्थापन करके ३६ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

६ तेजपाल के पट्टधर शाह श्री रत्नपाल का चरित्र :

शाह रत्नपाल खम्भात के समीपवर्ती कसारी गाव के रहने वाले श्रीश्रीमाली वृद्धशाखीय दोसीवस्ता की भार्या रीढी की कोख से जन्मे थे। शाह श्री जीवराज के वचन से आप सवरी बने थे, सूक्ष्म विचार मे आप बहुत प्रवीण थे। आपने बहुत ही स्वतन-स्तुतिया रची हैं, चौवीस तीथङ्कर की, १३ काठिया की भास आदि प्रसिद्ध हैं।

स० १६४७ मे खम्भात मे चातुर्मास्य कर वहा बाई सहजलदे ने शाहश्री की वाणी सुनकर तिविहार अनशन किया, उस समय हरमज से शाह सोनी सोमसी आए और उन्होने बहुत उत्सव किया, अनशन की बडी शोभा हुई। शा० श्री रत्नपाल के उपदेश से बाई को प्रतिदिन निर्यामणा होती, ५६ दिन अनशन पालकर वह दिवगत हुई। श्रावको ने मडपी पूर्वक देह सस्कार किया।

स० १६४७ मे शाह जैसा थराद मे दिवगत हुए। उसके पट्ट पर शाह खेतश्री बैठे।

स० १६४८ मे राजनगर मे चतुर्मासक किया।

स० १६४८ मे शाह जिनदास की धमसागर के साथ चर्चा हुई। वहा धर्मसागर ने जिनदास को कहा – तुम अपने को धर्मार्थी कहते हो, इससे प्रमाणित होता हैं कि तुम अब तक धर्मी नही बने और जिन्दगी पयन्त धम प्राप्त नहीं होगा। शाह जिनदास ने कहा – हम श्री युगप्रधान

के ध्यान मे रहते हैं, क्योंकि मतान्तरों, गच्छान्तरो को देखकर उन पर हमारी आस्था नही आती। इसका धमसागरजी ने प्रत्युत्तर नही दिया।

स० १६४६ का चतुर्मास शाह श्री रत्नपाल ने खम्भात मे किया, वहा सघवी अमीपाल, सो० महीपाल, सो० पनीया, सो० लकमसी ने शाहश्री के वचन सुनकर सिद्धाचल का सघ निकाला, शाहश्री प्रमुख अनेक सवरियो के साथ खम्भात तथा दूसरे गावो का सघ यात्रा कर सकुशल लौटा।

स० १६५० मे राजनगर मे चतुर्मास किया, वहा सोन बाई ने अनशन किया और ६१वें दिन सोनबाई दिवगत हुई।

स० १६५३ का चतुर्मासक शाहश्री ने पाटन मे किया। वहा के निवासी मेहता लालजी ने शखेश्वर का सघ निकाला।

स० १६५४ में शाह श्री रत्नपाल ने खम्भात मे शाह माहवजी को सवरी किया।

स० १६५५ मे शाह जिनदास ने शाह तेजपाल को सवरी किया।

स० १६५६ मे शाह श्री रत्नपाल ने राजनगर मे चतुर्मास किया। वहा के निवासी भणशाली जीवराज और भणशाली देवा ने सारे सौराष्ट्र का सघ निकाला, गिरनार शत्रुजय, देव का पाटन, दीव प्रमुख सर्वत्र सघ के साथ शाहश्री आदि सर्व सवरियो ने यात्रा की और सकुशल वापस लौटे।

स० १६५८ मे शाह राजमल दिवगत हुए।

स० १६५६ मे वस्तुपाल के बिम्ब का प्रवेश शाहश्री रत्नपाल ने करवाया।

स० १६६० मे शाहश्री रत्नपाल ने राजनगर में चतुर्मास किया। वहां के भणशाली जीवराज तथा भणशाली देवा ने आबु, गोडवाड, राणपुर आदि का संघ निकाला, खभात के साधर्मी तथा पाटन, राधनपुर, थराद के

साघो के साथ शाह श्री रत्नपाल आदि सवरी शाह जिनदास, शाह पुन्जा, शा० खेतसिह, शा० चोथा, शा० महावजी, शा० तेजपाल, शा० ऋषभदास, शा० पुन्जिया, शा० गोवाल, शा० हीरजी आदि वहुतेरे सवरी साथ मे थे। सवत्र देवपूजा विधिपूवक की गई। श्री सघ सिरोही आया, वहा चैत्यवासी के साथ चर्चा शाह श्री रत्नपाल तथा सघ के आदेश से शाह जिनदास ने की। वहा से सघ थराद आया, वहा समस्त सघ वात्सल्य १७ हुए, ६० मन शक्कर की जनेवी प्रतिदिन उठती थी, वहा सघ ३० दिन रहा और वहा से सघ राधनपुर तथा पाटन गया, सवत्र सघ वात्सल्य हुए।

इस प्रकार सकुशल यात्रा करके सघपति तथा शाहश्री प्रमुख सव घर आए।

स० १६६१ मे खम्भात मे चतुर्मासक किया और वहा पर शरीर मे बाधा उत्पन्न हुई, शाहश्री ने जिनदास को अपने पद पर स्थापन किया और स्वय अनशन पूवक स्वगवासी हुए।

सार्धमियो ने चन्दन प्रमुख से देहसंस्कार किया।

शाहश्री रत्नपाल १० वप गृहस्थ रूप मे, ३१ वप सामान्य सवरी के रूप मे और पाच वप पट्टघर के रूप मे रहकर ४६ वप का आयुष्य पूर्ण कर परलोकवासी हुए।

७ रत्नपाल के पट्ट पर शाह श्री जिनदास :

शाहश्री जिनदास का जन्म थराद मे श्रीश्रीमाली वोहरा जयसिंह की भार्या यमुनादे की कोख से हुआ था, जिनदास शाह नरपति के वचन से सवरी बना था।

स० १६६२ मे शाहश्री जिनदास राजनगर मे चतुर्मासक किया, वहा के निवासी भणशाली देवा सुलतान का मर्जीदान था, उसने प्रतिष्ठा के मुहूर्त पर फाल्गुण वदि १ को आने की कुकुम पत्रिका लिखकर सघ को आमत्रण दिया था, अनेक गावो का सघ वहा एकत्रित हुआ, श्री ऋषभदेव की प्रतिमा एक ८५ अगुल की प्रतिमा दो ५७-५७ अगुल

की बडी, प्रतिमा एक ३७ अगुल की बडी सब मिलकर १५० प्रतिमाएँ जिनदास ने तथा उनके आदेश से अन्य सवरी श्रावक ने प्रतिष्ठित की, इस समय उनमे से अधिकाश प्रतिमाएँ राजनगर मे घासी की पोल मे भरणशाली देवा द्वारा निर्मापित जिनचैत्य मे तथा उसके भूमि घर मे विराजमान हैं।

स० १६६३ मे शाहश्री ने पाटन मे चातुर्मास किया और वहा पर परीख लटकरण ने बिम्ब प्रवेश कराया, मेहता लालजी ने भी बिम्ब प्रवेश कराया, बहुत उत्सव हुए, शाह माहवजी ने "नमदासुन्दरी रास" बनाया।

स० १६६४ शाहश्री ने राधनपुर मे चतुर्मास किया और उसी वर्ष राजनगर से भणशाली पचायण ने शखेश्वर का सघ निकाला, उसी वर्ष मे खभात मे शाह माहवजी चतुर्मास रहे हुए थे, वहा सोनी वस्तुपाल की भार्या वैजलदे ने प्रतिष्ठा कराने का निचय किया। शाहश्री के आदेश से प्रतिष्ठा की गई, वहा दोसी शाह कल्याण शाह माहवजी के वचन से सवरी हुआ।

स० १६६५ मे शाहश्री खम्भात मे चतुर्मास रहे, वहा बाई वैजलदे ने १२ व्रत ग्रहण किये, शाह माहवजी राजनगर मे चतुर्मासक थे, वहा भरणसाली देवा ने शान्तिनाथ का बिम्ब-प्रवेश कराने के लिए शाहश्री को वहा बुलाया, शुभ दिन मे बिम्बप्रवेश करवाया।

स० १६६६ मे शाहश्री राजनगर मे थे, शाह जीवा को सवरी किया, शाह माहवजी खम्भात में चतुर्मास थे, वहा २३ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर शाह माहवजी दिवगत हुए। शाह कल्याण खम्भात मे थे, वहा धर्मनाथ के बिम्ब का प्रवेश कराने के लिए शाहश्री को बुलाया और मार्गशीर्ष सुदि ६ को बिम्ब प्रवेश कराया गया। वहा के सघ ने शाह कल्याण को पढ़ाने के लिए, शाहश्री को सौपा, इस समय पाटन निवासी परी० लटकन ने शत्रुञ्जय का सघ निकालने का निश्चय किया और खम्भात से शाहश्री को बुलाने के लिए आमन्त्रण किया। शाहश्री पाटन आए, वहां से संघ का प्रयाण हुआ, वहा से राजनगर आए, थराद का सघ भी महमदाबाद आया, भरणशाली

देवा प्रमुख सब शामिल हुए। शाह श्री जिनदास, शाह तेजपाल, शाह खेतसिंह, शाह चोथा, शाह ऋषभदास, शाह कल्याण, शाह जीवा, शाह पूंजिया, शाह रुडा प्रमुख बहुतेरे सवरी शत्रुञ्जय की यात्रा करके सकुशल राजनगर आए, भणशाली देवा ने सार्धमिक वात्सल्य किया, उसके ऊपर सात सघ वात्सल्य थराद के सघ ने किए, इस प्रकार सकुशल सघ पाटन पहुँचा। शाहश्री ने वहा चतुर्मास किया। शाह तेजपाल और कल्याण ने राधनपुर चतुर्मासक किया। शाहश्री पाटन से राधनपुर गए, वहा से थराद गए, सो० तेजपाल, शाह कल्याण, शाह जीवा साथ मे थे, वहा ४५ दिन रहे, वहा पर शाह तेजपाल ने "नागनत्तुआ" की सज्झाई बनाई, वहा से वाव, सोहीगांव, मोरवाडा, महिमदावाद आदि स्थानो मे विचरते हुए राजनगर आए।

स० १६६७ मे शाहश्री ने चतुर्मास खम्भात मे किया और शाह तेजपाल ने राजनगर मे, शाह तेजपाल ने "दशपदी" और "पागडिसा पचदशी" बनाई।

शाह श्रीवत १६६८ मे राजनगर मे और तेजपाल खम्भात मे रहे।

स० १६६९ मे खम्भात मे चतुर्मास रहे, वहाँ शाहश्री के शरीर मे बीमारी उत्पन्न हुई और शाह तेजपाल उस समय राजनगर थे।

स० १६७० मे शाहश्री ने राजनगर मे चतुर्मास किया और शाहश्री के आदेश से *शाह तेजपाल तथा कल्याण थराद रहे। शाहश्री ने शाह* विजयचद्र को सवरी बनाया।

इसी वर्ष मे शाहश्री का शरीर रक्त पित्त की पीडा से व्याप्त हुआ। शाहश्री ने संघ को इकट्ठा किया और धूमधाम के साथ भणशाली देवा के चैत्य मे आकर देववन्दन किया, फिर उपाश्रय आकर शाह श्री तेजपाल को अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया और शाहश्री अनशन-पूर्वक दिवगत हुए।

शाह श्री जिनदास १७ वर्ष गृहस्थ रूप में, ३३ वर्ष सामान्य सवरी के रूप में और ९ वर्ष पट्टधर के रूप में रहकर अपने पट्टधर शाह श्री तेजपाल को स्थापन कर ५९ वर्ष का आयुष्य पूरा कर स्वर्गवासी हुए।

८. शाह श्री जिनदास के पट्टधर शाह तेजपाल :

शाह तेजपाल का ज म खम्भात मे सो० वस्तुपाल की भार्या कीकी की कोख से हुआ था। शाह श्री तेजपाल शाह श्री जिनदास के वचन स सवरी हुआ था, अच्छा विद्वान् था। भट्ट पुष्कर मिश्र के पास चिन्तामणि शास्त्र पढा था, पढाई का मेहनताना प्रतिदिन का एक रुपया दिया जाता था। शाह श्री तेजपाल थराद मे ठहरे, उस वक्त अनेक व्रत पच्चक्खाण हुए। मोदी हमराज की माता जीवी ने अनशन किया, २२ दिन तक अनशन पालकर बाई ने आयुष्य समाप्त किया, ब ई का दहन सस्कार कर सघ समस्त उपाश्रय आया, शाहश्री के मुख से श्ल क सुनकर सब अपने स्थान गए।

उसके बाद शाहश्री राजनगर आए और भणशाली देवा ने स्वागत किया, उपाश्रय मे जाकर श्लोक सुनाया।

शाहश्री १६७१ मे पाटन मे परीख लटकन के आग्रह से चतुर्मासक रहे। वहा श्री तेजपाल ने "सस्कृत दीपोत्सवकल्प" बनाया। चतुर्विशति जिनस्तोत्र, छन्द, स्तुति वगैरह रचे। शा० कल्याण खभात मे चतुर्मासक थे, राजनगर निवासी भणशाली देवा ने छरीपालते शत्रुञ्जय जाने की इच्छा की। चतुर्मास के बाद शाहश्री को वहा बुलाया और कार्तिक वदि ५ को शुभ मुहूर्त मे यात्रार्थ प्रयाण किया, साथ मे बहुतेरे परसमवायी थे। अनेक सावर्मी पाटन निवासी परी० लटकन, खभात के सघवी अमीपाल, सो० हरजी प्रमुख सघ और परगच्छीय यात्रिक माग मे छरीपालते चलते थे, अनेक गावो के सघ सम्मिलित होकर सिद्धाचल के दर्शनार्थ चले। माग मे एकाशन १, भूमिशयन २, उभयटक प्रतिक्रमण ३, त्रिकाल देवपूजन ४, सचित्तत्यजन ५, ब्रह्मव्रत-पालन ६, पादचलन ७, सम्यक्त्वधरण ८ इत्यादि अनेक नियमो का पालन करते हुए आठम और पाक्षिक के दिन एक स्थान मे रहते २२ दिन मे श्री शत्रुञ्जय पहुँचे। शाहश्री आदि सवरी और भणशाली देवादि समस्त सघ ने श्री ऋषभदेव के दर्शन कर मनुष्य जन्म सफल किया। शाह रामजी तथा शाह हांसु को शाहश्री ने सवरी बनाया, आठ

दिन तक वहा रहकर १७ भेदादि पूजा करके समस्त सघ के साथ भणशाली देवा घीलवा हाते हुए सकुशल अपने घर पहुँचे।

स० १६७२ मे खम्भात मे चतुर्मासक किया। शाह कल्याण ने राजनगर मे चतुर्मासक किया, वहा के सघ ने व्याख्यान के समय पर उनके लिए पट्टक आसन स्थापन किया। भणशाली देवा ने शातिनाथ का परिकर प्रतिष्ठित करने के लिए चौमासा के बाद शाहश्री को वहा बुलवाया और शुभ दिन मे परिकर की प्रतिष्ठा कराके स्थापित किया।

भणशाली देदा को शाह सलीम ने हस्ती अर्पण किया और भणशाली देवा के पुत्र भणशाली रूपजी को अजमेर मे सुलतान ने हस्ती अर्पण किया।

स० १६७३ मे राजनगर मे शाहश्री का चतुर्मासक था। वहाँ श्री भणशाली देवा ने १२ व्रत १५ मनुष्यो के साथ ग्रहण किये, उनके नाम परी० वीरदास, म० सतोषो, म० शवजी, शा० हरजी, परी० देवजी, शा० पनीया, गणपति प्रमुख थे। उनको सुवर्ण वेढ की प्रभावना दी गई, दूसरो को मुद्रिका की प्रभावना दी।

शा० कल्याण ने स० १६७३ मे खम्भात मे चतुर्मास किया। वहाँ बाई हेमायी ने प्रतिष्ठा करवाने की इच्छा व्यक्त की, जिस पर से शाहश्री को वहा बुलाया गया। शाहश्री ने फाल्गुन सुदि ११ का प्रतिष्ठा-मुहूर्त दिया। शाह श्री तेजपाल ने विमलनाथ की प्रतिष्ठा की, बाई हेमायी ने सघ को वस्त्र की प्रभावना दी।

स० १६७४ मे शाहश्री ने फिर राजनगर मे चतुर्मास किया और शा० कल्याण को पाटन भेजा।

स० १६७५ मे चैत्र सुदि मे भणशाली देवा ने आबु, ईडर, तारगा का सघ निकाला, सवत्र कुकुम-पत्रिकाएँ भेजी। खम्भात से अमीपाल सो०, हरजी सघवी, सोमपाल स०, भीमजी सो०, नाकर शाह, सोमचद प्रमुख आए। सोजित्रा से बोहरा वाचा प्रमुख आए,

अहमदाबाद से भणशाली मूलिया, शा० देवजी, शा० लटकन, शा० वस्तुपाल, प० वीरदास, शा० हीरजी प्रमुख सघ मे आए। भणशाली देवा बडे ठाट से चले, साथ मे हाथी, घाडे, पालकी प्रमुख सामग्री के साथ अपने स्वजन कुटुम्ब के साथ भणशाली देवा, भार्या देवलदे, पुत्र रूपजी, भ० खीमजी, पौत्र भ० लालजी, भ० देवा की बहिन रुपई, बेटी राजबाई, सोनाई, भ० भई कोका, भतीजे भ० विजयराज तथा भणशाली जीवराज के पुत्र भ० सूरजी, भार्या सुजाणदे, तत्पुत्र भ० समरसिंह, भ० अमरसिंह आदि परिवार के साथ सघ ने प्रयाण किया।

प्रथम श्री शखेश्वर की यात्रा कर वहाँ से पाटन आए, वहा संघ वात्सल्य दो हुए, वहा से सघ सिद्धपुर यात्रा करते आबु पहुँचे, अचलगढ होकर देलवाडा गए, पूजादि उत्सव हुए, वहा से फिर अचलगढ होकर नीचे उतरे और आरासण की यात्रार्थ गए, वहा से ईडर यात्रा कर तारगा गए। तारगा से वडनगर पहुँचे, वहाँ भ० देवा ने सघ वात्सल्य किया, वडनगर के नागर ज्ञातीय बोहरा जीवा ने सघ वात्सल्य किया। भ० कोका ने वस्त्रार्पण किया और भ० समरसिंह ने मुद्रिका की प्रभावना की, इस प्रकार यात्रा करके पटनी, राधनपुरी, सघ को विदा किया और भणशाली शाह देवा सकुशल राजनगर पहुँचे और शाहश्री आदि सावरियो ने भणशाली देवा के आग्रह से स० १६७५ का चतुर्मास वही किया। शाह कल्याण को चातुर्मास्य के लिए खम्भात भेजा। इस वर्ष मे बाई वाली ने अनशन किया और शाह खेतसी, शाह चौथा, शाह रूपचदास प्रमुख सावरियो की निर्यामणा से चित्त स्थिर रखकर ५७ वें दिन वह दिवगत हुई। इस चतुर्मास्य मे शाह श्री तेजपाल ने "सप्तप्रश्नी" आदि अनेक प्रकरणो की रचना की और राजनगर निवासी भणशाली शाह पचायत ने छरी पदल सघ निकाला। चैत्रादि स० १६७५ के कार्तिक वदि १३ के दिन सघ का प्रयाण हुआ, साथ मे हाथी, घोडे, रथ, पालखी प्रमुख साज समान आदि था। पाटन, राधनपुर, खम्भात, आदि स्थानो के भी साधर्मिक समाज सघ मे सम्मिलित हुए, बडे उत्सव के साथ यात्रा प्रभावना हुई और सघ वहा से सकुशल वापस राजनगर आया, अहमदाबाद मे भ० देवा ने

नोकारसी की और सब गच्छो मे जामी एक, मोदक एक की लाहण की, अपने गच्छ मे सब सार्धमियो को गद्याणा एक के केवेलिये दिए, भ० देवा ने धम की वडी उन्नति की, बाद मे भ० कीका दिवगत हुआ ।

स० १६७७ मे शाह तेजपाल और शाह कल्याण ने एक साथ चतुर्मास किया, वहा एक दिन दोनो साथ मे स्थण्डिल गए, वहाँ लुम्पक के दो वेशधर मिले, उन्होने आते ही शाहश्री को कहा – "धमसागर ने कहा – वह यथाथ मिला" इसके उत्तर मे शाहश्री ने कहा हमारे सम्ब घ मे तो ५–७ पाने होगे, परन्तु तुम्हारी भक्ति तो उन्होने बहुत की, उ होने कहा – कहिये क्या बात है ? तब शाहश्री ने कहा बात कहने से स्पर्द्धा बढती है, इसलिए स्पष्ट न कहना अच्छा है, उ होने कहा – कहिये तो सही बात क्या है ? शाहश्री बोले – लो सुनो "प्रवचन परीक्षा" मे तुम्हारे जिनदत्तसूरि तथा तरुणप्रभाचाय को नि हव ठहराया है, उनकी बहुत सी भूलें निकाली है, तब खरतरो ने कहा – अब रखिये, हम जानते थे कि तुम इन बातो से अपरिचित होगे, इस पर लुका ने कहा – अच्छा किया, इनकी पोल खोल दी ।

वहाँ से मागशीप सुदि मे भ० पचायत ने श्री शंखेश्वर का सघ निकाला ।

स० १६७८ मे तथा १६७६ मे शाहश्री पाटन ठहरे और वहा पर अनेक स्तवन सज्भाय, शतप्रश्नी आदि बनाये । शाह श्री कल्याण को इन्ही दो वर्षो मे खम्भात मे चतुर्मासार्थ भेजा, वहा लुम्पक के साथ चर्चा हुई और लु का को निरुत्तर होना पडा ।

स० १६७६ थराद मे तपो के घर १७ है और कडुआमति के ७०० घर हैं वहा कडुवा म दिर मे तपा देव वदन करने आये, तब घर से अबोटिये पहनकर जाएँ, पूजा करने के बाद, गीतगान सुनने का मन हो तो पगडी उतार कर र ग मडप मे बैठकर सुने, यदि पगडी ब धी रखने को इच्छा हो तो वे मडप के बाहर बैठे यह हमेशा की व्यवस्था है । दर्मियान गान्धी हरजीवन का भतीजा गाँधीलालजो पगडो न उतार कर रग मडप मे बैठा,

कडुग्रामतियो ने उसको हमेशा की रीति से बैठने को कहा – पर लालजी ने नही माना और बात खीचतान मे पड गई। गाँधी हरजीवन ने रावनपुर के तपागच्छ को लिखा, "यहाँ कडुग्रामती बहुत हैं, अगर आप हमारी मदद नही करेंगे तो हम भी तपा मिटकर कडुवामती बन जायेंगे।"

स० १६७६ के भाद्रवा सुदि २ के दिन पत्र पहुँचा और सभा मे पढा गया, प यास ने कहा – धम के खातिर चक्रवर्ती का सै य मार डालने पर भी पाप नही लगता, तपा का साथ कडुवामती का और कडुवामती का साथ तपा का उपाश्रय गिराने आये, उपाश्रय मे कुछ पोषधिक बठे थे, चित्त को स्थिर कर बठे रहे, तपा के साथ ने कडुवामती उपाश्रय का छप्पर गिरा दिया, अन्दर बैठे हुए स्थिर रहे और कहने लगे – हमसे आपको कोई भय नही है, हमारे शाहश्री का यह उपदेश नही है कि हम किसी को मारे, बाद मे मेहता रत्ना के पुत्र म० बीरजी के पौत्र म० सघवी ने दूसरे मनुष्यो को बुलाकर तपा के साथ को रोका, वह छप्पर गिराकर चला गया, बाद मे वहाँ के कडुवामतियो ने थराद अपने साधर्मियो को लिखा कि आज यहा इस प्रकार की घटना घटी है, पत्र पढकर सबको दु ख हुआ, कितने कडुवामती तपा का उपाश्रय गिराने के लिए तयार हुए, पर शाहश्री खेतसी ने रोका, दोसी रत्ना, सेठ नाथा आदि ने उ हे समझाकर रोका, बाद मे थराद का सघ अजमेर सुल्तान शाह सलीम के पास जाने को रवाना हुआ। राधनपुर का तपा सेठ बाला भी बादशाह के पास जाने को रवाना हुआ, इतने मे राजनगर से म० देवापुत्र खीमजी तथा तपा का शा तिदास भी बादशाह के पास जाने को रवाना हुआ, सब अजमेर पहुँचे, थराद का सघ म० खीमजी को मिलने गया। खीमजी ने कहा – यदि द्रव्य का काम हो तो मुझे कहना, शाहश्री कडुवा के समवाय की बात ऊँची रहे वैसे करना।

सघ के बादशाह के पास जाने के पहले, सघवी चन्दु तपा ने मेहनत कर सघ को अपने घर लेजाकर जिमाया और तपा के साथ से उपाश्रय ठीक करवाने की कबूलात करवायी और रुपया १० मेसर खाते देने का निश्चय हुआ, इस प्रकार समाधान कर सब अपने स्थान गए। कडुवामती सकुशल थराद आए, घर आने के बाद राधनपुरी तपा समाज ने कडुवा का उपाश्रय

ठीक नही करवाने का निश्चय किया, इतना ही नही राधनपुरी तपा साथ ने कडुवामतियो के साथ अहकार करते थे, इस प्रकार बहुत दिनो तक झगडा चलता रहा, तपा बहुत थे तो भी कडुवामतियो के सामने उनका कुछ भी नही चला, अहमदावाद वन्दा करवाने आए, परन्तु भ० रूपजी, समरसिह की शम से किसी ने वन्दा नही किया, बाद मे थरादरी मे मोरवाडा, सोहीगाव, वाव प्रमुख सब गावो मे कडुवामती और तपाओ के आपस मे झगडे चले, पर कडुवामती पराजित नही हुए।

स० १६८० के बाद थराद का सघ दो० रतना, सेठ नाथा प्रमुख और राधनपुरीय महेता वीरजी प० मूला प्रमुख सब अहमदावाद आजमखान को मिलकर मोदी हसराज, मोदी वधुआ, राधनपुरी तपा को बुलाने गए, उन्होने सब बात सुन ली थी, इसलिए वे पहले से ही निकल गए थे और उनको वीरमगाँव मे मिले, वहा मोदी हसराज ने बहुत आदर किया। वे सब साथ मिलकर राजनगर आए, दरमियान हाकिम आजमखान की मृत्यु हो चुकी थी, अब आगे क्या करना, यह सघ के सामने प्रश्न खडा हुआ और सब ने मिलकर यह निश्चय किया कि अब बादशाह के पास जाना, यह बात तपा शातिदास के कानो पहुँची, उसने सोचा कि थराद के आगेवान बादशाह के पास जायेंगे तो मुझे भी बुलायेंगे। इसलिये मुझे पहले ही से अपनी व्यवस्था कर लेनी चाहिए। यह सोचकर वह राधनपुरीय तपाओ के पास जाकर बोला – कडुवामती बादशाह के पास जायेंगे तो मुझे भी बुलायेंगे, इसलिए तुम्हारी बात रखनी हो तो मैं कहू वैसा करो। आगे उसने कहा – मेरा कहना यह है कि तुम सब सागरगच्छ के साथ रहना कबूल करके लिखत करो और उस पर सही करो। अधिकाश राधनपुरियो ने शातिदास की बात मान ली और शान्तिदास ने सही ले ली और रूपजी के पास आकर बोला – मैं कुछ आपसे चीज मागता हूँ। भणशाली ने कहा – कहिये वह क्या है? शातिदास ने कहा–थराद और राधनपुरी सघ के आपस मे मेल करा दो और १० रुपये केसर के मुझ से ले लो। बाद मे शातिदास भणशाली को अपने साथ लेकर ईडलपुर गया और थराद के सघ को वहा बुलाकर उनकी सब बातें शान्तिदास सेठ ने कबूल करवाई, सेठ को वस्त्र देकर

श्रौर बाकी सबको श्रीफल देकर श्रापस मे समाधान किया, बाद मे थराद के सघ ने राधनपुर मे सार्धमिक वात्सल्य किया। राजनगर मे साधर्मिक वात्सल्य किया, श्रहमदावादी सघ ने राधनपुर को तथा थराद के सघ को भोज दिए, भ० रूपजी, भ० समरसिंह ने साधर्मिको को वस्त्र प्रभावना दी, इस प्रकार श्रनेक उत्सव हुए श्रौर सकुशल अपने स्थान पहुचे। शान्तिदास के मनुष्य ने श्राकर कडुवामती का उपाश्रय ठीक करवाया। राधनपुर के तपाश्रो मे सागर के पक्ष मे सही करने के कारण श्रापस मे क्लेश हुश्रा।

शाह श्री तेजपाल स० १६८० मे खम्भात मे चतुर्मासक ठहरे श्रौर शाह श्री कल्याण को पाटन भेजा, शाहश्री ने खम्भात मे "नयी स्नान विधि" तैयार की, श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा की।

स० १६८१ मे शाहश्री ने सघ के श्राग्रह से फिर खम्भात मे चातुर्मास किया। शाह कल्याण ने राजनगर मे चातुर्मास किया, वहा पर शाहश्री के श्रादेश से लटकन के पुत्र शाह देवकरण की तरफ से बिम्ब प्रवेश किया श्रौर शाह रूपजी की तरफ से मागशीर्ष मे उत्सव पूवक बिम्ब प्रवेश किया।

स० १६८२ मे शाहश्री ने राजनगर मे चतुर्मास किया श्रौर शाह कल्याण को पाटन, तथा शाह विजयचन्द्र को खम्भात भेजा। राजनगर के चतुर्मास मे भणशाली पचायन प्रमुख ८५ मनुष्यो ने श्रट्ठाई की, वहा पर शाहश्री ने सीमघर स्वामी का "शोभातरग" बनाया बडा सु दर ४३ ढालो मे पूरा हुश्रा है, श्री श्रजितनाथ की स्तुति, श्रवचूरी के साथ बनाई।

स० १६८३ मे राजनगर मे भण० देवा की बहिन रूपाई ने प्रतिष्ठा के लिए बीनती की, शाहश्री ने स० १६८३ के ज्येष्ठ सुदि ३ के दिन मुहूत दिया। सर्वत्र कु कु म पत्रिकाएँ भेजी गई। रत्नमय, पित्तलमय, पाषाणमय-प्रतिमा ७५ की प्रतिष्ठा हुई।

स० १६८३ मे शाहश्री ने पाटन में चतुर्मास किया, शाह कल्याण को खम्भात चतुर्मास के लिए भेजा।

स० १६८४ मे शाहश्री ने खम्भात में चतुर्मास किया श्रौर शाह कल्याण ने राजनगर मे श्रौर शाह विजयचन्द्र ने राधनपुर मे भण० देवा के

पुत्र भ० रूपजी ने अपने साधर्मी भाइयो और बहिनो के चखला, नोकार वाली पौषध आदि का वेश और बाइयो को साडी नोकार वाली, एव हाथी दात के डाडी का न चखले प्रभावना मे दिए, इस वर्ष मे शाहश्री ने संस्कृत मे "वीरतरग" और "अजिततरग" बनाये – जिनका श्लोक प्रमाण अनुमानत दस हजार है और शाह कल्याण ने "धन्य विलास" की रचना की जिसकी ढालें ४३ हैं तथा "युगप्रधान पट्टावली" की टीका संस्कृत में बनायी तथा "युगप्रधान वन्दना" प्रमुख अनेक ग्रन्थो की रचना की, इस प्रकार कडुवागच्छ मत की पट्टावली अष्टम पट्टधर विराजमान शाह श्री तेजपाल के प्रसाद से शाह कल्याण ने स० १६८५ के पौष सुदि पूर्णिमा पुष्य नक्षत्र के योग मे बनाई ।

(कडुआमत की लघुपट्टावली के आधार से अन्तिम दो नाम)

९ शाह कल्याण विद्यमान, १६८५ ।
१० शाह भल्लू ।
११ शाह भाण ।

आचार्य श्री ... नं० १८, जयपुर

शुद्धि-पत्रक

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
गुर्वावल्य	३	१५	गुर्वावल्य
स्यविर	६	२	स्थविर
वाद्धदय	६	३	वार्द्धक्य
सघ	६	५	संघ
एयायरियस्स	१२	४	एगायरियस्स
विण्णेय	१३	२२	विण्णेय
निगथा	१५	२१	निग्गथा
भतेवासी	१६	१८	अंतेवासी
स्यविर	१६	२४	स्थविर
काकद	१७	१२	काकंद
सभूतविजय	१७	१५	संभूतविजय
,,	१७	१६	,,
अज्जतावसाआ	१८	५	अज्जतावसाओ
स्यविर	२०	१	स्थविर
सभूतविजयजी	२०	१	संभूतविजयजी
कोडबाणा	२०	१७	कोडंबाणी
स्यविर	२०	२०	स्थविर
,	२०	२२	,,
राहगुप्त	२०	२४	रोहगुप्त
चउत्यय	२२	२	चउत्थय
गोडा	२२	२१	गोडा

अशुद्ध	पृष्ठांक	पङ्क्त्यङ्क	शुद्ध
भद्दीया	२३	१७	भद्दीया
बभदासिय	२५	४	बभदासिय
तिय	२५	४	बितिय
त०	२५	२५	त०
एत्य	२६	११	एत्थ
एत्थए	२६	१३	एत्यए
एत्यण	२६	२४	एत्थण
ए	२७	अंतिम	ए
रासवगुत्ते	२८	२४	कासवगुत्ते
श्राय	२८	अंतिम	आय
श्रायसिंह	२९	४	श्रायसिंह
हत्थि	२९	२१	हत्थि
तत्तो य	३०	१	तत्तोय
दुजपन्त	३०	१०	दुजयंत
काश्यप गात्राय	३०	११	काश्यप गोत्रीय
स्यविर	३०	१६	स्थविर
प्रोर	३४	१५	श्रोर
बगाल	३७	१४	बगाल
पूजापाट	३९	८	पूजापट
ज्ञत	३९	९	ज्ञात
श्रय	४२	२५	श्राय
कह	४४	८	यह
श्रयथाथ	४६	१३	श्रयथार्थ
शाखाश्रो	४६	२०	गाथाश्रो
वीसचसाणि	४७	१८	वीस वासाणि
यशाभद्र	४७	अंतिम	यशोभद्र
उनमे	४८	२	उनमें
सभूतविजयजी	५२	१७	सभूतविजयजी

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
स्कन्दि	५३	६	स्कंदिल
सघ स्थविर	५४	३	सघस्थविर
श्रमणसघ	५४	६	श्रमणसघ
मघ	५४	१८	सघ
सगोत्त	५५	१६	मगोत्त
वि० स०	६१	१	वि० सं०
दा हजार	६४	६	दो हजार
शिलाण्ट्ट	६४	६	शिलापट्ट
निर्वाण स०	६५	४	निर्वाण स०
बाता	६५	६	बातो
आश्चय	६५	७	आश्चय
परम्पस	६५	२३	परम्परा
"जमालि	६७	१७	"जमालि"
खडे	६८	१७	खडा
वचा प्रयोग	६८	२४	वचन प्रयोग
वनहा	६६	५	वनता
शयाक्रियोपयुक्त	६६	६	शयन क्रियोपयुक्त
श्रमणो सघ	६६	२७	श्रमणीसघ
जाव	७०	१६	जोव
करते हैं	७०	२२	करता है
पकवान	७१	११	पक्वान्न
सिद्धाम्त	७१	१६	सिद्धान्त
लक्ष्मोधर	७४	६	लक्ष्मोधर
रामयादि	७५	१	समयादि
तट पर ये	७५	२१	तट पर थे
स्यित	७५	२२	स्थित
गोष्ठामाहल	७६	२१	गोष्ठामाहिल
सम्यववादो	८१	१६	सम्यग् वादी

अशुद्ध	पृष्ठाङ्क	पक्त्यङ्क	शुद्ध
पटलक	८४	२३	पटलक
उपलब्घ	८६	३	उपलब्ध
,,	८८	१६	,,
शिवभूते"	६४	६	शिवभूति"
दोक्षा	६४	१०	दीक्षा
गृन्थो	१०१	६	ग्र थो
प्रयोग हा नही	१०४	५	प्रयोग हा नही
दिव्यवावदान	११३	१३	दिव्यावदान
प्राची घटनाओ	१२१	२२	प्राचीन घटनाओ
ग्रायमक्षु	१२२	६	आयमक्षु
कपाप्राभृत	१२२	६	कषायप्राभृत
पुरुण	१२३	१५	पुराण
सिद्धान्तिक	१२४	२१	सैद्धान्तिक
पचास	१३३	१८	पचास
बद	१३३	२०	बाद
६० वर्ष	१३५	१६	३० वष
ऊहपोह	१३७	१	ऊहापोह
सविज्ञ	१४०	५	सविग्न
प्रद्योवनमूरि	१४०	१५	प्रद्योतनसूरि
कृन्नमेनागिपुरे	१४०	२३	कृन्नमेर्नागिपुरे
ऽधिकं वीर	१४०	१४	ऽधिकर्वीर
मानतुग कवि	१४०	२५	मानतुग को कवि
दोकर	१४२	१३	होकर
निवृ ंत्ति	१४४	१६	निवृ ति
बनाना	१४४	२३	बनाया
मणिरत्नप्रभसूदि	१४५	१६	मणिरत्नसूरि
चत्यवन्दादि	१४८	१२	चैत्यवन्दनादि
जाकर	१४६	८	जानकर

अशुद्ध	पृष्ठाक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
पड था	१४६	१३	पडा था
अचार्य	१४६	२१	आचार्य
विज्ञप्तिलेखन	१५१	१८	विज्ञप्तिलेख
विमलसरि	१५२	१०	विमलसूरि
स ात	१५४	१७	समात
मालिक	१५४	२०	मलिक
फजल के तीजे	१५७	६	फजल के भतीजे
बादशाह का	१५७	८	बादशाह को
अजन	१५६	१६	अजन
हुआ था था।	१६०	३	हुआ था।
काई नही	१६०	२०	कोई नही
आचय श्री	१६१	१६	आचार्य श्री
दल ब दल	१६२	१२	बल बादल
सूतबन्दर	१६३	५	सूरतबन्दर
देश मे	१६७	७	देशो मे
सुत्तत्यदायगा	१७१	५	सुत्तत्थदायगा
सघा	१७१	२४	सच्चा
वर्ष	१७५	८	वर्षो
मानते	१८१	२१	मानने
सूमति साधुसूरि	१८२	२	सुमति साधुसूरि
स०	१८२	६	स०
मेरा	१८३	१३	मेरो
हससोम	१८५	१६	हससोम
गच्छाधि०	१८५	२६	गच्छाधिप
१५३६	१८७	६	१५६६
तुर्मुख	१८८	३	चतुर्मुख
लुगा	१८८	६	लुका
सहस्रोपधि	१८८	६	सहस्रोपधि

अशुद्ध	पृष्ठांक	पक्त्यङ्क	शुद्ध
वही	१८८	१३	वहां
प्रश्नादक	१८८	१४	प्रश्नादिक
तैय्यार	१८८	१५	तैयार
वटिया	१८६	२	वढ़िया
निश्चित	१८६	१५	निश्चित
वह	१६१	२१	यह
नकी	१६१	२१	नक्की
वृन्तान्त	१६१	२६	वृत्तान्त
हा	१६३	८	और
सघवी	१६४	२२	सघवी
सघविव	१६४	अतिम	सघविन
सघवी	१६५	४	सघवी
उतराधिकारी	१६५	६	उत्तराधिकारी
अपये	१६६	१६	अपने
कूछ	१६७	५	कुछ
पहुचते	१६७	२५	पहुचने
पट्ट पर	२००	७	पट्टपर
मेहे एयो	२००	१६	मेहेल्यो
सहुसने	२०२	१०	सहुसेन
यतियो की	२०२	२३	यतिया को
निरुतर	२०३	१६	निरुत्तर
पार्टियो	२०३	१६	पार्टियां
विजयभान	२०६	६	विजयमान
स० विजयसेन	२०८	६	स० १६७३ विजयसेन
भीसमइ	२१६	३	श्रीसमइ
पाटिन्र-विमएा	२१६	३	पाटि भवियएा
जिनरजइ	२१६	४	मनरजइ
यिजय जितेन्द्र	२२०	६	बिजय जिनेन्द्र

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
क्रम	२२०	६	क्रमश
इसो	२२०	२०	इस
पट्टावली के	२२०	२०	पट्टावली मे
उत्थापिता	२२१	६	उत्थापिता
तया	२२४	१	तथा
प० दयालवि०	२२७	११	प० दयालवि०
गुणसमुद्रसूरि	२२८	१६	गुणसमुद्रसूरि
पाश्वचन्द्र	२२९	१	पाश्वचन्द्र
आचायपद म०	२२९	६	आचायपद स०
मानतुग सूरि	२३१	७	मानतुग सूरि
सघ सभा	२४५	१४	सघ सभा
रवखे	२४५	२०	रक्खे
अ यथा	२४८	६	अन्यदा
सधुओ ने	२४७	११	साधुओ ने
समुदयो के	२४७	१७	समुदायो के
चतुर्मास्य	२४७	१८	चातुर्मास्य
दुगाचय	२४९	१	दुगाचाय
कालान्तर से	२४९	१२	कालान्तर म
गगचाय	२४९	१२	गर्गाचाय
धम भवना	२४९	२७	धम भावना
परलो०	२४९	२९	परलोक
चत्य की	२५१	१३	चत्य की
दए	२५१	१४	हुए
आम्रदेव सरि	२५१	१६	आम्रदेव सूरि
सम्पादन	२५७	८	सम्पादक
जिन नत्वा	२५८	८	जिन नत्वा
वयपत	२५८	१३	कथयत
स० १३०५	२५९	१३	म० १३०५

अशुद्ध	पृष्ठांक	पक्त्यङ्क	शुद्ध
वधमा सूरि	२५९	१५	वर्धमान सूरि
द्रम्भ	२६१	१२	द्रम्म
मध्य भरतीय	२६१	१३	मध्य भारतीय
ज्ञत	२६१	१८	ज्ञात
सम्बधो	२६३	७	सम्बन्धी
चादिए	२६३	२२	चाहिए
निग्व विविधि	२६४	२	निरव विविधि
चन्द्रसूरि और	२६५	१६	चन्द्रसूरि जिनपति को और
तलहटो	२६६	८	तलहट्टी
माम	२६८	१९	नाम
छात्र	२६९	४	मात्र
कहनी	२६९	८	कहानी
बनाया	२७१	१४	बनवाया
पहल	२७२	२०	पहले
होगा ?	२७५	३	होगा ?,
न होगा ६	२७५	७	न होगा ७,
स्थन	२७६	३	स्थान
उलने	२७६	१०	उसने
निपद्ध	२७६	१७	निषिद्ध
जिनप्रति सूरि	२७६	२५	जिनपति सूरि
उठने	२७७	३	उठाने
पट्ट	२७८	१५	पट्टे
नेमिचन्द्र	२७८	१५	नेमिचन्द
सजाम्रो	२७८	१७	सजाम्रो
उसको	२७८	१८	उसके द्वारा
लिखना	२७८	१९	लिखे जाने मे
आयवासी	२७९	१९	आर्यवासी
सवत्र	२८०	१	सर्वत्र

अशुद्ध	पृष्ठांक	पद्यपङ्क्ति	शुद्ध
वुद्धिसगर	२८०	५	वुद्धिसागर
पालडदा	२८३	-टिप्पणी १	पालउदा
,,	२८३	-टिप्पणी २	,,
,,	२८३	,, ५	,,
अने को	२८५	३	आने की
गुरु का	२८७	१४	गुरु के
जक	२८७	-टिप्पणी ३	तक
बावाए	२८८	१८	बनवाए
तयार	२८९	२	तैयार
अभयदव	२८९	२०	अभयदेव
जुदड	२९१	टिप्पणी १९	जुदउ
पुत्रो में	२९२	१४	पुत्रो से
कठोग	२९२	१५	कठोर
करना	२९३	८	कराना
श्रीधरशकरा	२९३	१५	श्रीधरशकरा
स्थापना की, भावना	२९३	१८	स्थापना की भावना
स्थान	२९३	१९	स्थान
श्रीमति	२९४	१२	श्रीमती
त्रिचरे	२९६	८	विचरे
अत	२९९	४	पद
स्यापन	२९९	१२	स्थापन
वाचनाचय	३००	१०	वाचनाचार्य
भिल्लई	३०२	टिप्पणी १२	मिल्लई
समवास	३०२	टि० १९	समवाय
अघहि	३०२	टि० १९	अविहि
राजस्वकाल	३०३	टि० १५	राजत्वकाल
तीथ यात्रा	३०५	५	तीर्थयात्रा
स्त्रीकार	३०५	१९	स्वीकार

अशुद्ध	पृष्ठांक	पक्त्यङ्क	शुद्ध
पद्मप्रभाचाय	३०६	टि० १०	पद्मप्रभाचाय
तमाशावीन	३०६	टि० १६	तमाशबीन
कारित	३०७	टि० ७	कारित
दसएस्स	३०६	७	दसएस्स
स० १२५	३११	४	स० १२५२
पतन भग	३११	६	पत्तन भग
महवीर	३११	८	महावीर
साधुग्रोक	३११	११	साधुग्रो की
सुदर	३११	२४	सुन्दर
सैकडी	३१२	७	सैकडा
पदस्यापना	३१३	३	पदस्थापना
ग्रहद्दत	३१३	१२	ग्रहद्दत्त
विवेक प्री	३१३	१२	विवेक श्री
चन्द्रयाला	३१३	१३	चन्द्रमाला
स० १-८०	३१३	१४	स० १२८०
पद्मावता	३१३	१६	पद्मावती
जिनाहितोपाध्याय	३१३	२०	जिनहितोपाध्याय
चरित्रसुन्दरी	३१४	४	चारित्रसुन्दरी
उज्जयन्त	३१४	२२	उज्जयन्त
स७	३१५	२५	स०
कलश की तिष्ठा	३१७	६	कलश की प्रतिष्ठा
परिमण	३१७	१०	परिमाण
जिनेश्व सूरि	३१६	३	जिनेश्वर सूरि
देव भण्डगार	३१६	१६	देव भण्डागार
कल्यार ऋद्धि	३१६	२५	कल्याण ऋद्धि
वोजापुर	३२२	२३	वीजापुर
चत्य	३२३	२२	चत्य
बाडड	३२४	२२	बाहड

अशुद्ध	पृष्ठांक	पक्त्यङ्क	शुद्ध
स्तूतमूर्ति	३२५	३	स्तूपमूर्ति
चत्र मे	३२५	२२	चैत्य से
वडगाव मे	३२५	२५	वडगांव से
पावपुरी	३२५	२६	पावापुरी
स्यापना	३२६	२०	स्थापना
ज्ञनलक्ष्मी	३२८	१७	ज्ञानलक्ष्मी
विधिममुदाय	३२८	२१	विधिसमुदाय
उच्चापुरोय	३२८	२२	उच्चापुरी
उनको	३३०	५	उनके
साधुम्रो की	३३०	८	साधुम्रो को
सघ	३३१	१४	सघ
जिनासा	३३१	टि० १	जिनाज्ञा
राजेन्द्राार्य	३३३	८	राजेन्द्राचाय
हेमभपरण	३३३	अन्तिम	हेमभूपरण
भो	३३५	८	भी
लाटहृद	३३८	५	लाट ह्रद
जसलमेरु	३४०	७	जेसलमेरु
वहरामपुर	३४०	२४	बहिरामपुर
बनाकर	३४१	१७	वताकर
प० अमृतचन्द्र	३४१	अतिम	प० अमृतचन्द्र
टहर	३४२	१२	ठहर
सघ	३४३	४	सघ
मु गुथला	३४३	७	मु गथला
लोटकर	३४३	१३	लौटकर
रूप्य टक	३४३	१८	रूप्य टक
छोटे मे	३४३	२१	छाटे से
पढकर	३४४	१३	पढकर
सघ	३४४	२०	सघ

अशुद्ध	पृष्ठांक	पक्त्यङ्क	शुद्ध
स० १३६०	३४५	६	स० १३६०
दिवगत	३४६	१३	दिवगत
पटरद्द	३४६	१७	पाटरद्द
म्री	३४६	२२	श्री
विस्तार	३४७	१६	निस्तार
सघ बहिष्कुर	३५०	१२	सघ बहिष्कृत
सघ	३५१	१७	सघ
सभय	३५२	७	सभव
चामत्कारिक	३५३	२२	चमत्कारिक
वामावती रात्रिक	३५४	६	वामावर्ता रात्रिक
सकडो	३५४	२३	सैकडा
दिया गया	३५५	६	किया गया
निरूए	३५५	१२	निरूपए
यथाकोश	३५७	८	कथाकोश
दूसगेये	३५७	१६	दूसगेय
वैठने	३५८	१८	बठाने
नत्वा	३५६	६	नत्वा,
जिनप्रभ	३६३	१०	जिनभद्र
अचाय	३६३	१०	आचाय
आचय	३६५	१६	आचाय
नेमिचद्र	३६७	१८	नेमिच द्र
वुद्धिसाग सूरि	३६७	२०	बुद्धिसागर सूरि
नामधेय	३६७	२२	नामवेय
विरुद्ध	३६८	३	विरुद
अत	३६८	१४	[illegible]
पाश्वनाथ प्रतिप्ठा	३७१	अतिम	पाश्वनाथ की प्रतिप्ठा
सकाशाद्ग्रहीत	३७८	१७	सकाशाद्गृहीतं

पृष्ठाक ३८१ पक्ति ७ मे "श्रावका के" इन शब्दा के आगे 'कुला की नाम सूचिया के भूलने लिखकर" पढें।

[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
चाउवण्णे सघो	३८६	२१	चाउवण्णो सघो
कुशल	३८७	३	कुशील
तया	३८७	१२	तथा
लघुपरसगजी	३९७	२२	लघुवरसगजी
प्तेजसिंहजी	३९७	२५	तेजसिंहजी
पच्च्यसिए	४०६	६	पच्चासिए
वाधकर	४०७	११	बाधकर
अनुयायियो मे	४०८	१२	अनुयायियों में
निक्कालकर	४१०	१७	निकालकर
सीघस्य छ।	४११	५	सीघस्य छे।
सदिदल	४१२	४	सडिल्ल
आयनाग	४१२	२१	आयनाग
उपभ्र श	४१२	२६	अपभ्र श
नाम छोडकर	४१२	२३	न मो को छोडकर
उटराग	४१४	७	उटपटाग
स० १५३३	४१४	१९	स० १५५३
दशवैकालिक को	४१५	५	दशवकालिक की
यानेंगे	४१५	१०	मानगे
घाडी	४१५	१९	गाडी
गोडे	४१५	१९	घोडे
सघ के	४१६	६	सघ का
कल्पित कया	४१६	१४	कल्पित कथा
रवाने	४१६	१४	खाने
तक्कल	४१६	२२	नक्ल
यान्तिक	४१७	२२	यांत्रिक
सामके	४१८	३	सामने
वस्त्रापात्र	४१९	अंतिम	वस्त्रपात्र
शा०	४२०	२	स०
निकालने	४२०	३	निकलने
सूत्रा को	४२२	९	सूत्र को

अशुद्ध	पृष्ठांक	पक्त्यङ्क	शुद्ध
छीपा दोक्षा	४२३	२	छीपा धमदास दीक्षा
अभीपाल	४२३	७	अमीपाल
बीच शास्त्राथ	४२६	१६	बीच हुए शास्त्राथ
१७८७	४२७	१	१८७८
सं० १७८७	४२७	६	१८७८
पाय बाधकर	४२८	२०	पाटा बाधकर
हमको	४२८	२७	हकमो
वहा मर्यादा	४२९	२१	वहा न आकर मर्यादा
मे आये	४३०	३	मे न आये
वक्तचन्द	४३१	१०	वखतचन्द
साघते	४३२	७	साधते
सवरद्वार से	४३२	१३	सवरद्वार मे
विजयदेव ने	४३२	१९	विजयदेव के
नही न दे	४३२	२१	नही दे
स्त्रा	४३२	२२	स्त्री
करले	४३३	११	कर लें
माथे	४३४	१६	माहे
दिवमे	४३५	१	दिवसे
दृष्टि ने	४३७	१४	दृष्टि से
पट्टघर	४३७	१८	पट्टधर
सुतागमो की प्रस्तावनो	३३९	१	सुत्तागमे की प्रस्तावना
जप्रपाल गणि	३३९	१४	जयपाल गणि
शकरसेन	३३९	१६	शकरसेन
उ मूनाचार्य	३३९	१८	उ मनाचाय
सकने	४४२	२	सकते
स्वास्तिसूरि	४४२	९	स्वातिसूरि
गोविन्दवाचक	४४२	१५	गोवि न्दवाचक
कोष्टक के	४४३	८	कोष्टक म

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
वज्रशाल	४४३	१२	वज्रशाला
विद्याघर	४४३	१६	विद्याधर
मानला	४४५	८	मानना
भार्ग	४४५	१२	मार्ग
मस्वन्घ	४४५	१६	सम्बन्ध
नामो से मी	४४५	१७	नामो से भी
एकमत्य	४४५	१८	ऐकमत्य
तत्र	४४६	८	तव
कटार	४५०	५	कतर
सूत्रो मे	४५१	३	सूत्र मे से
वहार सूत्र	४५१	१४	व्यवहार सूत्र
जनवाणी	४५१	२६	जिनवाणी
सुतागमे	४५३	१८	सुत्तागमे
मुनिवय	४५३	२०	मुनिवर्य
सस्था	४५३	२३	सस्था
बैटकर	४५६	२०	बैठकर
चत्य	४५६	२१	चैत्य
इन नाम	४५७	१०	इस नाम
चैतस्	४५७	१५	चैतम
प्रायश्चित	४५८	१	प्रायश्चित्त
शिष्यि	४५८	१६	शिष्य
हुआ या	४६०	१३	हुआ था
जाने का	४६०	२०	जाने की
दक्षिणात्य	४६१	२	दाक्षिणात्य
नया	४६१	२३	नया
स्यानक	४६४	६	स्थानक
मूतिया	४६४	११	मूर्तियो
अप्रमाणिक	४६५	२०	अप्रामाणिक

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
हटाए	४६५	२१	हटाया
स्वरर	४६६	४	रचकर
विषयो का	४६६	१०	विषयों को
सु ाया	४६७	१	सुझाया
व कारण	४६९	२६	के कारण
सखा	४७०	५	सरवा
मा गे	४७०	१९	मानेंगे
सक्षिप्त	४७०	२३	सक्षेप
प्रक्षाणक	४७१	२	प्रकीर्णक
फंसले	४७३	४	फासने
उनकी	४७३	७	उसकी
"	४७३	१२	"
हत्थाणापुर	४७४	३	हत्यणापुर
लेखक ने	४७५	५	लेखक को
बूटेरायजी ने	४७५	१६	बूटेरायजी
घोसीलालजी	४७६	९	घासीलालजी
शुद्धि प्रतियो	४७७	१७	शुद्ध प्रतियो
त्रिश्वास	४७८	२	विश्वास
पढो	४७९	१८	पडने
तुझ से	४८१	६	मुझ से
पयास	४८१	१९	प यास
"	४८१	२१	"
चतुर्मास्य	४८३	३	चातुर्मास्य
कार्योत्सग	४८५	७	कायोत्सग
चत्यवासो	४८८	१३	चत्यवासी
सवरी	४८८	२१	सवरो
चतुथ	४८८	२३	चतुथ
पयास	४९१	१३	प यास

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
,, चतुथ	४६१	१६-१७	चतुर्थं पन्यास
उहोने	४६१	२०	उन्होने
नामा	४६२	१	माना
पढा	४६४	६	पढाया
वताया	४६७	१८	वताता
वजीरशाह	८६७	८	वजीर शाह
गगडी	४६७	अतिम	पगडी
शाह श्रीराग	८६६	४	शाह श्रीरामा
तुम्हारे	५०१	६	तुम्हारा
हुई तो	५०१	१२	होगी सो
सज्जन ते	५०३	१	सज्जन ने
सघ	५०३	१२	सघ
जिन दिवगत	५०३	अतिम	दिन दिवगत
स्वतन	५०५	१०	स्तवन
खेतश्री	५०५	१६	खेतसी
च ुर्मास	५०६	४	चतुर्मास
जिनदास राजनगर	५०७	२२	जिनदास ने राजनगर
शखेश्वर	५०८	११	शखेश्वर
निचय	५०८	१३	निश्चय
पट्टघर	५०६	२६	पट्टपर
वीरदस	५११	१३	वीरदास
सघ	५१२	८	सघ
सघ	५१२	१०	सब
पचायत	५१२	२३	पचायन
स० १६७५	५१२	२४	स० १६७५
समान	५१२	२६	सामान
चतुर्भास	५१३	५	चतुर्मास
वले	५१३	११	बोले

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
पचायत	५१३	१६	पचायन
रग मडप	५१३	२५	रग मडप
मडा के	५१३	२६	मडप के
बहु ा	५१४	३	बहुत
चखला	५१७	१	चरखला
चखले	५१७	३	चरखले